हिन्दी खण्ड-काव्यों का अध्ययन

डा० माताप्रसाद गुप्त के निर्देशन में
इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध प्रबंध

सितम्बर, १९६२

शोधकर्ता
रामकुमार गुप्त

भूमिका

प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य हिन्दी खण्डकाव्यों के कलात्मक वैशिष्ट्य का उद्घाटन करना है । "खण्डकाव्य" साहित्य की एक समृद्ध एवं विकसनशील परम्परा के होते हुए भी हिन्दी-काव्य-जगत में वह अब तक उपेक्षित ही रहा है । कदाचित् इसके हीनता सूचक नाम के ही कारण विद्वानों का ध्यान इसके अध्ययन अनुशीलन की ओर नहीं गया । किन्तु खण्डकाव्यों के प्रस्तुत अध्ययन के बाद मेरी यह निश्चित धारणा बनी है कि खण्डकाव्य किसी भी दृष्टि से हीन काव्यरूप नहीं है । भले ही महाकाव्यों के समान उसमें महदुद्देश्य, महच्चरित्र और महत्कार्य का अनुष्ठान न हो, भले ही जीवन की बहुमुखी अवस्थाओं के विस्तृत विवरण उसमें न उपलब्ध हों, भले ही उनमें युगान्तरकारी सन्देशों की व्यंजना न होती हो, किन्तु काव्योचित लालित्य, सरसता, मार्मिकता, मनोमुग्धकारिता और प्रभावोत्पादकता उनमें अन्य काव्य रूपों से कम नहीं है । प्रबन्ध काव्यों में, जैसा कि अन्यत्र निर्देश किया गया है, हर पंक्ति में कवित्व का उच्चतम स्तर वर्तमान नहीं रह सकता । इसमें कुछ चुने हुए स्थलों पर ही कवि की काव्य-प्रतिभा प्रस्फुटित होती है । इस दृष्टि से खण्डकाव्य में इस प्रकार के स्थल महाकाव्य की अपेक्षा अल्पमात्रा में अवश्यहोते हैं किन्तु स्थल विशेष पर खण्डकाव्य के कवि की दृष्टि भी उतनी ही गहराई से भाव-रत्नों को पकड़ कर ला सकी है जितनी गहराई से एक महाकाव्यकार की और वे अपनी अनुभूतियों को उतने ही कौशल से पाठकों के हृदय में संप्रेषित करने में सफल हुए है जितने कौशल से एक महाकाव्य का रचयिता कवि । अतः काव्यात्मक ऊँचाई का वही स्तर खण्डकाव्यों में दिखाई पड़ता है जो महाकाव्यों में । आलोच्य-काव्य रूप के प्राचीन और नवीन प्रणय काव्यों मे प्रेम और विरह की जो अनूठी व्यंजनाएं हुई हैं उन्हें महाकाव्यों मे आए हुए प्रेम और विरह के स्थलों से उन्हें किसी रूप में हेठा नहीं कहा जा सकता है ।

पुनः समाज एवं युग जीवन की समस्याओं का प्रतिबिम्ब खण्डकाव्यों में भली-भाँति झलकता दिखाई देता है । लघुकाव्य होते हुए भी इस काव्यरूप ने युग और समाज के जीवन को प्रेरित एवं उत्तेजित करने में बहुत अधिक योगदान

दिया है। हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग खण्डकाव्यों के निर्माण एवं उसकी कला के विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। और यही युग (बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध) भारत के स्वातन्त्र्य संघर्ष और व्यापक राष्ट्रीय भावना के प्रसार एवं विकास का युग था। यदि इस युग की खण्डकाव्य कृतियों पर दृष्टिपात किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये कृतियां युग जीवन के विकास के साथ अविच्छिन्न हैं। राष्ट्रीयता के विकास और भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम को रूप और बल देने में इस युग के खण्डकाव्यों का बहुत बड़ा हाथ रहा है, खण्डकाव्य के रचयिताओं ने जहां एक ओर भारतभूमि, भारत के अतीत गौरव और भारतीय प्रकृति के प्रति अनुराग की भावना जगायी वहां दूसरी ओर अन्यायपूर्ण शासन के प्रति रोष और न्याय, धर्म व स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिये हंसते हंसते बलिदान होने की तीव्र भावना जगाने में भी अद्भुत सफलता प्राप्त की। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, सोहनलाल द्विवेदी, और रामनरेश त्रिपाठी के खण्डकाव्यों में राष्ट्रीय जागरण का तीखा स्वर विद्यमान है। जयद्रथ-वध, मौर्य-विजय, मिलन, पथिक, स्वप्न, आदि खण्डकाव्यों का राष्ट्रीय भावना और स्वातन्त्र्य-लालसा को उद्दीप्त करने में जो योगदान रहा है वह किसी से छिपा नहीं। इन रचनाओं में निहित सन्देश ने जहां प्रत्यक्ष रूप से जन-समाज में नवीन रक्त का संचार किया वहां अनेक स्थानीय क्षेत्रीय और साधारण कोटि के कवियों को राष्ट्रीय आख्यान कविताएं, गीत आदि रचने की प्रेरणा प्रदान की। राष्ट्रीय आन्दोलनों के अवसर पर गाए जाने वाले गीत जिनसे उत्तेजित होकर देश भक्त नवयुवक हंसते हंसते राष्ट्र-पर बलिदान हो गए, बहुत कुछ इन्हीं खण्डकाव्यों से प्रेरित होकर लिखे गये थे। इस दृष्टि से हिन्दी के खण्डकाव्य साहित्य का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

हिन्दी महाकाव्यों पर पर्याप्त शोध कार्य हुआ है। और अनेक ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। किन्तु हिन्दी खण्डकाव्यों पर अभी तक कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन खण्डकाव्य का प्रथम अध्ययन कहा जा सकता है। खण्डकाव्यात्मक कृतियों की स्फुट आलोचनाएं पत्र-पत्रिकाओं तथा पुस्तकों में यत्र-तत्र लिखी गई किन्तु वे अति संक्षिप्त और

परिचयात्मक ही विशेष रही हैं । कृतियों के काव्यरूप के वैशिष्ट्य को उद्-घाटित करने वाली आलोचनाओं का प्रायः अभाव सा ही रहा है । प्रस्तुत अध्ययन में आलोच्य काव्यरूप के वैशिष्ट्य को उद्घाटित करने के उद्देश्य से हिन्दी के प्रायः समस्त उत्कृष्ट खण्डकाव्यों का सर्वांगपूर्ण विवेचन पहली बार प्रस्तुत किया जा रहा है ।

आलोचना के सम्बन्ध में लेखक की दृष्टि पूर्ण स्वतन्त्र रही है । भावक के रूप में उसने अपनी ही ग्राहिका शक्ति का उपयोग किया है । आलोच्य कृति के सौन्दर्योदघाटन में उसे अपनी दृष्टि सीमित रखनी पड़ी है । बाह्य ग्रंथों के समानान्तर स्थलों से साम्य अथवा वैषम्य दिखाकर तुलना करने में वह प्रवृत्त नहीं हुआ अन्यथा इस प्रबन्ध के सीमित कलेवर में उसका निर्वाह कठिन होता हां, आवश्कतानुसार उसी प्रवृत्ति के अन्य गृहीत काव्यों से साम्य-वैषम्य दिखाने की चेष्टा अवश्य कुछ स्थलों पर हुई है । आलोच्य कृतियों के सम्बन्ध में पूर्ववर्ती आलोचकों के विचारों या निष्कर्षों को सामान्यतः उद्धृत नहीं किया गया है किन्तु यदि कहीं किसी वरेण्य आलोचक ने कोई महत्वपूर्ण बात किसी कृति के संबंध में कही है तो उसे उद्धृत करने का लोभ लेखक संवरण नहीं कर सका है ।

चूंकि "खण्डकाव्य" भारतीय प्रबन्ध परंपरा का विशिष्ट काव्य रूप है अतः भारतीय शास्त्रीय मान्यताओं के प्रकाश में ही उनका अध्ययन करना लेखक को अधिक युक्तियुक्त प्रतीत हुआ है । आधुनिक युग में यद्यपि पश्चिमी साहित्यशास्त्र का व्यापक प्रभाव काव्य-साहित्य के विभिन्न अंगों पर पड़ा है किन्तु इस प्रभाव को आत्मसात करते हुए भी आधुनिक युग के खण्डकाव्यों में खण्डकाव्य के भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित मूल तत्व अक्षुण्ण हैं । हां उनके विभिन्न अंगों और उपादानों पर पश्चिमी साहित्य की मान्यताओं व विशिष्ट-ताओं का प्रभाव अवश्य पड़ा है जिसका संकेत आलोचना करते हुए यथा स्थान कर दिया गया है । इस प्रकार इस अध्ययन में पश्चिमी और भारतीय दोनों आलो-चना प्रणालियों का सामंजस्य हो गया है ।

प्रस्तुत अध्ययन को पांच खण्डों में विभाजित किया गया है । प्रथम खण्ड में "खण्डकाव्य" के स्वरूप को समझने की चेष्टा की गयी है । इसके लिए

संस्कृत साहित्य के प्रमुख लक्षण ग्रन्थकर्ता आचार्यों द्वारा निर्धारित खण्ड-काव्य तथा उसके स्वरूप पर प्रकाश डालने वाले महाकाव्य, आदि अन्य काव्य रूपों के लक्षणों का भी निरूपण किया गया है । खण्डकाव्य प्रबन्धकाव्य का एक भेद है अतः प्रबन्धकाव्य के (आचार्य रूद्रट्,आनन्द वर्धन और कुन्तक आदि आचार्यों द्वारा निर्देशित) लक्षणों से भी खण्डकाव्य के स्वरूप को समझने में सहायता ली गयी है । "खण्डकाव्य" के विशिष्ट काव्यरूप की कल्पना अंग्रेजी आदि पश्चिमी देशों के साहित्य में नहीं मिलती किन्तु फिर भी "नैरेटिव पोइट्री" के अनेक रूप पश्चिमी साहित्य की लौकिक और साहित्यिक परम्पराओं में मिलते हैं जिनमें से कुछ भारतीय "खण्डकाव्य" के समान-धर्मा ज्ञात होते हैं । इन रूपों का अध्ययन आलोच्य"काव्यरूप" की अनिश्चित सीमाओं को निश्चित करने में कुछ अंशों तक सहायक सिद्ध हुआ है । इसके साथ साथ इस अध्याय में आलोच्य काव्यरूप की प्राचीनता एवं नामकरण आदि पर भी प्रकाश डाला गया है ।

द्वितीय खण्ड के अंतर्गत आदि काल के खण्डकाव्यों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिसकी काल सीमा लेखक ने प्रारम्भ से १४०० ई० तक मानी है । इसमें तीन अध्याय हैं । प्रथम अध्याय में इस अवधि में लिखे गये समस्त प्रबन्ध काव्यों का संक्षिप्त परिचय देते हुए खण्डकाव्य के रूप में अस्वीकृत रचनाओं के लिए कारण बताने की चेष्टा की गई है । इस युग के खण्डकाव्यों की सामान्य विशेषताओं पर भी इसमें प्रकाश डाला गया है । आलोच्य काव्य रूप के अंतर्गत "बीसलदेव रास" और "ढोला मारू रा दूहा" दो ही कृतियां आती हैं जिनका विस्तृत अध्ययन दूसरे व तीसरे अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है । अपने अध्ययन के लिए लेखक ने बीसलदेव रास के डा० माता प्रसाद गुप्त द्वारा संपादित संस्करण को और "ढोला मारू रा दूहा" के सूर्यकरण पारीक और नरोत्तमदास स्वामी के नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित संस्करण को आधार बनाया है ।

तृतीय खण्ड के अंतर्गत भक्ति-काल के खण्डकाव्यों का अध्ययन ५ अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है । इसकी काल-सीमा लेखक ने १४०० ई०

से १६५० ई० तक मानी है । प्रथम अध्याय में इस काल के समस्त प्रबंधात्मक साहित्य का सर्वेक्षण किया गया है और खण्डकाव्य की कोटि में अगृहीत रचनाओं के लिए समुचित तर्क प्रस्तुत किए गए हैं । इस काल में तीन प्रकार के खण्डकाव्यों की रचना हुई। १मैत्री भाव परक २-विवाह परक और आध्यात्मिक प्रेम परक । प्रथम कोटि की रचना सुदामा चरित है जिसका विस्तृत अध्ययन अध्याय २ में किया गया है द्वितीय कोटि की रचनाएं बेलि क्रिसन रुक्मिणी और रुक्मिणी मंगल (नंददास) हैं जिनका अध्ययन क्रमशः अध्याय ३ और ४ मे किया गया है । जानकी मंगल, पार्वती-मंगल और नरहरिकृत रुक्मिणी-मंगल साधारण स्तर के मंगल काव्य हैं अतः इनका संक्षिप्त विवेचन रुक्मिणी मंगल के साथ ही "अन्य मंगल काव्य" शीर्षक देकर किया गया है। तृतीय कोटि की रचना रूपमंजरी का विस्तृत अध्ययन अध्याय ५ में प्रस्तुत किया गया है ।

चतुर्थ खण्ड में रीतिकालीन खण्डकाव्यों का अध्ययन दो अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है । इस की काल सीमा लेखक ने १६५०ई० से १८५०ई० तक मानी है । प्रथम अध्याय में इस काल में लिखे गये प्रबन्ध काव्यों का सामान्य विवेचन व खण्डकाव्य के अंतर्गत गृहीत होने में अक्षम रचनाओं के लिए कारण प्रस्तुत किए गए हैं । इस काल में आलोच्य काव्य रूप की दृष्टि से केवल पं० चन्द्रशेखर बाजपेयी का हम्मीरहठ ही विस्तृत अध्ययन के उपयुक्त सिद्ध हुआ है । अतः दूसरे अध्याय में उसका सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

पंचम खण्ड में आधुनिक काल के खण्डकाव्यों का अध्ययन १३ अध्यायों मे किया गया है । इसकी काल सीमा लेखक ने १८५०ई०से १९५०ई० तक मानी है । प्रथम अध्याय में भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग व उत्तर द्विवेदी युग की प्रबन्ध काव्य-रचना की परिस्थितियों व खण्डकाव्य रचना की प्रेरक शक्तियों का परिचय दिया गया है । द्वितीय अध्याय में उन समस्त रचनाओं का संक्षिप्त व विवेचन प्रस्तुत किया गया है जो या तो उनके लेखकों द्वारा खण्डकाव्य कही गयी है या किसी न किसी अन्य आलोचक द्वारा खण्डकाव्य के नाम से पुकारी गयीं हैं किन्तु प्रस्तुत लेखक के मत से खण्डकाव्य की कोटि में नहीं

आतीं । अध्याय ३ से १३ क्रमशः जयद्रथ बध, मौर्य विजय, पथिक ,ग्रन्थि, गंगावतरण, पंचवटी, स्वप्न, तुलसीदास, नहुष, कुणाल और नकुल का सविस्तार विवेचन किया गया है ।

उपसंहार के अंतर्गत हिन्दी खण्डकाव्य साहित्य पर समग्र रूप से विचार किया गया है । इसमें हिन्दी खण्डकाव्य साहित्य की व्यापकता, उसके वर्गीकरण और शिल्प-विकास का परिचय दिया गया है ।

प्रस्तुत अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा खण्डकाव्य कृतियों के चुनाव की रही है । आलोच्य काव्यरूप के स्वरूप की निश्चित सीमाओं के अभाव में विद्वानों ने मनमाने ढंग से इसकी व्याख्या कर एक और महाकाव्य कोटि की रचनाओं को भी खण्डकाव्य कह डाला है तो दूसरी ओर प्रबन्ध-तत्वों से रहित मुक्तक और गीत कोटि की लघु रचनाओं को भी खण्डकाव्य की संज्ञा दे डाली है । खण्डकाव्य सम्बन्धी स्पष्ट धारणा के अभाव में हिन्दी खण्डकाव्यों के संकलन का कार्य अत्यन्त कठिन था । अतः सर्वप्रथम लेखक ने खण्डकाव्य के स्वरूप के सम्बन्ध मे अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं और उन्ही की कसौटी पर कृतियों की परीक्षा करके विशुद्ध खण्डकाव्यों का चयन करने की चेष्टा की है । विस्तृत अध्ययन के लिए केवल काव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट खण्डकाव्यों को ही ग्रहण किया गया है । शास्त्रीय लक्षणों के निर्वाह मात्र को किसी रचना की उत्कृष्टता की कसौटी नहीं माना गया है । "मानस" जैसे श्रेष्ठतम महाकाव्यों में भी शास्त्रोक्त समस्त लक्षणों का निर्वाह नहीं मिलता । हां, खण्डकाव्य के मूलतत्व कृति में विद्यमान हैं, इसकी परीक्षा लेखक ने कृतियों के चुनाव में सतर्कता से की है । प्राचीन युग की रचनाओं के सम्बन्ध में उच्च कवित्व की कसौटी को भी उतनी दृढ़ता के साथ नहीं स्वीकार किया गया है जितनी दृढ़ता के साथ आधुनिक युग की रचनाओं की परीक्षा करते हुए । इसका कारण यह है कि प्राचीन युग की रचनाएं सुशृंखलित परंपरा की सूचक होती हैं अतः उनका महत्व अधिक होता है । यही नहीं, प्राचीन रचनाएं प्रायः विकृत रूप में हमारे पास तक पहुंचती हैं और उनके काव्य सौष्ठव को बहुत कुछ क्षति पहुंचने की संभावना रहती है । अतः प्राचीन रचनाओं के सम्बन्ध में अधिक उदार होना न्याय संगत लगता है ।

खण्डकाव्य सम्बन्धी विपुल सामग्री को अध्ययन एक ही प्रबन्ध की सीमा में समेटना सम्भव न था अतः लेखक को अपना अध्ययन केवल प्रकाशित रचनाओं तक ही सीमित रखना पड़ा है, यद्यपि प्रसिद्ध अप्रकाशित रचनाओं के उल्लेख भी यत्र-तत्र ही गए हैं । दूसरी भाषाओं से अनूदित खण्डकाव्य कोटि की कृतियां हिन्दी की निजी सम्पत्ति नहीं कहीं जा सकतीं । अतएव उनका विवेचन भी प्रस्तुत अध्ययन में नहीं हुआ है । लेखक को इस विषय पर कार्य करने की अनुमति १९५२ ई० में प्राप्त हुई थी, अतः इस अध्ययन में १९५०ई० (अर्थात् बीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध) तक की प्रकाशित रचनाओं को ही सम्मिलित किया जा सका है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध श्रद्धेय डाक्टर माता प्रसाद गुप्त एम०ए०, डी० लिट्० के निर्देशन में लिखा गया है । वस्तुतः यह उन्हीं की प्रेरणा और प्रोत्साहन का फल है । उनके अथाह ज्ञान और गम्भीर अंतर्दृष्टि से लेखक ने पूरा लाभ उठाया है । अतः आभार निवेदन के द्वारा वह उसके महत्व को कम नहीं करना चाहता । डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने प्रस्तुत प्रबन्ध को आद्योपान्त पढ़ने और कुछ अमूल्य सुझाव देने का कष्ट उठाया है अतः लेखक उनकी इस कृपा के लिए आभारी है । इसके अतिरिक्त डा० रघुवंश, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डा० जगदीश गुप्त डा० पारसनाथ तिवारी तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के अन्य प्राध्यापकों से समय-समय पर इस सदुद्योग के लिए जो प्रेरणा मिली है उसके लिये लेखक उक्त सभी विद्वानों का कृतज्ञ है । इसके साथ साथ लेखक उन सभी लेखकों का ऋण भी कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करना अपना कर्तव्य समझता है जिनकी रचनाओं से उसे प्रस्तुत निबन्ध में सहायता मिली है । प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय तथा हिन्दी साहित्य-सम्मेलन संग्रहालय से लेखक को इस कार्य के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई है अतः इन संस्थाओं का वह ऋणी है ।

- - -

विषय-सूची

A-G

संत काव्य-धारा, प्रेम-काव्य-धारा, कथा, चरित, रोमांस, सदयवत्स, सावलिंगा, लखमसेन पद्मावती कथा, सत्यवती की कथा, मृगावती, माधवानल कामकंदला कथा, पद्मावत, मधुमालती, प्रेमबिलास प्रेमलता कथा, चित्रावली, रसरतन, ज्ञानदीप, नल-दमयन्ती और नलदमन, कृष्ण भक्ति धारा, राम भक्ति धारा, अन्य रचनाएं, वीर सिंहदेव चरित, छन्द राव जैतसी रउ, भक्ति काल के खण्ड काव्य, आदिकालीन खण्ड काव्यों से पार्थक्य :

रचना-शिल्प, वस्तु,-विवेचन, चरित्र-चित्रण, सुदामा, सुदामा की पत्नी, श्रीकृष्ण, वर्णन, रस और भाव व्यंजना, उद्देश्य, युग-व्यंजना, भाषा-शैली, अलंकार, छंद-योजना:

रचना शिल्प, वस्तु-विवेचन, चरित्र-चित्रण, रुक्मिणी, कृष्ण, रस और भाव व्यंजना, रूप-वर्णन, नायिका, नायक, ऋतु-वर्णन, युद्ध -वर्णन, भाषा-शैली, अलंकार-वैशिष्ट्य:

रुक्मिणी-मंगल, रचना-शिल्प, वस्तु-विवेचन, चरित्र-चित्रण, रुक्मिणी, कृष्ण, रस और भाव-व्यंजना, रूप-वर्णन, द्वारिका-वर्णन, भाषा-शैली, छन्द, अलंकार वैशिष्ट्य, जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल, रुक्मिणी-मंगल, (नरहरिकृत):

रचना-शिल्प, वस्तु-विवेचन, चरित्र-चित्रण, रूपमंजरी, इन्दुमती, वियोग-वर्णन, संयोग-वर्णन, रूप-वर्णन, शैशवावस्था, अज्ञात यौवनावस्था, नायक-रूप, प्रकृति-वर्णन, प्रेम-तत्व, भाषा-शैली, अलंकार - वैशिष्ट्य:

खण्ड ४ (रीतिकाल)

खण्ड ५ (आधुनिक- काल)

तुमुल, कुरुक्षेत्र, सती हाड़ी रानी, अशोक :

अध्याय ३: जयद्रथ-वध :

रचना-शिल्प, वस्तु-विवेचन, चरित्र-चित्रण, अर्जुन, जयद्रथ, श्रीकृष्ण, युद्ध, प्रकृति, प्रभात, बैकुण्ठ, रस और भाव व्यंजना, भक्ति और दर्शन, राष्ट्रीयता, भाषा-शैली, अलंकार, छंद-योजना:

अध्याय ४: मौर्य विजय:

रचना-शिल्प, वस्तु-विवेचन, ऐतिहासिकता, चरित्र-चित्रण, चंद्रगुप्त, सिल्यूकस, ऐथेना, प्रकृति-वर्णन, रस और भाव-व्यंजना, राष्ट्रीयभावना, भाषा-शैली, अलंकार-योजना, छंद-योजना;

अध्याय ५: पथिक:

रचना-शिल्प, वस्तु-विवेचन, चरित्र-चित्रण, पथिक,पथिक-प्रिया, रस और भाव-व्यंजना, वियोग, संयोग, रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, प्रेम-तत्व, भाषा-शैली, अलंकार-योजना, छन्द :

अध्याय ६: ग्रन्थि:

रचना-शिल्प, वस्तु-विवेचन, रस और भाव-व्यंजना, वियोग, संयोग,रूप-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, प्रेम-तत्व, भाषा-शैली, अलंकार, छन्द-योजना:

अध्याय ७: गंगावतरण:

प्रबन्धात्मकता, वस्तु-विवेचन, चरित्र-चित्रण, भगीरथ, रस और भाव व्यंजना, वीर, रौद्र , करुण, भयानक, शृंगार, हास्य, अद्भुत, वर्णन, अवधपुरी, राधाकृष्ण की युगल-छवि, सगर सुतों का पाताल-प्रवेश, भगीरथ की तपस्या, गंगा की गति और शोभा, गंगा की पतित-पावनी शक्ति, पशुओं की जल-क्रीड़ा, प्रकृति के कोमल चित्र, भाषा-शैली, अलंकार, छन्द-योजना:

अध्याय ८: पंचवटी:

रचना-शिल्प, वस्तु-विवेचन, चरित्र-चित्रण, लक्ष्मण, शूर्पणखा, सीता,राम,

खंड १

सामान्य - विवेचन

अध्याय १

खण्डकाव्य का स्वरूप

प्राचीनता- खण्डकाव्य की स्वतंत्र काव्य कोटि कब से स्वीकृत हुई, इस संबंध मे निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता । संस्कृत के लक्षण ग्रंथकारों में केवल आचार्य विश्वनाथ ने अपने "साहित्य दर्पण" में काव्य-भेदों के अंतर्गत महत्काव्य के बाद खण्डकाव्य की चर्चा की है किन्तु उन्होंने भी केवल एक पंक्ति में इस "काव्य का एकदेशानुसारी" कहकर उसके स्वरूप का संकेत मात्र किया है[१]। खण्डकाव्य के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन उन्होंने नहीं किया ।

आचार्य विश्वनाथ का रचनाकाल १४वीं शताब्दी है । अतः चौदहवीं शताब्दी में "खण्डकाव्य" की स्वतंत्र कोटि स्वीकृत हो चुकी थी, इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है । विश्वनाथ के पूर्व नवीं शताब्दी के आचार्य रूद्रट् ने "खण्डकाव्य" का उल्लेख तो नहीं किया किन्तु उन्होंने काव्य, कथा आख्यायिका आदि समस्त प्रबन्धों के महान् और लघु दो भेद माने हैं[२]। रूद्रट् के काव्यालंकार के टीकाकार नमि साधु (११२५-११५६ई०) ने लघु प्रबन्ध-काव्यों के अंतर्गत मेघदूतादि की गणना की है[३] । अतः सिद्ध है कि रूद्रट् के समय में लघु प्रबन्ध काव्यों को बड़े प्रबन्ध -काव्यों से भिन्न कोटि में रखा जाता था, किन्तु लघु प्रबन्धों को "खण्डकाव्य" की संज्ञा कदाचित् न मिली थी ।

भामह-दण्डी आदि पूर्ववर्ती (६ठीं शताब्दी) आलंकारिकों ने "सर्गबन्ध" (काव्य रूप के द्योतक पद) का व्यवहार"महाकाव्य"के अर्थ में किया है । कदाचित् उस काल में (मेघ दूत की कोटि का) लघु रचनाओं को सर्ग बद्ध नहीं किया जाता था। केवल बड़ी रचनाएं ही सर्ग विभाजन करके प्रस्तुत की जाती थीं । जो महाकाव्य के लक्षणों से युक्त होती थीं । मेघदूतादि आगे चलकर खण्डकाव्य के रूप में स्वीकृत होने वाली रचनाएं, यद्यपि इसकाल में वर्तमान थीं किन्तु उनमे सर्गबद्ध न होने के कारण न तो महाकाव्य में उनकी गणना हुई और न उनके लिए कोई लघु प्रबन्ध जैसी

१- "खण्डकाव्य भवेत् काव्यस्य एकदेशानुसारि च" -साहित्य दर्पण ६।३२९
२- सन्ति द्विधा प्रबन्धाः काव्य कथाख्यायिकादयः काव्ये ।
उत्पाद्या अनुत्पाद्या महल्लघुत्वेन भूयो पि ।। १६।२
३- ते मेघदूतादयो लघवः ।-----रूद्रट् काव्यालंकार की नमि साधु विरचित टीका ।

काव्यकोटि ही निर्धारित की गयी । अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह और दण्डी आदि के समय में महाकाव्य के इस लघु रूप की स्वतंत्र काव्य कोटि के रूप में कल्पना नहीं हो पाई थी ।

भामह - दण्डी ने महाकाव्य के लक्षण बताने के बाद यह व्यवस्था दी है कि यदि कोई कृति महाकाव्य के निर्दिष्ट अंगों की दृष्टि से हीन होते हुए भी विज्ञ पुरुषों के रसास्वादन में समर्थ है तो उस कृति को दूषित न मानना चाहिए। इस प्रकार दंडी के अनुसार महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षणों का सम्यक् निर्वाह न होने पर भी कोई रचना महाकाव्य का पद पा सकती है किंतु आचार्य विश्वनाथ ने इस व्यवस्था के विपरीत महाकाव्य के लक्षणों का पूर्ण निर्वाह न करने वाली कृतियों को "महाकाव्य" की संज्ञा देना उचित न समझा । उन्होंने महाकाव्य के लक्षण देने के बाद इस प्रकार की कृतियों की भिन्न काव्य-कोटियां निर्धारित कर दीं । महाकाव्य की पद्धति पर रची गई वे कृतियां जिनमें सर्ग और सन्धि पंचक के बंधन को पूर्णतः स्वीकार नहीं किया गया और जिनमें एक अर्थ या प्रसंग की प्रधानता थी उन्हें काव्य(या एकार्थ काव्य) की कोटि प्रदान की गई । इसी प्रकार काव्य के एकदेश(या एक अंश) का अनुसरण करने वाली कृतियों को "खण्डकाव्य" का पद दिया गया[२]।

दण्डी के युग में ऐसे काव्यों की संख्या कदाचित् अधिक नहीं थी अतः नियमों के परिपालन के प्रति वे उतने सजग नहीं जान पड़ते किन्तु आचार्य विश्वनाथ के काल तक ऐसी रचनाओं की संख्या संभवतः पर्याप्त हो गयी थी । जो महाकाव्य के रूप में लिखी जाने पर भी महाकाव्य के सभी लक्षणों का प्रतिपालन नहीं करती थीं । संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाएं भी उनके सामने रही होंगी

१- न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति
   यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः ।।-दंडीः काव्यादर्श १। २०

२- भाषा विभाषा नियमात्काव्यं सर्ग समुज्झितम्
   एकार्थ प्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्य वर्जितम्
   खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्य एकदेशानुसारि च
   कोषः श्लोक समूहस्तु स्यादन्यो न पेक्षकः ।।विश्वनाथःसाहित्य दर्पण :
   ३२८।३२९

अतः ऐसी रचनाओं को गौरव प्रदान करने के लिए और महाकाव्य के गौरव को अक्षुण्य बनाए रखने के लिए उन्होंने महाकाव्य के साथ काव्य(एकार्थ) और खण्ड-काव्य की कोटियों को शास्त्रीय मान्यता प्रदान की ।

यहाँ पर प्रश्न यह हो सकता है कि "खण्डकाव्य" के रूप में उदाहृत कृति "मेघदूत" तो दण्डी के पूर्व भी वर्तमान थी । फिर वह उसें किस कोटि की रचना समझी जाती थी? जैसा कि ऊपर निवेदन किया जा चुका है, दंडी आदि पूर्व-वर्ती आचार्यों ने "सर्गबन्ध" पद का प्रयोग "महाकाव्य" के लिए किया है । "मेघ-दूत" में सर्गों का अभाव होने के कारण उसे महाकाव्य न समझा जाना स्वाभाविक था । वस्तुतः मेघदूत को "उस समय" "संघात" की कोटि में रखा जाता था[1]। आचार्य दण्डी ने मुक्तक, कुलक, और कोष आदि के साथ संघात को भी "सर्ग-बन्धांशरूप" कहा है[2]। इसमें एक अर्थ (या एक प्रसंग) को एक ही प्रकार के छन्दों में वर्णित किया जाता है । यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संस्कृत के आचार्यों ने मेघदूत को संघात का भी उदाहरण माना है । और खण्डकाव्य को भी। यद्यपि मेघदूत दोनों का आदर्श है किन्तु तो भी ये दोनों काव्य रूप(संघात और खण्डकाव्य) एक दूसरे से भिन्न हैं ।

भोज ने संघात की परिभाषा देते हुए कहा है कि उसमें किसी एक प्रसंग या एक विषय की एक ही कवि की सूक्तियों का समूह होता है । और बृन्दावन, मेघदूतादि को इसका उदाहरण बताया है[3]। मोनियर विलियम्स के कोश में आद्यन्त

१- दण्डी के प्राचीन टीकाकारों ने संघात के उदाहरण स्वरूप "बृन्दावन और मेघदूत" का उल्लेख किया है ।

२- मुक्तक कुलक कोषः संघात इति तादृशः ।
सर्ग बन्धांश रूप त्वादनुक्तः पद्य विस्तरः ।।-दण्डी-काव्यादर्श १।१३

३- संघात- एक प्रणदके यस्त्वेक कृतो भवति सूक्ति समुदायः ।
संघातस्यनिगदितो बृन्दाबन मेघदूतादिः ।।
-भोज(भरतकोश से उद्धृत संघात्)

एक ही छन्द में लिखी गई कविता को संघात कहा है[1]। उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि "संघात" में प्रबन्ध गठन की चेष्टा नहीं होती । वह प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक के अधिक निकट है । उसकी एकसूत्रता केवल एक विषय को लेकर ही है ।

मेघदूत में मेघ के द्वारा सन्देश भेजने की कल्पित वस्तु को एक ही (मंदाक्रान्ता) वृत्त(छन्द) में प्रस्तुत किया गया है । अतः उसे "संघात" कहा गया है किन्तु मेघदूत को प्रबन्ध-काव्य के भेद (लघु प्रबन्ध) के रूप में सर्वप्रथम रुद्रट् ने ही स्वीकार किया अतः खण्डकाव्य के स्वतंत्र काव्य कोटि की प्रथम स्वीकृति ~~सर्वप्रथम~~ अथवा इस काव्य रूप को शास्त्रीय महत्ता देने का श्रेय आचार्य रुद्रट् को ही मिलना चाहिए यद्यपि इस विशिष्ट काव्य रूप को"खण्डकाव्य"की संज्ञा उन्होंने नहीं दी थी,यह कार्य आचार्य विश्वनाथ के द्वारा हुआ ।

नामकरण- प्रबन्ध काव्य के इस लघु रूप के लिए खण्डकाव्य नाम चुनने का क्या कारण था, इसका उत्तर देना कठिन है । रुद्रट् द्वारा संकेतित "लघुकाव्य" ही इसे क्यों नहीं रहने दिया गया? खण्ड काव्य नाम बहुत उत्कृष्ट नहीं ज्ञात होता । "खण्ड" का अर्थ टुकड़ा या अंश मात्र होता है किन्तु उसका उदाहरण "मेघदूत" माना गया जो कि किसी भी दृष्टि से हीन कोटि का काव्य नहीं समझा जाता।। महामहोपाध्याय पंडित हर प्रसाद शास्त्री ने भी इसी प्रकार की शंका की है और उसका उत्तर इस प्रकार दिया है ।" उस समय "खण्ड" शब्द का व्यवहार खांड के लिए होता था । १२वीं शताब्दी में नैषधकार ने खण्डन खण्ड खाद्य बनाया था । छठीं शताब्दी में ब्रह्मगुप्त ने खण्डखाद्य नामक ज्योतिष ग्रंथ बनाया था । हम लोग इस समय जिस प्रकार "अमिय निमाई चरित" कहते हैं, उस समय खण्डकाव्य का अर्थ मधुमय अमृतमय काव्य होता था[2]। जो हो "खण्डकाव्य" पद काव्य की हीनता को व्यक्त नहीं करता, इतना निश्चित है, अन्यथा, "मेघदूत" को इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत न किया जाता ।

१- "ए पोइम कम्पोज्ड इन वन एण्ड द सेम मीटर" ।

२- हरप्रसाद शास्त्री का मत -मेघदूत-विमर्श, लेखक पं॰ रामदहिन मिश्र, पृष्ठ सं॰ ८ से उद्धृत ।

"खण्डकाव्य" का नामकरण "खण्डकथा" के अनुकरण पर होना असंभव नहीं है । "खण्ड-कथा" वस्तुतः प्राकृत का कथा रूप है किन्तु इसका प्रयोग बहुत पहले से प्रारम्भ हो चुका था । उद्योतन सूरि (७७९ई०) कृत कुवलयमाला में कथा के भेदों में खण्डकथा की चर्चा हुई है[1] । रुद्रट् के बाद के संस्कृत के लक्षण ग्रंथ-कारों ने अपने लक्षणों का निर्माण करते समय प्राकृत-अपभ्रंशादि में लिखी गई रचनाओं का भी ध्यान रखा है । इसलिए यह असंभव नहीं लगता कि रुद्रट् के बाद के आचार्यों ने खण्ड-कथा के अनुकरण पर महाकाव्य के लघुरूप को खण्डकाव्य की संज्ञा दी हो। "खण्डकाव्य" की परिभाषा जो विश्वनाथ ने दी है वह भी "खण्डकाव्य" की परिभाषा की पद्धति पर ही अर्थात् उसके बृहत् रूप के साथ सापेक्षिक संबंध दिखाते हुए -दी गई है । ध्वन्यालोक की लोचन टीका (१०वीं शताब्दी) में "खण्डकथा" को कथा के एक देश का वर्णन करने वाली कथा कहा गया है[2]। संस्कृत मे इन कथाओं का विकास नहीं हुआ । "कथा" के विशेषण "खण्ड" को काव्य का भी विशेषण बनाया गया होगा और खण्ड कथा की भांति काव्य या महाकाव्य के एक देश का वर्णन करने वाले काव्यों को खण्डकाव्य की कोटि प्रदान की गई होगी । ऐसा अनुमान तर्क सम्मत प्रतीत होता है ।

परिभाषा- संस्कृत के आलंकारिकों में केवल विश्वनाथ ने खण्ड काव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है-"खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारिच[3]।" अर्थात् खण्ड काव्य महाकाव्य या काव्य का एकदेशानुसारी होता है । आचार्य विश्वनाथ की उक्त परिभाषा को समझने के लिए पहले महाकाव्य की परिभाषा जानना आवश्यक है । महाकाव्य के लक्षणों की चर्चा संस्कृत के आचार्यों ने बड़े विस्तार से की है । सभी आचार्यों के लक्षण थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ लगभग एक से हैं। पूर्ववर्ती आचार्यों में दण्डी और उत्तरवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ की परिभाषाएं अधिक महत्वपूर्ण है अतः उन्हें नीचे उद्धृत किया जा रहा है-

आचार्य दण्डी (छठीं शताब्दी) ने "सर्गबन्ध" महाकाव्य की परिभाषा इस प्रकार दी है-

---

१- प्राकृत और अपभ्रंश का हिन्दी साहित्य पर प्रभावःथीसिस डा०रामसिंह तोमर, पृष्ठ 1

२- देखिए, ध्वन्यालोक-लोचन तृतीय उद्योत कारिका ७ की व्याख्या ।

३- साहित्य दर्पण ~~६।३१५-३१९~~ ६।३२८-३२९ ।

सर्ग बन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्
आशीर्नमस्क्रिया वस्तु निर्देशोवापि तन्मुखम् ।।
इतिहास कथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः
उद्यानसलिलक्रीड़ा मधुपानरतोत्सवैः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहश्च कुमारोदयवर्णनैः
मन्त्रदूतप्रयाणादिनायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ।।
सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरूपेतं लोकरंजकम्
काव्यंकल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति ।।
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः [1]।।

आचार्य विश्वनाथ (१४वीं शताब्दी) ने महाकाव्य के लक्षण अधिक विस्तार के साथ दिए हैं । उन्होंने अपने युग से पूर्व लिखी गयी कृतियों को दृष्टि में रखते हुए अपने लक्षणों को अधिक व्यापक बनाने की चेष्टा की है । उनके द्वारा निर्देशित महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार हैं-

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशक्षत्रियोवापि धीरोदात्त गुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवो पि वा ।
शृंगारवीरशान्तानामेको गीं रस इष्यते ।
अंगानि सर्वे पि रसाः सर्वे नाटक सन्धयः ।
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।
आदौनमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसाने न्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।

१- काव्यादर्शः दण्डी सर्ग १, श्लोक १४-१० ।

नानावृत्तमयः क्वापि सर्गकश्चन दृश्यते ।
सर्गान्तेभावि सर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।
सन्ध्यासूर्येंदुरजनी प्रदोश ध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्यान्हमृगयाशैलर्तुवन सागराः ।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रण प्रयाणोपयमन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमीइह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ।
नामास्य सर्गोपादेय कथयासर्गनाम तु[1]।
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यान संज्ञकाः ।

उक्त दोनों परिभाषाओं से महाकाव्य की निम्नलिखित विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है-

१-महाकाव्य सर्गबद्ध होना चाहिए और सर्ग न बहुत बड़े होने चाहिए न बहुत छोटे (विश्वनाथ के अनुसार ८ से अधिक सर्ग अवश्य होना चाहिए, इसी को दण्डी ने "असंक्षिप्तम्" कह कर निर्दिष्ट किया है) ।

२- नायक धीरादात्त (गुण संपन्न) होना चाहिए(दण्डी ने धीरोदात्त के स्थान पर चतुरोदात्त कहा है)(विश्वनाथ के अनुसार उसे देवता या सद्वंश क्षत्री भी होना चाहिए । एक या अनेक वंशों में उत्पन्न अनेक नायक भी हो सकते हैं)।

३- कथा इतिहासोद्भूत अथवा सज्जनाश्रित होनी चाहिए ।

४- नाटक की समस्त(पंच) सन्धियों का प्रयोग होना चाहिए।

५- आरम्भ में आशीर्नादात्मक, नमस्कारात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण होना चाहिए ।

६- धर्म अर्थ काम मोक्ष चतुर्वर्ग का समावेश होना चाहिए(विश्वनाथ के अनुसार इनमें से केवल एक की फल रूप मे प्राप्ति होनी चाहिए) ।

७- एक रस अंगी और अन्य रस अंग रूप मे प्रयुक्त होने चाहिए(दण्डी ने "रस भाव निरन्तरम्" कह कर प्रारम्भ से अंत तक एक ही रस के निर्वाह को आवश्यक माना है) ।

१- साहित्य दर्पणः आ० विश्वनाथ सर्ग ३,श्लोक ३१५-३२५ ।

८- सर्ग में सर्वत्र एक छन्द का प्रयोग और अन्त में छन्द परिवर्तित होना चाहिए (दण्डी ने "सर्वत्र भिन्न वृत्तान्तै रूपेतम्" कहा है, विश्वनाथ के अनुसार कहीं कहीं विविध छन्दो बद्ध सर्ग भी होते हैं) ।

९- विभिन्न वस्तु-व्यापारों का वर्णन- सूर्य, चन्द्र, शैल, ऋतु, वन, समुद्र, विप्रलंभ, विवाह, मन्त्रणा, रण-प्रयाण, पुत्रोत्पत्ति के वर्णन दण्डी और विश्वनाथ दोनों में सामान्य हैं । विश्वनाथ संध्या, रजनी, सूर्यास्त, अंधकार, दिन, प्रातः, मध्यान्ह, मृगया, मुनि, सृष्टि, यज्ञ, संभोग अतिरिक्त है और दण्डी में सलिलक्रीड़ा, मधुपान, रनोत्सव । दोनों आचार्यों के वर्ण्य विषयों को मिलाने से उपर्युक्त २७ वर्णनीय विषयों की व्यवस्था महाकाव्यों के लिए ही की गई है । इनमें से सभी का समावेश प्रत्येक महाकाव्य के लिए उपर्युक्त ९ लक्षण प्रायः दोनों आचार्यों में सामान्य रूप से मिलते हैं । दण्डी अलंकार वादी आचार्य थे अतः उनकी परिभाषा मे (१०) अलंकृत व लोकरंजक होना भी महाकाव्य का विशेष लक्षण माना गया है । आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा में तीन बातें और मिलती हैं । खल निंदक और सज्जन प्रशंसा (११) सर्गान्त में भावी सर्ग की कथा का संकेत (१२) और काव्य के नामकरण का आधार पात्र या कथावृत्त(१३)।

महाकाव्य के उपर्युक्त लक्षण किस सीमा तक खण्डकाव्य में मिलने चाहिये, इस पर यहां विचार किया जा सकता है । उपर्युक्त १३ लक्षणों में से प्रथम और चतुर्थ अर्थात् सर्ग विभाजन और सन्धि प्रयोग को स्वयं आचार्य विश्वनाथ ने अनावश्यक बता दिया है[1]। सर्ग विभाजन के अनावश्यक हो जाने पर सर्गान्त में छन्द परिवर्तन तथा भावी सर्ग की सूचना वाले उपर्युक्त आठवें और बारहवें लक्षण भी खण्डकाव्य के प्रसंग में अनावश्यक सिद्ध हो जाते हैं । अब उपर्युक्त दूसरे, तीसरे, पांचवे, छठें, सातवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें और तेरहवें लक्षणों पर विचार करना शेष रहता है ।

खण्डकाव्य को "काव्य"(या महाकाव्य) का एकदेशानुसारी बताया जा चुका है । इसका तात्पर्य है कि महाकाव्य के लक्षण आंशिक और सीमित रूप में ही खण्डकाव्य में उपलब्ध हो सकते हैं । महाकाव्य में जो विविधता, व्यापकता

१- भाषा विभाषा नियमात्काव्यं सर्ग समुज्झितम्
एकार्थ प्रवणैः पद्यैः सन्धि सामग्र्य वर्जितम्
खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च । -साहित्य दर्पण ६।३२८-३२९ ।

और महानता होती है वह खण्डकाव्य में नहीं मिल सकती । खण्डकाव्य में जीवन की एक घटना या उसका एक पक्ष या एक अंश ही गृहीत होता है । "एकादेशानुसारिता" के इसी अभिप्राय को दृष्ट में रखकर हम उपर्युक्त अनु० में निर्दिष्ट लक्षणों पर विचार कर सकते हैं ।

(२) खण्डकाव्य का नायक महाकाव्य की भांति धीरोदात्त या चतुरोदात्त होना संभव नहीं है । नायक के औदात्य को स्पष्ट करने के लिए घटनाओं एवं परिस्थितियों की जो विशाल पृष्ठभूमि अपेक्षित होती है, उसके लिए खण्डकाव्य के सीमित परिवेश में गुंजाइश नहीं होती । खण्डकाव्य में नायक के चरित्र के किसी विशेष पक्ष का उद्घाटन ही संभव है । सम्पूर्ण व्यक्तित्व नहीं उभारा जा सकता हां आदर्श व्यक्ति को ही खण्डकाव्य का नायक बनाया जा सकता है । नायक का देवता, कुलीन, क्षत्री आदि होना महाकाव्य की भांति खण्डकाव्य के लिए भी कदाचित् आवश्यक रहा होगा ।

(३) कथा का इतिहासोद्भूत अथवा सज्जनाश्रित होना महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों के लिए समानरूप से मान्य हो सकता है । आचार्यों ने ऐतिहासिक के साथ-साथ कल्पित कथानक की भी व्यवस्था कर दी है, किन्तु फिर भी प्रबन्धकाव्यों के लिए ऐतिहासिक या ख्यातवृत्त ही अधिक उपयोगी सिद्ध होता है । हां, खण्डकाव्य की कथा एक घटना, प्रसंग अथवा विशिष्ट•पक्ष तक ही सीमित होती है ।

(५) "मंगलाचरण" की आवश्यकता खण्डकाव्य और महाकाव्य के लिए समान महत्व की है ।

(६) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चतुर्वर्ग की समष्टि महाकाव्य में आवश्यक है । आचार्य विश्वनाथ ने चतुर्वर्ग की अवस्थिति होते हुए भी किसी एक की ही फल रूप में प्राप्ति महाकाव्य में मानी है । किन्तु खण्डकाव्य में धर्म, अर्थ, काम,मोक्ष में से किसी एक को ही ग्रहण किया जाता है । और एक की ही फल रूप में प्राप्ति होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों की रचना विशिष्ट उद्देश्य से होती है । महाकाव्य का यह उद्देश्य व्यापक और महान् होता है, किन्तु खण्डकाव्य का उद्देश्य सीमित और एक-पक्षीय होता है । आचार्य रूद्रट् ने लघु प्रबन्ध के लिए स्पष्ट कहा है कि उस में चतुर्वर्ग फल में से

किसी एक को उद्देश्य बनाकर रचना की जाती है[1]।

(७) एक रस अंगी और अन्य रस अंगरूप में होना महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों के लिए ही आवश्यक है । हां, इतना अवश्य है कि महाकाव्य में सभी रस प्रसंगानुसार नियोजित हो सकते हैं किन्तु खण्डकाव्य के सीमित परिवेश में अधिक रसों को सफलता के साथ निष्पन्न किया नहीं जा सकता है । फिर भी एक प्रधान रस महाकाव्य की भांति खण्डकाव्य में भी अपेक्षित है । काव्य के एकान्वित प्रभाव के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है ।

(९) विविध विषय वर्णन की दृष्टि से खण्डकाव्य सच्चे अर्थों में महाकाव्य का एकदेशानुसारी है । वर्णनों का जो विस्तार और वैविध्य महाकाव्य में अपेक्षित है, खण्डकाव्य में उतना विस्तार उन्हें नहीं मिल सकता । यद्यपि महाकाव्य के लिए निर्दिष्ट वर्ण्य विषयों का ग्रहण खण्डकाव्यों में भी होता है । उसमें भी प्रसंगानुसार नगरार्णव, शैल ऋतु, संध्या प्रभात आदि के मनोहारी वर्णन होते हैं किन्तु ये वर्णन संख्या और विस्तार में उतने विशद नहीं होते हां, सरसता, रमणीयता और काव्यात्मकता की दृष्टि से इनका महत्व कम नहीं होता । इन्हीं वर्णनों की व्यापकता और विशदता के बल पर खण्डकाव्योपयुक्त लघु कथा को महाकाव्य के रूप में विकसित किया जा सकता है । वर्णन प्रबन्धकाव्यों के प्रमुख तत्व हैं जो किसी न किसी रूप में आरम्भ से लेकर आज तक की रचनाओं में मिलते हैं- हां वर्ण्य विषयों मे युगानुकूल परिवर्तन होता रहता है ।

(१०) अलंकारों का प्रयोग महाकाव्य और खण्डकाव्य दोनों के लिए समान रूप से आवश्यक माना जा सकता है, किन्तु अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म हैं स्थिर धर्म नहीं अतः उन्हें परिभाषा में स्थान देने की आवश्यकता नहीं । प्रतिभाशाली कवियों की रचनाओं में वे अनायास ही समाविष्ट हो जाते हैं ।

(११) "खल निन्दा और सज्जन प्रशंसा"महाकाव्य के महत् उद्देश्य और व्यापक परिवेश को ध्यान में रखते हुए आवश्यक हो सकता है किन्तु खण्डकाव्य की संकुचित सीमा में नहीं ।

(१२) ग्रंथ का नामकरण पात्र या वृत्त के आधार पर होना महाकाव्य खण्डकाव्य दोनोंके लिए ही लागू होता है ।

१- त लघवो विधेया येष्वन्यतमो भवेच्चतुर्वर्गात् - रुद्रटः काव्यालंकार १६:६ ।

अतः खण्डकाव्य के लक्षण शास्त्रीय मान्यता के अनुकूल निम्नलिखित ठहरते हैं-

खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक पक्ष या एक अंश का चित्रण होता है । इसका नायक देवता, कुलीन, क्षत्रिय, या कोई सज्जन पुरुष होता है । इसकी कथा सामान्यतः ख्यात होती है किन्तु वह कल्पित भी हो सकती है । कथा के आरंभ में मंगलाचरण का विधान होता है । इसमें चतुर्वर्ग फल में से किसी एक की प्राप्ति नायक को होती है । इसमे एक रस की ही प्रधानता होती है, किन्तु अन्य रस भी अप्रधान रूप में आ सकते हैं । प्रसंगानुसार महाकाव्यों के लिए निर्धारित वर्ण्य विषयों में से कुछ का सीमित वर्णन होता है । यह अलंकृत होता है और इसका नामकरण पात्र या कथावृत्त पर आधारित होता है ।

एकार्थ काव्य- खण्ड काव्य और महाकाव्य के बीच आचार्य विश्वनाथ ने "काव्य"(एकार्थ प्रवण) की एक और विधा स्वीकृत की है । अतः महाकाव्य और खण्डकाव्य के अन्तर को समझने के लिए इस "काव्य" के स्वरूप को समझना नितान्त आवश्यक है । आचार्य विश्वनाथ ने "काव्य"(एकार्थ प्रवण) की परिभाषा इस प्रकार दी है-

भाषाविभाषानियमात्काव्यं सर्गसमुज्झितम् ।
एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम्[1]।

अर्थात्, "काव्य पद्य-प्रबन्ध का वह प्रकार है जो संस्कृत, प्राकृत, किंवा अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया जाता है । इसमें सर्गों का बन्ध आवश्यक नहीं और न "सन्धि पंचक" की पूर्ण ल रचना ही अपेक्षित है । इसकी रूपरेखा एकार्थ प्रवण अर्थात् एक वृत्त, अथवा चरित से सम्बद्ध पद्य-कदम्ब से हो जाया करती है[2]।" उत्प्रेक्षा बल्लभ रचित "भिक्षाटन" काव्य मनकां (भंमक) रचित "वृन्दावन" काव्य इसके उदाहरण बताए गए हैं ।

हिन्दी में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसकी व्याख्या कुछ और विस्तार के साथ इस प्रकार प्रस्तुत की है-

---

१- साहित्य-दर्पणः आचार्य विश्वनाथ सर्ग ६, श्लोक सं० ३२८ ।
२- "सत्यव्रत सिंह की टीका", से उद्धृत ।

"महाकाव्यों की ही पद्धति पर कुछ ऐसे प्रबन्ध काव्य भी बनते रहे हैं जिनमें पंच संधियों का विधान नहीं होता । तात्पर्य यह है कि इनमें पूर्ण जीवन वृत्त ग्रहण तो किया जा सकता है पर उसका अधिक विस्तार नहीं होता जितना महाकाव्य में देखा जाता है । इसमें कथा का कोई उद्दिष्ट पक्ष प्रबल होता है । महाकाव्य में कर्ता का प्रयत्न वस्तुतः दो प्रधान तत्वों की योजना में दिखाई देता है- एक तो वस्तु वर्णनों की सम्पूर्णता और दूसरे कथा वस्तु का विस्तार । महाकाव्य में कथा-प्रवाह विविध भंगिमाओं के साथ मोड़ लेता हुआ आगे बढ़ता है । किन्तु एकार्थ काव्य में कथा-प्रवाह के मोड़ कम होते हैं । अधिकतर वर्णनों या व्यंजनाओं पर ही कवि की दृष्टि रहती है ।(हिन्दी में इस प्रकार के कई काव्य प्रस्तुत हुए हैं । गंगावतरण, प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायनी आदि वस्तुतः एकार्थ काव्य ही हैं[1]) ।

खण्डकाव्य और एकार्थ काव्य में मुख्य अन्तर इस प्रकार बताया जा सकता है कि जहां खण्डकाव्य में जीवन के किसी एक पक्ष या प्रसंग का चित्रण होता है वहां एकार्थ काव्य की कथा जीवन की व्यापक परिधि में संचरण करती है । किन्तु फिर भी महाकाव्य की भांति जीवन के विविध पक्षों का विस्तृत एवं बहुमुखी चित्रण एकार्थ काव्य में नहीं मिलता और न वे जातीय या राष्ट्रीय जीवन का प्रतिबिम्ब ही इसमें दिखाई पड़ता है । एकार्थ काव्य में जीवन के व्यापक पक्ष को ग्रहण करते हुए भी समुचित विस्तार केवल किसी उद्दिष्ट पक्ष को ही मिल पाता है, शेष पक्ष अविकसित ही रहते हैं । एकार्थ प्रवण काव्य से तात्पर्य है जिसमें एक प्रसंग की प्रवणता या प्रधानता हो, शेष प्रसंग गौण हों । किन्तु खण्डकाव्य में एक घटना या प्रसंग ही कथा का आधार बनता है अन्य प्रसंगों को उसमें सम्मिलित करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती ।

हिन्दी में "खण्डकाव्य" का प्रचार तो बहुत हुआ किन्तु "एकार्थ काव्य" की प्रसिद्धि उतनी न हुई । यद्यपि एकार्थ काव्य के उपर्युक्त लक्षणों का निर्वाह हिन्दी की अनेक रचनाओं में मिलता है किन्तु तो भी वे एकार्थ काव्य के रूप में प्रसिद्ध न पा सकीं । या तो उन्हें प्रबन्धकाव्य की सामान्य संज्ञा से अभिहित किया गया है या फिर महाकाव्य या खण्डकाव्य में से किसी कोटि मे रख दिया गया है ।

१- वाङ्मय -विमर्श, ~~पृष्ठ संख्या १~~ (?)

किन्तु इधर श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की मान्यता से प्रेरणा पाकर तथा हिन्दी में प्रबन्ध काव्य की बढ़ती हुई विधाओं को दृष्टि में रखकर विद्वानों में "एकार्थ-काव्य" को स्वतंत्र काव्य कोटि के रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ती हुई दिखाई दे रही है । प्रस्तुत लेखक के दृष्टिकोण से जो रचनाएं महाकाव्य या "खण्डकाव्य" की कोटि में नहीं आतीं उनमें से जो एकार्थकाव्य की उपर्युक्त परिभाषा में अन्तर्मुख होने की क्षमता रखती हों, उनको एकार्थकाव्य की संज्ञा देना उचित ही नहीं आवश्यक भी है ।

आचार्य विश्वनाथ की परिभाषा के प्रकाश में पिछले पृष्ठों में हमने खण्डकाव्य का स्वरूप समझने की चेष्टा की है किन्तु फिर भी महाकाव्य के संदर्भ में उसका विश्लेषण होने के कारण महाकाव्य, एकार्थ काव्य और खण्डकाव्य की निश्चित सीमाएं उतनी स्पष्टता के साथ प्रत्यक्ष नहीं हो पातीं ।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है विश्वनाथ के पूर्व ९वीं शताब्दी में आचार्य रुद्रट् ने प्रबन्ध काव्य के महत् और लघु दो भेद करके "खण्डकाव्य" के विशिष्ट काव्य रूप कासंकेत कर दिया था । आज भी खण्डकाव्य को प्रबन्ध काव्य का एक भेद माना जाता है । अतः आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रबन्ध काव्य के लक्षणों का परिचय प्राप्त कर हम खण्डकाव्य के स्वरूप को समझने की चेष्टा करेंगे-

वैसे तो आचार्य रुद्रट् ने काव्य, कथा-आख्यायिका आदि सभी प्रबन्धों के महत् और लघु भेदों की चर्चा करते हुए प्रबन्ध को व्यापक अर्थ में ही ग्रहण किया है, किन्तु उसके अनन्तर कथा-आख्यायिकादि के रोमांचक स्वरूप का स्पष्ट निर्देश कर[१] उन्होंने प्रबन्ध काव्य के विशिष्ट रूप और कथा-आख्यायिका के बीच विभाजक रेखा खींचने की चेष्टा की है । इस प्रकार प्रबन्ध काव्य के स्वरूप आदिका स्पष्ट परिचय न देते हुए भी उन्होंने उसके कथा आदि से भिन्न गंभीर काव्य पक्ष की ओर संकेत अवश्य किया है । आगे चल कर आनन्दवर्धन ने प्रबन्ध ध्वनि और आचार्य कुन्तक ने प्रकरण और प्रबंध वक्रता के अंतर्गत इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है ।

रुद्रट् के ही लगभग समकालीन ध्वनिकार आनंदवर्धन ने प्रबन्ध ध्वनि के अन्तर्गत प्रबन्ध के गठन व उसके द्वारा रसाभिव्यक्ति की युक्तियों पर प्रकाश डाला है । उनके अनुसार प्रबन्धान्तर्गत रसाभिव्यक्ति के लिए इन पांच बातों का ध्यान रखना आवश्यक है[२]-

---

१- देखिए, रुद्रटः काव्यालंकार १६, पृ०२०-२३ ।
२- ध्वन्यालोक, उद्योत ३, कारिका १०-१४ (आचार्य विश्वेश्वर कृत टीका से उद्धृत)

१- ऐतिहासिक अथवा कल्पित एक सुन्दर मूल कथा का निर्धारण ।

२- उस कथा का रस के अनुकूल संस्करण अर्थात् कथा में रस के प्रतिकूल अंशों का त्याग और अनुकूल की कल्पना ।

३- रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से कथा-विस्तार में अपेक्षित सन्धि तथा सन्ध्यंग की रचना ।

४- बीच में यथास्थान उद्दीपन प्रशमन और प्रबन्ध में प्रधान रसका आदि से अन्त तक अनुसन्धान या अविस्मरण ।

५- उचित मात्रा में और उचित स्थानों पर ही अलंकारों का समावेश ।

ध्वनिकार के उपर्युक्त निर्देशों में प्रबन्ध काव्य में रस की अविच्छिन्नता और प्रभावान्विति के गुणों पर ही बल दिया गया है । आचार्य विश्वेश्वर ने लिखा है- "काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्ण रूप से "रस परतन्त्र" बन जाना चाहिए । इसलिए यदि इतिहास में "रस" के विपरीत स्थिति देखे तो उसको तोड़कर स्वतंत्र रूप से रस के अनुरूप दूसरी (प्रकार से) कथा बना ले । इतिवृत्त का निर्वाह कर देने मात्र से कवि का कोई लाभ नहीं है क्योंकि वह प्रयोजन तो इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है[1]।"

आचार्य कुन्तक (ग्यारहवीं शताब्दी) ने अपने वक्रोक्ति जीवितम् के चतुर्थ उन्मेष में प्रकरण वक्रता और प्रबन्ध वक्रता की चर्चा करते हुए प्रबन्ध रचना के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला है । आचार्य कुन्तक के इस विवेचन के संबंध में डा० नगेन्द्र ने लिखा है कि "भारतीय काव्य-शास्त्र में प्रबन्ध -कौशल का यह सर्वप्रथम मौलिक तथा सांगोपांग विवेचन है[2]।"

<u>प्रकरण - वक्रता</u>- प्रबन्ध-वक्रता के अन्तर्गत प्रबन्ध के चमत्कार उत्पादक प्रकरणों का निर्देश किया गया है । यहां संबद्ध कारिकाओं की आचार्य विश्वेश्वर की टीका प्रस्तुत की जा रही है -

१-"जहां व्यवहर्ताओं के अदम्य उत्साहातिरेक के कारण उनके वार्तालाप रूप प्रकरण में कुछ अद्भुत चमत्कार उत्पन्न हो गया है[3]।"

१- ध्वन्यालोकः आचार्य विश्वेश्वर पृष्ठ २६५ ।
२- भारतीय काव्य-शास्त्र की रूपरेखा(लेखक डा० नगेन्द्र) पृष्ठ संख्या १९३ ।
३- हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्, उन्मेष ४, कारिका ४-१४(संपादक व टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर) ।

२- जहां "कवि इतिहास प्रसिद्ध किसी घटना मे अपनी प्रतिभा से कुछ हल्का सा परिवर्तन कर आख्यान वस्तु को सजीव और उदात्त बनाकर काव्य या नाटक में चमत्कार उत्पन्न कर देता है ।"

३- "जहां नाटक का कोई एक देश उसी नाटक में किसी दूसरे स्थान पर अपना प्रभाव डालकर कुछ अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर देता है ।"

४-"एक ही पदार्थ का बार-बार वर्णन करने पर भी कवि की प्रतिभा से उसकी इस प्रकार योजना की जाय कि उसमें कहीं पुनरुक्ति प्रतीत न हो अपितु हर जगह कुछ नवीन चमत्कार अनुभव में आवे ।"

५- "जहां जलक्रीड़ा आदि किसी अंग विशेष के वर्णन से कथा में वैचित्र्य आ जाता है वह पांचवें प्रकार की प्रकरण वक्रता कहीं जाती है ।"

६-" जहां काव्य या नाटक का कोई विशेष प्रकरण प्रधान रस की अभिव्यक्ति का ऐसा परीक्षा निकष बन जाता है कि वैसा चमत्कार आगे या पीछे के प्रकरणों में नहीं दीख पड़ता है ।"

७- "जहां प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य (अप्रधान) वस्तु की उल्लेख योग्य(विशेष महत्व की) विचित्रता प्राप्त होती है ।"

८- "सामाजिक जनों के आनन्द प्रदान करने में निपुण नटों के द्वारा स्वयं सामाजिक के स्वरूप को धारण कर (तद् भूमिकां समास्थाय) और अन्य दूसरे नटों को बनाकर कहीं एक नाटक (प्रकरण) के भीतर दूसरा(प्रकरण) नाटक प्रयुक्त होता है वह सारे प्रबन्धों की सर्वस्व भूत अलौकिक वक्रता को पुष्ट करता है ।"

९- "मुख, प्रतिमुख, सन्धि, आदि के (यथोचित) सन्निवेश (आगे, पीछे रचना) से मनोहर पूर्व तथा उत्तर की संगति से अंगों का(उचित रूप से) सन्निवेश " ---अर्थात् प्रबन्ध(काव्य या नाटक) में आगे आगे के प्रकरण उत्तर उत्तर के प्रकरणों के साथ सरलता पूर्वक सन्धि सम्बन्ध को प्राप्त होने से अर्थात् उल्लेख से युक्त उत्तर प्रकरणों के ~~सन्ट~~ साथ ठीक मेल बैठ जाने से कथा की रचना मे सौंदर्य का समावेश कर (कवि की) प्रतिभा की प्रौढ़ता से उद्भावित वक्रता के उल्लेख (सहृदयों को) आह्लादित करता है ।"

उपर्युक्त समस्त वक्राओं को डा॰ नगेन्द्र ने क्रमशः "भाव पूर्ण स्थिति

की मानों सिद्धि हो जाने से अबाध रस से उज्ज्वल प्रबन्ध (काव्य) की किसी भ अनिर्वचनीय वक्रता क़ी उत्पन्न (या पुष्ट) करती है ।"

४- "एक ही (विशेष कार्य के) फल प्राप्ति के लिए उद्यत हुआ भी नायक उसी के समान आदर योग्य अनन्त फलों में - अपने प्रभाव के चमत्कार से प्राप्त होने वाले अत्यन्त यश का भाजन होकर कारण बनता है । (इसलिए यह भी प्रबन्ध वक्रता का(आनुषंगिक फल वक्रता" नामक) एक विशेष प्रकार होता है।"

५- "वस्तुओं (कथा भाग आदि) के वैचित्र्य की बात जाने दो प्रधान कथा के (द्योतक) चिन्ह रूप नाम से भी कवि काव्य में कुछ अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देता है ।(और वह भी प्रबन्ध वक्रता का पंचम भेद कहा जाता है ।"

६- "एक ही श्रेणी में (एक ही कथा के आधार पर) बंधे हुए महाकवियों द्वारा निर्मित काव्य नाटकादि एक दूसरे से विलक्षण होने से किसी अपूर्व वक्रता को पुष्ट करते हैं ।(और वह भी प्रबन्ध -वक्रता का एक विशेष,प्रकार है)।"

डा॰ नगेन्द्र ने उक्त वक्रताओं को क्रमशः "मूल-रस-परिवर्तन," "समापन-वक्रता","कथा-विच्छेद-वक्रता"आनुषंगिक फल वक्रता", "नामकरण-वक्रता" और "तुल्य-कथा-वक्रता" कहा है[१]।

हिन्दी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रबन्ध-कल्पना बहुत कुछ उक्त आचार्यों की धारणाओं के अनुकूल है । उन्होंने लिखा है-

"प्रबन्ध काव्य मे मानव जीवन का एक पूर्ण दृश्य होता है । उसमें घटनाओं की संबद्ध शृंखला और स्वाभाविक क्रम के ठीक-ठीक निर्वाह के साथ-साथ हृदय को स्पर्श करने वाले उसे नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश होना चाहिए । इतिवृत्त मात्र के निर्वाह से रसानुभव नहीं कराया जा सकता । उसके लिए घटना चक्र के अन्तर्गत ऐसी वस्तुओं और व्यापारों का प्रतिबिम्बवत् चित्रण होना चाहिए जो श्रोता के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में समर्थ हों । अतः कवि को कहीं तो घटना का संकोच करना पड़ता है और कहीं विस्तार"

१- देखिए, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका(संपा॰ डा॰ नगेन्द्र) पृष्ठ सं॰ 200 (-२१०) ।

की उद्‌भावना", "उत्पाद्य लावण्य" , "अविद्यमान की कल्पना और विद्यमान का संशोधन", "प्रधान कार्य से संबद्ध प्रकरणों का उपकार्य-उपकारक भाव", "विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना", "प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए सुन्दर अप्रधान प्रसंग की उद्‌भावना", "गर्भांक" और "प्रकरणों का पूर्वापर अन्विति-क्रम" कहा है[1]।

<u>प्रबन्ध-वक्रता</u>- आचार्य कुन्तक की प्रबन्ध-वक्रता सम्बन्धी ~~कोटिकाओं की आचार्य विश्वेश्वर कृत टीका~~ मान्यताओं को यहां उद्धृत किया जा रहा है[2]-

१- "इतिहास में (अर्थात् नाटक आदि की मूल कथा जिस ऐतिहासिक आधार पर ली गई है उसमें) अन्य प्रकार से दिखलाए हुए रस की सम्पत्ति की उपेक्षा करके जहां किसी अन्य सुन्दर रस से (कथा की) समाप्ति की जाय ।"

"प्रारम्भ से ही रचना सौन्दर्य को प्रकाशित करने वाले उसी (इतिहास प्रसिद्ध) कथा शरीर की (जिन राजा या पाठक आदि की शिक्षा के लिए नाटकादि की रचना की गई है उन) विनेयों के आनन्द सम्पादन के लिए (जहां इतिहास में अन्य प्रकार से निरूपण किए हुए रस की उपेक्षा कर अन्य रस से कथा की समाप्ति हो, यह पूर्व कारिका से संबद्ध है) वह प्रबन्ध की वक्रता होती है ।"

२- "सारे संसार में अद्‌भुत चमत्कार जनक नायक के (चरित्र के) उत्कर्ष का पोषण करने वाले इतिहास के एक देश से ही (उत्तरवर्ती कथा के विरस भाग को छोड़ने के लिए) काव्य या नाटक आदि (प्रबन्ध) को समाप्त कर देना (भी प्रबन्ध वक्रता का ही दूसरा प्रकार है)

(इतिहास प्रसिद्ध कथन के बीच में जहां पर प्रबन्ध काव्य नाटक आदि को कवि ने समाप्त किया है) उसके आगे की कथा में होने वाली नीरसता को बचाने के लिए (सारी कथा का वर्णन न करके नायक के उत्कर्ष को चरम सीमा पर पहुंचाने वाले भाग पर ही बीच में जब कथा की समाप्ति) कवि कर देता है वह इस (प्रबंध) की विचित्र अद्‌भुत (आनन्ददायक) वक्रता होती है ।"

३- "प्रधान(मुख्य वर्णनीय) वस्तु के सम्बन्ध को तिरोहित कर देने वाले (शिशुपाल वध आदि रूप) किसी अन्य कार्य के व्यवधान से विच्छिन्न हो जाने से विरस हुई कथा- वहां (कार्यान्तर से विच्छेद स्थल पर) ही उस (प्रधान कार्य)

१- देखिए, भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका(संपा० डा० नगेन्द्र) पृ०सं०२७६ से २८२ तक ।

२- हिन्दी वक्रोक्ति जीवितम्(संपादक व टीकाकार आचार्य विश्वेश्वर)उन्मेष ४, कारिका १६-२५ ।

घटना का संकुचित उल्लेख तो केवल इतिवृत्त मात्र होता है, उसमें एक-एक ब्यौरे पर ध्यान नहीं दिया जाता और न पात्रो के हृदय की झलक दिखाई जाती है । प्रबंध काव्य के भीतर ऐसे रस पूर्ण स्थलों की केवल परिस्थिति की सूचना देते हैं । इतिवृत्त रूप इन वर्णनो के बिना उन परिस्थितयों का ठीक परिज्ञान नहीं हो सकता जिनके बीच पात्रों को देखकर श्रोता अपने हृदय की अवस्था का अपनी सहृदयता के अनुसार अनुमान करते हैं । यदि परिस्थिति के अनुकूल पात्र के भाव नहीं हैं तो विभाव, अनुभाव और संचारी द्वारा उनकी अत्यन्त विशद व्यंजना क भी फीकी लगती है"[१] ।

निष्कर्ष

प्रबंध काव्य संबंधी उपर्युक्त उल्लेखों के परिशीलन के आधार पर प्रबन्ध काव्य की विशेषताओ को हम संक्षेप में इस प्रकार रख सकते हैं-

इतिवृत्त और रसात्मक वर्णनों का सुन्दर सामंजस्य होता है । उसमें वर्णित घटनाएं परस्पर संबद्ध और कथा के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होती हैं और उनमें एकान्विति होती हैं । प्रबन्ध में मौलिकता लाने या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कवि नवीन प्रसंगों की उद्भावना अथवा विशिष्ट प्रकरणों या स्थलों की अतिरंजना करता है और वर्णनों में सजीवता लाने की चेष्टा करता है प्रबंध काव्य की रचना चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने, किसी आदर्श की स्थापना करने अथवा किसी न किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए होती है ।

कोई भी रचना खण्डकाव्य तभी हो सकती है जब वह पहले प्रबन्ध काव्य हो अतः प्रबन्ध काव्य की उपर्युक्त विशेषताएं भी खण्डकाव्य में होनी चाहिए । खण्डकाव्य के पूर्वोल्लिखित लक्षणों के साथ प्रबन्ध काव्य के इन लक्षणों को मिलाने पर हम खण्डकाव्य के स्वरूप को इस प्रकार स्थिर कर सकते हैं-

खण्डकाव्य की कथा इतिहासोद्भूत होने पर भी मौलिकता संपन्न होनी चाहिए । नायक के जीवन के एक पक्ष या प्रसंग पर आधारित होने पर भी वह अपने आप में पूर्ण होनी चाहिए । कथानक के विकास में तारतम्य और एकान्विति होनी चाहिए । नायक देवता, कुलीन, क्षत्रिय या सज्जन पुरुष होना चाहिए । उससे संबंधित इतिवृत्त को मार्मिक प्रसंगों और सजीव वर्णनों से संपृक्त कर प्रभावोत्पादक और रसाभिव्यंजक बनाया जाना चाहिए । उसमें

आद्यन्त एक ही प्रधान रस की व्यंजना होनी चाहिए । उसमें अन्य रस यदि आवें तो प्रधान रस के अंग होकर । खण्डकाव्य की रचना चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने अथवा किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए होनी चाहिए और कथा के अन्त में नायक को फल की सिद्धि होनी चाहिए ।

पश्चिमी प्रबन्ध काव्य
(नैरेटिव पोयट्री)

पश्चिमी देशों में समस्त (काव्यबद्ध) प्रबन्धात्मक रचनाओं के लिए सामान्यतः नैरेटिव पोयट्री" या "नैरेटिव वर्स" पद का व्यवहार किया जाता है । यह पद इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है कि इसके अन्तर्गत बड़े से बड़े आकार वाले महाकाव्यों (तूलभूत एपिक्स) से लेकर छोटे छोटे प्रबन्ध (स्माल नैरेटिव) भी अन्तर्मुक्त हो जाते हैं । "नैरेटिव पोयट्री" के उत्कृष्टतम रूप को महाकाव्य या ऐपिक माना गया है[१] । किन्तु कहीं कहीं महाकाव्य और प्रबन्धकाव्य (नैरेटिव पोयट्री) को पर्यायवाची पदों के रूप में व्यवहार में लाया गया है । जिस प्रकार छोटे प्रबन्ध काव्यों के लिए" स्माल नैरेटिव्स" और बड़े प्रबन्धकाव्यों के लिए "लांग नैरेटिव्स" का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार "शार्ट ऐपिक" और"लांग एपिक" के प्रयोग भी मिलते हैं ।

नैरेटिव पोयट्री- पद का उद्भव भी अनेक साहित्य रूपों की भांति ग्रीस (यूनान) से जुड़ा हुआ है । वहां महाकाव्य को सुपाठ्य प्रबन्ध काव्य (नैरेटिव फार रेसिटेशन) कहा जाता था । वस्तुतः नैरेटिव का प्रयोग ड्रामैटिक के विरोध में प्रारम्भ हुआ था । वीरों या महापुरुषों की कथाओं को कवि या चारण स्वरचित पदों में गाकर सुनाया करते थे । चूंकि इन पद्यबद्ध गाथाओं या कथाओं का सस्वर पाठ होता था अतः इस प्रकार के काव्यरूप को वृत्तात्मक या नैरेटिव नाम दिया गया- इसके विपरीत जो रचनाएं प्रस्तुत श्रोताओं के लिए निर्मित नहीं होती थी वरन दूरवर्ती श्रोताओं या दर्शकों के लिए निर्मित होती थीं और जिनमें कवि स्वयं को कथा से पूर्ण रूपेण निर्लिप्त रखता था ।

१- देखिए, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (१४वां संस्करण पृ० ६८१) एपिक पोयट्री ।

ऐसी रचनाएं अभिनयात्मक (ड्रामाटिक) कही जाती थीं ।

ग्रीक आचार्यों का उपरोक्त विभाजन भारतीय आचार्यों के काव्य-विभाजन के अत्यन्त निकट पड़ता है । भारतीय आचार्यों ने भी काव्य के दृश्य और श्रव्य दो वर्ग किए थे । दृश्य के अन्तर्गत रूपक आदि अभिनीत होने वाले काव्य-प्रकारों की गणना होती थी और श्रव्य के अन्तर्गत वे रचनाएं आती थीं जिनको श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता था ।

भारतीय और पश्चिमी काव्य-विभाजनों में प्रमुख अन्तर यह है कि जहां पश्चिम में "लिरिक" को सब्जेक्टिव काव्य प्रकार के रूप में "एपिक" के समकक्ष कोटि प्रदान की गई वहां भारतीय आचार्यों ने"लिरिक"को उतना महत्व नहीं दिया उन्होंने"सब्जेक्टिव"और "ओब्जेक्टिव" के भेद को स्वीकार ही नहीं किया । भारतीय दृष्टिकोण से काव्य मात्र भावजगत की सृष्टि है - वस्तु का यथा तथ्य वर्णन या इतिवृत्त कथन मात्र काव्य कीसंज्ञा नहीं पा सकता । लिरिक की "सब्जेक्टिव" प्रवृत्ति तो समस्त काव्य-प्रकारों महाकाव्य तक में देखी जा सकती है । हां कथा के बन्धन से रहित रचनाओं को भारतीय आचार्यों ने "मुक्तक" की कोटि में स्थान दिया है ।

<u>मौखिक परम्परा</u>- प्रबन्ध काव्य के कलात्मक रूपों का विकास संसार के प्रायः सभी देशों में वहां की मौखिक प्रबन्ध परम्पराओं से जुड़ा हुआ है । आदिम युग में जब लिखने और पढ़ने की कला विकसित नहीं हुई थी तो प्रतिभाशाली लोककवि बिना किसी पूर्व की तैयारी के काव्य-रचना कर श्रोताओं को सुनाया करते थे । पांचवीं छठीं शताब्दी के बाद यूरोप के देशों में ऐसे कवियों की एक अलग जाति ही विकसित हो गई थी जिन्हें चारण कवि(बर्ड) कहा जाता था । इन चारण कवियों को विभिन्न रुचि वाले अनेक श्रोताओं के मध्य अपने आशु कवित्व का परिचय देना पड़ता था । अपनी प्रखर-कल्पना-शक्ति और बुद्धि-वैभव से उन्हें प्रभावित करना पड़ता था । इस "टेक्नीक" व विशिष्ट पद्धति को सीखना सरल न था । इस कला मे दक्षता प्राप्त करने के लिए दीर्घकालीन अभ्यास और दीक्षा की आवश्यकता होती थी । इन चारण कवियों को काव्य-प्रेरणा प्रत्यक्ष घटनाओं से प्राप्त होती थी और इनकी रचनाएं स्वतन्त्र होती थीं ।

इन चारण कवियों की रचनाओं का मुख्य विषय परंपरा से प्रसिद्ध वीरों और महापुरुषों के वीर-कर्मों का बखान करना होता था । ये वीर-पुरुष

प्रायः वीरयुग के प्रतीक होते थे । प्रत्येक राष्ट्र के इतिहास में कभी न कभी -आगे-पीछे- यह वीर युग अवश्य रहा है । संसार के देशों मे वीर युग की अवतारणा एक साथ नहीं हुई । यह वह समय होता जब राष्ट्र या समाज के जीवन में नियमितता और स्थिरता आने के पूर्व, विरोधी वर्ग एक दूसरे को कुचल कर अपना सिक्का जमाने की चेष्टा करते हैं । इस युग के वीरों के रक्त की उष्णता उन्हें कठिन से कठिन कार्य को भी सम्पन्न करने की अदम्य क्षमता प्रदान करती है । ग्रीस में यह विश्वास है कि वहां चार पीढ़ियों तक यह वीर-युग चलता रहा । "थेबेस" और "ट्राय" का घेरा इसकी मुख्य घटनाएं हैं । उस युग के पुरूष अत्यन्त वीर थे जिन्होंने अत्यन्त गौरव-पूर्ण कार्य किए । जर्मनी, स्केण्डेनेविया, इंग्लैन्ड, आइसलैण्ड, और ग्रीन लैण्ड के जर्मन जाति के लोगों को अपने दो शताब्दियों के वीर-युग का विश्वास था, जिनमें एरमेनिक, एटिला और थियोडोरिक जैसे महान् वीरों का प्रादुर्भाव हुआ और जिसकी एक मुख्य घटना हूणों के द्वारा बरगुंजियन(बरगुंजियन) का विनाश है । इसी प्रकार वीर-युग की कल्पना फ्रांस में है जिसमें वीर युग के नायक "चार्लेमैग्ने" और उसके "सैरेसिनों" के विरूद्ध किए गए युद्धों की घटनाएं प्रमुख हैं । इसी प्रकार अन्य देशों में भी वीर-युग का प्रादुर्भाव हुआ ।

"इलियड" और"ओडेसी"प्राचीनतम महाकाव्य माने जाते हैं । इनका संबंध ग्रीक या यूनान के वीर युग से है । इसकी रचना किसी एक समय में नहीं हुई, यद्यपि इनका रचयिता होमर माना जाता है । वस्तुतः पद्यबद्ध वीर-कथाओं (हीरोइक लेज़) के एकीकरण के फलस्वरूप धीरे-धीरे ये महाकाव्य के रूप में विकसित हुए । सी॰एम॰ बावरा ने अपनी पुस्तक "फ्राम वर्जिल टू मिल्टन" में लिखा है -

"मौखिक परंपरा के महाकाव्य आशुकवियों द्वारानिर्मित पद्य-कथाओं के ही विकसित रूप हैं । ऐसी पद्य कथाएं आज भी युगोस्लाविया में मिलती है और किसी समय संसार के अनेक भागों में जनप्रिय थीं[1]।"

इसी प्रकार के वीर गाथात्मक विकसन शील महाकाव्य अन्य देशों में भी मौखिक परम्परा में विकसित हुए । - फ्रांस में"सौंग आफ रोलान्ड", इंगलैण्ड में "बियोवुल्फ"और स्पेन में"चिड" आदि ।

१- फ्राम वर्जिल टू मिल्टन, पृष्ठ १ ।

सी॰एम॰बावरा ने इन वीर गाथात्मक प्रबन्धों के विकास की पूर्वअवस्था के कुछ स्तर दिए हैं और विकास की प्रथम अवस्था में "शैमनेस्टिक पोयट्री" अर्थात् पुरोहितवादी प्रबन्ध काव्यों को स्थान दिया है । उन्होंने बताया है कि इस प्रथम अवस्था में भी वीर-पुरुष ही कथा का नायक रहता था और उसी की प्रशस्ति गाई जाती थी किन्तु वह अपनी मानवीय शक्तियों के बल पर कठिन कर्मों को सम्पन्न नहीं करता था वरन् असंभव कार्यों को संभव बनाने में वह कुछ अति मानवीय शक्तियों का सहारा लेता था, इस प्रकार इन काव्यों में कठिन कर्म का संपादन मंत्रबल या चमत्कार ~~कर अनवनस्ति~~ पूर्ण शक्तियों की सहायता से होता था ये अतिमानवीय शक्तियों पर आधारित काव्य आगे चलकर "एन्थोपोसेन्टिक" या मानवीय कर्तव्य प्रधान काव्य के रूप में विकसित हुए[1]। इनमें मनुष्य को केन्द्र बनाकर उसकी निजी शक्तियों से परिचालित घटनाओं और उसके निजी कर्मों का चित्रण हुआ। ये मानव-प्रधान काव्य "पैनेजाइरिक्स" और "लेयेण्ट्स" के दो रूपों मे दिखाई पड़े। पहले प्रकार में नायक के जीवन काल में ही समसामयिक कवियों द्वारा उनका गुण गान हुआ और दूसरे प्रकार में नायक की मृत्यु के बाद उसके गुणों और कार्यों का स्मरण कर उनकी प्रशंसा की गई । ये दोनों रूप शुद्ध वीर-गाथा की कोटि में आते है । वीर गाथात्मक काव्यों में कुछ ऐसे प्रबन्धों की रचना भी हुई जिनमें देवता और मनुष्य दोनों को पात्र बनाया गया । किन्तु इसमें भी देव विषयक और मानव विषयक प्रबन्धों के दो रूप विकसित हुए । देव विषयक वीर गाथाएं शुद्ध वीर गाथा काव्य की सीमा में नहीं आतीं । मानव विषयक वीर-कथाएं ही वीर गाथात्मक प्रबन्धों "हीरोइक पोयट्री" का मुख्य विषय हैं ।

इगलैण्ड का प्राचीनतम मौखिक महाकाव्य "बियो वुल्फ" है । इसका स्वरूप प्रबन्ध काव्य का ही है, प्रो॰ केर ने लिखा है- " यह (बियोवुल्फ) कैसा भी क्यों नहीं, किन्तु यह "नैरेटिव पोयट्री" (प्रबन्ध काव्य) की कोटि में आता है ठीक उसी तरह से जिस तरह से मध्ययुग के लयात्मक रोमांचक काव्य "फेयरी क्वीन" "पैराडाइज़ लास्ट", "द ले आफ द लास्ट मिंस्ट्रल", द लाइफ एण्ड डैथ आफ जैसन और सिगुर्ड दे वोल संग"[2]।

1- देखिए "हीरोइक ~~एज~~ पोयट्री" सी॰एम॰बावरा, पृष्ठ सं॰ २३-२५ ।

2- फार्म एण्ड स्टाइल इन इंग्लिश पोयट्री, पृष्ठ १५५ ।

"बियो वुल्फ" वीर गाथात्मक प्रबन्ध काव्य है । इसकी रचना "बिओवा" की परम्परागत कथा पर आधारित है । अंग्रेज जाति का मूल स्थान "किम्ब्रियन प्रायद्वीप" और "एल्बे" के पूर्व की ओर की मुख्य भूमि का निकटवर्ती भाग माना जाता है । अंग्रेज जाति अनेक छोटी-छोटी उपजातियों में विभक्त वहाँ निवास करती थी, इनके पूर्व में "जुट" लोग और उनके परे "एंजिल" लोग रहते थे । दक्षिण की ओर और आगे बहुत बड़े भूभाग में सैक्सन लोगों का आधिपत्य था । ये लोग अत्यन्त साहसी, महत्वाकांक्षी और अध्यवसायी थे । निरन्तर समुद्र की विकरालता से टक्कर लेते रहने के कारण इनके शरीर फौलादी बन चुके थे । समुद्र इनके लिए काल रूप था अतः उसका आतंक इनके जीवन में व्याप्त था - विशेषकर बसन्त और शिशिर के आगमन के समय जबकि भयंकर तूफानों से आलोड़ित उत्ताल तरंगें प्रलयकारी निर्बाधगति से निचले भूभागों को निगल जातीं और शीत का प्रकोप ~~जब~~ ~~बढ़~~ ~~जलत~~बाढ़ का हिमखण्डों में परिवर्तित कर जनजीवन को शिथिल और निष्क्रिय बना देता । ऐसे प्रदेश में "बिओवा" की कथा विकसित हुई ।"बिओवा" एक दैवी शक्ति सम्पन्न वीर था जिसने समुद्री असुर "ग्रैंडेल" पर विजय पाई और आग उगलने वाले असुर से लड़ते हुए उसकी हत्या की और स्वयं वीर गति पाई । परन्तु "बिओवा" सदैव मृत न रहा । वह वस्तुतः नवीन रूप में "फ्रीआ" है जो कि सफलता और उष्णता का चमकता हुआ ईश्वर है जिसके सुनहले बालों वाले सुअरों ने अंग्रेज योद्धाओं के कवचों को सजाया[1]। "बियो वुल्फ" की रचना ३१८२ पंक्तियों में समाप्त हुई है। "हीरोलैइक शार्ट ले" या "पद्यबद्ध लघु वीर-गाथ ।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है इन पद्यबद्ध वीर कथाओं का संबंध वीर-युग की चारण-कवियों द्वारा बिना पूर्व-योजना के गायी हुई छन्दोबद्ध वीर-कथाओं से है । चारण कवि इनके सस्वर उच्चारण के साथ ही इनकी रचना भी करते जाते थे । इनका विषय परम्परागत वीरों की साहसिकता, वीरता और निर्भीकता का सजीव वर्णन करना होता था ।

ये पद्यबद्ध वीर कथाएं छोटे से छोटे आकार से (रूस की "बिलिना" केवल १३ पंक्ति में) लेकर महाकाव्यों के वृहद् रूपों तक में मिलती है । चूंकि छोटी पद्यबद्ध कथाओं की रचना-पद्धति "खण्डकाव्य" की रचना पद्धति के निकट है अतः उसपर

१- देखिए, अरली ईंग्लिश लिटरेचर-लेखक बेनहार्ड टेनब्रिंक , पृष्ठ १ ।

विस्तार से विचार किया जा सकता है ।

पद्यबद्ध लघु वीर-कथा की अपनी विशेषताएं और अपना निजी स्तर है । लघु वीर-कथा के दो प्रकार मिलते हैं । पहला प्रकार, जो अनधिक प्रचलित है, एक ही विषय का प्रतिपादन करता है और दूसरा कथा-खण्डों (एपिसोड्स) की शृंखला प्रस्तुत करता है । इस अन्तर के कारण दोनों की रचना-पद्धति में भी भिन्नता आ जाती है[1]।

प्रथम प्रकार की लघु-वीर कथा में उसके एकमात्र विषय का प्रसार भलीभांति किया जा सकता है और उसको यथोचित विस्तार मिल सकता है किन्तु द्वितीय प्रकार में विषयों या कथाखण्डों की अनेकता के कारण उन्हे विस्तार नहीं दिया जा सकता, विषयों की संक्षिप्त सूचना मात्र दी जा सकती है जिससे रचना का सौष्ठव नष्ट हो जाता है ।

लघु वीर-कथा के पहले प्रकार का उदाहरण नार्वे के साहित्य की लघुवीर-कथा "द सेकेण्ड ले आफ गुथरुन" है और दूसरे प्रकार का उदाहरण "द प्रोफेसी आफ ग्रिपिर" है । प्रथम उदाहृत रचना एक ही दुःखान्त परिस्थिति का चित्रण करती है । द्वितीय उदाहृत रचना विविध घटनाओं की सूची से कुछ ही अधिक कही जा सकती है । "होमर" का "डेमोडोकस" एक ही साहस पूर्ण कृत्य का गीत गाता है- जैसे, एशाइयन राजकुमारों की कलह या "वूडेन हार्स" । "ओडेसस" स्वयं "पेनेलोप" से अपनी यात्राओं की पूर्ण रूपरेखा केवल ३० पंक्तियों में प्रस्तुत करता है "बियो वुल्फ" में "हीरो" अपने "ब्रीका" के साथ तैरने के एकमात्र विषय का वर्णन करता है जबकि रचना के पहले जुड़ा हुआ सिल्डिंग्स का विवरण कई पीढ़ियों की वंश परंपरा की रूपरेखा मात्र है ।

एक विषय या प्रसंग स्वभावतः अनेक कथा खंडों के मिश्रण की अपेक्षा अधिक जनप्रिय है क्योंकि यह अनिवार्यतः अधिक नाटकीय और अधिक रूचिकर होता है। किन्तु कथा-खण्डों के मिश्रण को कथानक का आधार बनाकर चलने वाली लघुवीर कथाएं अत्यन्त सीमित और संकुचित होने के कारण केवल ऐतिहासिक महत्व रखती

१- देखिए, हीरोइक पोयट्री, सी॰एम॰बावरा , पृष्ठ सं॰ ३३१ ।

हैं और चारण कवियों के लिए विषय-वस्तु प्रदान करती हैं । एक घटनात्मक लघु वीर कथा का प्रारम्भ परम्परागत सूत्रों या फारमूलों के प्रयोग की ह रूढ़ि-बद्ध पद्धति पर होता है किन्तु कवि को तुरन्त अपने मुख्य विषय पर आ जाना पड़ता है क्योंकि उसके पास अधिक समय नहीं होता । "द फाल आव द सरबियन एम्पायर" का आरंभ पक्षियों के उड़ने के परम्परागत विषय से होता है किन्तु पक्षियों के उड़ने के साथ ही उसका सम्बन्ध मुख्य-कथा से जोड़ दिया जाता है । लघु वीर कथाओं का प्रारंभ बिना "फारमूलों" का उपयोग किए भी होता है । प्रारंभिक पंक्तियां सीधे मुख्य विषय के हृदय तक पहुंच जाती हैं । प्रारंभिक अंश व आवश्यक सूचनाएं कवि विषय के मध्य में दे देता है जो अपने आप स में स्पष्ट होती हैं । "द फर्स्ट ले आफ गुथरून" जो कि "सिंगरूथ" के मृत शरीर के समीप बैठी हुई गुथरून की आंतरिक वेदना का वर्णन करती है, उसकी वेदना की पीड़ा जनित शान्ति से प्रारंभ होती है ।

लघु पद्यबद्ध कथाकाव्यों की कला मुख्यतः विषम या संकटपूर्ण परिस्थिति की अवतारणा में निहित है जो कि कथा के प्रमुख नाटकीय क्षण की ओर शीघ्रता से अग्रसर करती है । इसी कारण बहुत सी आकर्षक सामग्री, जो कि घटनाओं की सीधी प्रगति में बाधा पहुंचाती है, छोड़ न दी जाती है ।

बहुघटनात्मक (एपिसोडिक) लघुवीर कथा काव्य- लघु वीर कथा काव्यों का दूसरा प्रकार वह है जो मानव जीवन के अनेक प्रसंगों का वर्णन करता है या विविध घटनाओं की योजना करता है, भिन्न पद्धति का अनुसरण करता है । इसमें किसी एक नायक के जीवन की किसी बड़ी समस्या को प्रस्तुत नहीं किया जाता क्योंकि इसकी अपनी एकता और क्रमबद्धता होती है । कृति की इकाई की दृष्टि से इस प्रकार का काव्य अत्यन्त सफल और सन्तोषजनक होता है ।

बहुविषयात्मक (एपिसोडिक) लघु वीर-कथा-काव्यों का प्रारंभ नायक के आरंभिक जीवन से होता है और कथानक उसके जीवन की प्रमुख घटनाओं से होकर उसे प्रभावपूर्ण अन्त की ओर ले जाता है । आधुनिक रूसीकाव्य "चपाई" जो कि चारण "ह्रित्यातेव" द्वारा प्रस्तुत एक क्रान्तिकारी नायक "चपाई" की कथा प्रस्तुत करता है, इसका उत्कृष्ट नमूना है । ये सभी कथाएं (एपिसोड्स) अपने में अति सरस हैं और अपने सीमित अवकाश में कवि उन्हें सजीव बनाने का पूर्ण प्रयत्न करता है । बहुविषयात्मक लघु-वीर-कथा प्रबन्धों के लिए यह पद्धति उपयुक्त है ।

कभी कभी कवि उपर्युक्त दोनो पद्धतियों का मिश्रण कर देता है । वह काव्य का आरम्भ बहुविषयात्मक काव्यों की पद्धति पर करके उसे संघर्ष-पूर्ण परिस्थिति (क्राइसिस) की ओर उन्मुख कर देता है और इस प्रकार मुख्य कथानक की योजना करता है । "एल्डर एडा" की दो रचनाओं में यह कला देखी जाती है और दोनो में इसका उचित उपयोग हुआ है । "द फर्स्ट ले आफ हेल्गी हुंडिंगस बानी" नायक के जन्म से प्रारंभ होती है और उसके जन्म के शुभाशुभ शकुनों से प्रारम्भ होकर उसके बाल्यकाल का चित्रण करती हुई यह बतलाती है कि किस प्रकार १५ वर्ष की अवस्था में वह "हुडिंग्" का कत्ल करता है और उसके बाद कवि अपने मुख्य विषय- हेल्गी का सिग्रुन के प्रति प्रेम- पर आ जाता है । सिग्रुन के मनोनीत पति से उसे जीतने का हेल्गी का प्रयत्न कृति के शेष भाग में चित्रित है । इसका अंत हेल्गी की विजय और उससे उसकी गौरव वृद्धि में होता है । इसमें पूर्वांश की योजना यह दिखाने के लिए हुई है कि नायक का आरंभिक जीवन उसके भविष्य जीवन की विजयों की तैयारी है और प्रारंभ से ही किस प्रकार उसमें "वाल्कायर" नायिका का जीवन साथी बनने के लक्षण विद्यमान थे । "शार्ट ले आफ सिगुर्थ" में भी इसी प्रकार कथानक की योजना हुई है[१] ।

मौखिक परम्परा में रहने के कारण इस प्रकार के अनेक पद्यबद्ध वीर-कथा-काव्य कालकवलित हो गए । प्राचीन रोम के लघु-कथा प्रबन्धों (लेज) का भी यही हुआ । ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में "सिसरो" उन काव्यो के नष्ट हो जाने पर शोक प्रगट करता है जिनमें अतीत काल की महत्वपूर्ण घटनाओं का चित्रण था । ऐसी रचनाएं निश्चित रूप से विद्यमान थीं और सामाजिक उत्सवो के अवसर पर लड़को या भोज देने वालों द्वारा वाद्य-यंत्र की सहायता से अथवा स्वतंत्र रूप से गायी जाती थीं । "मैकाले" ने अपनी "लेज आफ एन्सिएन्ट रोम" में संभवतः इन्हीं को पुनर्जीवित करने की चेष्टा की[२] । हिन्दी साहित्य के द्विवेदी युग में लिखी गई पं० लोचन प्रसाद पाण्डेय की "मेवाड़गाथा" इसी से प्रभावित है ।

१- देखिए ही० पो० सी० एम बावरा पृ० ३३१-३३७ ।

२- देखिए "हीरोइक पोयट्री" - लेखक सी० एम० बावरा पृ० सं० ४६ ।

बैलेड या वीरगीत – नैरेटिव पोयट्री का एक अन्य रूप बैलेड (या वीर गीत) भी है। प्रत्येक राष्ट्र के पास कविता के विकास की प्रारंभिक अवस्था का प्रतिनिधित्व करने वाले इस प्रकार के साहित्य का भंडार होता है। बैलेड शब्द की व्युत्पत्ति "बैलार" से हुई जिसका अर्थ "नृत्य" है। प्रारंभ में यह एक नृत्य गीत मात्र था किन्तु अब अनेक प्रकार की पद्य-रचनाओं के लिए इसका प्रयोग होने लगा है। यह एक प्रबन्धात्मक (नैरेटिव) कोटि की देशज रचना होती थी और इसका रचयिता कोई अज्ञात कवि होता था। इसका स्वरूप असंस्कृत जनसमाज की रुचि के अनुकूल भोंड़ा होता था। सामान्य जन समुदाय की इच्छाओं आकांक्षाओं, स्वप्नों, अपशकुनों, प्रेम-प्रसंगों व साहसिक कार्यों आदि की अभिव्यक्ति इनमें होती थी। इनकी शैली घटना प्रधान कहानियों के समान सरल और अनलंकृत होती थी। इसमें "नर्सरी राइम" व लोक-कथा की भांति पुनरावृत्ति का ढंग अपनाया जाता था। इसमें चार चरणों के लघु छंद का व्यवहार सामान्यतः होता था। यूरोप के प्रायः सभी देशों के बैलेड" साहित्य में शैलीगत उपर्युक्त साम्य देखा जा सकता है। सामान्यतः ऐसी रचनाओं के लिखे जाने की परिस्थितियां १५वीं शताब्दी के बाद परिवर्तित हो गयीं।

" बैलेड "शब्द के प्रयोग में अब अधिक शिथिलता आ गयी है। सामान्यतः बैलेड छंद में लिखी गयी सभी रचनाओं को बैलेड कहा जाने लगा है। कभी कभी कृत्रिम वीर गीत" का प्रयोग उन रचनाओं के लिए किया जाता है जो बैले छंद में लिखी जाती है किन्तु जिनमें बैलेड की उपर्युक्त विशेषताओं का अभाव होता है।

"हवीरो इकले" और बैलेड का पार्थक्य

पद्यबद्ध वीर-कथा काव्यों हीरोइक ले" की रचना प्रायः अकेली पंक्ति में होती है जबकि बैलेड की रचना छन्दों (स्टैंजो) में होती है। "हीरोइकले" में शब्द योजना को प्राथमिकता दी जाती है और संगीत या गीतात्मकता का स्थान गौण होता है। अकेली पंक्ति (सिंगिल वर्स) में रचना करने के कारण चारण कवि हीरो इकले" में परंपरागत "कामरूपों" और पदांशों का प्रयोग करने में स्वतंत्र रहता है क्योंकि इससे पंक्ति के मध्य में या अन्त में कहीं भी वाक्य को समाप्त करने में असुविधा नहीं होती। "बैलेड" में यह स्वतंत्रता नहीं रहती।

"बैलेड" क्रमबद्ध और नियमित स्वर-पद्धति और यथास्थान टेक की

आवृत्ति के कारण मनिर्नित गीत के निकट होती है । इसकी पूर्वावस्था में इसके साथ नृत्य आदि का संयोग भी रहा होगा- जबकि हीरोइक ले के सस्वर पाठ ((रेसिटेशन) का आनन्द भिन्न प्रकार का रहा होगा ।"बैलेड"और "हीरोइक ले" का अन्तर उसके विषय और आत्मा का उतना नहीं जितना उसके बाह्य रूप और उसके कार्य व प्रभाव का है । बैलेड आगे चलकर लिरिक में और "हीरोइक ले" एपिक के रूप में विकसित हुई । किन्तु दोनों ही काव्य रूप अपने विकसित स्वरूप में भिन्न अपनी मूल सत्ता को अब भी बनाए हुए हैं ।

खण्ड काव्यउपर्युक्त मौखि काव्य रूपों से भिन्न कोटि का काव्य है । क्यों-कि वह अलंकृत या कलात्मक काव्यों की श्रेणी में आता है । जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं । संस्कृत साहित्य में "खण्डकाव्य" को विशिष्ट काव्य रूप में उस समय स्वीकार किया गया जब प्रकृत महाकाव्य(महाभारत) के अनुकरण में कला-त्मक महाकाव्य पर्याप्त संख्या में लिखे जा चुके थे । और इन अलंकृत महाकाव्यों के लक्षण निर्धारित हो चुके थे ।जो कृति इन महाकाव्यों के निर्धारित लक्षणों की कसौटी पर श्रेष्ठ सिद्ध नहीं होती थी उनको महाकाव्य से हीनतर काव्यकोटि का में बैठाने की आवश्यकता हुई । खण्डकाव्य महाकाव्य की इसी हीनतर कोटि का काव्य रूप है । किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उसमें कलात्मकता या काव्य के भव्य स्वरूप का अभाव हो । इसमें भी महाकाव्यों के समान ही काव्यगुण होने चाहिए केवल इसकी परिधि सीमित होती है और महाकाव्य के लक्षण कुछ न्यूनता के साथ इसमें उपस्थित रहते हैं । अतः खण्डकाव्य का सम्बन्ध वीर गीतों या पद्यबद्ध वीर-कथाओं की अनलंकृत परम्परा से नहीं जोड़ा जा सकता ।

साहित्यिक परम्परा- अंग्रेजी साहित्य की साहित्यिक परम्पराओं का प्रारम्भ चौसर से माना जाता है । चौसर के पूर्व के अंग्रेजी साहित्य का आगे के युग पर कोई प्रभाव नहीं है । चौसर की रचनाओं से बाद के साहित्यकारों को पर्याप्त सामग्री और प्रेरणा मिलती रही है । विशेषकर आगे के युग की समस्त प्रबन्धात्मक रचनाएं- "सैम्युअल डेनियल" और "मिकायल ड्रायटन" की वीरगाथाओं से लेकर विलियम मैरिसकी "अर्थली पैराडाइज" और "मेसफील्ड" की "रेनार्ड द फॉक्स" तक -चौसर के प्रभाव से अछूती नहीं है ।

चौसर की शैली अत्यन्त विशद और विस्तृत है । उसके पास पर्याप्त अवकाश है । उसके लिए कथा की प्रमुख घटनाओं का उतना महत्त्व नहीं है जितना उनको कहने

के ढंग का-और इसी कारण उसकी रचनाओं में इतनी सजीवता और प्राणवत्ता दिखाई पड़ती है । अप्रैल मे जब पृथ्वी नवीन रूप धारण करती है तो प्रायः लोग धार्मिक यात्राओ के लिए प्रस्थान करते है । उसी अवसर पर चौसर अपने पाठकों को केण्टरबरी की तीर्थयात्रा के लिए ले जाता है । यह यात्रा अत्यन्त लम्बी है । इसमें यात्रा की समाप्ति के लिए कोई जल्दबाज़ी नहीं है । रास्ते की और इधर-उधर की प्रत्येक वस्तु को खुली आंखों से कवि देखता चलता है । उसकी प्रबन्ध पटुता के संबंध में एच॰एस॰ बैनेट ने लिखा है -

"चौसर कथात्मक काव्यों की कला में अद्वितीय था । उसके कथा कहने वालों की अस्वाभाविक घटनाएं कितनी भी प्रतिकूल क्यों न हों वह प्रबन्ध काव्य की कला के अनिवार्य तत्वों को भली प्रकार हृदयगंम कर चुका था । वह सामान्यत: कथांश की सामग्री पर कठोर नियंत्रण रखता है और अपनी प्रधान या केन्द्रीय घटना को समृद्ध और विकसित करने के लिए व्याख्यात्मक विस्तार देता है । उसके कथा प्रबन्धों का काव्य की दृष्टि से जो मूल्य है वहउसकी छन्द योजना और भाषा-शैली पर आधारित है[1]।"

चौसर की "कैंटरबरी टेल्स" में "नैरेटिव पोयट्री" के अनेक रूप देखने को मिलते है-

क- शौर्य की रोमांचक कथा — जैसे "द नाइट्स टेल"
ख- तिलस्मी कथा — जैसे "द स्क्वायर्स टेल"
ग- नीति-कथा — जैसे "द क्लर्क्स टेल"
घ- करुण जीवन -कथा — जैसे "द मंक्स टेल"
ङ॰- शिक्षाप्रद - कथा — जैसे "द नन्स प्रीस्ट्स टेल"
च- हास्य-व्यंग्य कथा — जैसे "चासर्स टेल आफ सर थोपास्"
छ- यथार्थ जीवन की कथा — जैसे "द कामन्स योमन्स टेल"

फ्रांस में १२वीं, १३वीं शताब्दी मे इस प्रकार की अनेक नैरेटिव कथाएं लोकप्रिय थीं जो कि पेशेवर लोगो द्वारा रची और सुनाई जाती थीं । इनका विषय प्रायः पादरियों की हैंसी मजाक उड़ाना होता था । नैतिकता प्रधान और चमत्कारिक कथाएं भी उतनी ही जनप्रिय थीं ।

१- चौसर एण्ड द फिफ्टीन्थ सेन्चुरी" (आक्सफोर्ड १९४७) पृष्ठ ८८ ।

फेयरी क्वीन- द्वितीय महत्वपूर्ण कृति है । मोटे तौर पर केन्टरबरी टेल्स के लगभग दो सौ वर्ष बाद १५०८ ई० मे इसकी रचना हुई ।

यह एक कथात्मक काव्य है । इसकी कथा रूपक में आबद्ध है । जान ड्रिंकवाटर ने लिखा है इसमें रूपक को आवरण इतना गंभीर है कि कभी कभी पाठक का दम सा घुटने लगता है । फेयरी क्वीन की कथा भली प्रकार से नहीं कहीं गई है । एक कथात्मक काव्य की कथा यदि भली प्रकार न कही जाय तो भी दूसरे गुणों के कारण वह रचना एक उत्तम काव्य के रूप में ग्रहीत हो सकती है किन्तु प्रबन्ध की दृष्टि से वह अधूरी ही रहेगी । फेयर क्वीन उसी प्रकार की रचना है । सौंदर्य की दृष्टि से फेयरी क्वीन "केण्टरबरी टेल्स" की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कृष्ट है[1]।

एबर क्राम्बी अपनी द एपिक नामक पुस्तक में लिखते हैं-

"इसलिए नहीं कि स्पेंसर अपनी कथा अच्छे ढंग से नहीं कहता वरन् इससे भी बढ़कर इसलिए कि उसकी वस्तु को जान बूझकर रोचक और अवास्तविक बनाया गया है, फेयरी क्वीनमहाकाव्य (उसके विशिष्ट अर्थ में) की परिधि में नहीं आ सकती । रूपक में कपोल कल्पित और मनगढन्त सामग्री को चतुराई से अतिरंजित करने की आवश्यकता होती है जो कि महाकाव्य के लिए आवश्यक ठोस, एवं तथ्यपूर्ण सामग्री से नितान्त भिन्न कोटि की होती है । महाकाव्य मे अतिरंजना नहीं होती वरन् कवि वस्तु विषय का अपनी आत्मा मे पूर्ण विलय करके, अपनी प्रतिभा के अनुकूल उसे काल्पनिक जामा पहनाता है[2]।"

एलिजाबेथ के युग में इंगलैण्ड में प्रबन्ध रचनाओं का आधिक्य नहीं रहा । जो भी रचनाएं मिलती है उनमें नैतिकता की रूढ़ि का पालन हुआ है । सैकविल (सैकविल) की "मिरर फार मजिस्ट्रेट", डेनियल की "कम्प्लेण्ट आफ रोजमण्ड" मार्लो की "हीरो एण्ड लीण्डर्स" तथा शेक्सपीयर की "वीनस एण्ड एडोनिस" और "द रेप आफ लुक्रेशी" ऐसी ही रचनाएं हैं ।

इस युग के कवियों की प्रतिभा नाटक लिखने में ही व्यक्त हुई । १७वीं शताब्दी के बाद जब नाटक की अवनति का युग आया तो गीति या,"लिरिक" ने सिक्का जमाया और अपने अधिकार क्षेत्र का यहां तक विस्तार किया कि गीत शैली में ही प्रबन्धों की रचना भी हुई । प्रबन्ध काव्य नवीन रूप में विकसित हुआ।

१- इंगलिश पोयट्री- (जान ड्रिंकवाटर) पृष्ठ संख्या ८५ ।

२- द एपिक(एबर क्राम्बी), ~~पृष्ठ सं०~~ ५

मिल्टन ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य की रचना करके शेक्सपीयर के समकक्ष और संसार के महानतम कवियों में स्थान पाया ।

रोमांटिक युग (१९वीं शताब्दी) में कालरिज, सर वाल्टर स्काट, बायरन शैली, कीट्स, टेनीसन, ब्राउनिंग मैथ्यू आर्नल्ड, विलियम मोरिस और स्विनबर्न जैसे कवियों ने प्रबन्ध काव्यों की रचना की । किन्तु इनमें से अधिकांश की प्रबन्धात्मक रचनाएं आकार में लघु हैं जो "लघु निबन्ध काव्य" की संज्ञा देही पा सकती हैं । "खण्डकाव्य" से उनका सादृश्य नहीं दिखाई पड़ता। "मैथ्यू आर्नल्ड"की "सोहराब और रूस्तम" की रचना अवश्य प्राचीन पद्धति पर हुई है और वह "खण्डकाव्य" के अधिक निकट कही जा सकती है । नवीन पद्धति की रचनाओं में गीतात्मकता का प्राधान्य है और कथात्मक पक्ष गौण । गीत-शैली में प्रबन्ध-काव्य लिखने की नवीन "टेकनीक" इस युग में विकसित हुई ।

बीसवीं शताब्दी में प्रबन्ध काव्यों का अभाव सा है । इस युग के प्रबन्ध-काव्य रचयिताओं में जान मेसफील्ड सर्वश्रेष्ठ हैं । उन पर भी गीतिकाव्य का प्रभाव स्पष्ट है । आज के युग में जो प्रबन्धात्मक रचनाएं लिखी भी जाती हैं, उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता । वस्तुतः आज का युग गीतिकाव्य का युग है । आधुनिक युग में प्रबन्ध -रचना के मार्ग में एक दूसरी बड़ी बाधा है गद्य में लिखे गये कथा-साहित्य की बढ़ती हुई लोक प्रियता । आधुनिक पाठक पद्यबद्ध कहानियों के लिए प्रस्तुत नहीं हैं ।

<u>खण्डकाव्य और पश्चिमी प्रबन्धकाव्य (नैरेटिव पोयट्री)</u>- मोटे तौर पर प्रबन्ध-काव्य के दो तत्व होते हैंः कथा और काव्य। प्रबन्ध काव्य की सफलता दोनों तत्वों के पूर्ण विकास पर निर्भर करती हैं । अंग्रेजी साहित्य की मौखिक व साहित्यिक प्रबन्ध परम्पराओं के अन्तर्गत वीर-काव्यों में "कथा" तत्व के समुचित विकास पर विशेष बल दिया गया है किन्तु काव्य पक्ष उसमें गौण है । उनका कथा पक्ष भी विशुद्ध प्रबन्ध कोटि का नहीं है । काव्यत्व के अभाव में उसका कार्य नाटकीय तत्वों की सहायता से लिया गया है । वीर काव्यों में रस या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए नाटकीय तत्व-संवाद- का पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया जाता था । वैसे तो एक काव्य प्रकार दूसरे काव्य प्रकार से कुछ न कुछ तत्व ग्रहण करता ही है किन्तु इन विजातीय तत्वों की एक सीमा होनी चाहिए । महा-काव्य, खण्डकाव्यादि में संवाद आदि तत्वों का ग्रहण हो सकता है किन्तु इतना

नहीं कि वे प्रबन्ध काव्य के स्थान पर नाटक प्रतीत होने लगें । कहना चाहिए कि पश्चिमी वीर-काव्यों में संवाद तत्व की योजना अपनी सीमा से बाहर पहुंच गई है । चौसर की रचनाओं संवाद तत्व की मात्रा कम हो गई है ।

प्रबन्ध काव्य की कला का विकास कथा से काव्य की ओर हुआ दिखाई पड़ता है । प्रारम्भिक प्रबंधों में कथा के तत्व मिलते हैं और आगे चलकर धीरे-धीरे कथा का पक्ष गौण होता जाता है और काव्यात्मकता प्रधान होती जाती है । रोमांटिक युग में आकर यह बात स्पष्ट हो जाती है । कालरेज, शैली, बायरन, कीट्स आदि में काव्यात्मकता प्रमुख हो गई है ।

खण्डकाव्य (काव्यक कोटि के रूप में) भारतीय आचार्यों की देन है जिसे प्रधानतः काव्य का एक विशिष्ट रूप स्वीकार किया गया है जब कि कथा आख्यायिका आदि सामान्य रूपों को उससे भिन्न कोटि में रखा गया है । अतः इसमें कवित्व की प्रधानता होती है । कथा का तत्व गौण होता है । संस्कृत का आदर्श "खण्डकाव्य" "मेघदूत" उत्कृष्ट "काव्य" का एक नमूना है, इसमें कथात्मकता गौण है ।

इतना होते हुए भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यह काव्य कथात्मक और बाह्य विषयात्मक होता है । भारतीय आचार्यों ने भी इसे प्रबन्ध अर्थात् कथा के सूत्र में आबद्ध काव्य के अन्तर्गत स्थान दिया है अतः इसके इस स्वरूप की अवहेलना भी नहीं की जा सकती ।

वस्तुतः काव्य और कथा का सामंजस्य ही प्रबन्ध काव्य क या खण्ड-काव्य की कला को निखार सकता है । इनका सामंजस्य इसी रूप में हो सकता है कि कथानक के पूर्वापर सम्बन्ध को कायम रखने और सुसंगठित बनाने के लिए इति-वृत्तात्मक अंशों का प्रयोग हो और कथा में आने वाले काव्योपयुक्त मार्मिक स्थलों की उपेक्षा कर दी गई तो सम्पूर्ण कथा इतिवृत्त मात्र रह जायगी और काव्यकोटि में गृहीत न हो सकेगी । इसके विपरीत यदि काव्य दृष्टि को प्रधान रखकर कथा को सुशृंखलित करने के लिए आवश्यक इतिवृत्तों की उपेक्षा कर दी गई तो कृति की प्रबन्धात्मकता नष्ट हो जायगी ।"लेवल आफ पोइट्री" के निम्नांकित उल्लेख से इसी तथ्य का समर्थन होता है -

"किसी भी लम्बी कविता में प्रारम्भ से अंत तक (कवित्व का) स्तर एक सा नहीं रहता क्योंकि उसका स्तर यदि कुछ अंशों में बहुत ऊंचा उठ जाता है तो दूसरों में उसका साधारण तुकबंदी के स्तर पर आ जाना अवश्यंभावी है।"

प्रबन्ध काव्यों में इतिवृत्तात्मक अंशो में कवित्व साधारण तुकबंदी के स्तर पर उतर जाता है और मार्मिक स्थलों पर कवित्व उच्चतम स्तर पर पहुंचा हुआ दिखाई देता है। प्रबन्ध काव्य की यह प्रकृति उसमें कथा और काव्य दोनों के तत्वों की अनिवार्यता का परिणाम है। ब्रैडले ने भी इसी अनिवार्यता को ध्यान में रख कर वैर्ड्सवर्थ युग की प्रबन्ध रचनाओं के दोषों की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि इस युग की रचनाओं में बाह्य और अन्तर का संतुलन नहीं मिलता। उनके अनुसार सफल प्रबन्ध काव्यों में, जो अपने पथ पर चलते हुए पूर्णता के निकट पहुंच जाते है, बाह्य और अंतर का संतुलन अवश्य रहता है। यहां अन्तर और बाह्य के सन्तुलन से लेखक का तात्पर्य इसी कथा और काव्य के तत्वों के सामंजस्य से है। अब खण्डकाव्य की कथा के आकार-प्रकार का प्रश्न रह जाता है। खण्डकाव्य की कथा संकुचित और सीमित होनी चाहिए, इतना निश्चित है। किन्तु इस संकोच की सीमा निर्धारित करना कठिन है।

चूंकि खण्डकाव्य में महाकाव्यात्मक विस्तार की गुंजाइश नहीं होती। अतः इसके लिए यह आवश्यक है कि इसमें अनेक घटनाओं और अनेक प्रसंगों की अपेक्षा एक ही प्रमुख घटना या प्रसंग का चित्रण हो और उसी घटना या प्रसंग को पूर्णता पर पहुंचाने के लिए कथांशों का समुचित विस्तार किया जाय। यदि इसके लिए अनेक कथाओं और घटनाओं की योजना हुई तो गृहीत विषयों या प्रसंगों का समुचित प्रतिपादन न हो सकेगा केवल विषयों का स्पर्श मात्र हो सकेगा। परिणाम यह होगा कि कृति में रोचकता व काव्यात्मकता आदि का अभाव रहेगा और कृति सफल न होगी। अतः खण्डकाव्य का कथानक विविध घटनाओं के संयोग से निर्मित नहीं हो सकता। इसमें एक ही घटना, परिस्थिति या प्रसंग को विस्तार से चित्रित किया जा सकता है तभी कृति को पूर्णता प्राप्त हो सकती है।

- - - -

खंड २

आदि काल (आरम्भ से १४०० ई० तक)

अध्याय १

आदि काल का प्रबन्धात्मक साहित्य

हिन्दी के आदि कालीन साहित्य को दो वर्गों में विभक्त किया जाता है । १- धार्मिक साहित्य और २- लौकिक साहित्य । धार्मिक साहित्य जैनधर्म (१०वीं और १२वीं शताब्दी के बीच लिखित) और बौद्ध धर्म (८वीं और ११वीं शताब्दी के बीच लिखित) से संबंधित है और अपभ्रंश भाषा में लिखा गया है । इसका उद्देश्य धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रचार करना है । इसमें साहित्यिक पक्ष गौण है ।

लौकिक साहित्य की रचना प्रधानतः देशभाषा में हुई किन्तु ~~विजयपाल रासो~~, ~~हम्मीर रासो~~, कीर्तिलता और कीर्तिपताका जैसी कृतियां अपभ्रंश में भी लिखी हुई मिलती हैं । यहां केवल देश भाषा में लिखे गये लौकिक साहित्य का ही परिचय देना अभीष्ट है । प्रबन्ध -रचना की दृष्टि से यह वर्ग महत्वपूर्ण है । इसमें साहित्यिक सौन्दर्य भी यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है । किन्तु दुर्भाग्यवश इस वर्ग की अधिकांश कृतियां आज उपलब्ध नहीं है और जो उपलब्ध हैं उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है । इन्हें भी हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं । १- वीर-गाथात्मक काव्य और २- प्रणय काव्य । प्रथम कोटि की रचनाओं में युद्धों के साथ-साथ प्रेम-प्रसंगों के वर्णन मिलते हैं किन्तु द्वितीय कोटि की रचनाएं विशुद्ध प्रणय के प्रसंगों पर आधारित हैं ।

प्रथम कोटि की - अर्थात् वीर गाथात्मक -रचनाएं प्रायः बृहदाकार हैं । इनमें से एक भी कृति ऐसी नहीं है जिसे खण्डकाव्य के अंतर्गत ग्रहण किया जा सके । इन वीर-गाथा-काव्यों के रचयिता प्रायः चारण या भाट होते थे जो अपने आश्रयदाता राजाओं के युद्धों व प्रेम-प्रसंगों का विशद वर्णन अपनी रचनाओं में किया करते थे । चारणों के इन ग्रंथों में तत्कालीन राजपूत राजाओं के युद्धोन्माद और उनकी और तलवारों की झनझनाहट का स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है । ये रचनाएं प्रायः रासो के नाम से प्रसिद्ध है । इनमें खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, और आल्हखण्ड(परमाल रासो), ~~जयचंद प्रकाश और जयमयंक जस चन्द्रिका~~ की गणना की जाती है । यहां इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है-

खुमान रासो- इसके रचयिता दलपति विजय माने जहते हैं । इसमें प्रधानतः बगदाद के खलीफ़ा अलमामू (८१३ई०-८३३ई०) के चित्तौड़ पर आक्रमण और चित्तौड़ के (अनुमानतः द्वितीय) रावल खुमाण (८१३-८४३ई०) के साथ हुए उनके युद्धों का वर्णन किया गया है । किन्तु इस समय खुमान रासो की जो अपूर्ण प्रति प्राप्त है उसमें महाराणा प्रताप सिंह तक के वर्णन मिलते है अतः इस कृति की प्रामाणिकता संदिग्ध है । यह कृति गाथा और छप्पय छंदों में लिखी गयी है । इसमें वीर रस की प्रधानता है । शिवसिंह सरोज के अनुसार किसी अज्ञात भाट कवि ने खुमान रासोकी रचना की थी जिसमें रामचन्द्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था[1]। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इसका मूल रचयिता कोई अज्ञात नामा भाट था और दलपति विजय ने इसके उत्तरांश की रचना की होगी । श्री मोतीलाल मेनारिया ने दलपति या दौलत-विजयका रचना काल लगभग १७वीं शताब्दी(ई०) का अंत अनुमानित किया है[2]। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में जब तक विस्तृत जानकारी न प्राप्त हो, तब तक इसके काव्यरूप का निर्णय कठिन है । फिर भी इतना स्पष्ट है कि इसके रचयिता का दृष्टिकोण खण्डकाव्य-रचना का नहीं था ।

पृथ्वीराज-रासो - इसके रचयिता चंद बरदायी माने जाते हैं । आदि काल के वीर गाथात्मक प्रबन्ध-काव्यों में इसका स्थान सर्वोपरि है । इसमें चंद के आश्रयदाता पृथ्वीराज चौहान के अनेक युद्धों, विवाहों और आखेटों आदि के विस्तृत वर्णन मिलते हैं । इसमे ६९ समय है । इसमें विविध छन्दों का प्रयोग हुआ है । विशालकाय ~~होने के कारण~~ यह ग्रंथ खण्डकाव्य नहीं है । विद्वानों ने इसे महाकाव्य के रूप में स्वीकृत कर किया है । इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है क्योंकि इसमें आए हुए नामों घटनाओं और तिथियों आदि में ऐतिहासिक असंगतियां मिलती हैं । आधुनिकतम खोजों के अनुसार पृथ्वीराज रासो का बृहतरूप प्रक्षेपों का परिणाम है । इसके मूल रूप का उद्धार करने की चेष्टा की जा रही है । इसका मूलरूप अपेक्षाकृत लघु होते हुए भी खण्डकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य के अधिक निकट रहा होगा, यह असंदिग्ध है । कृति के मूल रचयिता का दृष्टिकोण खण्डकाव्य लिखने का नहीं था, यह स्पष्ट है ।

१- देखिए, हिन्दी साहित्य का इतिहास पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ०सं० ३३-३४ ।

२- देखिए, राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ~~सं०~~

आल्ह-खण्ड- इसके रचयिता जगनिक माने जाते हैं । इसमें महोबा के राजा परमार के दरबार के दो प्रसिद्ध वीरों - आल्हा-ऊदल-की वीरता का बखान किया गया है । इसमें प्रायः ५२ लड़ाइयों के साथ साथ आल्हा-ऊदल तथा उनके भाइयों के अनेक विवाहों का वर्णन है । मौखिक परम्परा मे विकसित होने के कारण आज विभिन्न क्षेत्रों में इसके विभिन्न रूप प्रचलित हैं । जगनिक की इस कृति का प्रचार समस्त उत्तरी भारत में पाया जाता है । १८६९ ई० में फर्रुखाबाद के कलक्टर मिस्टर इलियट ने इसका संकलन कराया और १९०० ई० में इसे ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कराया । "आल्हखण्ड" का मूल रूप कैसा था[1] इसे जानने के लिए आज हमारे पास कोई साधन नहीं है किन्तु इसकी रचना कदाचित् वीर गीतात्मक काव्य के रूप मे हुई होगी । इसका प्रत्येक खण्ड एक स्वतंत्र खण्डकाव्य के समान प्रतीत होता है, किन्तु इस विशाल विकसनशील महाकाव्य के अंग होने के कारण वे स्वतंत्र काव्य कोटि के अधिकारी नहीं हो सकते । डा० शम्भूनाथ सिंह ने अपने "हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास" मे इसे विकसनशील महाकाव्य के रूप में स्वीकृत किया है[2]।

जयचन्द प्रकाश- इसके रचयिता भट्ट केदार माने जाते है । इसका उल्लेख "दयालदास कृत राठौड़ री ख्यात" में मिलता है । जब तक इस ग्रंथ का मूल पाठ उपलब्ध न हो तब तक इसके काव्य रूप का निर्णय असंभव है ।

जयमयंक जस चंद्रिका- मधुकर कृत इस रचना का भी उल्लेख मात्र दयालदास कृत "राठौड़ री ख्यात" में मिलता है । यह ग्रंथ भी अप्राप्य है अतः इसके काव्यरूप का निर्णय नहीं हो सकता ।

विशुद्ध प्रणय काव्यों के अंतर्गत इस युग में बीसल देव रास और ढोलामारू रा दूहा की रचना हुई । इनमें युद्ध एवं वीरता आदि के वर्णनों का नितान्त अभाव है । ये रचनाएं लोक जीवन के सहज स्वाभाविक भावों को अत्यन्त सरल एवं अकृत्रिम शैली में प्रस्तुत करती है । इन में भी वीर-गाथा काव्यों की भांति राजाओं और राज कुमारियों को कथा के नायक और नायिकाओं के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है किन्तु उनका स्वरूप बहुत कुछ राजकीय वैभव से हीन सामान्य वर्ग के पात्रों जैसा है । वीर-गाथा काव्यों की ही भांति इन रचनाओं मे भी इतिहास और कल्पना

१- देखिए, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ०सं० ५१ ।
२- देखिए, हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास, डा० शंभूनाथ सिंह

का सामंजस्य दिखाई पड़ता है । वीर गाथा काव्यों की भांति इनके मूलरूपों में भी पर्याप्त परिवर्तन हो गया है । किन्तु ये रचनाएं विस्तार में महाकाव्यों की परिधि को स्पर्श नहीं कर पातीं । इनमें एक ही घटना अथवा प्रसंग को आधार बनाकर उनका विकास किया गया है । अतः इस धारा की उपर्युक्त दोनों कृतियां आदि कालीन खण्डकाव्यों का प्रतिनिधित्व करती हैं ।

आदि-कालीन खण्डकाव्य

रचना-काल- "ढोला मारू रा दूहा" को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में भक्ति काल के प्रबन्ध काव्यों के अंतर्गत स्थान दिया है[1] किन्तु वस्तुतः यह आदिकाल की रचना है । नागरी प्रचारिणी सभा में प्रकाशित ढोला मारू रा दूहा के सम्पादकों ने इसका रचनाकाल ईसा की ११वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी के बीच माना है[2]। जैन कवि कुशललाभ ने "ढोला मारू रा दूहा के बीच बीच चौपाइयों को जोड़कर कथा सूत्र मिलाने का कार्य सं० १६१८ के आस-पास किया था । उसने इन दोहों के लिए "दूहा घणा पुराणा अछइ" लिखा है । इस "घणा पुराणा" से यदि २०० वर्ष पुराने होने का भी अर्थ लिया जाय तो इस कृति की रचना १४वीं शताब्दी(ईसवी) के मध्य मानी जा सकती है । इसकी भाषा भी तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी की माध्यमिक राजस्थानी है । नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित, हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग १(हिन्दी साहित्य की पीठिका) में"ढोला मारू रा दूहा" को आदिकाल की ही रचना माना गया है[3]।

बीसलदेव रास के रचनाकाल के बारे में भी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं । एक ओर पं० रामचंद्र शुक्ल ने सं० १२१२ की रचना मानकर इसे आदिकाल की देश भाषा की कृतियों में द्वितीय स्थान दिया है[4]।

दूसरी ओर राजस्थानी विद्वान श्री मोतीलाल मेनारिया[5] और श्री अगरचन्द्र नाहटा[6] ने इसकी भाषा एवं ऐतिहासिकता की परीक्षा करके इसे १६वीं शताब्दी

१-देखिए, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ०सं० २३१ ।
२- ढोला मारू रा दूहा, पृ०सं० ८ ।
३- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ०२७५-२७६ ।
४- हिन्दी साहित्य का इतिहास, रा०च० शुक्ल, पृ०सं० ३४ ।
५- देखिए, राजस्थानी भाषा और साहित्य, मेनारिया, पृ०सं० ११९ ।
६- देखिए, श्री अगरचंद नाहटा का लेख, राजस्थानी जन०, १९४०-पृष्ठ २१ ।

के आस-पास की रचना सिद्ध किया है। जिससे इसकी गणना आदिकालीन कृतियों में नहीं हो सकती। इन दोनों काल सीमाओं के मध्य सं० १४०० विक्रमी के आस-पास इसका रचनाकाल निर्धारित कर डा० मातापसाद गुप्त ने अपना स्वतंत्र मत प्रतिपादित किया है[१]। अंतिम मत अधिक तर्क सम्मत और बीसलदेव रास की उपलब्ध प्राचीनतम हस्तलिखित पोथियों की सहायता से वैज्ञानिक पद्धति पर संपादित पाठ पर आश्रित होने के कारण अधिक प्रामाणिक कहा जा सकता है। इसके विपरीत अन्य मत बीसलदेव रास के प्रक्षिप्त अंशों से युक्त भ्रष्ट एवं विकृत पाठों पर आधारित होने के कारण भ्रमात्मक है। डा० मातापसाद गुप्त द्वारा प्रतिपादित नवीनतम मत को स्वीकार करने पर पूर्वोक्त विद्वानों द्वारा इंगित की हुई ऐतिहासिक और भाषा संबंधी असंगतियों का भी निराकरण हो जाता है और आदिकाल की रचनाओं के अंतर्गत इसे स्थान देने मे कोई बाधा नहीं रहती।

साहित्यिकता-"बीसलदेव रास" एवं "ढोला मारु रा दूहा" दोनों ही रचनाओं को लोकगीत या लोकगाथा माना जाता रहा है किन्तु हिन्दी के आदि युग की इन सरस सुन्दर रचनाओं को केवल इसी मान्यता के कारण शिष्ट साहित्य की कोटि से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। लोक तत्व तो श्रेष्ठतम साहित्यिक कृतियों में भी न्यूनाधिक मात्रा मे मिलते हैं, और फिर आदि काल की रचनाओं में उनका होना और भी स्वाभाविक है। उस समय तक हिन्दी की काव्य परंपराएं और साहित्यिक मान्यताएं स्थिर भी न हुई थी और फिर साहित्यिक रूढ़ियों का अनुसरण मात्र किसी कृति की कलात्मक-उच्चता की कसौटी नहीं बन सकता। अतः यह कहना कि उपर्युक्त कृतियां साहित्यिक सौन्दर्य से हीन हैं, अनौचित्य पूर्ण प्रतीत होता है। लोक गाथाएं सामान्यतः व्यक्ति की रचना न होकर समाज या समूह की कृति मानी जाती हैं किन्तु बीसलदेव रास तो स्पष्ट ही एककवि की रचना है, जिसके नाम की छाप उसके प्रत्येक छंद मे लगी हुई है। "ढोला मारु रा दूहा" का मूल रचयिता भी कोई एक कवि ही रहा होगा और सरस होने के कारण यह रचना कालान्तर में उत्तरोत्तर लोक प्रिय होती गयी होगी, फलतः इसका स्वरूप लोक गाथा का बना होगा। ऐसा मानना ही अधिक युक्तिसंगत लगता है।

१- देखिए, बीसलदेवरास,(द्वि०सं)भूमिका(सं० डा० मातापसाद गुप्त),पृ०सं० ५८।

युग की प्रवृत्ति का अनुकरण- आदि-काल के इन खण्डकाव्यों में वीर-गाथात्मक प्रवृत्तियां आंशिक रूप में ही मिलती हैं। वीर गाथा काव्यों का प्रधान विषय युद्ध और प्रेम है। "किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दल बल के सत साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हर कर लाना वीरों के गौरव और अभिमान का काम माना जाता था[1]।" किन्तु आलोच्य कृतियों में युद्ध की परिस्थितियों का नितान्त अभाव है। फिर भी नायक अथवा प्रतिनायक के आचरण से उनके जातीय स्वभाव का आभास अवश्य मिलता है।

बीसलदेव रास का नायक बीसलदेव अक्खड़ स्वभाव का व्यक्ति है। वह अपनी नवागता वधू के तथ्यपूर्ण प्रत्युत्तर को भी अपनी शान के खिलाफ समझकर रुष्ट हो जाता है और पत्नी के अनेक प्रकार से क्षमा याचना करने पर भी अपने १२ वर्ष के प्रवास के संकल्प को भंग नहीं करता। उसका यह अक्खड़पन राजपूती परंपरा के अनुकूल कहा जा सकता है। ढोला मारू रा दूहा में प्रतिनायक ऊमर-सूमरा का आचरण विशेषकर उसका ससैन्य ढोला का पीछा करना युग की युद्ध मूलक प्रवृत्ति के अनुकूल है। युद्ध वर्णन की यह परम्परा खण्डकाव्यों में आगे चल कर विकसित हुई। भक्ति युग की रचना बेलि क्रिसन रुक्मिणी री में भी युद्ध का वर्णन हुआ है। आधुनिक युग तक यह प्रवृत्ति चली आयी है।

आलोच्य कृतियों में वीर गाथात्मक प्रबन्धों की अपेक्षा लोकतत्वों का प्राधान्य है। राजकीय विलास वैभव के स्थान पर सहज सामान्य जीवन का वातावरण इनमें अधिक दिखाई पड़ता है। चारणों और भाटों द्वारा राजाश्रय में लिखा गया वीर-गाथात्मक साहित्य दरबारी एवं राजकीय वातावरण के चित्रों से युक्त है किन्तु प्रस्तुत कृतियों में उसका अभाव सा है। ऐसा लगता है जैसे चारण भाटों द्वारा राजाश्रय में रचित साहित्य के साथ साथ लोकाश्रय में रचित प्रबन्धात्मक रचनाओं की भी एक समृद्ध परम्परा आदिकाल में रही होगी। राजाश्रय से दूर रहने के कारण इस धारा की रचनाएं सुरक्षित न रह सकीं और जो शेष रहीं उनका मूल रूप भी मौखिक परंपरा में वर्तमान रहने के कारण सुरक्षित न रह सका।

बीसलदेव रास ~~और ढोलामारू रा दूहा दोनों~~ ही "रास" परंपरा की रचनाएं हैं, तथा ढोलामारूरा दूहा-बंध-परम्परा की। ~~ढोला मारू रा दूहा यद्यपि रास संज्ञक रचना नहीं है किन्तु इसे~~

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास-पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१-३२।

हिंदी के आदि काल में अनेक प्रकार की काव्य-परंपराएं प्रचलित रही हैं, जिनमें से ये दोनो प्रमुख हैं। इनका विकास हिन्दी साहित्य में बहुत पीछे तक हुआ है, विशेष रूप से दूहा या दोहा बंध परंपरा का डा॰ माता प्रसाद गुप्त ने "रास" परम्परा को रसिक या रासो काव्य-परंपरा से भिन्न माना है[1]। उनके अनुसार विशुद्ध साहित्यिक कृतियों में बीसलदेव रास ही एक ऐसी रचना है जिसमे अनेक छंदों का व्यवहार नहीं मिलता है अन्य था संदेश रासक, पृथ्वी राज रासो आदि कृतियां स्वयंभू और विरहांक द्वारा निर्देशित "रासक" के बहु रूपक निबद्ध स्वरूप के अनुकूल है। इसका विषय युद्ध, प्रेम, धर्म-प्रचार, हास्य, व्यंग्य आदि कुछ भी हो सकता है। इन रास रचनाओं में से अनेक ने साहित्यिक रूढ़ियों और परम्पराओं को आत्मसात कर कलात्मक रूप धारण कर लिया है और अनेक में लोक-काव्य का वातावरण ही विद्यमान है। साहित्य की कृत्रिमता और कलात्मकता का प्रभाव उनमें नहीं मिलता। आदिकालीन वीरगाथात्मक कृतियों में विशेषकर पृथ्वीराज रासों में साहित्यिक सौष्ठव भी कम नहीं है। किन्तु बीसलदेव राज में साहित्यिक सौष्ठव लाने की ओर कवि की रूचि नहीं है। फिर भी जीवन की मार्मिक अनुभूतियों के उसके चित्रणों में पर्याप्त रसात्मकता है। वीर गाथाओं की ही भांति इस शृंगार परक खण्डकाव्य के रचनाकाल, ऐतिहासिकता, भाषा,, आदि के सम्बन्ध में संदेह का वातावरण विद्यमान है।

सामान्य विशेषताएं - हिन्दी के आदि कालीन खण्डकाव्यों के कथानक काल्पनिक है यद्यपि उनके कथानायक ऐतिहासक हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ काल्पनिक या निजन्धरी कथाओ को जोड़कर काव्य रचना की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन रही है। इन कृतियों में भी यही बात है। ये खण्डकाव्य सन्देह प्रधान विरह काव्य है। संस्कृत साहित्य में सन्देह काव्यों की अत्यन्त समृद्ध परम्परा मिलती है जिसका प्रवर्तन कालिदास के प्रसिद्ध खण्डकाव्य मेघदूत ने किया था। अपभ्रंश साहित्य में भी यह परम्परा संदेश-रासक (अब्दुरहमान कृत) के रूप में मिलती है। हिन्दी के ये आदिकालीन खण्डकाव्य इसी संदेश काव्य परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यद्यपि इनका नामकरण मेघदूत या संदेश रासक के समान "दूत" या "संदेश" वाची नहीं है, किन्तु तो भी संदेश भेजना कथा की केन्द्रीय घटना ----------

---

1- देखिए, डा॰ मा॰ प्र॰ गुप्त द्वारा संपादित बीसल देव रास की भूमिका।

है । बीसलदेव रास में संदेश वाहक पंडित बनता है तो ढोला मारू रा दूहा में ढाढ़ियों का दल । इसके अतिरिक्त बीसलदेव रास में बीसलदेव की ओर से जोगी भी सन्देश लेकर आता है और ढोला मारू रा दूहा में पथिक, सौदागर, चारण, शुक आदि भी संदेश ले जाने का कार्य करते हैं । संदेश भेजने की यह परम्परा आगे के युग की रचनाओं में भी अक्षुण्ण रही है ।

इन कृतियों में स्वस्थ एवं मर्यादित प्रेम का चित्रण मिलता है । इनमें विवाहोत्तर प्रेम को ही कथा का विषय बनाया गया है । ढोला मारू रा दूहा में प्रेमाख्यानक रंग कुछ अधिक हो गया है । इसमें सपत्नी की समस्या भी खड़ी की गयी है जो बीसलदेव रास में नहीं मिलती । दोनों ही रचनाएं संयोगान्त है । दोनों में प्रवासोद्यत पति को रोकने की चेष्टा नायिकाओं द्वारा प्रायः एकही पद्धति पर हुई है । राजमती चार मास बाद का मुहूर्त निकलवा कर पति को चार मास तक रोकने में सफल होती है और मालवणी ऋतु-कष्ट का भय दिखाकर पति को एक वर्ष तक रोक रखने में समर्थ होती है । बीसलदेव में विरह वर्णन में बारह-मासे का आश्रय लिया गया है और ढोला मारू रा दूहा में ऋतु वर्णन का । इनकी रचना लोक रुचि और लोक रंजन के दृष्टिकोण से हुई है । यही कारण है कि उनमें लोक प्रवृत्तियों के अनुकूल कथा का ढांचा रखा गया है । सामान्य जन समुदाय की रुचि को तृप्त करने के लिए कुछ अतिमानवीय पात्रों और अतिमानवीय कार्यों की योजना आवश्यक होती है । विशुद्ध मानवीय-कार्य-व्यापारों में उन्हें उतनी रुचि नहीं रहती । लोक हृदय मानव के साथ साथ मानवेतर सृष्टि के प्रति भी उदारता और ममता का भाव रखता है । यही कारण है कि आदिकालीन खण्ड-काव्यों में ऐसे तत्वों की मात्रा पर्याप्त है ।

ये खण्ड काव्य विषय-प्रधान न होकर भाव प्रधान हैं । इनमें कथावस्तु का तन्तु अत्यन्त क्षीण है । कथावस्तु का सहारा तो केवल भावपूर्ण स्थलों तक पहुंचने के लिए ही लिया गया है । इसीलिए कथा सीधी आगे बढ़ती है उसमें कोई घुमाव फिराव नहीं है । नायक-नायिका के बिछोह की परिस्थितियां उत्पन्न कर उनकी विरहावस्था के चित्र प्रस्तुत करना, पुनः नायिका का संदेश पाकर नायक का आगमन और दोनों के मिलन की अवस्था के आनंदोल्लास को प्रकट करना ही इनका ध्येय है । बाह्य विषय वस्तुओं के वर्णन की प्रवृत्ति इनमें अधिक नहीं मिलती । प्रकृति अथवा ऋतु -वर्णन आदि की योजना केवल भावोद्दीपन के लिए हुई है ।

इनकी रचना राजस्थानी भाषा मे हुई है । वह साहित्यिक परम्परा की न होकर लोक प्रचलित, भाषा के अधिक निकट है । दोनों में ही अपभ्रंश का प्रभाव लक्षित होता है ।

ये खण्डकाव्य संस्कृत आचार्यों की सम्बद्ध प्रणाली को अपनाकर नहीं चले और न आचार्यों द्वारा निर्धारित वर्ण्य विषयों को ही इनमें वर्णन के लिए स्वीकृत किया गया । अलंकरण अथवा कलात्मक परिष्कार भी इन रचनाओं का ध्येय नहीं रहा । अत्यन्त सहज और स्वाभाविक पद्धति पर लोक जीवन के सरल भावों, विश्वासों और आचार-विचारो का परिचय इनमें दिया गया है । इनमें गेय तत्वों की प्रधानता है ।

- - - -

अध्याय २

बीसलदेव रास (रचनाकाल १३४३ ई० के लगभग)

इसके रचयिता नरपति नाल्ह थे । इसे हिन्दी का प्रथम खण्ड काव्य कहा जा सकता है । हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने भ्रमवश इसे वीर-गाथा-काव्यों के अंतर्गत स्थान दिया है किन्तु इसमें वीररस का नितान्त अभाव है । यह एक विशुद्ध प्रणय गाथा है और वीर गाथाओं से भिन्न कोटि की रचना है । इसकी एक अन्य विशेषता, जो इसे रासो ग्रन्थों से भिन्न कोटि प्रदान करती है, यह है कि इसमें आदि से अंत तक एक ही छंद का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार प्रणय गाथा होते हुए भी इसकी प्रकृति अन्य प्रेमाख्यान काव्यों से भिन्न है । प्रेमाख्यानों में पाये जाने वाले आश्चर्य तत्वों, अति प्राकृत घटनाओं और कौतूहलवर्धक अंशों का इसमे अभाव है । अन्य प्रेमाख्यानों की पद्धति के विपरीत इसमें विवाहोत्तर विरह-मिलन के मार्मिक प्रसंगों को ही कथा का आधार बनाया गया है । सामाजिक और नैतिक मर्यादाओं का पोषक यह प्रणय-काव्य कलागत सौन्दर्य के अभाव मे भी हृदय को स्पर्श करने की क्षमता रखता है ।

रचना-शिल्प - बीसलदेव रास का कथानक अत्यंत संक्षिप्त है । इसमे नायक बीसलदेव के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना को खण्डकाव्य का रूप दिया गया है । इसमें बीसलदेव के जीवन के विविध पक्षों को न लेकर केवल उसके प्रणय-पक्ष- पत्नी की बात पर रूठना, प्रवास करना, और प्रेयसी का विरह-संदेश पाकर घर लौटना- का वर्णन करना ही कवि का लक्ष्य है। महाकाव्योचित महत्ता और व्यापकता का इसमें अभाव है । वर्णनों का विस्तार भी इसमें खण्डकाव्य के अनुकूल है । प्रबन्ध के दोनों प्रमुख तत्व "इतिवृत्त" और मार्मिक वर्णन इसमें उपलब्ध हैं । इतिवृत्तात्मक अंश संक्षिप्त और सांकेतिक हैं । वे क्रमबद्ध और कथा के प्रवाहपूर्ण विकास में सहायक हैं । राजमती का विरह वर्णन भी अत्यंत सरस और विदग्धतापूर्ण है । प्रासंगिक कथाओं का इसमें अभाव है । केवल राजमती अपने पूर्व जन्म का वृतान्त कहती है जो प्रबन्ध गठन की दृष्टि से अनावश्यक और अस्वाभाविक प्रतीत होता है । वस्तुतः उस युग मे विशेषकर अपभ्रंश साहित्य की कथाओं मे पूर्व जन्म के प्रसंगों का वर्णन करना एक रूढ़ि बन गयी थी उसी का प्रभाव इस कृति पर भी पड़ा ज्ञात होता है । बीसलदेव और राजमती का संवाद पति-पत्नी

के प्रणय-कलह का चित्र प्रस्तुत कर पारिवारिक वातावरण की सृष्टि करता है और कथा को अग्रसर करने में सहायक होता है । किंतु इसका प्रबन्ध गठन त्रुटिपूर्ण अवश्य है । बीसलदेव और राजमती के वियोग की १२ वर्ष की लम्बी अवधि के मध्य कवि ने केवल-बारहमासे का वर्णन किया है । दो छंदों में कुट्टिनी का प्रसंग भी प्रस्तुत किया गया है । इस दीर्घ अवधि के व्यवधान को पूर्ण करने के लिए यदि कुछ अन्य प्रसंगों की अवतारणा होती तो प्रबन्ध गठन की दृष्टि से अधिक अच्छा होता ।

शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह करने की चेष्टा इसमें नहीं हुई किन्तु फिर भी आंशिक रूप से उनका निर्वाह अवश्य हुआ है । आरंभ में मंगला चरण का आयोजन हुआ है । आद्योपान्त एक ही छंद का प्रयोग हुआ है । नायक ऐतिहासिक और राजकुल का क्षत्री है, किन्तु उससे संबंधित वृत्त उत्पाद्य है । इसका मुख्य रस शृंगार है । चतुर्वर्ग फल में से कार्य की सिद्धि इसमें नायक की होती है । बारहमासा यात्रा, विवाह, संयोग, विप्रलम्भ, मंत्रणा, दूतप्रयाण आदि के वर्णन इसमें मिलते हैं। इसकी कथा सर्गों में विभाजित नहीं है ।

"बीसलदेवरास" के काव्य रूप के संबंध में भ्रांत धारणाएं हिन्दी जगत मे फैली हुई हैं । बीसलदेव रास को "बैलेड" या वीर-गीत माना जाता रहा है । किन्तु यह धारणा स्पष्ट नहीं है । "बैलेड" या वीर-गीत अपने विशिष्ट अर्थ में लोक-परम्परा का प्रतीक काव्य-रूप है । इसकी रचना किसी एक व्यक्ति द्वारा नहीं होती, वरन् इनका कर्ता (रचयिता) सम्पूर्ण समाज माना जाता है और ये गाये जाने के लिए ही लिखे जाते हैं । अतः उनका प्रारंभिक रूप लिपिबद्ध नहीं होता । मौखिक परम्परा में चलते रहने के कारण उनका मूलरूप बहुत कुछ परिवर्तित हो जाता है । लोक प्रसिद्ध वीरों का गुणगान ही इनका विषय होता है । इसी के अनुकरण में कुछ बैलेड साहित्यिक परंपरा में भी कवियों के द्वारा लिखे जाते हैं किन्तु उनकी मूल भावना वही रहती है । उपर्युक्त अर्थ में बीसलदेव रास को वीरगीत या बैलेड की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि यह रचना समाज की देन न होकर एक व्यक्ति की देन है जो अपने व्यक्तित्व को लय नहीं करता वरन् छंदों के बीच बीच अपना नाम देकर उन पर अपने व्यक्तित्व की ऐसी छाप लगा देता है जिससे आने वाली पीढ़ियां युग-युगो तक उसे न भूलें । इसका विषय भी वीरता का बखान या वीरों का गुणगान नहीं है ।

और न इसके लोक में गाये जाने के ही कोई प्रमाण उपलब्ध हो सके हैं । मोतीलाल मेनारिया ने अपने राजस्थानी साहित्य की रूप रेखा मे स्पष्ट लिखा है कि राजस्थान में यह कभी गाया नहीं गया, न आज गाया जाता है[1] । अतः इसे बैलेड, या वीर गीत अथवा गीत काव्य की संज्ञा देना अनुचित है । यह शुद्ध प्रेम-प्रबन्ध है जो अपभ्रंश की परम्परा के कडवक (छन्द) में लिखा गया है । हाँ इसका छंद गेय भी है, यह इसका अतिरिक्त वैशिष्ट्य कहा जा सकता है ।

वस्तु-विवेचन- बीसलदेव रास में कथानक तो नाम मात्र का है । वस्तुतः यह एक विरह काव्य है । कवि राजमती के विरह वर्णन का अवसर पाने के लिए ही बीसलदेव के प्रवास की घटना को उभारता जान पड़ता है । इस ग्रंथ का कथानक बीसलदेव-राजमती के विवाह से प्रारंभ होता है । विवाह के पश्चात् घर लौटने पर एक दिन बीसलदेव राजमती के सामने अपने व अपने राज्य के बड़प्पन का गर्व के साथ बखान करता है जिसके उत्तर में राजमती उड़ीसा के राजा के वैभव को बढ़ा-चढ़ा बताती है । इसे अपना अपमान समझकर, बीसलदेव रुष्ट हो जाता है और बारह वर्ष के लिए प्रवास करने पर तुल जाता है । राजमती की समस्त दृढ़ता ढह जाती है वह हर प्रकार से बीसलदेव को मनाने का उद्योग करती है । ज्योतिषी से चार-मास आगे का यात्रा-मुहूर्त निकलवाकर वह उसे चार मास तक रोक रखने में सफल होती है किन्तु बीसलदेव का हठ छुड़ाने की उसकी सारी चेष्टाएं विफल हो जाती हैं । राजमती को बिरहाग्नि में झोंककर बीसल देव उड़ीसा चला जाता है । विरह का कठिन बोझ उठाए वह दिन बिताती है । अवधि पूरी होने के पूर्व पंडित के द्वारा वह बीसलदेव के पास संदेश भेजती है । बीसल देव उड़ीसा के राजा से अनेक उपहार व धन-राशि पाकर चल पड़ता है और अपने आने का संदेश एक योगी के द्वारा राजमती के पास भेज देता है । राजमती उसके स्वागतार्थ शृंगार करती है और दोनों का पुनर्मिलन होता है ।

ऐतिहासिकता- बीसलदेव रास के पात्रों में बीसलदेव और राजमती प्रमुख हैं । इनमें से बीसलदेव ऐतिहासिक पात्र हैं किन्तु राजमती की ऐतिहासिकता संदिग्ध है । इसमें राजा भोज का नाम आया है । वे भी ऐतिहासिक पात्र हैं । किन्तु बीसलदेव रास में उक्त ऐतिहासिक पात्रों से संबंधित जो वृत्त आया है, वह इतिहास से प्रमाणित नहीं है । इतिहास के अनुसार बीसलदेव रास का नायक बीसलदेव (या

१- राजस्थानी भाषा और साहित्य पृ० १७ ।

विग्रहराज चतुर्थ) बड़ा ही वीर और प्रतापी था । वह अजमेर का शासक था और उसने मुसलमानों के विरुद्ध अनेक लड़ाइयां लड़ी थीं । "दिल्ली के लौह स्तंभ पर उसने गर्वपूर्वक घोषणा की थी कि मैंने विन्ध्याचल से हिमालय तक की सभी भूमि को म्लेच्छ विहीन करके यथार्थ आर्यावर्त्त बना दिया है[1] । विग्रहराज चतुर्थ का समय सन् ११४३ से ११६८ तक है[2]। किन्तु बीसलदेव रास मे बीसलदेव के शौर्य एवं प्रताप का वर्णन नहीं मिलता । इसके विरीत उसके विवाहित पत्नी राजमती से रूठकर उड़ीसा जाने का वर्णन मिलता है जो इतिहाससम्मत नहीं है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है बीसलदेव के राजकवि "सोमदेव" ने ललित विग्रहराज नाम का एक नाटक लिखा था जो एक प्रस्तर खण्ड क पर आंशिक रूप में खोदित मिला है । इसमें इन्द्रपुर के राजा बसन्तपाल की पुत्री देसलदेवी के साथ बीसलदेव के प्रेम का वर्णन है । राजा और राजपुत्री कल्पित जान पड़ते हैं और उन दिनों के ऐतिहासिक समझे जाने वाले काव्यों की प्रकृति का सुन्दर परिचय देते हैं । इसी बीसलदेव के काल्पनिक प्रेम-कथानक को परवर्त्ती काव्य बीसलदेव रासो में वर्णन किया गया है । दोनो ही कवियों ने ऐतिहासिक तथ्यों की परवाह न करके उन दिनों की प्रचलित प्रथा के अनुसार संभावनाओं पर जोर दिया है"[3]।

राजमती की ऐतिहासिकता के बारे मे अभी तक कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं । वह भोजपरमार की कन्या थी, इसका भी कोई प्रमाण नहीं है । विग्रहराज तृतीय की रानी का नाम सोमेश्वर के बीज्योल्यां के शिलालेख में राजदेवी मिलता है । इस पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने अनुमान किया है कि हो सकता है बीसलदेव रास का कवि इसी राजदेवी को राजमती कहता हो, और उसका नायक बीसलदेव विग्रहराज तृतीय ही हो जिसका समय सं० ११५० के लगभग पड़ता है[4] । बीसलदेव रास में राजा भोज की ओर से बीसलदेव को सोरठ, मंडोवर, गुजरात के लिए जाने का उल्लेख है[5] । किन्तु भोज के अधिकार में इन प्रदेशों का होना भी इतिहास से प्रमाणित नहीं है ।

१- इंडियन एंटीक्वरी, जिल्द १९, पृ० २१८ (हि० सा० के आ० का० ~~पृ० ३३ से उद्धृत~~ आ० ह० प्र० द्विवेदी पृ० ३३ से उद्धृत)
२- हि० साहित्य का बृहत इति० पृ० ३७७ ।
३- हि० साहित्य का आदिकाल पृ० ३३ ।
४- बीसलदेव रास, भूमिका पृ० ५४ ।
५- बीसलदेव रास छं० सं० २१ ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि बीसलदेव रास का कथानक (काल्पनिक अथवा किंवदन्ती पर आधारित है) इसमें केवल ऐतिहासिक नामों का आश्रय लिया गया है ।

चरित्र-चित्रण

बीसलदेव रास मुख्यतः वर्णनात्मक काव्य है । चरित्रांकन इसका लक्ष्य नहीं है । इसकी रचना का उद्देश्य राजमती का विरह वर्णन करना और यह सीख देना है कि नारी यद्यपि पुरुष को रिझाने की विविध क्रियाएं जानती है किन्तु उसका एक ही अक्षर (शब्द) सर्वनाश कर सकता है[1]। फिर भी पात्रों के कथन व उनके कार्य-व्यापार से उनके चरित्र की विशेषताओं का परिचय मिल जाता है । प्रस्तुत कृति में पात्रों की संख्या अति अल्प है । प्रधान पात्र बीसलदेव और राजमती दो ही हैं । किन्तु इन दोनों में कथा का मुख्य पात्र कौन है यह प्रश्न विचारणीय है । कथा की सम्पूर्ण घटना बीसलदेव और राजमती दोनों पर समान रूप से आधारित है । ग्रंथ का नामकरण यद्यपि बीसलदेव के नाम पर हुआ है किन्तु इसका प्रधान पात्र बीसलदेव न होकर राजमती ही है । बीसलदेव के रूप, गुण, शौर्य आदि का वर्णन विस्तार से नहीं हुआ है और न उसके प्रेम भाव की तीव्रता को ही अंकित करने की चेष्टा हुई है । इसके विपरीत राजमती के रूप गुण आदि का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत हुआ है । उसकी मनोदशाओं का चित्रण तो कवि का मुख्य लक्ष्य ही है । कथा के मुख्य फल की प्राप्ति भी (बीसलदेव के उड़ीसा से लौटने के रूप मे) राजमती को ही होती है । अतः वही इस काव्य की नायिका है ।

राजमती- राजमती इस काव्य की नायिका है । भारतीय सिद्धान्तों के अनुसार वह स्वकीया, प्रोषितपतिका (बाद में वासक सज्जा) नायिका है । बारह वर्ष की अवस्था में माता-पिता द्वारा योग्य वर बीसलदेव के साथ उसका विवाह कर दिया जाता है । विवाह के समय राजा बीसलदेव के रूप पर राजमती स्वयं मोहित होती है और अपनी इस अवस्था का परिचय वह सखियों से वार्तालाप करते हुए देती है[2]। वह स्वयं अत्यन्त रूपवती है विवाह के अवसर पर बीसलदेव भी उसके रूप को

१-२ बीसलदेव रास छं० स० ५, १२ ।

देख कर प्रसन्न होता है[1]।

किन्तु मनोनुकूल वर पाने के बाद भी उसका जीवन सुखी नहीं बनता । विवाह के बाद ही वह बाल-चापल्यवश एक छोटी सी भूल कर बैठती है जो उसके जीवन के लहलहाते हुए उपवन को उजाड़ देती है । बीसलदेव थोड़ी सी बात पर रूष्ट होकर १२ वर्ष के लिए प्रवास करने का दृढ़ संकल्प कर लेता है । राजमती इस अप्रत्याशित अवस्था को आया देख अत्यंत कोमल और विनयशील बन जाती है वह क्षमा याचना करती है किन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल होते हैं । बारह वर्ष की कठोर यातना सहने के बाद अवधि पूरी होने पर वह पंडित के द्वारा अपनी विरह-कातर अवस्था का संदेश पति के पास भेजती है । राजमती इस कठिन विरह वेदना और सहनशीलता व विनम्रता के कारण ही हमारी सहानुभूति की अधिकारिणी बनती है । हिन्दी साहित्य में वर्णित विरहिणी नायिकाओं में उसका स्थान अग्रगण्य है ।

यहां उसके अपराध के स्वरूप पर भी एक दृष्टि डाल लेना अप्रासंगिक न होगा। विवाह के पश्चात् बीसलदेव राजमती के सामने अभिमानपूर्वक अपने को सर्वश्रेष्ठ भूपाल सिद्ध करने की चेष्टा करता है तथा अपने राज्य में सांभर निकलने, जैसलमेर जैसा थाना तथा हाथी घोड़ो की अपार सेना होने का बखान करता है । राजमती उसका प्रतिवाद करती हुई कह बैठती है कि "हे सांभरवाल गर्व न करो । तुम्हारे सदृश और अनेक भूपाल है । एक उड़ीसा का राजा ही है जिसके राज्य में खानों से हीरे निकलते हैं । नमक की कौन कहे[2]। राजमती का उत्तर सत्य पर आधारित था किन्तु वह अप्रिय अवश्य था । अतः अप्रिय सत्य बोलने का अपराध उसने अवश्य किया है । इसके पीछे उसके नैहर के स्वच्छन्द (राजकीय) वातावरण के निर्भीक संस्कार थे । माता-पिता के लाड़-प्यार में पली हुई राजकुमारी यदि किसी व्यक्ति की झूठी गर्वोक्तियों का उचित उत्तर दे, तो इसमें कोई अस्वाभाविकता नहीं दिखाई पड़ती । फिर उसकी अवस्था केवल बारह वर्ष की थी उस अवस्था में उतनी दूरदर्शिता नहीं आती कि वह अपने कथन के संभावित परिणाम का पूर्व-विचार कर सकती । अतः उपर्युक्त परिस्थिति में राजमती के प्रतिवाद को अपराध नहीं माना जा सकता । फिर राजमती ने पति के रूष्ट हो जाने पर

१-२ बीसलदेव रास छं सं० २३, २९ ।

कितनी अनुनय-विनय की । अपने को पति के पैरों की जूती, कीटी और बिना जल की मछली बताया किन्तु तो भी बीसलदेव का मान भंग न हुआ । ज्योतिषी से चार-मास आगे का मुहूर्त निकलवाकर हर संभव उपाय से वह बीसलदेव को मनाने का यत्न भी उसने किया तो भी बीसलदेव ने अपना प्रण भंग नहीं किया । राजमती के नारीत्व पर यह ज्यादती ही थी- अतः उसकी अवस्था पर हमें भी तरस आता है । पति की इस ज्यादती को उसने चुपचाप सहन कर लिया ।

उसका पातिव्रत्य उसे मानवता के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है । पति की उपेक्षा और उसकी हठवादिता पर खीज कर वह उसे "मूर्ख" और "भइंस पनीहार[1]" तक कह डालती है किन्तु मन, कर्म और वचन से सदैव उसी प्रियतम का ध्यान रखती है। विरह-दुख के साथ उसका प्रेम भी अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है। बीसलदेव जब किसी तरह नहीं रुकता तो राजमती अपने को भी साथ ले जाने का अनुरोध उससे करती है और उसका अंचल पकड़कर कहती है "या तो मुझे तू मार डाल या साथ ले चल" । वह योगिनी बनने, तथा हिमालय, वाराणसी, केदार, गंगोत्री, आदि स्थानों में चले जाने की धमकी भी देती है[3]। अपने यौवन-रूप का प्रलोभन और अपनी संतान हीनता का भय भी दिखाती है[4], और अन्त में प्राणत्याग की धमकी भी देती है किन्तु लाख त्रिया-चरित्र करने पर भी बीसलदेव अपना निश्चय नहीं बदलता। अंत में राजमती राजकीय-रीति-नीति की शिक्षा देकर और अपने हृदय पर पत्थर रखकर उसे बिदा देती है । वह विरह का कठिन संताप झेलती हुई दिन व्यतीत करती है। एक कुट्टिनी इस अवस्था में उसे पथ भ्रष्ट करना चाहती है किन्तु राजमती उसकी पीठ पर पाटा जमाती है और उसे देवर-जेठ को बुलाकर जिह्वा-नाक कटाने की धमकी देती है[6] । इस प्रकार राजमती के हृदय में प्रेम की अनन्यता और पातिव्रत्य की निर्मलता का आदर्श अपनी सीमा पर पहुंचा हुआ दिखाई पड़ता है ।

उसमें स्त्री सुलभ सरलता, और स्वामी का अहर्निश चिन्तन आदि गुण अपने सहज रूप में विद्यमान है । यही कारण है कि राजमती हिन्दी संसार की अमर नायिका बन गई हैं ।

<u>बीसलदेव</u>- बीसलदेव अजमेर का राजा है । वह चौहानों के उच्च कुल में उत्पन्न हुआ

१-बीसलदेव, छं०सं० ५३ । २- वही, छं०सं० ४२ । ३-वही, छं०सं०४४ ।
४- वही, छं०सं०४२, ४८ । ५- वही, छं०सं० ४५ । ६-वही, छं०सं० ८३, ८४ ।

है । वह अत्यन्त चतुर, ज्ञानवान् और सर्वगुण सम्पन्न है । वह इतना रूपवान है कि स्वर्ग के देवता भी उस पर मोहित होते हैं[1]। उसके राजकीय वैभव का क्या कहना, छ छत्तीसों कुलों के राजपूत उसकी सेवा करते हैं । एक लाख घोड़े और मदमस्त हाथियों की सेना उसके यहां है[2]। किन्तु उसका यह वैभव केवल शून्य है । उसके कार्य-व्यापार वस्तुतः उसे एक सामान्य व्यक्ति के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं । राजा भोज की कन्या के साथ विवाह का प्रस्ताव वह सहर्ष स्वीकार कर लेता है । परमार कन्या का उसके महल मे आना उसके गौरव का सूचक है । बीसलदेव इसे अपना सौभाग्य समझता है[3]। बीसलदेव के चरित्र को ऊंचा उठाने की चेष्टा इस कृति में नहीं दिखाई पड़ती। वह अत्यन्त स्वाभिमानी था क्योंकि नवागता पत्नी के मुंह से अपनी तुलना में अन्य राजा के बढ़े-चढ़े वैभव का वर्णन सुनकर उसका आत्म-सम्मान जाग उठता है किन्तु इसकी प्रतिक्रिया का यह रूप अत्यन्त अस्वाभाविक जान पड़ता है कि वह राज-पाट छोड़कर उड़ीसा के राजा के दरबार में जाकर उसकी चाकरी वृत्ति ग्रहण करे । यह तो स्वाभिमान की रक्षा न होकर इसकी हत्या ही कही जायगी ।

नायक बीसलदेव एक प्रतिष्ठित राजा के रूप में आचरण न कर सामान्य जनोपयुक्त आचरण करता है । सामान्य जीवन में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं कि पत्नी के व्यंगबाण से आहत होकर पति परदेश-गमन करे और वहां चाकरी या दास वृत्ति ग्रहण करके अपनी गुजर करे । फिर लम्बी अवधि के परचात् क्रोध और क्षोभ का शमन हो जाने पर नायिका की वास्तविक विरह-दशा का संदेश पाकर पुनः अपनी प्रेयसी को प्रेमपूर्वक अपनाने के लिए प्रवास भंग करे । किन्तु राजमती का अपराध ऐसा नहीं था जिसके लिए बीसल देव की प्रतिक्रिया को उचित कहा जा सके ।बीसल देव एक जिद्दी प्रकृति का पात्र है । पत्नी की थोड़ी सी भूल को वह उसके लाख प्रयत्न करने पर भी क्षमा नहीं करता है और १२ वर्ष के लिए प्रवास करने का संकल्प कर लेता है । पत्नी राजमती अपनी बैनै की भूल को स्वीकार कर लेती है और पति को प्रसन्न करने के लिए उसके पैरों की जूतीं बनने को तत्पर होती है, किन्तु अपने को इतना गिराने पर भी वह पति का मान भंग कराने में असफल रहती है । इससे प्रगट होता है कि बीसलदेव केवल कठोर हृदय ही नहीं था वरन् मूर्ख या राजमती के शब्दों में "भइंस पीढार"[4] भी था । प्रवास के पश्चात् लौटने पर राजमती का यह

१- बीसलदेव छं०सं० ७ । २-वही, छंर्स० ९ । ३- भारतीय प्रेमाख्यान काव्य, पृ०२८४

४- वईसलदेव रास छं०सं० ५३ ।

व्यंग्य "स्वामी भी विणाजियउ नइ जी भियउ तेल[1]" उसके लिए अत्यन्त उपयुक्त है ।

बीसलदेव के चरित्र में यह दोष होते हुए भी उसके प्रणय भाव में मलिनता नहीं दिखाई पड़ती । उसका प्रेम स्वच्छ एवं परिष्कृत है । उसके सहस्र-नारियां होने की सूचना अवश्य दी गई है[2] किन्तु उसका संबंध इस कृति की कथा से नहीं के बराबर है । उसकी सर्वाधिक रति राजमती में ही है । इस-लिए बीसलदेव को दक्षिण नायक कहा जा सकता है । प्रवास की लम्बी अवधि में वह यद्यपि राजमती का स्मरण भी नहीं करता किन्तु तो भी अन्य स्त्री की कामना उसने नहीं की ।

राजमती का संदेश ले जाने वाले पंडित से जब बीसलदेव को राजमती के प्रेम की विशुद्धता का परिचय मिल जाता है तब उसकी मिलनोत्कण्ठा तीव्रतम स्थिति पर पहुंच जाती है । उड़ीसा की रानी चार राजकुमारियों के साथ उसका विवाह कराने का प्रलोभन देती है किन्तु वह सब व्यर्थ हो जाता है । उड़ीसा पति उससे कहते हैं "तइं त्रिया कै कारणि फेडियउ राज[3]" (तू स्त्री के कारण मिले हुए राज्य को छोड़ रहा है) किन्तु बीसलदेव पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, यही नहीं बीसलदेव स्वयं राजमती को संसार का रत्न और अपनी "परम-प्रिया", "बल्लभा" आदि विशेषणों का प्रयोग करके अपने प्रणय को व्यंजित कर देता है[4] ।

इस अवसर पर राजमती की विरह-दग्ध अवस्था उसे असह्य हो उठती है अतः योगी के द्वारा अपने आगमन की सूचना भेजकर वह अविलम्ब उसका दुख दूर करने का उपक्रम करता है । योगी को संदेश पहुंचाने के बदले पाटण सदृश बारह ग्राम दे डालने की घोषणा उसके इसी भावावेग की द्योतक है । योगी को वह अपनी प्रेयसी का अभिज्ञान भी बताता है जिसके सहारे राजमती के हृदय में बसी हुई छवि ही उसके शब्दों में प्रगट हो जाती है[5]।

रस और भाव-व्यंजना

<u>वियोग</u>- बीसल देव रास में राजमती का विरह-वर्णन कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण

१-२: बीसलदेव रास छं०सं० १२६, ११३-११४ ।

३- वही, छं०सं० १०८ । ४-वही, छं०सं० १०८ । ५- वही, छं०सं० ११२।

है । इसमें राजमती की विरह-व्याकुल अवस्था का सजीव चित्र खींचा गया है । इसमें इतनी स्वाभाविकता और सहजता है कि वह हमारे हृदय में घर कर लेती है और राजमती के लिए पाठक की सहानुभू करुणा व सहानुभूति का स्रोत उमड़ पड़ता है । उसमें कल्पना की ऊंची उड़ान भले ही न हो, लक्षणा, व्यंजना, अलंकारादि के चमत्कार का भले ही अभाव हो किन्तु उसमें रस की कमी नहीं है । सहज,सरल और प्रसाद गुण संपन्न भाषा में व्यक्त राजमती की विरह-दशा के यथार्थ चित्र अत्यन्त समर्थ और हृदयस्पर्शी है । अतः उनकी काव्यात्मकता से इनकार नहीं किया जा सकता ।

बीसलदेव के घर छोड़ने के बाद वियोग का प्रथम आघात उसे निश्चेष्ट बना देता है । यह वियोग की प्रथम अनुभूति थी अतः उसकी व्यथा वियोगिनी को मरणावस्था के निकट पहुंचा दे तो कोई आश्चर्य नहीं । पंडित बीसलदेव को बिदाकर लौटता है तो देखता है कि राजमती पलंग से भूमि पर गिर पड़ी है उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं शरीर निष्प्राण और हृदय गति हीन है मानो हत-हरिणी हो। उसका एक चित्र देखिए-

नाटिका जीव न हीयडलइ सांस पलिंग हुंती धण भुई पडी
चीर न संभालए न पीवए जी नीर जाणे हियडइ हरिणी हणी[1]
उणिरउ गात्र उघाडा नइ विकल सरीर।

वह जल नहीं पीती, औषधि नहीं खाती, उसके दांत सट गए हैं, उसके अंतर की व्यथा अंगों में उभर आई है। उसकी व्याधि-दशा को देखकर सहेलियों का पुरुषों की निष्ठुरता को दोषी ठहराना कितना स्वाभाविक और लोक-प्रवृत्ति के अनुकूल है-

सात सहेलीय बइठी छइ आइ काढउ न पीवए न ऊषध षाइ
दांत सूकट लिया गोरडी भोली तोयी भलीय दवदंती हे नारि
सो नल राजा मेल्हि गयउ पुरष समउ निगुणी नहीय संसारि[2]।

सामान्यतः हृदय का दुःख आंखों से नहीं दिखलाई पड़ता, कानों से नहीं सुनाई पड़ता । किन्तु "जाके लागी सो लखै की जिन लाई होय" का सिद्धान्त यहां काम नहीं करता । राजमती की व्यथा का अनुभव पड़ोसी ही नहीं करते पाठक भी उससे दयार्द्र हो उठता है । राजमती की अंतर्व्यथा जब असह्य हो जाती

१-२: बीसलदेव, छं०सं० ६३, ६४ ।

है तो "धाह" मारकर सूने भवन में चिल्लाती है -

रो वती मेल्हि गउ धण कउ रे नाह।सुनइ मंदिर दीन्हीय छइ धाह।
साधण कुरलइ मोर जिउं।पाह पाडोसण बइठी छइं आइ।
जोवउ निर्संतान जेउं बइ गया।सषीय इणि कति नाह कोइ ऊलग जाइ[1]।

बीसलदेव के चले जाने से राजमती का महल, शयन गृह, चौपाल, अट्टालिका सभी सूने हो गए हैं। पति जिस मार्ग से गया है उसी ओर एकटक देखती रहती है अतः उसकी आंखो की ज्योति फीकी पड़ जाती है। भूख, प्यास निद्रा भी खो जाती है। इस अवस्था मे उसके दिन गुजरते हैं किन्तु उसकी छटपटाहट कम नहीं होती। माघ मास की कंपाने वाली शीत में भी उसका शरीर दग्ध हो जाता है। उसे सारी बनखंड जलकर राख हुआ दिखाई पड़ता है-

माह मासइ सीय पडइ ठंठार।दाधा छइ बनषंड कीधा छइ छार।
आप दहंती जग दहयउ।म्हाकी चोलीय माहि थी दाधउ छइ गात्र।
धणीय विहूणी धण ताकिजइ।तूं तउ उवइगउ रे आविज्यो करइ पलाणि।
जोबन छत्र उमाहियउ।म्हाकी कनक काया माहे फेरबी आंण[2]।

उपर्युक्त पंक्तियों में राजमती की पिय मिलन की तीव्र उत्कण्ठा व्यक्त हुई है। प्रकृति के संयोग-चित्रों को देखकर उसकी विकलता बढ़ती है, अपना अभाव उसे रह - रहकर खलता है सावन में उसकी सखियां व सहेलियां कजली खेलती हैं। उस समय कपोती आशा से भी भर जाती है, पपीहा "पिउ""पिउ" करता है। राजमती इन दृश्यों को देखकर अमर्ष से भर जाती हैं। भादों मे सागर और नदी, अंधकार और विद्युत तथा मेघ और धरती का मिलन देखकर राजमती का नारीत्व उद्दीप्त हो जाता है उसका एकाकीपन उसे असह्य लगने लगता है -

भाद्रवइ बरसइ छइ गुहिर गंभीर।जल थल महीयल सहु भर्या नीर।
जांणि कि सायर ऊलटयउ।निसि अंधारीय बीज खिवाइ।
बादल धरती स्यउं मिल्या।मूरष राउ न देषइ जी आइ।
हूं ती गोसामी नइ एकली।दुइ दुष नाह किउं सहणा जाइ[3]।

१३: बीसलदेव, छं०सं० ६५, ७०, ७७।

अपने नारीत्व की निरर्थकता पर वह अपने आपको ही नहीं स्त्री जन्म को धिक्कारने लगती है । मानव-समाज की मर्यादा के अनुकूल वह अपने पति की हो चुकी । उस बंधन की अवहेलना वह नहीं कर सकती । किन्तु पति तो निष्ठुर और निगुणी है। उसने विरहिणी के आकर्षक रूप और अप्रतिम सौन्दर्य की भी अवहेलना कर दी। तब तो निश्चित ही स्त्री का जन्म निरर्थक ही रहा । घने वन में रहने वाली "धौरी गाय", और बन खंड की "काली कोयल" का मुक्त जीवन उसे कितना मोहक लगने लगता है । उसका विरह निम्नांकित पंक्तियों में प्रलाप की दशा तक पहुँचा हुआ दिखाई पड़ता है-

अस्त्रीय जनम काइं दीधउ महेस, अवर जनम थारइ घणा रे नरेस
रानि न सिरजीय रोझडी, घणह न सिरजीय धउलीय गाइ ।
बनषंड काली कोइली, हउं बइसती अंबा नइ चंपा की डाल ।
भषती द्राष बीजोरडी, इणि दुष झूरइ अबला जी बाल[1]।

यदि स्त्री जन्म ही मिलता तो वह आंजणी का जीवन पसन्द करती क्योंकि उस अवस्था मे उसे पति के साथ रह कर खेत कमाने का तो सौभाग्य प्राप्त होता[2]। रानी बनकर राजा के वियोग में व्यथित सूने महल में तो वह इस प्रकार न कलपती ।

राजमती पंडित के द्वारा संदेश भेजती है । वह प्रियतम से कहने के लिए कहती है कि उसके विरह में राजमती का शरीर इतना सूख गया है कि दाएं हाथ की मुद्रिका ढुलक कर दाहिने हाथ में आने लगी है[3]। वह प्रियतम के द्वारा अपने पाणि-ग्रहण का स्मरण दिलाने के लिए कहती है । बीसलदेव ने उसका वरण किया है, सूर्य चंद्र और पंचतत्व इसके साक्षी हैं । प्रियतम के विश्वास में वह मिट गई[4]। वह अपने यौवन को लुटा बैठी । उसने ~~यौवन~~ यौवनोन्माद का दमन किया। पति की बुद्धि पर वह व्यंग करती है-

बालुं हो गणीय तुम्हारडउ जांण, कठिन पयोहरा तिज्यउ पराण ।
बालउ जोवन षिसि गयउ, जोवन के सिरि बांधिया नेत ।
जिण बांधिया रावण षिस्यउ, त्रिय कारणि राम बांधियउ सूरा सेत[5]।

पति की निष्ठुरता और उसके अत्याचार की कितनी सांकेतिक व्यंजना उपर्युक्त छन्द में हुई है । एक पति (का आदर्श) राम हैं जिन्होंने अपनी पत्नी को

१-५ बीसलदेव रास छं०सं० ८१, ८२, ८५, ८६, ८७ ।

यौवनोन्माद का दमन करने के लिए विवश करने वाले रावण को मृत्यु-दण्ड दिया था और अपनी प्रियतमा को पाने के लिए समुद्र में सेतु बांधा था, और दूसरी ओर उसका पति बीसलदेव है जो अपनी प्रेमसी के यौवन द का दमन करने के लिए उसे विवश कर रहा है उसका अन्याय रावण से भी बढ़ गया है। कि राजमती का राम भी तो वही है। जब रक्षक ही भक्षक हो जाय, तो फिर वह बेचारी क्या करे?

राजमती का पंडित के द्वारा भेजा हुआ संदेश अत्यन्त हृदयस्पर्शी है । यह अंश इस काव्य का सर्वोत्कृष्ट स्थल कहा जा सकता है । इसमें राजमती अपनी विवशता और दैन्य का परिचय देती है । पत्र में वह प्रियतम के द्वारा लगाए हुए दो नख-चिन्हों का हवाला भी देती है[1] (यद्यपि बारह वर्ष तक नख-चिन्ह मिटे नहीं, विश्वास नहीं होता) जो उसके पत्र की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के साथ ही प्रियतम के मन में संयोग की पूर्व स्मृतियां जगाने मे भी सहायक होंगे । वह लिखती है कि प्रिय की प्रतीक्षा वह नित्य करती है, कौवे उड़ाते-उड़ाते उसकी दाहिनी बांह थक गई है और दिन गिनते गिनते उंगलियां घिस गई हैं[2]। वह सिर के केशों से प्रिय की राह बुहारती है[3] । एक कुलीन की कन्या के लिए वियोग की लम्बी अवधि बिताना कितना कठिन है? प्रिय वियोग में उसकी अवस्था दावाग्नि से जली हुई लकड़ी के समान हो गई है[4]। कभी कभी वह नायक पर खीज भी प्रकट करती है- इस अपराध का फल प्रियतम को अवश्य मिलेगा । इस जन्म में वह चाकर ही बना है, अगले जन्म में सर्प होगा । लोक-सामान्य स्त्री-हृदय का सुन्दर प्रतिबिम्ब इस स्थल पर दिखाई पड़ता है ।

<u>राजमती के वियोग वर्णन की विशेषताएं-</u> राजमती के विरह-वर्णन में अतिशयोक्ति का सहारा कवि ने कम लिया है । परम्परानुकूल होते हुए भी राजमती के विरह-वर्णन में स्वाभाविकता है । वियोग वर्णन की पृष्ठभूमि में बारहमासे का प्रयोग कदाचित् पहली बार इसमें हुआ है । हां ऋतु-वर्णन की परंपरा अवश्य प्राचीन है । विरह की वाह्य(शारीरिक) दशाओं व (मानसिक) अंतर्दशाओं को कुशलता से व्यक्त किया गया है । पंडित, पड़ोसिन और सात सहेलियों के संपर्क से राजमती की विरहावस्था का परिचय अधिक स्वाभाविक ढंग से दिया जा सका है ।

१-४: बीसलदेव रास, छं०सं० ९०"९१, ९३, ९४ ।

शारीरिक चेष्टाओं में जड़ता, मूर्च्छा, व्याधि, प्रलाप (रुदन) आदि दृष्टव्य है। उन्माद और मरण आदि अवस्थाओं तक इसे नहीं पहुंचाया गया है। अतः स्वाभाविकता की रक्षा हो सकी है। मानसिक अंतर्दशाओं में औत्सुक्य, अमर्ष, स्मरण, पति की अज्ञानता पर क्षोभ, यौवन निरर्थक बीतने की आकुलता, प्रकृति का अपनी ही भांति दग्ध दिखाई पड़ना, प्रकृति व जीव-जगत के संयोग चित्रों को देखकर अपने अभाव की तीव्रता का अनुमान करना आदि प्रसंग अत्यन्त मार्मिकता के साथ नियोजित हुए है। पति को सन्देश भेजकर अपना दैन्य सूचित कर उसके मन में करुणा जगाने की चेष्टा हुई है। भावों की पुनरावृत्ति मिलती है किन्तु भावावेश में यह स्वाभाविक ही है। विरह ताप का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन करने की परिपाटी का निर्वाह इसमें नहीं हुआ है। कहीं-कहीं पर उसके संकेत मात्र मिलते हैं।

लोकगीतों की विरह-चित्रण की शैली का प्रभाव उसमें विद्यमान है। शकुनापशकुन से आशा-निराशा का उदय, बारह मासों में अभिलाषाओं के नव-नव रूप दृष्टव्य हैं। अमर्ष व दैन्य का मिश्रित रूप इसकी स्वाभाविकता की रक्षा में विशेष सहायक हुआ है। विरही की मनोदशा सदैव एक सी नहीं रहती। कभी अपने प्रेमी का मिलन सुख प्राप्त करने की उत्कट भावना उसके दोषों व निष्ठुर व्यवहारों की ओर ध्यान नहीं जाने देती- उस समय उस पर न्यौछावर होने उसके रूप-गुण आदि मे तन्मय होने का भाव तीव्र रहता है किन्तु जब दुःख असह्य हो जाता है तो कभी कभी क्षोभ, अमर्ष, उपालम्भ आदि के भाव तीव्र हो जाते हैं। दोनों ही अवस्थाओं में प्रियतम को पाने की अभिलाषा ही प्रधान रहती है। स्त्री हृदय का यथार्थ चित्र हमें विरहिणी राजमती मे मिलता है। इस प्रकार राजमती के विरह-वर्णन में साहित्य और लौकिक परंपराओं को विरहवर्णन प्रणाली को अपनाते हुए कवि ने अपनी निजी अनुभूति के सहारे स्वाभाविक और मार्मिक स्थितियों व दशाओं के भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किए हैं जिससे यह विरह-वर्णन अधिक हृदयद्रावक बन सका है।

<u>संयोग</u>- राजमती को संयोगावस्था का अवसर १२ वर्ष की लम्बी वियोग-व्यथा सहने के बाद ही मिल पाता है। अतः उसके मन मे प्रियतम के मिलन के लिए जीभर कर शृंगार करने की अभिलाषा जागृत होना स्वाभाविक ही है। वह अर्जुन की

भांति भौंहों के धनुष और नवांकुरित कुचों के तीरों से सुसज्जित है[1]।

राजमती और बीसलदेव का मिलन, आलिंगन चुम्बन आदि स्थूल व्यापारों से युक्त होकर कुछ असंयत हो गया है[2]। इस अवसर पर राजमती का मानपूर्वक उपालम्भ देना अत्यन्त स्वाभाविक ही नहीं उसके स्वभाव के अनुकूल भी है, वह बीसलदेव पर करारा व्यंग्य करने में नहीं चूकती-

ऊलग जाइ तई किसउ कियउ नाह, मोडि उसीसउ नइ सूतउ बांह,
कठिन पयोहर नू मिल्या, केली गरभ सा नू मिल्या गात
जांघ जोडावउ नू निरषिया, रंग भरि रयणि न षेलियउ षेल
देव सतावौ तूं फिर आउ, स्वामी घी विणाजियउ नइ जीमियउ तेल[3]

उपर्युक्त पंक्तियों में नायिका अपनी विजय और नायक की पराजय भी ही सगर्व घोषणा करती है । बीसलदेव के कर्तव्य की अदूरदर्शिता को बड़े स्वाभाविक रूप में वर्णित किया गया है । नारी के मोहक अंगों के भोग से वंचित रह कर जिस सुख से सदा के लिए वह हाथ धो बैठा उसका स्मरण दिलाकर नायिका नायक को अपनी भूल स्वीकार करने पर जैसे विवश करती है । इस उपालम्भ का भी संयोग शृंगार उद्दीपन में विशेष महत्व है ।

रूप-वर्णन

नायिका- राजमती के अंगों के वर्णन का अवसर चार स्थलों पर कवि को मिला है जिनमें सबसे महत्वपूर्ण वर्णन(अपने प्रवास से लौटने का शुभ सन्देश ले जाते हुए)योगी को अपनी प्रेयसी का अभिज्ञान बतलाते हुए नायक बीसलदेव द्वारा कराया गया है । यह वर्णन अति संक्षिप्त है । इसमें नायिका के हाथ, उंगलियां, दन्त और कटि के लिए क्रमशः कोमल पद्म, मूंगफली, दाड़िम और सिंह को उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है । उंगलियों के लिए मूंगफली की उपमा नवीन है, शेष उपमान रूढ़ हैं । नायिका के पयोधरों का सौन्दर्य उपमानों की सहायता से नहीं उनके गुण कथन से व्यक्त हुआ है, वे कठि कठिन और काली रेखाओं से युक्त हैं[4]।

राजमती के वस्त्रालंकारों के वर्णन मे राजस्थानी वेश-भूषा की छाप है । विवाह के समय पीढे पर ब बैठी हुई राजमती कटि पर रेशमी चुनरी धारण किए है ।

१-३: बीसलदेव रास, छं० सं० १२२, १२४, १२६ ।

में चौहान जी ने हिन्दी साहित्य की परम्परा का विवेचन करने के साथ–साथ प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध करने का क्रान्तिकारी प्रयास किया। हिन्दी साहित्य की परम्परा को व्याख्यायित करते हुए चौहान जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "भक्तिकाल में भी केवल आत्म–समर्पण भक्ति में तल्लीनता आदि भाव ही हमारे तुलसी–सूर आदि साहित्य में भर पाए थे। उनके बाद रीतिकाल में विचारधारा तो दूर हमारे कवि कविताबद्ध कोकशास्त्र लिखने लगे। उनसे इस अधोगति के अलावा और उम्मीद भी क्या की जा सकती थी। वर्तमान काल में भी किसी स्वस्थ विचारधारा का नाम नहीं।"[10] वस्तुतः यह सरसरी तौर पर निर्णयात्मक आलोचना का :खेमावादी' स्वरूप का पूर्व आभास है। प्रगतिशील आलोचकों की जो विध्वांसात्मक प्रवृत्ति रही है – अब यह कुछ हद तक मुक्त हो गयी है – उसका बीजरूप इस प्रारम्भिक निबन्ध में देखा जा सकता है।

वस्तुतः प्रगतिवाद एक दृष्टिकोण है जीवन को समग्र रूप में देखने का कोई प्रचारवाद या मतवाद का आन्दोलन नहीं। प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य को समाज के परिप्रेक्ष्य में देखने की कायल रही है। इसी कारण वह साहित्य को 'रस' की पुष्टि का कारक नहीं मानती। प्रगतिवादी विचारधारा का मानना है कि समाज और व्यक्ति दोनों को जनवादी दृष्टिकोण से ही वैज्ञानिक तथा विश्वजनीय धरातल पर पहुँचाया जा सकता है। डा० चौहान की दृष्टि बराबर इसी बात पर केन्द्रित रही कि "व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव निर्माण प्रयोजनीय है वैसे ही उसके व्यापक मानव मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।''[11] 'मानव–मूल्यों' की तलाश में शिवदान सिंह चौहान साहित्य के रसवाद, मनोविज्ञानवाद, प्रभाववाद आदि को निरर्थक मानते हैं और इसी दृष्टिकोण के कारण प्रगतिवाद के तथाकथित 'वादियों' की भी आलोचना करते हैं। प्रगतिवादी आलोचकों की सीमादृष्टि से भली–भाँति परिचित चौहान जी का मानना है कि 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' केवल प्राचीन लेखकों का ही एक सीमा तक सही मूल्यांकन कर पाती है",[12] तात्पर्य यह कि ऐसी दृष्टि अपने समकालीन रचना का मूल्यांकन नहीं कर पाती क्योंकि वह किसी रचना के सामयिक महत्व को ही उसके स्थाई सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करती आई है।"[13]

शोभा पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र के समान है । वे देवताओं और मनुष्यों को मोहित कर लेते हैं जैसे गोकुल में प्रत्यक्ष गोविन्द हों[१]।

इस प्रकार बीसलदेव रासो में रूप-वर्णन की प्राचीन नख-शिख प्रणाली का दर्शन हमे नहीं होता । इसमें प्रसंगानुकूल नायक-नायिका के अंगों, तथा उनकी वेश-भूषा आदि का संक्षिप्त वर्णन किया गया है जो कहीं नायक-नायिका के भावों को उद्दीप्त करने में सहायक हुआ है । लोक तत्वों और स्थानीय प्रभावों का दर्शन इसमें भी दिखाई पड़ता है ।

प्रकृति-वर्णन

बीसलदेव - रास में प्रकृति की ओर कवि की दृष्टि नहीं गयी । बीसलदेव के विवाह, उसके उड़ीसा गमन, बारह वर्ष के वियोग के पश्चात्, प्रवास भंग और पुनर्मिलन आदि की विस्तृत घटनावली के बीच कवि को अपनी सहृदयता और प्रकृति के प्रति अपने अनुराग का परिचय देने के लिए पर्याप्त अवकाश था, किन्तु कवि की दृष्टि विरह और मिलन की संकुचित परिधि में ही घूमती रही । वियोग-वर्णन के अंतर्गत बारहमासा की योजना हुई है । इस बारह मासे में भी कवि की स्वतंत्र कल्पना का अभाव है । विभिन्न मासों की प्रकृति के स्वरूप का उद्घाटन भी भली भांति ह नहीं हुआ है । वर्षा के बादलों के चित्र ही कुछ अच्छे बन पड़े हैं। मदोन्मत्त शराबी और मदगलित हाथी के द्वारा आषाढ़ में बादलों के उमड़-घुमड़ कर घिरने का चित्र कवि परंपरानुकूल होते हुए भी आकर्षक है[२]। सावन मास की प्रकृति नन्ही-नन्हीं बूदों, पपीहे की पिउ-पिउ और कपोती की आशा में साकार हो उठी है[२] । इसी प्रकार भादों में धरती के जलमय होने के दृश्य का प्रत्यक्षीकरण कराने के लिए कवि ने सागर के उलटने की सुन्दर कल्पना की है :-

भाद्रवइ बरसइ छइ गुहिर गंभीर
जल थल महीयल सहु भर्या नीर ।
जांणि कि सायर ऊलटयउ
निसि अंधारीय बीज खिवाइ ।
बाल धरती स्यउं मिल्या[३] ।

१-३ बीसलदेव रास छं सं० ७५, ७६, ७७ ।

प्रकृति के कोमल रूपों में कवि सौन्दर्य का दर्शन करने मे असमर्थ है । मानव-सौंदर्य ही उसे अधिक लुभाता जान पड़ता है । 'चंद्रमा' के सौंदर्य की उपेक्षा नीचे के छंद में देखिए-

सासू कहइ बहू घर माहे आवि ।

चंदरइ भोलइ गिलेसी राह ।

चंद पुलाणउ बनि गयउ[१]।

प्रकृति या ऋतु के जो भी वर्णन इसमें आये हैं वे उद्दीपन के रूप में ही । किसी न किसी रूप में रति भाव को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए ही । स्वतंत्र रूप से उनका कोई महत्व नहीं है । प्रकृति संबंधी यही दृष्टिकोण सम्पूर्ण कृति में दिखाई पड़ता है ।

प्रेम-तत्व

बीसलदेव रास में विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम का चित्रण लौकिक धरातल पर हुआ है। यह प्रेम समाज की मर्यादा की सीमा के भीतर-रहकर विकसित होता है । इसका निखार पातिव्रत्य की दृढ़ता में दिखाई देता है । प्रेम के कुत्सित वासनामय पक्ष का चित्रण इसमें नहीं हुआ । १२ वर्ष के दीर्घकालीन वियोग के तप से दाम्पत्य-भाव का वासना पक्ष धुल जाता है और उनके प्रेम की एकनिष्ठता का निर्मल पक्ष प्रस्तुत होता है । विवाह के उपरान्त भी नायक-नायिका दम्पति वासना के शिकार होते नहीं दिखाये जाते । "वासना" पर विजयी होकर नायक बीसलदेव अपने स्वाभिमान की रक्षा करने में समर्थ होता है । अपने प्रवास के द्वारा वह प्रेम को नहीं ठुकराता, वासना को ही ठुकराता है । राजमती भी वियोग की अवधि अपने स्वामी के चिन्तन में ही व्यतीत करती है - कुट्टिनी के प्रस्तावों की कठोर प्रतिक्रिया राजमती के दाम्पत्य प्रेम की निर्मलता और वासना पर उसकी विजय का प्रतीक है । यौवन की भूख उसे वियोग की लम्बी अवधि में पथ-भ्रष्ट नहीं कर पाती, इस पर वह स्वयं कितनी संतुष्ट है, उसने वियोग के समुद्र को पार करने में सफलता पा ली है-

ऊलग पूगि घरि आवियउ भरतार । जाणि करि उतरी समुंद कउ पार ।

कलंक न कोई सिर चढिउ बाधतउ जोबन विरह की झाल ।

लंछण को लागउ नही पगि पगि सषनीय न झंखियउं आल[२]।

१-२: बीसलदेवरास छं०सं० ८०, १२१ ।

दाम्पत्य प्रेम की पूर्णता वस्तुतः पति-पत्नी के शरीर, मन और आत्मा के मिलन में ही है । बीसलदेव के प्रवास से लौटने पर उनके शारीरिक मिलन को वासनापूर्ण कहना उचित नहीं है । जहां प्रेम मे एकनिष्ठता नहीं होती, जहा प्रेमियों के हृदय में परस्पर आकर्षण नहीं होता, वहां प्रेमियों का शारीरिक मिलन वासनापूर्ण कहा जा सकता है ,किन्तु सच्चे प्रेमियों का शारीरिक मिलन उनके हृदयस्थ सच्चे प्रेम भाव को पूर्णता प्रदान करता है । राजमती और बीसलदेव का शारीरिक मिलन दाम्पत्य प्रेम के स्वस्थ पक्ष का ही परिचायक है ।

भाषा-शैली

भाषा की दृष्टि से बीसलदेव रास अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है । इसका कारण यह है कि इसमें हिन्दी के प्राचीन तम रूप देखने को मिलते हैं । किन्तु प्राचीन रचना होने के कारण इसकी भाषा का मूल रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है । पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका में प्रकाशित अपने निबन्ध "बीसलदेव रासो का निर्माणकाल"[१] में प्रसिद्ध विद्वान् हेम चन्द्राचार्य द्वारा रचित अपभ्रंश के व्याकरण में उद्धृत दोहों से बीसलदेव रासो की भाषा का मिलान कर सिद्ध कर दिया है कि चाहे मूल रासो में बहुत कुछ हेर फेर पीछे से हुआ भी हो लेकिन उसमें प्राचीनता के चिन्ह विद्यमान है । डा० रामकुमार वर्मा ने अपने इतिहास में इसी धारणा की पुष्टि की है । वे लिखते है "गीतात्मक रहने के कारण इसकी भाषा मे भी अनेक परिवर्तन हुए पर वे परिवर्तन अभी तक सम्पूर्णतः प्राचीन भाषा का स्वरूप विकृत नहीं कर सके । इसमें अपभ्रंश के प्रयोग अधिक हैं, इसलिए यह अपभ्रंश की अन्तिम बोलचाल की भाषा में लिखा गया है । यद्यपि कहीं-कहीं सत्रहवीं शताब्दी की हिन्दी के प्रयोग अवश्य पाये जाते हैं । किंतु ऐसे प्रयोग बहुत कम है । बीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है । कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं, अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिन्दी का ग्रंथ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए[२]।" पं० रामचन्द्र शुक्ल का मत है कि "लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढांचा बहुत कुछ बचा हुआ है ।"[३]

१- नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, पृष्ठ १६३ ।

२- हिन्दी साहित्य का आलो० इतिहास, पृष्ठ १०८ ।

इसके विपरीत पं० मोतीलाल मेनारिया और श्री अगरचंद नाहटा आदि राजस्थानी विद्वानों ने बीसलदेव रास" की भाषा को सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा कहा है । मेनारिया जी ने गुजराती कवि नरपति के पंचदण्ड (संवत् १५६०) की कुछ पंक्तियों से बीसलदेव रास की भाषा-शैली की तुलना कर गुजराती नरपति कवि और बीसलदेव रास के रचयिता नरपति नाल्ह को एक ही व्यक्ति मान लिया है[१]। श्री नाहटा जी भी इसकी भाषा को सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की भाषा मानते हैं[२] । किन्तु राजस्थानी विद्वानों के उपर्युक्त निष्कर्ष अधिक तथ्यपूर्ण नहीं है । डा० माताप्रसाद गुप्त ने स्वसंपादित बीसलदेव रास की भूमिका में लिखा है "भाषा के आधार पर जो परिणाम नाहटा जी ने निकाला है, उनमें ग्रंथ की अंतिम स्थितियों तक के प्रक्षिप्त छंद मिले हुए हैं, जिनकी संख्या सबसे अधिक है । यह पाठवृद्धि सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक की हो सकती है, इसलिए ग्रंथ के अंतिम रूपों के आधार पर उनका अनुमान बहुत गलत नहीं कहा जा सकता । किन्तु प्राचीन ग्रंथों का काल-निर्धारण प्रायः उन अंशों की भाषा के आधार पर किया जाना चाहिए जिनमें भाषा का प्राचीन तम रूप ग्रंथ में पाया जाता है,क्योंकि प्रतिलिपियों के होते होते भाषा का रूप कुछ का कुछ हो सकता है[३] ।"

बीसलदेव रासो मे प्रयुक्त "मूंगफली" शब्द को लेकर श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने आपत्ति की है । उनके अनुसार मूंगफली भारत के दक्षिणीभाग में सबसे पहले फिरंगियों के यहां आने पर होने लगी । इसके पहले यह भारतवर्ष में नहीं पाई जाती थी[४] । किंतु इस शब्द का अर्थ है मूंग की फली, चीनिया बादाम वाली मूंग फली नहीं । बीसलदेव रासो की भाषा तत्कालीन लोक प्रचलित राजस्थानी है ।

१- राजस्थानी साहित्य के इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ २९ ।

२- राजस्थानी भाग ३, अंक ३, पृष्ठ २२ ।

३- बीसलदेव रास-डा० माता प्रसाद गुप्त, प्र० सं० भूमिका पृष्ठ ५६ ।

४- हिन्दी साहित्य का अतीत, पृष्ठ सं० ७३ ।

साहित्यिक भाषा यह नहीं है । राजस्थानी की "ण"कार ध्वनि की इसमें प्रधानता है । अपभ्रंश की भांति संज्ञा शब्द के अन्त में "ड़" "ड़ी" आदि को जोड़ने की प्रवृत्ति इसमें मिलती है । "दिहाड़उ", "हियड़उ", "गोरड़ी" आदि इसके उदाहरण है । संज्ञा शब्द कुछ देशज हैं तथा कुछ संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश से आए हुए हैं । हंस, नन्दन, त्रिभुवन, गुण आदि तत्सम शब्द भी मिलते हैं । नयर, पसाउ, पयोहर आदि प्राकृत के शब्द भी मिलते हैं जिनका प्रयोग बहुत बाद तक चलता रहा है । कारकों के वियोगात्मक और संयोगात्मक दोनों प्रकार के रूप इसमें मिलते हैं ।

बीसलदेव रास की भाषा-शैली प्रसाद गुण संपन्न है । शृंगार रस प्रधान होने के कारण माधुर्य गुण की भी कमी नहीं । अभिधा शक्ति का सहारा ही कवि ने विशेष लिया है । लाक्षणिक प्रयोग जैसे "नार कउ दीप""कनक काया" आदि मिलते है । पर वे अधिक नहीं है । लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग भी इसमें मिलते हैं ।'च्युत-संस्कृति' दोष कहीं-कहीं "राजमती" की पति के प्रति कही हुई उक्तियों मे मिलता है ।

अलंकार-वैशिष्ट्य

बीसलदेव रास में काव्य को अलंकृत करने की ओर कवि की दृष्टि नहीं है । फिर भी अभिव्यक्ति के सहज स्वाभाविक प्रवाह के बीच कुछ अलंकार स्वतः आ गए है । ये अलंकार प्रायः अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करने और भावों को मूर्त रूप देने में सहायक सिद्ध हुए हैं । साम्य मूलक अलंकार कहीं-कहीं पर अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं जो कवि की कल्पना शक्ति की तीव्रता के परिचायक है । वर्षा ऋतु में जब पानी अधिक बरस जाता है तो धरती जलमयी हो जाती है । जिधर देखो उधर जल ही जल दिखाई पड़ता है, धरती की सतह का दर्शन नहीं होता । इस दृश्य को अंकित करने के लिए कवि ने सागर उलटने की उत्प्रेक्षा का सहारा लेकर विस्तृत प्रदेश में फैले हुए जल का बिंब ग्रहण कराने मे सफलता प्राप्त की है-

जल थल महीयल सहु भरया नीर । जाणि कि सायर ऊलटयउ[1]।

आकाश मे उमड़े हुए मेघों के लिए मदगलित हाथी और मदोन्मत्त शराबी के उपमान यद्यपि रूढ़ है किन्तु इनके सहारे मेघों की रूप चेष्टा एवं गति आदि का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है । ये उपमान केवल बाह्य अलंकार आकार-प्रकार(या सादृश्य पर ही आधारित नहीं है वरन् उपमान और उपमेय में गुण, धर्म आदि की भी एकता विद्यमान है ।

माता रे मइगल जेउं पग देइ सद मतवाला जिम ढुलइ[1]।

मेघों का मदगलित हाथी की भांति चलना और सद्यः मदोन्मत्त की भांति ढुलकना आदि व्यापार कवि की सूक्ष्म दृष्टि के परिचायक हैं ।

किन्तु मानव-रूप -वर्णन के प्रसंगों में केवल परम्परागत (रूढ़) उपमानों का सहारा लेकर कवि ने उपमाएं जुटाई हैं जिनमें कोई विशेष आकर्षण नहीं है- निम्नलिखित पंक्तियों में राजमती का रूप -वर्णन ऐसा ही है । इसमें राजमती की उंगलियों के लिए मूंगफली का उपमान ही नवीन है शेष में कोई नूतनता नहीं है-

सांभलउ जोगी कहइ नरनाथ कोमल पदम छइ धणा केरइ हाथ
मूंगफली जिसी आंगुली उणारा कठन पयउहर काजली रेह
बोलती बोल छइ आकुली दांत दाडिम धण चीता कय लंकि[2]।

लोकोक्ति, दृष्टान्त, उदाहरण आदि अलंकारों के सहारे कवि की कुछ सूक्तियां सुन्दर बन गयी हैं । निम्नांकित पंक्ति में लोकोक्ति के सहारे राजमती के "दैन्य" भाव की व्यंजना भलीभांति हुई है-

पगरी पाणहीस्यउं किसउ रोस
कीडी ऊपर कटकी किसी[3]।

निष्कर्ष यह है कि बीसलदेव रास में अलंकारों का प्रयोग अल्प मात्रा मे हुआ है । किन्तु जहां पर अलंकार आए हैं वहां पर वे काव्योत्कर्ष में सहायक ही नहीं, वे भावाभिव्यक्ति के आवश्यक अंग बन गए हैं । कहीं-कहीं उनके प्रयोग अत्यन्त सामान्य कोटि के भी हो गए हैं ।

साहित्यिक महत्व

बीसलदेव रास आदि काल की एक महत्वपूर्ण कृति है । इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वीर गाथाओं के युग में यह विशुद्ध शृंगार की एक सरस रचना है । इस दृष्टि से यह आदिकाल में शृंगारकाव्य की एक समृद्ध परम्परा के अस्तित्व का भी संकेत करती है । यद्यपि इसमें आए हुए ऐतिहासिक तथ्यों तथा भाषा-सम्बन्धी प्रमाणों के आधार पर इसे सन् १३४३ के आस-पास की रचना माना

१-३: बीसलदेव रास- छं०सं० ७५, ११३, ३६ ।

जाने लगा है किन्तु तो भी इस रचना का महत्व कम नहीं होता । इसे निस्संदेह हिन्दी का प्रथम खण्डकाव्य कहा जा सकता है । ढोला मारू रा दूहा की रचना तिथि और रचयिता आदि के सम्बन्ध में तो और भी अधिक संदिग्ध वातावरण विद्यमान है अतः जब तक ढोला मारू रा दूहा के संबंध में और अधिक निश्चित प्रमाण उपलब्ध न हो तब तक बीसलदेव रास को ही हिन्दी का प्रथम खण्डकाव्य मानना उचित है ।

रासो ग्रंथों की परम्परा में भी बीसलदेव रास स्वतंत्र कोटि की रचना सिद्ध होती है । रासो ग्रंथों की परम्परा का आरम्भ अपभ्रंश साहित्य में ही हो गया था। प्राकृत अपभ्रंश के साहित्य-शास्त्रियों में विरहांक ने अडिल्ला, दोहा, मात्रा, रड्डा और ढोसा आदि बहुतेरे छन्दों से युक्त मनोरंजक रचना को "रासक" कहा है[1]। इसी प्रकार स्वयंभू ने लिखा है "काव्यो"मे "रासा बंध" अपने घत्ता, छप्पय, पद्धड़ी तथा अन्य रूपकों के कारण जन मन अभिराम होता है[2]। किन्तु बीसलदेव रास में आद्यन्त एक ही रूपक(छंद) का व्यवहार हुआ है अतः रासक या रासा बंध की उपर्युक्त परिभाषा के अन्तर्गत बीसलदेव रास की गणना नहीं हो सकती । संदेशरासक, पृ०रा० आदि रचनाएं इस परंपरा की है । इस परम्परा की रचनाओं मे साहित्यिक वातावरण प्रधान है ।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने "रास औ रसायन" संज्ञक रचनाओं को "रासक" या "रासो" ग्रंथों से भिन्न अल्परूपक निबद्ध परंपरा के अंतर्गत माना है । इस परंपरा के अन्तर्गत उपदेश रसायन रास, भरतेश्वर बाहुबलि रास आदि अनेक रचनाएं आती हैं। किन्तु इस परंपरा की रचनाएं प्रायः जैन धर्म से सम्बन्धित है और धर्म प्रचारार्थ लिखी गयी है । अधिकांश शान्त रस की रचनाएं है । भरतेश्वर बाहुबलि रास में वीर रस का भी परिपाक हुआ है । किन्तु इसके विपरीत बीसलदेव रास शुद्ध शृंगार का काव्य है । अल्प रूपक निबद्ध परंपरा की शुद्ध शृंगार रस की रचनाएं बीसलदेव रास के अतिरिक्त नहीं मिलतीं[3]। अतः इस दृष्टि से बीसलदेव रास अपने ढंग की एक विशिष्ट कृति है ।

- - -

१-विरहांक- अडिलाहिं दुवह एहि व मत्तारड्डहि तथाअ ढोसाहिं ।
बहु एहिं जो रइज्जइ सो भराणइ रास ओ णाम ।
२- स्वयंभू- घत्ता छड्डणि आहिं पद्धडिआ सुअण्ड रूएहि ।
रासा बंधो कव्वे जण मण अहिरामो होइ ।। स्वयंभू

३- बीसलदेव रास, भूमिका, पृष्ठ ६९, ७० ।

अध्याय ३

ढोला मारू रा दूहा (रचनाकाल लगभग १३५० ई०)

यह राजस्थान का अत्यन्त लोक प्रिय काव्य है । मौखिक परम्परा में विकसित होते रहने के कारण इसका मूल रूप आज दुर्लभ हो गया है । शताब्दियों की इस लम्बी अवधि में हम इसके मूल रचयिता को भी भूल चुके हैं । अत्यधिक जन-प्रिय होने के कारण इसे समाज द्वारा निर्मित लोक गीत की संज्ञा दी जाने लगी है किंतु इतनी सुन्दर और सरस रचना किसी एक कवि के द्वारा निर्मित न हुई होगी, इस पर विश्वास नहीं होता । और न इस तथ्य का प्रकाशक कोई प्रमाण ही उपलब्ध है । किसी ग्रंथ की अतिशय लोकप्रियता इस बात का प्रमाण नहीं हो सकती ह कि वह किसी एक व्यक्ति की रचना नहीं कर समाज की ही रचना है । "ढोला मारू रा दूहा" के चार रूप आज उपलब्ध हैं । एक तो केवल दोहा वाला प्राचीन तम रूप जो कुशललाभ के पुनर्निमाण के पूर्व प्रचलित था और जिसके संबंध में उसने लिखा "दूहा घणा पुराणा अछइ" । दूसरा रूप दोहा-चौपाइ वाला मिलता है जिसका निर्माण जैसलमेर के रावल हरिराज की आज्ञा से जैन कवि कुशललाभ ने दूहों के बीच-बीच कथासूत्र को मिलाने के लिए चौपाइयों जोड़ कर सन् १५५१ ई० में किया । इसका एक तीसरा रूप गद्य-पद्य मिश्रित मिलता है जिसका निर्माण दोहों के बीच बीच कथा शृंखला स्थापित करने के लिए गद्य-वार्ताएं जोड़ जोड़ कर किया गया । चौथा रूप वह है जिसमें दोहा, चौपाई और गद्य-वार्ता तीनों रूप मिलते हैं ।

उपर्युक्त चार रूपो में से अंतिम दो काव्य की दृष्टि से महत्व नहीं रखते ।उनमें प्रक्षिप्त अंश भी संभवतः बहुत मिलाए गए हैं । कुशललाभ वाला रूप पुनर्निमित है, प्राचीन नही । संभवतः दूहा बद्ध रूप ही कुछ अधिक प्राचीन रूप में सुरक्षित है । रचना का मूल रूप क्या रहा होगा यह समस्या आज भी बनी हुई है । नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित और ठा० रामसिंह व सूर्यकरण पारीक द्वारा संपादित "ढोला मारू रा दूहा" का पाठ सुलभ होने के कारण उसी को प्रस्तुत अध्ययन में आधार बनाया गया है । इस संस्करण में ढोला के मूल पाठ को निर्धारित करने के लिए ढोला के मूल-रूप की बीकानेर से प्राप्त पांच प्रतियों का तथा १२ दोहा-चौपाई युक्त प्रतियों का आश्रय लिया गया है ।

ढोला मारू रा दूहा के अनेक दोहे थोड़े बहुत परिवर्त्तन के साथ कबीर ग्रंथावली में मिलते हैं । इनके संबंध में डा० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है कि ये दोहे पहले ढोला मारू रा दूहा में नहीं थे, ये उसमें बाद मे किसी रचना से लेकर रख लिए गए होंगे । ये दोहे कबीर ग्रंथावली के राजस्थानी पाठ से उसमें गए हों तो कोई आश्चर्य नहीं[1]।

प्रबन्ध-शिल्प- "ढोला मारू रा दूहा" मे नायक ढोला के जीवन की महत्वपूर्ण घटना-उसका समस्त बाधाओं को पारकर अपनी विवाहिता पत्नी मारवणी को विरह-दुःख से छुड़ा कर घर लाना- को खण्डकाव्य के रूप में विकसित किया गया है । इसमें ढोला के जीवन के एक पक्ष का अर्थात् उसके दाम्पत्य प्रेम का ही वर्णन हुआ है । "ढोला मारू रा दूहा" का प्रधान कार्य-मारवणी की प्राप्ति- अत्यन्त नैतिक, पवित्र एवं आदर्श पूर्ण होते हुए भी महाकाव्योचित्त कार्य की महानता को नहीं पहुंचता । यह ढोला के व्यक्तिगत जीवन की एक घटना के रूप में ही उभरता है । मानव जीवन के विविध पक्षों और कार्य व्यापारों का वर्णन-विस्तार भी इसमें ऐसा नहीं कि जिससे हम इसे महाकाव्य की संज्ञा दे सकें । "खण्डकाव्य" के रूप में इसे हम एक सफल कृति कह सकते हैं ।

प्रबन्ध काव्य में इतिवृत्त एवं रसात्मक और मार्मिक स्थलों का उचित सामंजस्य अपेक्षित होता है । "ढोला मारू रा दूहा" में इस सिद्धान्त का परिपालन बड़े सुन्दर रूप में हुआ है । प्रारम्भ में १९ दोहों में इतिवृत्तात्मक रूप में ढोला-मारवण के बाल्यावस्था में विवाह और तत्पश्चात् नायक-नायिका के वियुक्त हो जाने की परिस्थिति अंकित की गई है । इसके बाद मारवणी के यौवनोदय का मोहक-वर्णन है । इसमें मुग्धा -नायिका का पूर्वराग जन्य विरह -वर्णन मार्मिक है- इस स्थल पर कथा का प्रवाह समाप्त सा हो जाता है और कवि विरह की नाना अन्तर्दशाओं के उद्घाटन में तल्लीन हो जाता है । ७६वें दोहे तक यह वर्णन चलता है पुनः कवि सखियों द्वारा मारवणी की विरह-व्यथा की सूचना रानी को दिला कर इससे कथा का सूत्र जोड़ देता है । ऐसा ज्ञात होने लगता है कि यह वर्णन कथा प्रवाह का ही अंग है । रसात्मक प्रबन्ध -काव्यों का यह प्रबन्ध सौष्ठव ढोला में विद्यमान है ।

१- उत्तर भारती भाग ६, अंक १, अक्टूबर १९५९, ढोला मारू रा दूहा और कबीर ग्रंथावली लेख-

पुनः दोहा संख्या ७७ से १०९ तक कथा विकसित होकर ढाढ़ियों के ढोला के पास संदेश लेकर नरवर जाने की स्थिति तक पहुंचती है और मारवणी अपना संदेश मारू राग में प्रस्तुत कर ढाढ़ियों को समझाती है इस अवसर पर कवि को वियुक्ता नायिका की आशा-अभिलाषा और वेदना- औत्सुक्य आदि के विशद वर्णन का अवसर प्राप्त हो जाता है । दोहा संख्या ११० से १८३ तक यह प्रणय-संदेश चलता है । और ढाढ़ियों के प्रस्थान करने पर कथा पुनः अबाध रूप से प्रवाहित होती है । और ढोला के मन में मारवणी के मिलन के लिए अभिलाषा जागृत करने की अवस्था तक चलती है ।२११।

पुनः मालवणी की पति को परदेश न जाने क देने की चेष्टा के प्रसंग में विविध कोमल व तरल भावों व वाह्य विषय वस्तुओं के वर्णन में कवि की आत्मा लीन हो जाती है । यहां कथा को आगे बढ़ाने का उतावलापन नहीं है । कवि एक ऊंचे और नूतन भाव-रत्नों के अनुसंधानों में प्रवृत्त होता है । ग्रीष्म, वर्षा के पश्चात् शीत काल में ढोला प्रस्थान कर पाता है ।दोहा २११ से ३०६ तक यह प्रसंग चलता है जिसमें इतिवृत्त एवं सरस वर्णनों का सामंजस्य सुन्दर हुआ है । यहां (३४८ से ४१३) तक मालवणी के विरह कारुयापक वर्णन हुआ है जिसमें उच्च कोटि के कवित्वपूर्ण स्थलों की भरमार है । पुनः कथा का सूत्र ढोला को ऊंट से वार्तालाप करते हुए जाते दिखाकर जोड़ दिया जाता है और रास्ते की बाधाओं आदि के लघु प्रसंगों को दिखाते हुए बीसू नामक चारण से मारवणी के सौन्दर्य का विशद वर्णन करया जाता है । दोहा ४१३ से ४५७ तक ढोला पथ पर अग्रसर होता है और कथा का प्रवाह बढ़ता चलता है । किन्तु ढोला-मारवणी-प्रसंग पर वह फिर स्थिर होता है । ५२७ यहां ढोला मारवणी के मिलन, रति-क्रीड़ा, अष्टयाम और पहेली बुझौवल आदि सरस प्रसंगो के वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण हैं । यह रसात्मक प्रवाह ५२८ से ५९३ तक चलता है । ढोला के प्रत्यागमन में कथा-प्रवाह अविच्छिन्न होकर चलता है । अंत में मारवणी और मालवणी की ईर्ष्या मिल के चित्रण में प्रसंगवश मारू व मालव देशों के वैशिष्ट्य का वर्णन मिलता है । इसप्रकार सम्पूर्ण कथा पूर्वापर संबंध का निर्वाह करती हुई- इतिवृत्तात्मक और रसात्मक स्थलों के सुन्दर सामंजस्य से युक्त होकर इस कृति को एक सफल प्रबन्ध काव्य का रूप प्रदान करती है ।

ढोला मारू रा दूहा मे प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह आंशिक रूप में हुआ है। मंगलाचरण का इसमें अभाव है। कथानक कल्पित है। नायक ऐतिहासिक और राजकुल का व्यक्ति है। प्रधान रस शृंगार है जो आद्यन्त प्रवाहित रहता है। आद्यन्त एक ही छंद का निर्वाह हुआ है। बीच-बीच में कुछ सोरठा और गाथा छंद आ गए हैं। अलंकार यथा स्थान स्वाभाविक ढंग से नियोजित हुए हैं। चतुर्वग फल में से एक-काम- की प्राप्ति इसमें होती है। शास्त्रोक्त विविध वर्णनों का आयोजन भी इसमें मिलता है- आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ढोला मारू रा दूहा की प्रबन्धात्मकता के सम्बन्ध में लिखा है-

"प्रबन्धकाव्य घटनात्मक अवश्य होता है पर वह वर्णनात्मक भी होता है। वर्णन का प्रयोजन भी सरसता, संपादन ही रहा करता है। इस कृति में घटना वक्र की बंकिमा अवश्य है, पर उस बंकिमा पर ही कर्ता अपने श्रोताओं को नने नहीं रखना चाहता। प्रबन्ध काव्य उपन्यास नहीं जिसमें घटनाचक्र की वक्रता पर अधिक जोर दिया जाय। यह नाटक भी नहीं जिसमें वस्तु-वैशिष्ट्य और संवाद वैशिष्ट्य पर ही अधिक ध्यान रखा और खींचा जाता है। उसमें वर्णन की सरसता की ओर ले जाकर श्रोता को किसी प्रसंग में रमाए रखने की अपेक्षा होती है। कविता स्थान स्थान पर देर तक रमने रमाने की कृति होती है। इस रमणीयता को भूलकर कुछ कृति-कार वर्णनों की नुमाइश को भी कविता या प्रबन्ध काव्य का लक्ष्य समझ बैठे और अपनी कृति की सरसता से भी हाथधो बैठे। आशा, जिज्ञासा, लालसा, ईषत्, रोष, भाव-निवेदन, मानस-संबंध, संपादन आदि अनेक मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति करने वाले "ढोला" के वर्णन कवि सम्प्रदाय की आलंकारिक योजना से बहुत कुछ रहित होते हुए भी अत्यन्त सरस हैं।" इसमें संवाद रूप में भी मर्मस्पर्शी और भावोत्तेजक वार्ताएं कहलाई गई हैं[1]।

<u>कथावस्तु और ऐतिहासिकता</u>- ढोला मारू रा दूहा में नायक ढोला के द्वारा अपनी विवाहिता पत्नी मारवणी को प्राप्त करने की काल्पनिक कथा का वर्णन हुआ है। उन दोनों का विवाह उनकी अल्प वय में ही उनके माता-पिता के द्वारा कर दिया जाता है। किन्तु अबोधावस्था के कारण कन्या अपने माता-पिता के घर में ही रह जाती है। ढोला के देश नरवर और मारवणी के देश पूगल के बीच दूरी अधिक होने

1- हिन्दी साहित्य का अतीत, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ०सं०९६।

के कारण ढोला के बड़े होने पर उसके माता-पिता उसका दूसरा विवाह मालवणी से कर देते हैं । किन्तु मारवणीबड़ी होकर स्वप्न में ढोला का दर्शन कर और सखियों से उसके साथ अपने विवाहित होने का समाचार सुनकर उसके विरह मे व्याकुल होती है । पूगल से अनेक संदेशवाहक ढोला के लिए नरवर जाते हैं किन्तु मालवणी उन्हें मार्ग से ही मरवा देती है । अंत मे ढ़ाढ़ियों के द्वारा बड़ी युक्ति पूर्वक मारवणी का संदेश ढोला तक पहुंचाया जाता है । मालवणी अनुनय विनय करके ढोला को एक वर्ष तक पूगल जाने से रोक लेती है किन्तु अन्त मे ढोला मालवणी को सोता छोड़कर पूगल जाता है और १५ दिन ससुराल मे रहकर मारवणी सहित लौटता है । मार्ग में ऊमर सूमरा द्वारा बाधा खड़ी की जाती है, एक स्थान पर पीने सांप से काटे जाने पर मारवणी की मृत्यु भी हो जाती है किन्तु एक योगी की सहायता से उसे पुनर्जीवन मिलता है । सब बाधाओं को पार कर ढोला नरवर लौटता है और दोनों रानियों के साथ सुखमय जीवन बिताता है ।

ढोला मारू रा दूहा के अधिकांश पात्र ऐतिहासिक हैं किन्तु घटनाएं इतिहास से प्रमाणित नहीं है । ऐतिहासिक पात्रों को आधार बनाकर उनके साथ कल्पित प्रेम कथाओं को सम्बद्ध करने की परम्परा भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है[1]। ढोला मारू रा दूहा भी उसी परम्परा की कृति है ।

इसके प्रमुख पात्र ढोला (या साल्ह कुमार), राजा नल, मारवणी इतिहास द्वारा प्रमाणित है । "मुंहणोत नेणसी की ख्यात" के अनुसार ढोला नरवर के संस्थापक नल का बेटा और मारवणी का पति था । शिलालेखों मे पाई जाने वाली कछवाहों की वंशावलियों से ढोला के पौत्र वज्रदामा का समय संवत् १०३४ के लगभग प्रमाणित होता है अतः नल और ढोला को परदादा और दादा मानकर ढोला मारू रा दूहा के संपादकों ने उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी उत्तरार्ध निश्चित किया है[2]। इस समय के लगभग पूगल और मालवा में भी परमारों के राज्य स्थापित हो चुके थे । अतः मारवणी और मालवणी के साथ उसके विवाह होने की घटनाओं की भी संगति बैठ जाती है ।

१- देखिए, हि०सा०का आ०का०, पृष्ठ ७१ ।
२- ढोला मारू रा दूहा-प्रस्तावना, पृष्ठ २१ ।

प्रेमाख्यानक प्रभाव- ढोला मारू रा दूहा एक प्रेम कथा है अतः इसमें प्रेमाख्यानक काव्य रूढ़ियों की छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । यद्यपि इसमें विवाहोत्तर प्रेम का प्रतिपादन ही हुआ है तथापि विवाह अबोधावस्था में होने के कारण नायक-नायिका उससे अनभिज्ञ रहते हैं और कथानक प्रेमाख्यानक पद्धति पर नायिका के स्वप्न दर्शन जनित पूर्वराग के विकास के सहारे अग्रसर होती है । हां, विवाह की घटना पूर्व में नियोजित होने के कारण इसके प्रेम वर्णन में एक नैतिक,गम्भीरता और सात्विकता का समावेश हो गया है ।

निम्नलिखित कथानक रूढ़ियों का दर्शन इसमें होता है -

क- मारवणी(नायिका) का स्वप्न में नायक से मिलन और उससे पति-विरह की पीड़ा का जागृत होना । ख- मारवणी का सखियों के साथ मंदिर जाना जिससे नरवर से आये हुए सौदागर से पति विषयक समाचार स्वयं अपने कानों से सुनने का अवसर मिले ।ग- नायक की प्रेम परीक्षा के लिए नायिका की सांप के पी जाने से मृत्यु उससे भी अधिक सुन्दरी चंपक वर्णी कन्या से विवाह कराने का प्रलोभन पूगल वासियों के द्वारा मिलने पर भी नायक का अटल रहना व नायिका के साथ जल मरने को प्रस्तुत होना । घ- जोगी के अभिमंत्रित जल छिड़कने पर नायिका को पुनर्जीवन मिलना । ङ- नायिका के द्वारा किए गए पिय मिलन के प्रयत्न और मार्ग की रुकावटें -ढाढ़ियों का मारू राग में तंत्री-नाद द्वारा प्रेम संदेश देना संदेश वाहकों की प्रतिनायिका मालवणी के छिपे हुए आदमियों द्वारा हत्या आदि । च- नायक द्वारा नायिका की प्राप्ति के लिए लम्बी साहसिक यात्रा और मार्ग के कष्ट । छ- नायक-नायिकाओं के कार्य साधन हेतु, पशु-पक्षियों का प्रयोग और उनका मानवोचित वार्तालाप व आचरण । इनमें शुक-संदेश, ऊंट का वार्तालाप, कुरझां से मारवणी का संदेश भेजने का प्रस्ताव आदि आते हैं । ज- ऋतु वर्णन के माध्यम से विरह-वेदना व्यक्त करना । झ- नायक-नायिका का प्रथम मिलन के अवसर पर पहेली बुझाना ।

उपर्युक्त कथा रूढ़ियां एवं लोक तत्व"ढोला मारू रा दूहा" के कथानक निर्माण में कहां तक सहायक हैं? परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इनका कथा के विकास मे प्रधान भाग नहीं है । यदि हम इन्हें कथा से अलग कर दे तो भी कथा के ढांचे मे कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता ।

स्वप्न में नायक ढोला से मारवणी का मिलन दिखाकर उसके प्रणय भाव को स्फुरित किया गया है किन्तु स्वप्न-दर्शन की रूढ़ि का व्यवहार न करने पर भी मारवणी का अपने विवाहित होने का तथ्य जान लेना और पति ढोला के लिए यौवन विकास के साथ प्रणय का अंकुर उसके मन मे जाग्रत होना स्वाभाविक था । अतः स्वप्न दर्शन की रूढ़ि कथा निर्माण का आवश्यक तत्व नहीं है ।

मारवणी के सखियों के साथ मंदिर जाने की रूढ़ि का कथा-निर्माण में कोई महत्व नहीं है । यहां पर मंदिर जाना कथा का मुख्य वर्ण्य नहीं है, मुख्य वर्ण्य तो प्रिय विषयक समाचार सुनने की उत्कण्ठा है । कथा का मुख्य अंश यह नहीं है ।

मारवणी के सांप द्वारा भी लिए जाने और योगी द्वारा उसको पुनर्जीवन मिलने की घटना भी मुख्य कथा का अनिवार्य अंग नहीं है । इसके द्वारा मारवणी के प्रति नायक की निष्ठा व्यक्त करने का अवसर कवि को अवश्य मिल गया है किन्तु इस अंश को अलग कर देने पर भी नायिका के प्रति नायक की निष्ठा कम नहीं होती ।

ढाढ़ियों का मारू राग में तंत्रीनाद द्वारा प्रेम संदेश देना अवश्य ही कथा का मुख्य अंग है । इसी प्रेम संदेश को पाकर ढोला के मन में मारवणी के प्रति राग उद्दीप्त होता है । किन्तु संदेश भेजने की यह रूढ़ि उच्च कोटि की कलात्मक कृतियों में बराबर मिलती रही है । संस्कृत में महाकवि कालिदास का मेघदूत, अपभ्रंश में सन्देश रासक और हिन्दी मे बीसलदेव रास इसी परंपरा की कृतियां हैं । शिष्ट साहित्य मे परंपरा से प्रयुक्त कथानक -रूढ़ि है ।

नायिका की प्राप्ति के लिए नायक ढोला ने जो यात्रा की वह प्रेमाख्यानो के नायकों की यात्रा की भांति कष्ट पूर्ण नहीं है, न उसमें भयंकर समुद्रों और जंगलों के पार करने के रोमांच-कारी वर्णन है और न जहाज टूटने और जल में डूबने आदि की हृदय-विदारक घटनाएं । इसमे तो ऊंट के साथ वार्त्तालाप करते हुए आनंदपूर्वक ढोला मार्ग पार करता है । इस अवसर पर ढोला के मनोभावों को ही प्रधानता से व्यंजित किया गया है ।

पशु-पक्षियों का मानवोचित कार्य व वार्तालाप अनेक स्थलों पर मिलता है किन्तु इनका मुख्य कथा के निर्माण में कोई महत्वपूर्ण भाग नहीं है, अतः ये गौण तत्व हैं । "शुक" मालवणी का सन्देश लेकर जाता है किन्तु निराश लौटता है,

ऊंट के साथ बातचीत करने पर ढोला की आंतरिक भाव-धारा का पता लगता है । कुरझां से मालवणी का पंख मांगना व उसका उत्तर देना भी मालवणी के हृदय के मनोविज्ञान की सूचना देने के लिए ही नियोजित हुआ है ।

ऋतु -वर्णन के सहारे नायिकाओं की विरह पीड़ा का वर्णन करने की परंपरा कलापूर्ण साहित्यिक कृतियों में भी उतनी ही स्वीकृत रही है जितनी कथा या आख्यान काव्य की कृतियों में अतः इसे विशुद्ध प्रेमाख्यानक तत्व नहीं कहा जा सकता ।

पहेली बुझौवल की कथा का मुख्य अंग नहीं है ।

इस प्रकार ढोला मारू रा दूहा में मिलने वाले प्रेमाख्यानक तत्व वस्तुतः मूल काव्य के अनिवार्य तत्व नहीं हैं । केवल बाह्य प्रभाव के रूप में ही ग्रहण किये गये ज्ञात होते हैं । बहुत संभव है, ये बाह्य तत्व इस कृति के दीर्घकाल से मौखिक-परम्परा में चलते आने के कारण धीरे धीरे आते गए हों और इनमें से अधिकांश क्षेपक के रूप में हों । अतः इन बाह्य प्रेमाख्यानक तत्वों को देखकर इसे कथा या प्रेमाख्यान मात्र समझ बैठनाउचित नहीं प्रतीत होता । इसमें साहित्यिक सौंदर्य पर्याप्त है और विशुद्ध खण्डकाव्य की कोटि में इसे निस्संकोच ग्रहण किया जा सकता है ।

चरित्र-चित्रण

इस कृति में ढोला, मारवणी और मालवणी तीन ही प्रधान चरित्र हैं उनका विवेचन यहां प्रस्तुत किया जा रहा है । अन्य चरित्र गौण हैं ।

ढोला- ढोला इस काव्य का नायक है । किन्तु नायक होते हुए भी बाल्यावस्था में उसके विवाह संपन्न होने की सूचना देने के बाद कवि ढोला के बाल्यकाल आदि का वर्णन नहीं करता । ढोला की अपेक्षा मारवणी के वर्णन को प्रधानता देता है । इसका कारण कदाचित् प्रेम का स्फुरण पहले नायिका में दिखाए जाने की भारतीय परम्परा का निर्वाह करना ही है । फिर भी ढोला ही इसका प्रधान पात्र है । उसी को लेकर मारवणी और मालवणी के कथानकों को एक सूत्र में जोड़ा गया है । शास्त्रीय शब्दावली में उसे हम धीर ललित नायक कह सकते हैं । शृंगार की दृष्टि से वह दक्षिण नायक कहा जा सकता है क्योंकि दोनों पत्नियों के प्रति वह समान प्रेम रखता है ।

ढोला प्रेम कथाओं के नायकों का प्रतिनिधि पात्र है । अपने प्रेम में व्यथित

विरहिणी का प्रेम सन्देश पाकर उसके प्राप्ति के लिए प्रस्थान करना सामान्यतः प्रेमी नायकों की प्रवृत्ति है । इस दृष्टि से ढोला में कोई वैशिष्ट्य नहीं है । पद्मावत में रत्नसेन हीरामन तोते से पद्मिनी के रूप गुण का समाचार पाकर सिंहल के लिए तुरन्त चल पड़ता है । किन्तु ढोला में प्रेम का वेग और प्रयत्न की तत्परता उतनी अधिक नहीं दिखाई पड़ती । ढोला के मार्ग में कठिनाइयां भी उतनी नहीं आतीं जितनी अन्य प्रेमी नायकों के मार्ग में । वह अपने ऊंट से वार्त्तालाप करता हुआ अपना रास्ता तय करता है जिससे उसके पूगल पहुंचने की आतुरता का भाव अवश्य व्यक्त होता है ।

ढाढ़ियों के द्वारा मारू राग में अपनी विवाहिता पत्नी की करुण सन्देश पाकर ढोला को मारवणी के अपनी विवाहिता पत्नी होने का रहस्य ज्ञात होता है ।

उसके प्रति इतनी निष्ठा रखने वाली उसकी विवाहिता पत्नी इतने दिनों तक उससे दूर रही, उसे पाश्चात्ताप होता है-

ढोलइ मनि आरति हुई, सांभळि ए विरतंत ।

जे दिन मारू विण गया, दई न ग्यांन गिणंत[1]।।

उसका मन उसी समय मारवणी के निकट पहुंच गया, और शरीर को पहुंचाने की आतुरता उत्पन्न हुई । अतः उसे कभी पंखों का अभाव खटकता है तो कभी बांहों के मन के समान लम्बी न होने का दुख[2]। किन्तु मालवणी भी उसकी विवाहिता पत्नी है । उसके भावों और इच्छाओं की उपेक्षा करना भी उसके लिए संभव नहीं है । मालवणी से पहले वह रहस्य छिपाने की चेष्टा करता है- वह उसका जी दुखाना नहीं चाहता अतः बड़े ही स्नेहादर युक्त, वचनों से उसे प्रसन्न कर अपने परदेश गमन की स्वीकृति चाहता है-

माळवणी, तू मन-समी, जाणइ सहू विवेक ।

हिरणाखी, हसिनइ कहइ, करउं दिसाउर एक[3]।

यही नहीं वह मालवणी के लिए आभूषण, मोती, उत्तम चीर, घोड़े, ऊंट आदि लाने के लिए विभिन्न स्थानों पर जाने का बहाना करता है किन्तु

१-ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० २०८ ।२-वही, छं०सं० २११-२१४ ।

३- वही, छं०सं०२२१ ।

मालवणी को प्रिय पति के सामने ये सभी वस्तुएं तुच्छ जान पड़ती है । वहपरदेश जाने की स्वीकृति नहीं देती । विवश होकर ढोला वास्तविकता प्रगट करता है[1]। मालवणी के आग्रह का पालन कर वह एक वर्ष तक रुका भी रहता है जो उसके कर्तव्य के प्रति शिथिलता और उसकी मानसिक दुर्बलता का द्योतक है । इस अवस्था में ढोला के मन में प्रेम और कर्तव्य का द्वन्द्व उठता है । मालवणी के प्रति उसका प्रेम भाव कम नहीं है किन्तु मारवणी का उद्धार भी तो उसका कर्तव्य है । मारवणी से मिलने के लिए जाते हुए मार्ग में गड़रिया और ऊमरा-सूमरा के चारण से ढोला को मारवणी के बारे में जो विरक्ति प्रेरक समाचार मिलते हैं, उनकी प्रतिक्रिया भी ढोला के प्रेम के आदर्श को नीचा गिराने वाली है । ढोला मारू के संपादक ने इसका कारण ढोला के प्रेम की पूर्वराग की अवस्था को बताया है । वे लिखते हैं-"ढोला के राग को हम पूर्ण प्रेम की अवस्था भी नहीं कह सकते । क्योंकि प्रेम में प्रेमी व्यक्तियों के साक्षात्कार की आवश्यकता होती है और अभी ढोला और मारवणी का साक्षात्कार नहीं हुआ । पूर्वराग की यह अपूर्णता न होती तो जब रास्ते में ऊमर के चारण से मिलने पर उसे मारवणी की गलित-यौवनावस्था का हाल मालूम होता है, तब ढोला के मन में संशय जन्य विरक्ति का भावोदय न होता । पूर्ण प्रेम की कोटि को पहुंचे हुए प्रेमियों में प्रेमी की पतिता-वस्था को जान कर उसके प्रति प्रेम और घनी भूत हो जाता है और समवेदना और सहायता के रूप में प्रगतिशील होता है न कि विरक्त हो जाता है । मारवणी से मिलने पर यही पूर्व राग दृढ़ और एकनिष्ठ होकर सात्विक प्रेम की कोटि पर स्थापित हो जाता है । अब संशय, स्वार्थ और लोभ-जनित किसी प्रकार की छुद्र कमजोरी उसे प्रेम के कर्तव्य मार्ग से विचलित अथवा विरक्त नहीं कर सकती ।"[2]

ढोला के प्रेम की दृढ़ता और पवित्रता का परिचय तब मिलता है जब मारवणी को सांप द्वारा पी लिए जाने से मृत्यु हो जाती है और पूगल वासियों के दूसरी चंपक तर्णी सुन्दरी से विवाह कराने के प्रलोभन को वह ठुकरा ही नहीं देता। स्वयं मारवणी के साथ जल मरने को भी तैयार हो जाता है[3]। मारवणी और मालवणी के सपत्नीक में दोनों को समझाकर दोनों को ही प्रसन्न रखने की

१- ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० ३३८ । २-वही,(समा०-दि०सं०)भूमिका,पृ० ७३ ।
३- वही, दू०सं०, पृष्ठ ६१३-६१९ ।

चेष्टा करता है यह उसकी व्यवहार कुशलता का सूचक है, किन्तु तो भी नवागत-पत्नी की ओर उसका झुकाव अधिक है । ढोला यद्यपि राजकुमार है किन्तु उसको सामान्य लौकिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है । उसके राजकीय वैभव के संकेत केवल विलास-क्रीड़ा जैसे स्थलों पर ही मिलते हैं । अपने विरोधी-प्रतिनायक ऊमर-सूमरा की चालें भी वह समझ नहीं पाता । किसी न किसी दैवी संयोग से ही वह उनसे बच पाता है । उसके व्यक्तित्व में दृढ़ता और कार्य-व्यवहार आदि में चातुर्य का दर्शन नहीं होता ।

मारवणी- मारवणी इस काव्य की नायिका है । उसकी प्रति ही कथा का फल है । मारवणी चरित्र -चित्रण में कवि विशेष सफल हुआ है ।

मारवणी के प्रेम का विकास मनोवैज्ञानिक पद्धति पर अंकित किया गया है । प्रारम्भ में उसका मुग्धा वियोगिनी का चित्र मिलता है । स्वप्न में ढोला का दर्शन कर उसके हृदय में विरह बाण लग जाता है और एक अज्ञात वेदना से वह पीड़ित होती है । सखियों के इस आकस्मिक विरह-पीड़ा के सम्बन्ध में शंका करने पर वह अपने जीवन धन को अपने अन्तर की गहराइयों में बसा हुआ बताती है -

जे जीवण तिन्हां-तणा तन ही मांहि वसंत ।
धारइ दूध पयोहरे बाळक किम काढंत[1]।

वह प्रियतम के लिए धैर्य पूर्वक प्रतीक्षा करती है और चिन्तामग्न होती है किन्तु सखी से यह जान लेने पर कि उसी स्वप्न में देखे हुए प्रियतम से उसका विवाह हो चुका है वह काम पीड़ित हो उठती है । जब तक उसे अपने विवाहित होने का तथ्य अविदित रहता है तब तक वह भारतीय नारी के सामाजिक शील और लोक मर्यादा की सीमा में आबद्ध रहती है अतः उसकी विरह-व्यथा में एक संयम दृष्टिगोचर होता है और विवाहित रूप में अपने पति का चिन्तन करते हुए उसमें कामाग्नि का प्रज्वलित होना अनुचित व अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता-

सखी-वयण सुंदरि सुण्या, उठी मदन की झाळ ।
सुंदरिनूं सज्जणा-विरह ऊपन्नउ ततकाळ[2]।

धीरे-धीरे उसकी व्यथा बढ़ती जाती है और वह चातक, क्रौंच आदि से

१-ढोला मारू रा दूहा छं० सं० ११ । २- वही, छं०सं० १५ ।

अपनी व्यथा को प्रिय तक पहुंचाने के लिए व्याकुल हो उठती है ।

ढोला के मिलन के पश्चात् मारवणी का पूर्वराग पूर्ण प्रेम की दृढ़ता प्राप्त कर लेता है । वह बड़ी चातुरी से ऊमर-सूमरा से अपनी और अपने पति के प्राणों की रक्षा करती है - इस घटना से उसकी पति के प्रति दृढ़ रति होती है ।

इसप्रकार दाम्पत्य प्रेम की तीव्रता और पति के प्रति सच्ची निष्ठा मारवणी के चरित्र कीसबसे बड़ी विशेषता है । वह अत्यन्त रूपवती है । ढाढ़ियों ने तथा बीसू चारण ने उसके रूप का जो बखान ढोला के सामने किया, वह अनुपम है । नारी सुलभ लज्जा और संकोच भी उसमें विद्यमान है । अपनी विरह की व्यथा वह अपनी माता से स्वयं नहीं कह पाती । उसकी सखियां ही माता को यह सूचना देतीं हैं । उसे माता-पिता का पूर्ण स्नेह प्राप्त है । उसका प्रेम-सन्देश भी माता-पिता के माध्यम से ही पति के पास भेजा जाता है । इस रूप में वह भारतीय कन्या का आदर्श ही प्रस्तुत करती है ।

मारवणी में ईर्ष्या-भाव विद्यमान है जो उसके सपत्नी कलह में व्यक्त होता है । इसके अतिरिक्त शकुनापशकुन विश्वास[1] और पति की सेवा की भावना[2] आदि सामान्य नारी सुलभ गुणों की भी उसमें कमी नहीं है ।

<u>मालवणी-</u> "मालवणी" का चरित्र कवि ने अधिक सहानुभूति के साथ चित्रित किया है । उसके विवाह की घटना काव्य का विषय नहीं बनी वह नरवर के सौदागर द्वारा पूगल के राजा के समक्ष सूचित मात्र हुई हैं । ढोला -मारवणी के का विवाह सम्बन्ध उनकी अबोधावस्था में हो गया था । अतः मालवणी के विवाह के समय कदाचित् ढोला को अपने विवाहित होने का तथ्य ज्ञात नहीं था, क्योंकि ढाढ़ियों द्वारा मारवणी का प्रेम संदेश पाकर ही उसे सर्वप्रथम यह बात मालुम होती है । मारवणी भी जान-बूझकर ढोला-मालवणी के दाम्पत्य-सम्बन्ध के बीच बाधक बनकर नहीं आयी । ढोला उसका विवाहिता पति था । पति के साथ महलों में सुखपूर्वक रहकर और पारिवारिक बंधन में बंधकर जो नैकट्य और प्रेम की जो घनिष्टता उनमें उत्पन्न हुई उसको भंग करने वाले तत्वों के प्रति विक्षोभ की भावना उत्पन्न हुई होना उसमें स्वाभाविक है । पति के साहचर्य में जीवन व्यतीत करते हुए उसमें

१-ढोला मारू रा दूहा छंसं०२१। २- वही, छं०सं० २५ ।

अधिकार -भावना विकसित हुई जिसके परिणाम स्वरूप परदेश जाने के लिए उद्यत पति को एक वर्ष तक रोक रखने मे उसे सफलता मिली । यह उसके प्रेम गर्विता नायिका के स्वरूप का उद्घाटन करता है किन्तु पति गमन के बाद उसका प्रोषित पति का नायिका का स्वरूप चित्रित हुआ है ।

मालवणी के प्रेम की तीव्रता या पति के लिए उत्सर्ग भावना मारवणी से कम नहीं है । उसकी उत्सर्ग भावना का दर्शन हमें तब होता है जब उसे खुश करने की कोशिश करते हुए ढोला उसके लिए आभूषण-वस्त्रादि लाने का प्रलोभन देकर परदेश जाने की इच्छा व्यक्त करता है किन्तु प्रियतम के सान्निध्य के सामने उसे कोई भी वस्तु प्रिय नहीं लगती-

ईडरकी धर अउलगण, हूं तउ जाण ण देसि ।

घरि बइठाही आभरण, मोल मुहंगा लेसि[1] ।।

पति प्रेम की दृढ़ता, तीव्रता व एकनिष्ठता का परिचय उसके द्वारा ढोला को रोकने के लिए किए गए नाना प्रयत्नों में मिलता है, ग्रीष्म, वर्षा, शीत किसी भी ऋतु को वह परदेश यात्रा के लिए उपयुक्त नहीं समझता है-

सीयाळइ तउ सी पड़इ, ऊन्हाळइ लू वाइ ।

बरसाळइ भुई चीकणी, चालण रुति न काइ[2] ।।

जब किसी तरह प्रियतम रोके नहीं रुकता तो वह करारा व्यंग्य करना भी नहीं छोड़ती, शायद इसी का कुछ असर पड़े । इस दृष्टि से मालवणी का मनोविज्ञान बीसलदेव की राजमती के सदृश ही चित्रित हुआ है । मालवणी कहती है-

डूंगर-केरा बाहळा, ओछां - केरा नेह

वहता वहइ उतामळा, झटक दिखावइ छेह[3]।

पिय खोटांरा एहवा, जेहा काती मेह ।

आडंबर अति दाखवइ आस न पूरइ तेह[4] ।।

इसी प्रकार मालवणी पति को प्रसन्न करने के लिए अपने अहं का विसर्जन कर पति को पाने को उत्सुक है-

वळि माळवणी बीनवइ हुं प्री, दासी तुझ्झ ।

का चिंता चित अंतरे सा प्री, दाखउ मुझ्झ[5] ।।

१- ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० ३१५ । २-वही, छं०सं०२७७ ।
३- वही, छं०सं० ३३८ । ४-५: वही, छं०सं० ३३९, ३३६ ।

स्त्री सब कुछ सह सकती है किन्तु सपत्नी को सहन नहीं कर सकती । पति को किंचित् अन्यमनस्क देखते ही मालवणी को प्रिय के अन्य नायिका मे अनुरक्त होने का सन्देह होने लगता है-

ढोला आमण दूमणउ, नव ती बूदइ भीति ।

हमथी कुण छइ आगळी, बसी तुहारइ चीति[1]।

मारवणी के संदेशवाहकों को मरवा डालने और मारवाड़ देश की बुराई करने में भी उसका सपत्नी भाव ही व्यंजित होता है ।

मालवणी पतिपरायणा, एकनिष्ठ और प्रेम गर्विता पत्नी है किन्तु सपत्नी के आगमन से उसकी भावनाओ को जो धक्का लगा वह पाठक के हृदय में उसके प्रति करुणा का संचार करता है । सपत्नी तो वैसे ही घोर संताप देती है फिर ढोला का नवागता पत्नी की ओर अधिक झुकाव उसके संपूर्ण जीवन के रस मे विष घोल देता है । इसीलिए वह हमारी सहानुभूति पात्री बन जाती है ।

रस और भाव-व्यंजना

इस कृति मे शृंगार रस की व्यंजना प्रधान है । वैसे तो शृंगार के वियोग और संयोग दोनों पक्षों का चित्रण मिलता है, किन्तु वियोग -चित्रण अधिक व्यापक और मार्मिक है -

वियोग- मारवणी का विरह पूर्वराग जनित कहा जा सकता है । क्योंकि नायक से बोधावस्था में उसका अब तक मिलन नहीं हुआ है । इसके दो पक्ष हैं एक तो उसके विरह की अवस्था के सामान्य चित्र प्रस्तुत करने वाला पक्ष और दूसरा ढाढ़ियों द्वारा भेजा हुआ विरह-सन्देश । इसी प्रकार मालवणी के विरह के भी दो पक्ष ढोला मारू रा दूहा में मिलते हैं । १- ढोला के प्रवास के लिए उद्यत होने के बाद एक वर्ष तक उसे रोक रखने की अवधि मे विभिन्न ऋतुओं के द्वारा वियोगावस्था में पहुंचाये जाने वाले कष्टों की आशंका प्रगट करते हुए मालवणी का प्रणय निवेदन- और दूसरा पक्ष है ढोला के प्रवास के लिए प्रस्थान करने के बाद प्रोषित पतिका मालवणी की विरहावस्था का चित्रण ।

१- ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० २३७ ।

<u>मारवणी की प्रथम विरहानुभूति-</u> इसके अंतर्गत मारवणी का मुग्धा नायिका का रूप चित्रित किया गया है । उसके हृदय में अपने दूरस्थ प्रियतम से मिलने की आशा और उत्कण्ठा उत्पन्न होती है जिससे वह खोई खोई सी, चिन्तित और प्रतीक्षा-रत दिखाई पड़ती है - उसकी मुद्राओं को अंकित कर कवि ने उसके हृदय की अवस्था व्यंजित कर दी है-

ऊलंबे सिर हथ्थड़ा, चाहंदी रस-लुब्ध ।
विरह-महाघण ऊमटयउ, थाह निहाळइ मुग्ध ।।
उक्कंबी सिर हथ्थड़ा, चाहंती रस-लुब्ध ।
ऊंची चढि चात्रगि जिउं मागि निहाळइ मुग्ध ।।
थाह निहालइ, दिन गिणइ, मारू आसा-लुब्ध ।
परदेसे घायल घणा, विरह न जाणइ मुग्ध[1] ।।

वर्षा ऋतु विरहिणियों के लिए अत्यन्त कष्टकारक होती है । उमड़ती हुई घटाओं का गम्भीर स्वर उनमें बिजली की उछल-कूद, मंद-पवन, आदि विरहिणी की सुप्त कामनाओं को जगाते ही नहीं, उसमें भय और अकुलाहट की सृष्टि करते हैं। फिर चातक, की "पिउ"पिउ" और कुररी पक्षियों का करुण-रव तो उसके लिए असह्य हो जाता है । मन की तरंगे उमड़ती हैं किन्तु विवशता से टकराकर भीतर ही भीतर व्यथा को तीव्रतर बनाती हैं । पपीहे की पुकार उसे अपनी ही वेदना की प्रतिध्वनि लगती है जैसे वह स्वयं मरकर चातक हो गई और पिउ पिउ पुकारती है-

चहुं दिस दामिनि सघन घन, पिउ तजी तिण वार ।
मारू मर चातग भए, पिउ पिउ करत पुकार[2]।

वर्षा में प्रकृति के नाना संयोग-चित्रों को देखकर विरहिणी संयम खो बैठती है, उसे अपने दूरस्थ प्रियतम का अभाव तड़पाता है- अपने दैन्य को मिटाने के लिए वह कभी दैव से हा- हा खाती है तो कभी उसकी निष्ठुरता की ओर संकेत करती है-

बीजुळियां वहलावहलि आभय आभय कोडि ।
कद रे मिलउंली सज्जना कस कंचूकी छोडि ।।

1- ढोला मारू रा दूहा , छं०सं० १५, १६, १७ । २-वही, छं०सं० ३७ ।

गिरह पखालण, सर भरण, नदी हिंडोलणहारि ।

सूती सेजइं एकली, हइ हइ दइव म मारि[1] ।।

विरह की कठिन व्यथा वह सह चुकी है अतः समविरहियों के प्रति करुणा और दया का भाव उसमें उदित होता है किंतु साथ ही अपने प्रियतम की स्मृति का वेग भी उमड़ आता है-

राति जु सारस कुरळिया, गुंजि रहे सब ताल ।

जिणकी जोड़ी बीछड़ी, तिणका क्वण हवाल[2] ।।

कुंझों के समान यदि उसके भी पंख होते तो वह भी प्रियतम के पास उड़ जाती किन्तु सोचती है कि प्रियतम से मिलन तो भाग्य से ही होता है - चकवी के पंख हैं किन्तु रात्रि में वह पिय मिलन में असमर्थ रहती है[3] । अनेक तर्क-वितर्क और नाना तरल-कोमल भाव-तरंगें हृदय को द्रवीभूत कर देती हैं-

ज्यूं ए हूं गर संमुहा, त्यूं जइ सज्जण हुंति ।

चंपावाड़ी भमर ज्यउं, नवण लगाइ रहंति ।।

जिणि देसे सज्जण वसइ, तिणि दिसि वज्जउ वाउ ।

उआं लगे मो लग्गसी, ऊ ही लाख पसाउ[4] ।।

मारवणी का प्रेम संदेश- "ढोला मारू रा दूहा" के संपादकों ने लिखा है "मारवणी का प्रेम-सन्देश राजस्थान के शृंगार साहित्य में सर्वोत्तम वस्तु है । यद्यपि हम उसको मारवणी के विरह-विलाप का एक अंग ही मानते हैं तथापि संदेह होने के कारण उसमें एक विशेष तीव्रता, कोमलता और मधुरता आ गई है । इस तीव्रता और कोमलता का कारण यह है कि जहां और-और विरह-विलाप प्रेमी के विछुड़कर चले जाने पर विरही हृदय की नैराश्यमयी और निरूद्देश्य भावनाओं के रूप में विक्षिप्त प्रलाप प्रतीत होते हैं और करुणा और शोक, हतोत्साह और निराशा के भार से दबे रहते हैं, वहां मारवणी के संदेश आशागर्भित, सोद्देश्य और स्फूर्तिमय हैं । इनमें एक प्रेमी का अपने प्रेम-पात्र के साथ सान्निध्य का भाव भरा हुआ है[5] ।"

विरह-संदेश का सबसे महत्वपूर्ण अंश वह होता है जिसके द्वारा नायिका

१- ढोला मारू रा दूहा छं०सं० ४६-४७ । २-वही, छं०सं० ५३ ।
३- वही, छं०सं० ७१ । ४- वही, छं०सं० ७३-७४ ।
५- देखिए, ढोला मारू रा दूहा (दि०सं०) सपां०ठाकुर और पारीक,प्राक्कथन, पृष्ठ ८० ।

नायक को अपनी वियोग कष्ट जनित अन्तर व बाह्य पीड़ा की प्रतीति कराकर उसे अपनी करूण कातर दशा पर पसीज उठने को विवश करती है । वस्तुतः प्रेमी के हृदय में अपने लिए करूणा जगा देना व अपने निकट आने के लिए उसे कर देना ही प्रणय सन्देश का उद्देश्य होता है । ~~बस्तुतः~~ मारवणी कहती है-

ढाढी, एक संदेसड़उ प्रीतम कहिया जाइ ।
सा धण बलि कुइला भई, भसम ढंढोलिसि आइ[1]।।

उपर्युक्त दोहे में नायक को अविलंब आने के लिए प्रेरणा दी गई है अन्यथा उसकी राख भी नायक को मिलने की संभावना नहीं ? साथ ही जिसकी विरहाग्नि में उसकी यह दशा हुई उसकी निष्ठुरता पर व्यंग्य भी है । अतः नायक के हृदय में इस संदेश में हलचल पैदा कर देने की शक्ति कम नहीं है । इसी प्रकार के अन्य दोहे भी उपलब्ध हैं जिसमें नायक के विलम्ब से आने पर पूर्ण हानि की संभावना व्यक्त हुई है-

ढाढी, जे प्रीतम मिलइ, यूं कहि दाखवियाह ।
पंजर नहिं छइ प्राणियउ, थां दिस झळ रहियाह[2]।।

प्रियतम के अभाव में मारवणी की नींद हराम हो गई है । "जब थी हम-तुम बीछड़े, नयणे नींद हरांम[3]" । उसकी प्रतीक्षा करते करते नायिका की अंगुलियां घिस गई और आंखो का प्रकाश चला गया- अतः अब वह प्रियतम का संदेश मात्र नहीं चाहती उसी को पाने को आतुर है-

संदेसा मति मोकळउ, प्रीतम तूं आवेस ।
आंगलड़ी ही गळि गयां, नयण न बांचण देस[4]।

वह प्रियतम के लिए रात भर रोती है । गुरु जनों तक को यह भेद ज्ञात हो गया है और आंसुओं से भीगे हुए वस्त्रों को निचोड़ते निचोड़ते नायिका के हाथ में छाले तक पड़ गए है-

राति ज रूंनी निसह भरि, सुणी महाजनि लोइ ।
हाथळी छाला पड़या , चीर ब निचोइ निचोइ [5]।।

१- ढोला मारू रा दूहा छं०सं० ११९ । २-वही, छं०सं० ११३ ।
३-वही, छं०सं० १३६ । ४- वही, छं०सं० १४४ । ५-वही, छं०सं० १५६ ।

विरह की पीड़ा वाह्य अंगों मे नहीं उसके अंतर में भी व्याप्त हो गई है। उसका कलेजा भीतर ही भीतर कट रहा है -

संभारियां संताप, वीसारिया न वीसरइ ।
काळेजा बिचि काप, परहर तूं फाटइ नहीं[१]।।

प्रेम के क्षेत्र में एक पक्ष के प्रेम की तीव्रता या उत्कण्ठा दूसरे पक्ष के लिए भी प्रेरणा देने वाली होती है । मारवणी अपने प्रेम की विशुद्धता, तीव्रता, उत्कण्ठा का परिचय देती हुई अपना सर्वोत्तम धन-यौवन उसे भेंट करने के लिए उत्सुक है । नीचे की पंक्तियां उसके पति के लिए आत्म समर्पण की भावना को कितनी सफलता के साथ व्यंजित करती है-

जोबण-आंवउ फलि रह्यउ, साख न खाअउ आइ[२]
जोबण छत्र उपाड़ियत, राज न बइसउ काइ[३] ।
कण पाकउ, करसण हुअउ, भोग लियउ घरि आइ[४]।

उपर्युक्त पंक्तियों में नायक के लिए कितनी सशक्त प्रेरणा और कितना अभिलाष भरा प्रलोभन है ।

इसी प्रकार मारवणी ने अपने संदेश मे अपने जीवन की उन स्थितियों का अवस्थाओं की ओर संकेत किया है जिसमें एक मात्र प्रियतम के आगमन के बिना काम नहीं चल सकता -

विरहउ महाविस तन वसइ, ओखद दियइ न आइ[५]।
धण कंमलांणी, कमदणी, सिसहर ऊगइ आइ[६]।
जंघा केळिनि फळि गई, स्वात जु बरसउ आइ[७]।

विरहिणी जब प्रियतम का आना तो दूर रहा, उसका संदेश भी नहीं पाती तो कैसे जिए- उसे प्रियतम के द्वारा भुला दिए जाने की शंका होना स्वाभाविक ही है -

ढोला, ढीली हर किया, मूंक्या मनह विसारि ।
संदेसउ हन पाठवइ, जीवां किसइ अधारि[८]।।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मारवणी के प्रेम संदेश में उसके जीवन की अन्तर वाह्य सभी परिस्थितियों का करुणापूर्ण मर्म्मोद्-

---

१- ४- ढोला मारू रा दूहा- छं०सं० १८०, ११७, ११८, १२१ ।
५-८- वही, छं०सं० १२७, १२९, १३१, १३८ ।

घाटन हुआ है । सबसे बड़ी बात यह है कि नायिका ने अपने इस संदेश को मारू राग मे बांधकर ढाढ़ियों को सिखा दिया है और इसी राग में जाकर इसे प्रस्तुत करने का आदेश दिया है जिससे उसका पूर्ण प्रभाव पड़े । वह यह भी संकेत करती है कि संदेश कहने की एक विशिष्ट पद्धति होती है । उसे बड़ी चतुराई से आंखों में आंसू भरकर अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंग से प्रस्तुत किया जाय[१]। मारवणी का यह सन्देश स्वाभाविक, संयत और शिष्ट है । कहीं भी अश्लीलता या असंयम दृष्टिगोचर नहीं होता ।

मालवणी का विरह-वर्णन- मालवणी का विरह-वर्णन मनोवैज्ञानिक पद्धति पर हुआ है । उसकी विरह का सर्प उसे तभी डस लेता है जब वह नायक से उसकी मारवणी से मिलने के लिए परदेश गमन करने की बात सुनती है-

> माळवणीकउ तन तप्यउ, विरह पसरियउ अंगि ।
> ऊभी थी खड़हड़ पड़ी, जाणे डसी भुयंगि[२] ।।

नायक के उपचार करने पर वह सचेत होती है और प्रियतम का ध्यान ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओं के कष्टों की ओर आकृष्ट कर उसे एक वर्ष तक प्रवास जाते से रोक रखती है । इसे विरह की पूर्वावस्था कहा जा सकता है । वर्षा ऋतु के सुहावने मौसम में पति विहीन विरहिणी के कष्टों की कल्पना से ही उसका हृदय दहल उठता है । वर्षा ऋतु तो संयोग की ऋतु है । इसमें बिजली पर्वत शिखरों के, लताएं वृक्षों के, पुरुष नारियों के गले लगते हैं । फिर वह प्रियतम को कैसे जाने दे[३]। इसी प्रकार शीत काल में वह कहती है-

> दिन छोटा, मोटी रयण, थाढा नीर पवन्न ।
> तिण रित नेह न छांडियइ, हे बालम बडमन्न[४]।।

अतः पिय बिछोह के लिए कोई भी ऋतु उसेउपयुक्त नहीं जान पड़ती । मालवणी की विरह-चिन्ता विशेष कर वर्षा के उद्दीपक एवं प्रेरक चित्रों के सहारे व्यक्त हुई है -

उसकी वास्तविक विरहावस्था ढोला के प्रस्थान कर जाने के बाद शुरू होती है जब वह रोती, कलपती और हाहाकार मचाती हुई घर में रह जाती है और प्रियतम को रोकने के सब उपाय व्यर्थ सिद्ध होते है । प्रियतम के जाने की प्रतिक्रिया माल-

---

१-४- ढोला मारू रा दूहा छं०सं० १११, १३९, २५५-२५९, २८५ ।

वणी पर एक साथ इतनी अधिक होती है कि उसके शरीर की कृशता के कारण हाथ की चूड़ी खिसक कर भूमि पर गिर जाती है और अंगों के जोड़ ढीले पड़ जाते है[1]। पिय के जाने के बाद प्रिया ने काजल, तिलक, ताम्बूल आदि सुहाग के सूचक चिन्ह त्याग दिए । उसके लिए चारो ओर सुनसान हो गया । ढोला की स्मृतियां मात्र महलों में शेष रह गयीं । पति-प्रेम की तल्लीनता का भव्यतम रूप नीचे की पंक्तियों में उमड़ा पड़ता है-

साल्ह चलंतइ परठिया आंगण बीखड़ियांह ।
सो मंइ हियइ लगाड़ियां भरि भरि मूठड़ियांह[2]।।

+ + +

बीछुड़तां ई सज्जणां, राता किया रतन्न ।
वारां विहुं विहुं नांखिया आंसू मोती ब्रन्न।।

+ + +

प्रीतम ल्हूती बाहिरी कवड़ी ही न लहांइ ।
जब देखूं घर-आंगणइ लाखे मोल लहांइ ।।

+ + +

सज्जणियां वउळाइ कइ मंदिर बइठी आइ ।
मंदिर काळउ नाग जिउं हेलउ दे दे खाइ ।।

+ + +

सज्जणियां बवळाइ कइ गउखे चढ़ी लहक्क ।
भरिया नयण कटोर ज्यउं, मुंधा हुई डहक्क ।।

+।। + +

हइ रे जीव, निळज्ज तूं, निकस्यू जात न तोहि ।
प्रिय बिछुड़त निकस्यउ नहीं, रह्यउ लजावण मोहि[3]।।

मालवणी की विरह व्यथा की बहु विधि व्यंजना उपर्युक्त पंक्तियों मे देखते ही बनती है । एक से एक नूतन भाव और सरस कोमल अभिव्यक्तियों से यह प्रसंग ओत-प्रोत है । साहित्य-शास्त्र में वर्णित भाव अनुभाव व्यभिचारीभावादि

१-ढोला मारू रा दूहा छं०सं० ३४९ ।२- वही, छं०सं० ३६६ ।
३- वही, छं०सं० ३६९-३७३ ।

की सीमा में मालवणी की विरह-व्यथा को समेटना संभव नहीं है । साहित्य शास्त्र में वर्णित विरह की एकादश अवस्थाओं के रमणीय चित्र इसमें अंकित हुए हैं - अभिलाषा[१], चिन्ता[२], स्मरण[३], गुण-कथन[४], उद्वेग[५], प्रताप[६], उन्माद[७], व्याधि[८], जड़ता[९], मूर्च्छा[१०], और मरण[११] सभी के सुन्दर उदाहरण इसमें उपलब्ध हैं ।

संयोग- ढोला मारू रा दूहा प्रधानतः विरह काव्य है । किन्तु ढोला के पूगल पहुंचने पर मारवणी - ढोला के मिलन के अवसर पर संयोग शृंगार की व्यंजना हुई है । इस संक्षिप्त संयोग वर्णन में नायिका के हर्षोल्लास की व्यंजना सुन्दर बन पड़ी है । शुभ शकुनों के सहारे ढोला के पहुंचने के पूर्व ही नायिका मारवणी अपनी चिरसाध पूरी होने की आशा दृढ़ होने लगती है -

सहिए, साहिब आविस्यइ, मो मन हुई सुजांण ।
आगम-बाधाऊ हुया अंग-तणा अहिनांण[१२]।।

और ढोला के आगमन का समाचार पाकर मारवणी फूली नहीं समाती । मारवणी के हर्ष संचारी की व्यंजना इन पंक्तियों में देखिए-

सखिए, साहिब आविया, जांहकी हूंती चाइ ।
हियड़उ हेमांगिर भयउ, तन-पंजरे न माइ[१३]।।

\+ \+ \+

सखी, सु सज्जण आविया, हुंता मुझ हियाह ।
सूका था सू पाल्हव्या, पाल्हविया फळियाह[१४]।।

प्रियतम से मिलने के लिए नायिका मारवणी का शृंगार करके सखियों के साथ जाना परम्परानुकूल है । मारवणी की शोभा व उसकी चाल आदि का वर्णन उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे बड़ा ही सुन्दर हुआ है । शब्द-योजना भी वर्णन के अनुकूल होने के कारण इनका प्रभाव बढ़ गया है-

घम्मघमन्तइ घाघरइ, उलट्यउ जांण गयंद ।
मारू चाली मंदिरे, झीणे बादळ चंद[१५] ।।

\+ \+ \+

१-५ ढोला मारू रा दूहा छं०सं० ३८६, ३८९, ३८३, ३७६, ३९६ ।
६-११-वही, छं०सं० ४१५, ३६६, ३५८, ३८१, ९३९, ४०३ ।
१२-१५- वही, छं०सं० ५१९, ५९९, ५३३, ५३७ ।

मारू वाली मंदिरां, चन्दउ बादळ माँहि ।

जांणे गयंद उलट्टियउ कज्जळ-वन मंह जाहि[१]।।

अपने मन में जब प्रफुल्लता होती है तो संसार की सभी वस्तुएं प्रफुल्लित जानें पड़ती हैं । जड़ वस्तुएं भी इस मिलनोत्साह के क्षण में खुशी से नाचनेती हैं-

सोइ सज्जण आविया, जांहकी जोती बाट ।

थांभा नाचइ, घर हंसइ, खेलण लागी खाट[२]।।

सखियों की सहायता से दोनों प्रेमियों का एकान्त मिलन हुआ । दोनों एक दूसरे के रूप को देखने को उत्सुक थे अतः प्रथम मिलन के समय उनकी मानसिक प्रतिक्रिया का सुन्दर परिचय दिया गया है- ढोला ने मारवणी को बिजली समझा और मारवणी ने ढोला को मेघ- आंखे चार होते ही उनके प्रेम को दृढ़ता प्राप्त हुई[३]।

नायक नायिका के प्रथम समागम का वर्णन अत्यन्त संयत और अश्लीलता से मुक्त है, यही इस वर्णन की विशेषता है । कहीं भी कवि क मर्यादा की सीमा लांघकर आगे नहीं बढ़ता । दोनों की कामतृप्ति की व्यंजना भी सांकेतिक या ध्वनि पूर्ण है । इसमें भी उत्प्रेक्षादि का अलंकारों का सहारा कवि ने विशेष लिया है-

मन मिळिया, तन गड्डिया, दोहग दूरि गयाह ।

सज्जण पाणी-खीर ज्यूं खिल्लोखिल्ल थयाह[४] ।।

परंपरानुकूल प्रथम समागम के अवसर पर नायक-नायिका के मध्य व्यंग विनोद पहेली बुझौव्वल के प्रसंग आए है । इस प्रकार के प्रसंग नायक-नायिका के प्रेम संबंध को दृढ़ करते हैं । लोक गीतों में तो पहेली प्रसंग में विजयी होने पर ही नायक को नायिका का प्रणय लाभ होता है । पहेलियों में मौलिकता नहीं है वे प्राचीन परंपरा से व्यवहृत होती आई हैं ।

इस अवसर पर ऋतु -वर्णन के स्थान पर ढोला मारू रा दूहा में अष्टयाम का वर्णन हुआ है । इसमें नायक-नायिका की दिनचर्या को आठ प्रहरों में विभक्त किया गया है और उससे संयोग शृंगार को पुष्ट किया गया है । ढोला मारू रा दूहा की भूमिका में इस अष्टयाम के बारे में लिखा है "यह प्रकरण पढ़ने पर कुछ

१-४- ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० ५३८, ५४१, ५४३, ५५३ ।

फीका सा जान पड़ता है । वह सरसता, वह स्वाभाविकता, वह सरलता और स्वच्छन्दता नहीं प्रतीत होती जो इस काव्य में प्रायः सब स्थलों में मिलती है । यह वर्णन इतना साधारण रीति से हुआ है कि किसी भी पद्यमय प्रेम कहानी में ऊपर से बैठाया जा सकता है । इसमें नायक नायिका का न तो कहीं प्रत्यक्ष नाम-निदर्शन ही किया गया है और न परोक्ष रीति से ही इसका किसी प्रकार का घनिष्ट सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व के साथ दिखाया गया है । यही नहीं , ढोला -मारवणी के प्रेम में जिस पवित्रता, शील-सम्पन्नता और सात्विकता के आदर्श का सर्वत्र निर्वाह हुआ है , वह आदर्श उच्चता से भ्रष्ट होकर अष्टयाम के निः सत्व विवरण में कुछ अश्लीलता, नीरसता, गंवारूपन और साधारण तुच्छता धारण कर लेता है । किसी सर्व सुन्दर आवरण के भद्दे मोरचे की तरह यह प्रसंग कथा में खटकता है, काव्य के आदर्श से मिलान नहीं खाता[१]।"

<u>नारी-रूप-वर्णन</u>- मारवणी के रूप का वर्णन इसमें विस्तार से हुआ है । वह गति में गंगा, बुद्धि में सरस्वती और शील स्वभाव में सीता है । वह विनय शील, क्षमाशील अनेक गुणों वाली, सुकोमल, सुन्दर कक्ष वाली, गंगा के पानी के समान गौर-वर्ण, गरुवे मन वाली और सुन्दर शरीर वाली है । उसके नेत्र अति सुन्दर हैं । रूप में अनुपम और सद्गुण सम्पन्न है । उसे इस प्रकार रखना चाहिए जैसे शिव गंगा जी को मस्तक पर धारण करते हैं[२]। गंगा, सीता, सरस्वती, गंगानीर आदि पवित्र भाव जगाने वाले उपमानों की योजना करके कवि ने नारी के इस सात्विक रूप को पवित्र बना दिया है - बीच बीच में नारी के अंगों के लिए परम्परा प्रचलित रूढ़ उपमानों की शृंखला प्रस्तुत कर अंग सौन्दर्य का रंग गाढ़ा करने की चेष्टा भी मिलती है -

> गति गयंद, जंघ केळिग्रभ, केहरि जिम कटि लंक ।
> हीर डसण, विद्रुम अधर, मारू-भ्रकुटि मयंक ।।
> मारू घूंघट दिट्ठ मई, एता सहित पुणिंद ।
> कीर, भमर, कोकिल, कमळ, चंद, मयंद, गयंद[३]।।

मारवणी के रूप-वर्णन के सहारे कवि को राजस्थानी स्त्रियों के सौंदर्य वैशिष्ट्य का परिचय देने का अवसर प्राप्त हो गया है । इस वर्णन के अंतर्गत उनके दत,

---

१- ढोला मारू रा दूहा, प्रस्तावना, पृष्ठ १०१ ।

२- ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० ४५१-४५३ । ३- वही-छं०सं०४५४-४५५ ।

नेत्र, कटि, उरोज, नितंब, उरस्थल, नाक, भौंह, मुख, भाल, अधर, कुच, पिंडली, हाथ आदि के वैशिष्ट्य तथा आभूषादि युक्त होने पर उनकी आकर्षण वृद्धि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन सादृश्य मूलक अलंकारों के सहारे हुआ है । कुछ उदाहरण पर्याप्त होगा-

मारू-देस उपन्नियां, तांहका दंत सुसेत ।
कूंझ-बचा गोरंगियां, खंजर जेहा नेत[1] ।

स्त्रियों की पतली कमरे सुन्दर मानी गयी है और उसके लिए सिंह की उपमा रूढ़ है किन्तु यहां पतली कमर का उपमान है-

डींभू लंक, मराळि गय, पिक-सर एही वाणि ।
ढोला, एही मारुई, जेहा झंफ निवांणि[2]।

उपमानों में कुछ उपमान परंपरामुक्त हैं । जैसे रमणी के मुख का उपमान चंद्र परंपरा से रहा है, ढोला मारू रा दूहा में भी कई स्थलों पर इसका प्रयोग हुआ है किन्तु एक -दो दोहों में उसे सूर्य से उपमित किया गया है । यहां कवि का तात्पर्य वस्तुतः नायिका के शरीर की कान्ति व उज्ज्वलता का परिचय देना है-

आदीताहूं ऊजळो, मारवणी-मुख-ब्रन्न ।
झीणा कप्पड़ पहिरणइ, जांणि झंबइ सोव्रन्न[3]।

मारवणी के सौंदर्य के केन्द्र बिन्दु कुछ विशिष्ट स्थलों का परिचय देने में जब अभिधा समर्थ नहीं होती तो कवि लक्षणा आदि शक्तियों का सहारा लेकर उसका प्रभाव हृदयंगम कराने की चेष्टा करता है-

अहर, पयोहर, दुइ नयण, मीठा जेहा मख्ख ।
ढोला, एही मारुई, जाणे मीठी दख्ख[4]।

मारवणी के अधर, पयोधर और दोनों कुच मधु की तरह मीठे हैं । मारवणी मीठी द्राक्षा है । रूप की यह मिठास वस्तुतः अतिरिक्त लावण्य ही है जिसको ग्रहण करने में नेत्र कदाचित् असमर्थ रह जाते हैं ।

इस रूप वर्णन में पुनरावृत्ति बहुत अधिक है । एक ही अंग का वर्णन अनेक बार एक ही पद्धति में एक ही उपमान के सहारे अनेक बार मिलता है । आभूषणयुक्त अंगों की सुरुचि व शोभा का दिग्दर्शन विस्तार से हुआ है । मारवाण में स्त्रियों

१-ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० ४५७ । २-वही, छं०सं० ४६० ।
३-वही, छं०सं० ४६३-४६४, ४७८ । ४- वही, छं०सं० ४७० ।

आभूषण धारण भी अपेक्षाकृत अधिक करती हैं ।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति वर्णन के अंतर्गत ऋतु-वर्णन, तथा पशु-पक्षियों के वर्णनों को भी सम्मिलित किया जा सकता है । इन वर्णनों में राजस्थान देश की प्रकृति का यथार्थ स्वरूप उद्घाटित हुआ है । ये वर्णन स्वतंत्र रूप में नियोजित न होकर प्रेम और विरह के अभिव्यंजक साधनों के रूप में व्यवहृत हुए हैं । अतः एक स्थान पर न होकर अनेक स्थलों पर बिखरे हुए हैं । पहले हम इस कृति के ऋतु-वर्णन पर दृष्टिपात करेंगे-

ऋतुओं में वर्षा ऋतु का वर्णन अधिक मार्मिक और विस्तृत है । इसकी योजना मालवणी के विरह-वर्णन के अन्तर्गत विशेष रूप से हुई है । विरहियों के लिए वर्षा बहुत सालने वाली होती है और राजस्थान में वर्षा बहुत का महत्व भी विशेष है । इसके वर्णन को प्रधानता देकर जहां कवि ने विरहिणियों की विरह-व्यथा को उभारने और उसको अभिव्यक्त करने में सफलता पाई है वहां दूसरी ओर राजस्थान के प्राकृतिक वैभव को भी मानों एक साथ ही वाणी दे दी है ।

इस वर्णन में वर्षा के समस्त अंगों पर कवि की दृष्टि गई है हां उन्हें एक विरही की आंख से ही देखने की चेष्टा हुई है । मेघ, बिजली, जल, पवन, चातक, बगुले, मोर, कुरभ, हरियाली आदि वर्षाकालीन प्रकृति के सभी अंगों को कवि ने लक्ष्य किया है । इनमें से प्रत्येक के भावोद्दीपक विविध दृश्य एवं उनकी पारस्परिक र राग-विराग मयी शृंगार चेष्टाएं वर्षाक्रान्त विराट् प्रकृति का हृदयस्पर्शी चित्र प्रत्यक्ष कर हमें रससिक्त कर देती है । कुछ चित्र देखिए-

पग पग पांणी पंथसिर, ऊपर अंबर छांह ।
पावस प्रगट्यउ पदमिणी, कहउ त पूगल जांह[1]।

\+ \+ \+

बाबहियउ पिउ पिउ करइ, कोयल सुरंगइ साद ।
प्रिय, तिण रुति आळिग रह्यां ताह सुं किसउ सवाद[2]।

\+ \+ \+

१- ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० २३४ । २-वही, छं०सं० २५२ ।

फ़ौजक घटा, खग दांमणी, बूंद लगइ सर जेम ।
पावस पिउ विण वल्लहा, कहि जीवीजइ केम[1]।

+ + +

महि मोरां मंडव करइ, मनमथ अंगि न माइ ।
हूं एकलड़ी किम रहउं, मेह पधारउ माइ[2]।

+ + +

काळी कंठळि बादळी बरसि ज मेल्हइ वाउ ।
प्री विण लागइ बूंदड़ी जांणि कटारी घाउ[3]।

+ + +

जिण दाहे वण हर भरइ, नदी खळक्कइ नीर ।
तिण दिन ठाकुर किम चलइ, घण किम बांधइ धीर[4]।

उपर्युक्त चित्रों में प्रधानता वस्तुतः भाव की है । विशुद्ध प्रकृति वर्णन का उद्देश्य उनमें नहीं है किन्तु फिर भी वर्षाकाल का सजीव रूप इससे खड़ा हो जाता है । वर्षा ऋतु का प्रसंग विविध स्थलों पर बिखरा होने के कारण इसमें पुनरावृत्ति बहुत अधिक हुई है । इसका एक कारण यह भी है कि एक ही भाव बार बार अनेक रूपों में उठता है । भाव सापेक्ष्य चित्र होने के कारण उनका पुनरावृत्ति अनिवार्य हो जाती है ।

वर्षा जहां राजस्थानी प्रकृति को अनुपम सौन्दर्य प्रदान करती है वहां ग्रीष्म उतना ही कष्ट कारक और संतप्त करने वाला होता है । इसकी भयंकरता का वर्णन भी यहां शृंगार का साधक बना है । मालवणी ग्रीष्म की भयंकरता का आख्यान कर प्रवासोद्यत पति को रोक लेती है-

थळ तत्ता लू सांमुही, दाफोला पहियाह ।
म्हांकउ कहियउ जउ करउ घरि बइठा रहियाह[5]।

शीत वर्णन में कोई आकर्षण नहीं है । राजस्थान में यह ऋतु महत्वपूर्ण होती भी नहीं है -

देश-वैशिष्ट्य

राजस्थान देश की विशेषताओं का दिग्दर्शन मालवणी की मारू-देश निंदा के प्रसंग में विस्तार से हुआ है । यह वर्णन यद्यपि निन्दा के लिए हुआ है किन्तु

१-५- ढोला मारू रा दूहा छं०सं० २५५, २६३, २६७, २६५ तथा २४१ ।

वस्तुतः यह व्याज-स्तुति है । राजस्थान देश के अभाव भी राजस्थान वासियों के लिए गौरव की वस्तु है । मातृभूमि के दुर्गुण भी वहां के निवासियों के लिए सद्-गुणों में परिवर्तित हो जाता है । मालवणी और मारवणी के एक दूसरे के देशों की निन्दा में यह तथ्य भली भांति प्रगट हो जाता है । मालवणी राजस्थान में पानी के घोर अभाव के कारण उस देश की निन्दा करती है किन्तु मारवणी उसी को एक अच्छाई समझती है क्योंकि पानी के अभाव के कारण प्रातःकाल के पूर्व ही पनिहारिनों का गाते हुए पनघट पर जाना व मालियों का आधीरात से ही टेर-पुकार करना वहां के सामान्य चित्र है । आनंदोल्लास मय दृश्यों को देखने का सौभाग्य मालवा मे कहाँ? मालवा उसे इसीकारण अरूचिकर प्रतीत होता है- वह कहती है-

बाळू, बाबा, देसड़उ, जहां पांणी सेवार ।
ना पणिहारी झूलरउ, ना कूवइ लैकार[1] ।

इससे स्पष्ट है कि देश की अच्छाई-बुराई सापेक्षिक होती है । मालवणी की निन्दा के प्रसंग में राजस्थान की प्रकृति, मौसम, स्त्री-पुरूष, उपज, सामाजिक जीवन आदि से सम्बन्धित तथ्यों का उद्‌घाटन हुआ है । ढोला मारू में वर्णित राजस्थान की प्रमुख विशेषताएं ये हैं-

राजस्थान में जल की कठिनाई सबसे अधिक है । वहां कुओं मे गहराई में जल रहता है । ढोला मारवाड़ पहुंचकर वहां के कुओं का जो विवरण देता है वह अत्यन्त यथार्थ है-

ऊंडा पाणा कोहरे, दीसइ तारा जेम ।
ऊसारंता थाकिस्यइ, कहउ, काढिष्यइ केम[2]।

किन्तु गहराई में होने के कारण पानी स्वच्छ स्वास्थ्य प्रद अवश्य है[3]। इसीलिए वहां प्रातःकाल ही कुओं पर जाती कामिनियों के झुण्ड वातावरण को संगीतमय बनाते हैं । मालियों की हलचल से वहां का जीवन कितना सजीव और मोहक लगने लगता है[4]। भेड़ चराने वालों की स्त्रियां कंधो पर कुल्हाड़ा, सिर पर घड़ा, हाथ में कटोरा लिए हुए रेतीली भूमि में जाती हुई दिखायी पड़ती है[5]।

१-३- ढोला मारू रा दूहा छं०सं० ६६४, ५२४, ६६८ ।
४-५- वही, छं०सं० ६५५-६५७, ६५८-५९ ।

वहां वर्षा भी कम होती है किन्तु वर्षा का दृश्य बड़ा सुहावना होता है। इसका वर्णन ऋतु वर्णन के प्रसंग में हो चुका है। वर्षाकाल में बाजरे के खेतों की हरियाली और उनपर फैली हुई बेलों में विकसित होते हुए फूल आगामी फसल की उत्तमता की आशा बंधाते और आनंद की वृद्धि करते हैं[१]। खेतों को वहां टिड्डियों के आक्रमण से हानि होने की आशंका सदैव बनी रहती है[२]। हरियाली और पेड़ पौधों का तो वहां अभाव है। पेड़ के नाम पर ऊंट कटारा घास, करील आक, फोग आदि ही मिलते हैं। गोरवरू के भीतर से निकले हुए पानों से लोग क्षुधा शान्त कर लेते हैं[३]। भेड़ और बकरी का दूध वहां लोगबड़े चाव से पीते हैं[४]।

वहां ऊन अधिक होती है अतः सामान्य वर्ग के लोग उसी के वस्त्रों का व्यवहार करते हैं[५]। स्त्री और पुरुष दोनों ही मीठे और प्रिय बचन बोलते हैं[६]। स्त्रियां अत्यन्त रूपवती, गौरवर्णी, चन्द्र बदनी, खंजन नयनी और श्वेत दंत पंक्ति वाली होती है[७]।

वहां के जीवन में कुछ और भी कठिनाइयां हैं। वहां पीना सांप बहुतायत से निकलता है[८]। वहां की भूमि रेतीली होने के कारण भूरी दिखाई पड़ती है। और बन में चंपा नहीं पैदा होता अर्थात् झाड़े-झंखाड अधिक है[९]।

उपर्युक्त विश्लेषण से हमें इस तथ्य को समझने में कठिनाई नहीं होती कि राजस्थान के लोकजीवन व प्रकृति के यथार्थ चित्र इसमें सहृदयता के साथ चित्रित किए गए हैं। ढोला मारू रा दूहा में राजस्थान की आत्मा का प्रति बिंब दिखाई पड़ता है।

करहा-वर्णन

ऊंट रेगिस्तान का जहाज कहलाता है। वह राजस्थान का जातीय वाहन है। अतः नायक ढोला को इतनी महत्वपूर्ण यात्रा में उसका वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है। नायक ढोला की यात्रा के प्रसंग में ऊंट न केवल एक वाहन रहा है वरन् वह उसका सहायक सहचर बन गया है। वह अपने स्वामी की पीड़ा को भली भांति समझता है और उसकी इच्छा को पूरा करना अपना पुनतीत कर्तव्य समझता

१-२- ढोला मारू रा दूहा छं०सं० २५०, ६६० ।
३-९- वही, छं०सं० ६६१, ६६२, ६६७-६६८, ६६६, ६६१,४६८ ।

है[१]। मारवाड़ मे उत्तम खाद्य सामग्री के अभाव में भी वह स्वामी को मारू से मिलाने की दृढ़ प्रतिज्ञा करता है । अच्छा भोजन पाने की उसे कोई चिन्ता नहीं । ढोला बराबर ऊंट के साथ बातचीत करते हुए अपना मार्ग तय करता है । रास्ते में जब गड़रियां और ऊमर सूमरा के द्वारा ढोला की भावनाओं को ठेस पहुंचती है और मारू के प्रति उसे विरक्ति होने लगती है तो ऊंट एक ज्ञानी पुरुष की भांति उसे प्रेरणा देता है और ढोला को भ्रान्ति में पड़ने से बचाता है[२]। इस प्रकार ऊंट का महत्व कथा भाग में केवल एक वाहन मात्र का नहीं है वरन् वह एक सजीव एवं सक्रिय पात्र के रूप में हमारे सामने आता है ।

सामान्यतः ढोला मारू रा दूहा में ऊंट की जाति, स्वभाव, खान-पान, वेश-भूषा, चाल, आकृति सहनशीलता एवं स्वाभिव्यक्ति आदि का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया गया है । इस दृष्टि से ढोला मारू रा दूहा के ४३३, ५००, ६२९, ६३७, ६३८, ६३९ संख्याओं वाले छन्द दृष्टव्य हैं ।

भाषा-शैली

ढोला मारू रा दूहा की भाषा बोल-चाल की राजस्थानी है जिस पर अपभ्रंश की छाप विद्यमान है । यह सरल और प्रसाद गुण सम्पन्न है । भावों के प्रकाशन मे यह पूर्ण सक्षम है । इसकी भाषा के संबंध में ढोला मारू रा दूहा काव्य के संपादकों ने लिखा है -" ढोला मारू रा दूहा" काव्य की भाषा माध्यमिक राजस्थानी है जो तेरहवीं शताब्दी से पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी तक पश्चिम भारत की प्रधान भाषा थी । यह अनुमान होता है कि उस काल में इस भाषा का समादर साहित्य-रचना में खूब था और यह पश्चिम भारत की सर्वप्रमुख साहित्यिक भाषा थी[३]।"

"ढोला मारू काव्य की भाषा के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि वह एक काल की अथवा एक कवि की कृति नहीं है । इसलिए इस काव्य की भाषा भी सर्वत्र एक सी नहीं है । कहीं प्राचीनता है तो कहीं नवीनता । कहीं पुरानी वर्तनी है तो कहीं नवीन । इसी प्रकार गुजराती, सिन्धी, पंजाबी आदि के प्रयोग भी यत्र-तत्र पाये जाते हैं । राजस्थानी में भी कहीं मारवाड़ी रूप हैं तो कहीं

१-२-ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० ३१३-३१५, ४४०-४४६ ।

३- वही, प्रस्तावना(द्वि०सं०) पृष्ठ १३० ।

ढूढ़ाड़ी, कहीं जैसलमेरी है तो कहीं मालवी । खड़ी बोली और बृज के रूप भी एक आध जगह पाये जाते हैं[1]।"

अलंकार

ढोला मारू रा दूहा में कृत्रिम साहित्यिक वातावरण कम दिखाई पड़ता है । उसमें जीवन के सीधे साधे भावों की सहज स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्ति हुई है । अलंकारों के द्वारा इसके कलापक्ष को अलंकृत करने की चेष्टा नहीं हुई है । अतः अलंकारों का प्रयोग इसमे विरल रूप में हुआ है । विषय-वस्तुओं के यथार्थ चित्रों मे स्वाभाविक अलंकार का दर्शन प्रायः होता है । सादृश्य मूलक अलंकारों की भी कमी नहीं है । अनेक स्थलों पर वे बड़े ही स्वाभाविक ढंग से आते गए हैं।

उत्प्रेक्षा का सहारा लेकर कवि ने अनेक स्थलों पर भावों को स्पष्टता के साथ हृदयगंम कराने में सफलता पायी है । योगी ने अभिमंत्रित जल छिड़ककर मारवणी को जीवित कर दिया । मृत मारवणी के पुनः जीवित हो उठने से ढोला को जो आनन्द हुआ उस आनन्द की व्यंजना केवल सामान्य कथन मात्र से नहीं हो सकती । आनन्द तो हृदय का एक भाव है जो अरूप है अतः आनन्द के आधिक्य का अनुभव पाठक को नहीं हो पाता । कवि इन्द्रिय ग्राह्य उपमानों के सहारे इस अरूप भाव को एक रूप दे देता है जिससे हम ढोला के हृदय का इस अवस्था का अनुभव आसानी से कर लेते है । अंधकार और चांदनी को हमारे नेत्र देख सकते हैं । ढोला का दुखी मन आनंदित हो उठा मानों अंधेरी रात में पूर्णिमा का चन्द्रमा निकल आया हो । अंधकार दुख का और प्रकाश सुख का प्रतीक भी है। अतः निम्नांकित उत्प्रेक्षा भावों के स्पष्टीकरण में सहायक है-

हुई सचेती मारवी, ढोलइ मनि आणंद ।
जांणि अंधारी रयणमई प्रगट्यउ पूनिम-चंद[2]।

ढोला-मारवणी के रति वर्णन में इस प्रकार की उत्प्रेक्षाओं के सुन्दर प्रयोग दृष्टव्य हैं ।

अलंकारों के सहारे कविगण अंतर के गूढ़ भावों को बड़ी मार्मिकता के साथ व्यंजित कर देते हैं । मारवणी पिय मिलन के लिए आतुर है उसकी आतुरता रूपक

१-ढोला मारू रा दूहा, प्रस्तावना(द्वि० सं०) पृष्ठ १३९ ।
२- वही, छं०सं० ६९९ ।

अलंकार के सहारे प्राकृतिक उपमानों को आधार बनाकर युक्ति पूर्वक व्यंजित हुई है- कमल और भ्रमर जैसे अप्रस्तुतों की अवतारणा कर कवि ने मारवणी की मूक-व्यथा को जैसे वाणी दे दी है-

ढाढी, जइ साहिब मिलइ, यूं दाखविया जाइ ।

जोबण-कमळ विकासियउ, भमर न बइसइ आइ[1]।

ढोला मारू रा दूहा में आये हुए उपमान यद्यपि परंपरागत हैं किन्तु तो भी उनका प्रयोग भावोत्कर्ष मेंसहायक है, किन्तु कहीं कहीं पर उपमानों की सूची मात्र देकर कवि ने रूढ़ि का पालन किया है । उदाहरण कें लिए रूप वर्णन संबंधी निम्नांकित दोहा लिया जा सकता है-

हंस चलण, कदळीह जंघ, कटि केहर जिम खीण ।

मुख सिसहर खंजर नयण, कुच स्रीफळ, कंठ वीण[2]।

विरोधमूलक अलंकारों के भी कुछ उदाहरण ढूंढ़ने पर मिलते हैं किन्तु वे भी सहज ढंग से आ गए हैं । कहीं भी कवि अलंकारों को जुटाने के लिए प्रयास नहीं करता ।

साहित्यिक भाव-महत्व-

दाम्पत्य प्रेम की मार्मिक व्यंजना ढोला मारू रा दूहा में हुई है । यह विशुद्ध लौकिक प्रेम का व्यंजक एक महत्वपूर्ण प्रेमकाव्य है । पद्मावत के पूर्वार्ध की कथा की रचना पद्धति ढोला मारू रा दूहा की पद्धति से पूर्ण साम्य रखती है । इस प्रकार हिन्दी के इस आदिकालीन खण्डकाव्य को भारतीय प्रेमाख्यानक परंपरा की एक कड़ी के रूप में माना जाता है ।

ढोला मारू रा दूहा मे भारतीय विशेषकर राजस्थान के लोक जीवन, वहा की प्रकृति तथा वहां के रीति-रिवाजों और विश्वासों के यथार्थ चित्र देखने को मिल जाते हैं । इसी आधार पर विद्वानों ने इसे राजस्थान का लोक महाकाव्य भी कहा है । किन्तु महाकाव्य के उपयुक्त गांभीर्य और औदात्य का इसमे अभाव है । महाकाव्योचित व्यापकत्व और गुरुत्व इसमें नहीं है अतः इसे खण्डकाव्य के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है ।

१-२ ढोला मारू रा दूहा, छं०सं० ११९, ११ ।

ढोला मारू रा दूहा केवल दोहा छंद में लिखे गए प्रबन्धकाव्य का अन्यतम उदाहरण है । मध्ययुगीन प्रेमाख्यानों मे चौपाई दोहा की शैली अपनायी गयी है । दोहो का प्रयोग प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी सभी भाषाओं में मुक्तक काव्य के लिए ही प्रधान रूप में मिलता है । इस दृष्टि से दोहाबद्ध प्रबन्ध काव्य की यह एक मात्र कृति है ।

ढोला मारू रा दूहा के पात्र मानवेतर जीव जगत के प्रति विशेष ममत्व रखते हैं और उन्हें अपना सहचर समझ कर उनसे अपने मन के रहस्यों को ही नहीं व्यक्त करते वरन् उनसे कठिन परिस्थितियों में सहायता भी लेते हैं । ये पशु-पक्षी मानव की ही भांति बोलते, कार्य करते और सुख दुख का अनुभव कर पात्रों का हित सम्पादन करते हैं । ये तथ्य आज हमें भले ही अस्वाभाविक और अतिप्राकृत भासित हो किन्तु इसे इनसे सामान्य मानव के हृदय की सरलता, तरलता और निश्छलता का परिचय मिलता है । मानवीय प्रेम-व्यापारों में प्रेम घटक के रूप में पशु-पक्षियों का व्यवहार अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है । प्रेम-प्रसंगों में प्रेमी-प्रेमिका के मध्य अन्य व्यक्ति का प्रवेश उतना निरापद नहीं होता जितना पशु-पक्षियों का । और फिर पशु पक्षियों से तादात्म्य स्थापित कर सरल हृदय प्रेमी अपने सुख-दुख को व्यक्त करके अपनी व्यथा को हल्का कर सकता है । ढोला मारू रा दूहा में शुक, ऊंट, क्रौंच आदि के वार्तालाप और कार्य-व्यापार आदि में मानव और जीव जगत के सहज सम्बन्ध का सुन्दर रूप देखने को मिलता है । काग से सन्देश भेजने की परम्परा लोक जीवन में बहुत प्राचीन है । वस्तुतः यह तथ्य मानव मन में स्थित प्रेम भाव की तीव्रता और आतुरता का ही परिचय देता है । प्रेमी अपने प्रेमपात्र के पास अपनी विरहव्यथा का सन्देश पहुंचाने के लिए ऐसा माध्यम या साधन काम में लाना चाहता है जो उपयुक्त तम, अधिक से अधिक विश्वसनीय और द्रुतगामी हो । प्रेमी हृदय की इसी उत्कट अभिलाषा ने कदाचित् सन्देशवाहक के रूप में काग की कल्पना की होगी। प्रेमी को अपने प्रिय की प्राप्ति के मार्ग में सृष्टि के जड़-चेतन पदार्थ बाधक के रूप में दिखाई देते हैं । कहीं विशाल पर्वत, घने जंगल और गहरी नदियां मार्ग में व्यवधान उपस्थित करते हैं तो कहीं चोरों, लुटेरों और हिंसक जीवों का भय । मानव-समाज के आचार विचार और नैतिक बंधन तो उसके और उसके प्रेम-पात्र के मध्य व्यवधान बनते ही हैं अतः प्रेमी का सन्देश वाहक ऐसे मार्ग से जाना चाहिए जहां न ऊंचे पर्वत ही बाधक बन सकें और न गहरी नदियां । यहां तक कि मानव वर्ग भी संदेशवाहक

के कार्य-व्यापार और उद्देश्य आदि की थाह न पा सके । काग आकाश मार्ग से द्रुतगति से और अन्य बाधाओं से सुरक्षित रहकर प्रेमपात्र के निकट आ जा सकता है, अतः उससे बढ़कर उपयुक्त संदेशवाहक साधन और कौन हो सकता है? और फिर वह घर के भीतर, आंगन और छज्जे पर रोज ही आ जा सकता है अतः उसके माध्यम से घर बैठे हर दिन हर समय प्रिय का संदेश पाने की जो सुविधा प्राप्त हो सकती है वह मानव के द्वारा संदेश भेजने या पाने में नहीं । काग के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक पदार्थों और पक्षियों की संदेशवाहक के रूप में जो कल्पना लोकगीतों और साहित्यिक कृतियों में की गई है उनमें भीयही भावना प्रधान रही होगी । चन्द्र, पवन, मेघ, नक्षत्र, शुक, पिक आदि ऐसे ही पदार्थ है जो इस धरती की बाधाओं से दूर रहकर प्रेमी के संदेश को निरापद रूप में पहुंचाने में समर्थ हो सकते हैं ।

इसी प्रकार अति प्राकृत और अतिमानवीय तत्वों की योजना भी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए होती रही है । मानव की शक्ति और सामर्थ्य है अतः मानव समाज ने ऐसी मानवेतर शक्तियों की कल्पना की जो मानव के लिए असंभव कार्यों को भी संभव कर दिखाएं । ऐसी शक्तियों के प्रति भय, श्रद्धा आदि भावों का प्राधान्य हुआ । अपनी इच्छा अभिलाषाओं की तृप्ति में अपने को असमर्थ पाकर मानव ने इन दैवी, आसुरी, अथवा अमानवीय शक्तियों का सहारा.लेना आवश्यक समझा । साहित्य में विशेष कर लोक परंपरा के साहित्य में ऐसे अतिमानवीय कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए प्रायः अतिमानवीयव शक्तियों का सहारा लिया गया है । बीसलदेव रास में भी बीसलदेव के उड़ीसा से लौटने का समाचार लेकर योगी मन की भांति (बिना समय लगाए तुरन्त) राजमती के राजमहल में (अजमेर) पहुंच जाता है । इसी प्रकार ढोला मारू रा दूहा में योगी मारवणी को प्राणदान देता है ।।ऐसे प्रसंगों का सहारा लेकर कविगण एक और तो काव्य में चमत्कार की सृष्टि करते हैं तो दूसरी ओर कथा प्रसंग में आवश्यक मोड़ अथवा विकास लाने में सहायक होते हैं । इस प्रकार ढोला मारू रा दूहा के ये तत्व भी तर्क सम्मत सिद्ध होते है ।

ढोला मारू रा दूहा को प्रेमाख्यानक कोटि की लोक गाथा के रूप में अब तक स्वीकार किया गया है किन्तु साहित्यिक कलाकृति के रूप मे भी उसका महत्व कम नहीं है जैसा कि पिछले पृष्ठों के विवेचन से स्पष्ट है । इसे हम हिन्दी खण्डकाव्य साहित्य की एक महत्वपूर्ण रचना कह सकते हैं ।

खण्ड ३

भक्ति-काल (१४०० ई० से १६५० ई० तक)

अध्याय १

भक्ति काल का प्रबंधात्मक साहित्य

संत काव्य धारा- भक्ति कालीन चार प्रमुख धाराओं में से संत काव्य धारा के अंतर्गत खण्डकाव्य-रचना का प्रयास बिलकुल नहीं हुआ । कबीर आदि संतों की रचनाएं साहित्यिक दृष्टिकोण से नहीं लिखी गयीं । उन्हें साहित्य और कलादि का ज्ञान भी नहीं था । उन्होंने तो अपने जीवन में प्राप्त किए अनुभवों कोपदों और साखियों में व्यक्त किया है जिनमें जाति-पांति की एकता, जीवन की नश्वरता, सामाजिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों का विरोध, वेद-शास्त्र की मान्यताओं का खंडन आदि फुटकर विषयों का प्रतिपादन किया गया है । इनमें सदाचरण, नैतिकता और मनुष्यमात्र की एकता के सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया गया है । काव्यगत सरसता की अपेक्षा शुष्क उपदेशात्मकता का इनमें प्राधान्य है । ये संत मनमौजी जीव थे और मन की तरंग के साथ ही गा उठते थे । अतः प्रबन्धकाव्य की रचना इनकी प्रकृति के अनुकूल न थी ।

प्रेम काव्य धारा- इस धारा के अंतर्गत अनेक प्रेमाख्यान लिखे गये । सूफ़ी संतों ने लोक प्रचलित कहानियों अथवा उनके आधार पर निर्मित काल्पनिक प्रेम कथाओं के द्वारा आत्मा और परमात्मा के मिलन की सांकेतिक व्यंजना की है । अपने सिद्धान्तों केप्रचार के लिए उन्होंने हिन्दू जीवन का वातावरण ही विशेष रूप से चुना और लोक प्रचलित भाषा में प्रस्तुत कर उसे जनसमुदाय के निकट पहुंचाने की चेष्टा की । सूफी प्रेम-कथाओं के समानान्तर कुछ हिन्दू कवियों ने धार्मिक व्यंजनाओंसे रहित विशुद्ध लौकिक प्रेमाख्यानों की सृष्टि की जिनका उद्देश्य केवल रसात्मक कथा कहना और मनोरंजन करना मात्र था । इन दोनों प्रकार के प्रेम काव्यों का बाहरी ढांचा प्रायः एक सा है, उनके रचना विधान में कोई मौलिक अन्तर नहीं ज्ञात होता ।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रेमाख्यान काव्यरूप की दृष्टि से प्रबन्धकाव्य की महाकाव्य, खण्डकाव्य जैसी विशुद्ध साहित्यिक कोटियों में नहीं आते । ये प्रधानतः कथा ग्रंथ हैं जिनका उद्देश्य कौतूहल उत्पन्न करना है । इनमें न तो पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं के उद्घाटन की चेष्टा हुई है और न चरित्रों में किसी आदर्श, की ही प्रतिष्ठा हुई है । महाकाव्य, खण्डकाव्य जैसे विशिष्ट प्रबन्धकाव्यों के पात्रों में जो गांभीर्य और औदात्य अपेक्षित है उसका दर्शन इन रचनाओं के पात्रों में नहीं होता । इनके पात्र प्रायः एक ही प्रकार का आचरण करते, एक जैसे स्वभाव वाले हैं । वे "टाइप" हैं, और कवि के द्वारा गढ़े हुए प्रतीत होते हैं । उनमें सजीवता का आभास

नहीं मिलता । इनके कथानकों का रचना-विधान भी एक ही प्रकार का है । प्राचीन कथा की रूढ़ियों का व्यवहार प्रचुर परिमाण में हुआ है । कथानक में अविश्वसनीय और असंभव घटनाओं एवं कार्य-व्यापारों का प्राधान्य है । कौतूहल जाग्रत रखने के लिए अनेकानेक युक्तियों का सहारा इनमें लिया गया है । अपभ्रंश के चरित काव्यों से इनका अत्यधिक साम्य है । डा० रामसिंह तोमर ने अपभ्रंश के चरित काव्यों और सूफ़ियों के इन प्रेमाख्यानों का तुलनात्मक विवेचन करके कुछ निष्कर्ष निकाले हैं उन्हें यहां उद्धृत किया जा रहा है - "कथावस्तु की दृष्टि से उपर्युक्त प्रेमाख्यान काव्य अपभ्रंश के चरित काव्यों से बहुत अधिक समता रखते हैं । दोनों ही प्रकार की रचनाओं में कोई न कोई प्रेम-कथा है । इस प्रेम के उदय में भी किंचित् समानता है, अर्थात् गुण-श्रवण, चित्र-दर्शन अथवा साक्षात्कार से उद्भूत होता है । विवाह के लिए नायक को किसी प्रति-नायक या दैवी-बाधा को हटाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है । दोनों ही प्रकार का प्रधान उद्देश्य धर्म आध्यात्म्य उपदेश या व्याख्या करना होता है । जैन कथाओं में धर्मोपदेश स्पष्ट ढंग से किया गया है किन्तु हिन्दी प्रेमाख्यानकों में संकेतमात्र मिलता है। जैन कथा के"सुय पंचमी"के समान ही दृष्टान्त रूप में जायसी ने"श्री पंचमी" व्रत का उल्लेख किया है । सिंहल यात्रा का वर्णन "करकंडु चरिउ" तथा "पद्मावत" दोनों ही में है । किसी न किसी बहाने समुद्र यात्रा वर्णन अवश्य है । आधि दैवी शक्तियों के प्रवेश से कथा में आश्चर्य तत्व का समावेश करने की प्रवृत्ति दोनों ही रचनाओं में मिलती है । राक्षस, अप्सरा, विद्याधर, सिद्धयोगी आदि का समावेश दोनों ही में है[1]।"

डा० रामसिंह तोमर ने हिन्दी की इन प्रेम कथात्मक कृतियों को विशुद्ध कथा कहा है । महाकाव्यादि प्रबन्धों के अंतर्गत उन्हें ग्रहण करना वे उचित नहीं समझते उन्होंने अपने शोध ग्रंथ में लिखा है - "इन सभी प्रेम कथात्मक कृतियों के रचयिताओं का उद्देश्य है कथा कहना । जीवन के अन्य पक्ष प्रेम-कथा के अंग होकर ही आए हैं । प्रेम की व्यंजना को व्यापक बनाने के लिए नायकों के चरित्रों को इन सभी कवियों ने साहस सम्पन्न चित्रित किया है । सभी नायक परम सुन्दर और पुरुषार्थी हैं । नायिकाएं भी नायकों में दृढ़ रति रखने वाली हैं । इन प्रेम कथाओं में से कुछ में कवियों के विशेष दृष्टि कोण के कारण थोड़ी गंभीर पारलौकिक सत्ता की व्यंजना भी मिलती है और कुछ विशुद्ध सरल प्रेमकथाएं हैं । ये प्रेमकथाएं किसी भी प्रकार प्रबन्धकाव्य के अंतर्गत महाकाव्य में नहीं रखी जा सकती हैं । प्रबन्धात्मकता, कथा-प्रवाह इनमें मिलता है, लेकिन जो वस्तु-व्यापार की महानता, जटिलता और भव्यता, वर्णनों की उत्कृष्टता और फिर एक सुसंबद्ध प्रबंध-पटुता महाकाव्यों के लिए अपेक्षित है । वह इन प्रेमकथाओं में नहीं प्राप्त

१- विश्वभारती पत्रिका, खण्ड ५ अंक २(अप्रैल-जून १९४६ ई०) में डा० रामसिंह तोमर

होती । उत्सुकता के तत्व को साथ लिए प्रेमी और प्रेमिका की कथा प्रस्तुत करना इन कृतियों का प्रधान उद्देश्य है । प्रसंगवश जहां तहां सुन्दर वर्णन और संवेदनात्मक संयोग-वियोग के चित्र भी मिल जाते हैं । अन्य समस्त व्यापार इस व्यापक और कभी कभी संकीर्ण प्रेम के ही अंग होकर आए हैं । ये समस्त प्रेमाख्यानक प्रधान कृतियां "कथा-साहित्य" के अंतर्गत आवेंगी[1]।"

डा० रामसिंह तोमर का उपर्युक्त मत तथ्यपूर्ण ही नहीं काव्यकृतियों का चुनाव करते समय पूर्ण संज्ञक रहने के लिए एक चेतावनी भी है । अपभ्रंश भाषा में कथा-साहित्य को काव्य सौंदर्य से अलंकृत करके पद्यबद्ध रूप में प्रस्तुत करने की अत्यन्त समृद्ध परम्परा रही है[2]। कथा एवं चरित संज्ञक रचनाओं की परंपरा हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों के रूप में विकसित हुई है । अतः चांदी के असली सिक्कों के स्थान पर मुलम्मा चढ़े हुए खोटे सिक्कों को प्रामाणिक मान लिए जाने की संभावना बहुत अधिक बढ़ गई है ।अनेक विद्वान् आलोचक भी इन कथा-ग्रंथों को महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि के रूपमें ग्रहण करने के भ्रम में पड़ गए हैं । अतः इनके काव्यरूप की परीक्षा करते समय हमें विवेक से काम लेना चाहिये । फिर भी इन प्रेमाख्यानों में से कुछ रचनाओं में साहित्यिक सौष्ठव और कवित्व का स्तर इतना ऊंचा हो गया है कि उनके कथा-ग्रंथ होने पर भी -- उन्हें विशुद्ध काव्य-कोटि में ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है । जायसी का पद्मावत कथा-ग्रंथ होते हुए भी अपने साहित्यिक सौन्दर्य के बल पर उत्कृष्ट महाकाव्य की कोटि में स्थान पाने का अधिकारी हो गया है ।

साहित्य के क्षेत्र में प्रयुक्त विविध काव्य रूपों के बीच परस्पर आदान-प्रदान की क्रिया चलती ही रहती है । अतः काव्य-ग्रंथों में कथा के और कथा-ग्रंथों में काव्य के तत्व का मिलना अस्वाभाविक नहीं है । उत्कृष्ट काव्यों में भी कथा के कुछ तत्व मिल ही जाते हैं । अतः कृति विशेष के काव्य-रूप का निर्णय काव्य या कथा के तत्वों की मात्रा पर निर्भर करता है । यदि किसी काव्य में कथा के तत्वों का प्राधान्य है और काव्य गौण तो उसे "कथा ग्रंथ" ही मानना युक्तियुक्त है, इसके विपरीत यदि किसी कृति में काव्यपक्ष प्रबल और कथा के तत्व गौण हैं तो वह कृति काव्य पद की अधिकारिणी अवश्य समझी जानी चाहिये ।

१- प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव-लेखक डा० रामसिंह तोमर (अप्रकाशित शोधग्रंथ) पृ० सं० २४४

२- देखिए, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, आ०ह०प्र०द्विवेदी, पृ०सं० ५३-५४ ।

यहां पर "कथा" के स्वरूप का संक्षिप्त विवेचन अप्रासंगिक न होगा ।

प्राचीन साहित्य में "कथा" शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है + एक तो साधारण कहानी के अर्थ में और दूसरे अलंकृत काव्य-रूप के अर्थ में । साधारण कहानी के अर्थ में पंचतंत्र की कथाएं, महाभारत, पुराणादि के आख्यान, वासवदत्ता, कादम्बरी, वृहत्कथा आदि भी कथा हैं किन्तु विशिष्ट अर्थ में इसका प्रयोग अलंकृत गद्य काव्य के लिए हुआ है[1]। भामह[2]और दण्डी[3]-इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है । आगे चलकर आचार्य रूद्रट् (लगभग नवीं शताब्दी) ने संस्कृतेतर भाषाओं में इसके अगद्य में भी लिखे जाने की व्यवस्था दी[4]। संस्कृतेतर भाषाओं से तात्पर्य प्राकृत-अपभ्रंशादि भाषाओं से था जिसका स्पष्ट उल्लेख टीकाकार नमिसाधु ने किया है[5]। उस समय प्राकृत और अपभ्रंश में पद्य में लिखी हुई इस प्रकार की कथाएं विद्यमान थीं, उन्हीं को देखकर ये लक्षण भी निर्धारित हुए होंगे[6]।

अपभ्रंश के कथा व चरित संज्ञक स ग्रंथ इसी अलंकृत पद्यबद्ध कथा की परम्परा की रचनाएं हैं । इन कथा ग्रंथों को रस, अलंकार आदि काव्यांगों से परिपुष्ट करके प्रस्तुत किया गया है । अतः इनका स्वरूप बहुत कुछ प्रबन्ध काव्य से मिलता-जुलता प्रतीत होता है । हिन्दी साहित्य कोश में प्रबन्ध काव्य के अंतर्गत इस तथ्य को स्वीकार करते हुए भी उसके प्रबन्धों से भिन्न स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख किया गया है "प्रबन्ध काव्य कथा काव्य के अधिक निकट है, क्योंकि दोनों में अलंकृत शैली और रसात्मक कथा होती है किन्तु इन दोनों काव्य रूपों में भी उद्देश्य, दृष्टिकोण और विषय-वस्तु संबंधी मौलिक भेद होता है । इन दोनो काव्य रूपों में बाह्यतः जितनी समानता दिखाई देती है, उनकी अंतरात्मा में उतना ही अन्तर भी है[7]।"

प्राचीन आचार्यों के कथा के लक्षण उसके बाह्य रूप पर ही विशेष प्रकाश डालते हैं । आचार्य रूद्रट् के अनुसार कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की बंदना, ग्रंथकार का अपना व अपने कुल का परिचय तथा कथा लिखने के उद्देश्य का वर्णन होना चाहिये।

१- हिन्दी साहित्य का आदिकाल(आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी) तृतीय व्याख्यान, पृ० सं०
२- देखिए: भामह: काव्यालंकार १।२५-२८ ।
३- देखिए: दण्डी काव्यादर्श १।२३-२८ ।
४- इति संस्कृतेन कुर्यात् कथामगद्येन च अन्येन, रूद्रट्: काव्यालंकार १६।२३
५- अन्येन प्राकृतादिभाषान्तरेण तु अगद्येन गाथाभिः प्रभूतं कुर्यात् ।
६- देखिए: हि० सा० का आ० काल(आ०हजारी प्रसाद द्विवेदी) पृ० सं० ५३-५४ ।
७- हिन्दी साहित्य कोश, संपादक, डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० सं० ४७७ ।

प्रधान कहानी का प्रस्ताव करने के लिए शुरू में एक कथान्तर होना चाहिये। इसका प्रधान प्रतिपाद्य कन्या प्राप्ति होना चाहिए और इसमें सरस, सजीव वर्णनों का सम्यक् विन्यास होना चाहिए[१]।

कथा में कल्पना की प्रधानता होती है। इसमें घटित तथ्यों की अपेक्षा संभावना पर अधिक बल दिया जाता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है"बहुत सी असंभव दीखने वाली बातों का होना रस-परिपाक में बाधक होता है। पुरानी कथाओं में कथानक-रूढ़ि के रूप में बहुत सी अनहोनी बातें आ गई हैं। कथा के लेखकों ने उनको संभव बनाने के लिए कुछ संभावनाओं का सहारा लिया था जो आगे चलकर कथानक-संबंधी अभिप्रायों का कारण बन गयीं[२]।" आचार्य द्विवेदी ने प्राचीन भारतीय कथाओं में प्रयुक्त कुछ कथानक रूढ़ियों का उल्लेख किया है जो प्रायः समस्त कथाग्रंथों में न्यूनाधिक मात्रा में मिलती हैं। यहां उन्हें उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगाः-

१- कहानी कहने वाली सुग्गा, २-(क) स्वप्न में प्रिय का दर्शन (ख) चित्र में देखकर किसी पर मोहित हो जाना, (ग) भिक्षुओं या बंदियों के मुख से कीर्ति-वर्णन सुनकर प्रेमासक्त होना, ३- मुनि का शाप, ४- रूप-परिवर्तन , ५-लिंग-परिवर्तन,६-परकीय प्रवेश, ७-आकाश-वाणी, ८-अभिज्ञान या सहदानी, ९-परिचारिका का राजा से प्रेम और अन्त में उसका राजकन्या और रानी की बहन के रूप में अभिज्ञान, १०-नायक का औदार्य, ११-षड्ऋतु और बारहमासा के माध्यम से विरह-वेदना, १२-हंस, कपोत आदि से संदेश भेजना, १३- घोड़े का आखेट के समय निर्जन बन में पहुंच जाना, मार्ग भूलना, मान सरोवर पर किसी सुन्दरी या उसकी मूर्ति का दिखाई देना, फिर प्रेम और प्रयत्न, १४- विजन- बनमें सुन्दरियों से साक्षात्कार, १५-युद्ध करके शत्रु से या मत्त हाथी के आक्रमण से या कापालिक, की बलि-बेदी से सुन्दरी स्त्री का उद्धार और प्रेम। १६- गणिका द्वारा दरिद्र नायक का स्वीकार और गणिका -माता का तिरस्कार।१७- भरुण्ड और गरुड़ आदि के द्वारा प्रिय युगलों का स्थानान्तरकरण, १८- पिपासा और जल की खोज में जाते समय असुर-दर्शन और प्रिया-वियोग, १९-ऐसे शहर का मिल जाना जो उजाड़ हो गया हो, २०- प्रिया की दोहद -कामना की पूर्ति के लिए प्रियका असाध्य-साधन का संकल्प, २१- शत्रु संतापित सरदार को उसकी प्रिया

१- देखिएः काव्यालंकारः रूद्रटः १६+२०-२३।

२- हि०सा० का आ०काल पृ० सं० ५७-५८।

के साथ शरण देना और फलस्वरूप युद्ध इत्यादि, २२- कन्या प्राप्ति के लिए शिव-पूजन और शिव जी का स्वप्न में मनोरथ सिद्धि के लिए वरदान, २३- भिन्न-भिन्न ऋतुओं में मन्मथ पीड़ा से व्याकुल होना, २४- मंदिर से कन्या हरण[1]। संक्षेप में कथा के स्वरूप को इस प्रकार बताया जा सकता है : कथा मे काल्पनिक वस्तु-व्यापारों की योजना होती है और उसमें कथानक रूढ़ियों का अधिकाधिक व्यवहार होता है इसमें आश्चर्य-जनक व अपरिचित् विषयों व वस्तुओं की अवतारणा होती है । इतिहास व परम्परा का इसमें त्यागकर दिया जाता है । इसका उद्देश्य कुतूहल जगाकर मनोरंजन करना होता है । इसमें मंत्र, तंत्र, जादू, टोना आदि के सहारे नूतन चमत्कार पूर्ण परिस्थितियों को लाने की चेष्टा की जाती है । कन्या प्राप्ति, राज्य प्राप्ति, युद्ध आदि इसके प्रमुख विषय होते हैं । इसमें चरित्र-चित्रण पर रचयिता की दृष्टि नहीं रहती, कथानक का मनोरंजक विकास ही उसका लक्ष्य होता है । इसके पात्र "टाइप" होते हैं जो एक ही परिस्थितियों में प्रायः एक ही प्रकार का आचरण करते हैं । सभी स्त्रियां सुन्दरी होती हैं, प्रेम के लिए कठिन परीक्षाएं, क्रीड़ा-समारोह, विवाह की धूम-धाम, राक्षसों या अति मानवीय शक्तियों से आदि के विषय इसमें प्रधानता से चित्रित होते हैं । प्रारम्भ में वक्ता श्रोता की योजना होती है । चरित कथाओं में नायक के पूर्वज, माता-पिता और वंश पूर्ण भवों के वृत्त तथा जन्म के कारणों आदि का वर्णन भी होता है ।

<u>चरित-</u> चरित काव्यों में भी कथा के तत्वों का ही प्राधान्यरहता है । वह वस्तुतः कथा का ही एक विशिष्ट रूप है । इसी कारण प्रायः सभी चरित ग्रंथों ने अपने को कथा कहा है । फिर भी चरित ग्रंथों की अपनी विशेषताएं होती हैं । "चरित काव्य की शैली जीवन चरित की शैली होती है । उसमें प्रारम्भ में या तो ऐतिहासिक ढंग से नायक के पूर्वज, माता-पिता और वंश का वर्णन रहता है । या पौराणिक ढंग से उसके पूर्व-भवों का वृत्तान्त तथा उसके जन्म के कारणों का वर्णन रहता है । उसमें चरित नायक के जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक की अथवा कई जन्मों (भवान्तरों) तक की कथा होती है । उसमें शास्त्रीय प्रबन्ध काव्यों की तरह महत्वपूर्ण और कलात्मकता उत्पन्न करने वाली, मुख्य घटनाओं का चुनाव और वर्णनात्मक अंशों की अधिकता नहीं होती[2]।" इनमें कोई न कोई प्रेम कथा रहती है और प्रेम का विकास प्रायः समान पद्धति

१- हि०सा० का० आदिकाल, पृ० सं० ७४-७५ ।

२- हि० साहित्य कोश(संपादक, धीरेन्द्र वर्मा, पृ०सं०)चरितकाव्य, शीर्षक से डा० शम्भूनाथ सिंह का लेख ।

पर होता है । इसमें अलौकिक, अतिप्राकृत और अतिमानवीय विषय व्यापारों और पात्रों आदि का प्रयोग होता है । कथा-रूढ़ियों की अधिकता होती है । ये प्रायः उपदेशात्मक, प्रचारात्मक, या प्रशस्ति मूलक होते हैं ।

रोमांस- मध्ययुग में संसार के प्रायः सभी देशों में "रोमांस" काव्यों की रचना प्रचुर परिमाण में हुई । काव्यरूप की दृष्टि से विभिन्न देशों में रचे गए रोमांस साहित्य की मूल प्रवृत्तियां एक ही हैं । इस विश्वव्यापी प्रवाह का प्रतिनिधित्व भारत वर्ष में भी इन चरित, कथा और प्रेमाख्यानक काव्यों ने किया है । इन रोमांस काव्यों का मुख्य प्रतिपाद्य प्रेम है । इनमें निराधार कल्पना और असंभव व अविश्वसनीय घटना व्यापार की प्रधानता होती है । नारी इन घटनाओं का केन्द्र बिन्दु होतीहै। इनके कथानकों में जटिलता होती है । पशु-पक्षियों को भी मानव के सहायक के रूप में चित्रित किया जाता है । दैवी पात्रों व आश्चर्यजनक तत्वों का प्राचुर्य होता है । कौतूहल और चमत्कार सृष्टि इनका मुख्य उद्देश्य रहता है ।

हिन्दी के प्रायः समस्त प्रेमाख्यानक (सूफ़ी और असूफ़ी) काव्यों में कथा चरित और रोमांस के तत्व प्रधानता के साथ उभरे हैं । अतः वे प्रबन्ध काव्य की विशुद्ध शास्त्रीय कोटि में नहीं आते । यहां संक्षेप में इस युग की प्रेमाख्यानक कृतियों का परिचय दिया जा रहा है ।

सदयवत्स सावलिंगा- (१५१८ई०) यह विशुद्ध लौकिक प्रेमाख्यान है । इसका उल्लेख अब्दुल रहमान के संदेश-रासक में मिलता है । यह राजस्थान तथा गुजरात में विशेष प्रचलित रही है । इसमें कोंकण देश के विजयपुर के राजा महीपाल के पुत्र सदयवत्स और मंत्री की पुत्री सावलिंगा की प्रेमकथा वर्णित है । सावलिंगा का विवाह पुष्पावती के धनदत्त और सदयवत्स का दूसरी राजकुमारी से हो चुका था । इसमें सावलिंगा विवाहिता होते हुए भी अपने पति से रमण नहीं करती और अपने मनचाहे प्रेमी के लिए प्रतीक्षा करती है अंत में वह पति सदयवच्छ द्वारा बांध लिया जाता है, और सदयवच्छ अपनी पूर्व पत्नी के साथ उसे भी पत्नी बनाकर ले जाता है[1]। इसमें अस्वस्थ प्रेम का वर्णन है । प्रबन्ध काव्य के आदर्श के यह विरुद्ध है । डा० माता प्रसाद गुप्त का मत है कि यह कथा कदाचित् अनार्य स्रोतों से आयी है ।[2]

लखमसेन पद्मावती कथा(दामो कवि) (१४६०ई०) इसका कथानक वैचित्र्य पूर्ण है । पाताल के अन्दर स्थित सरोवर आदि विचित्र प्रदेशों में इसकी घटनाएं घटित होती हैं । इसमें योगी की चमत्कारपूर्ण क्रियाएं कथा विकास का प्रमुख आधार बनी हैं ।

१- व्यक्तिगत वार्तालाप में प्रकट किया हुआ मत ।

इसमें राजा लखमसेन अपने पुत्र के चार टुकड़े करता है जिनसे धनुषबाण, तलवार, कोपीन और सुन्दरी निकलती है । इसमें शृंगार के साथ साथ वीर-रस का परिपाक भी अच्छा हुआ है । पद्मावती और चन्द्रावती दोनों राजकुमारियों के साथ लखमसेन का विवाह होता है । वीर और शृंगार दोनो रसों का सामंजस्य इसमें हुआ है । यह एक रोमांचक काव्य है, विशुद्ध प्रबन्ध काव्य के गुणों का उसमें अभाव है ।

सत्यवती की कथा (सन् १५०१ ई०)- यह लौकिक प्रेम-कथा है । इसकी रचना ईश्वर दास ने की थी । इस कथा के प्रारम्भ में वक्ता-श्रोता-परंपरा का विधान है । राजा चन्द्रोदय को शिव के वरदान से कन्या की प्राप्ति ऋतुपर्ण का संयोग वश उसे सरोवर में सखियों के साथ स्नान करते हुए अर्द्धनग्न अवस्था में देख लेना और कुष्ट रोग से ग्रसित होने का शाप पाना, राजा चन्द्रोदय का उसी जंगल में आखेट के लिए जाना जहाँ ऋतुपर्ण कोढी के रूप में रहता था, राजा की आज्ञा भंग करने का दण्ड भुगतने के लिए कन्या का कोढ़ी के हाथों सिपुर्द किया जाना और अंत मे दैवी वरदान से पति को निरोग बनाने में उसकी सफलता इसका विषय है । वस्तुतः यह सतीत्व की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए लिखी गयी कथा है । इसमें काव्यत्व का अभाव है ।

<u>मृगावती</u> (सन १५०१ ई०)- इसके रचयिता कुतबन थे । उसमें चंद्रगिरि का राजकुमार कंचननगर की राजकुमारी पर मोहित होकर उसके प्रेम में योगी बनकर निकल पड़ता है अनेक बाधाओं को पारकर वह राजकुमारी को प्राप्त करता है ।इसमें प्रेमकथा के सामान्य ढाँचे में रंग भरा गया है । यदि आध्यात्मिक आवरण को अलग कर दिया जाय तो इस कथा का उद्देश्य कौतूहल जगाना मात्र रह जाय । इसके लिए कवि असंभव घटनाओं और आश्चर्यपूर्ण कृत्यों का सहारा लेता है । राजकुमारी मृगावती इसमें उड़ने की विद्या जानती है और राजकुमार को धोखा देकर कहीं उड़ जाती है ।मानव द्वारा अननुभूत विचित्र घटनाओ का सहारा लेने की प्रवृत्ति सभी प्रेमाख्यानक रचनाओं की भाँति इसमें भी मिलती है । विचित्र स्थानों और अमानवीय पात्रों की योजना करके इस कथा में भी रोचकता और कौतूहल की वृद्धि की गयी है । इस कृति में राजकुमार समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुंचकर एक राक्षसी से रुक्मिनी नामक सुन्दरी कन्या की रक्षा करता है । उससे उसका विवाह भी होता है । इसमें १२ वर्ष से अधिक का कथानक लिया गया है और राजकुमार की मृत्यु तथा दोनों रानियों के सती होने तक का वृतान्त वर्णित है । यदि वह प्रबन्ध कोटि मे गृहीत-

-होने की क्षमता

रखती, तो भी खण्डकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य के अधिक निकट होती । वस्तुतः यह रोमांचक प्रेम-कथा है प्रबन्ध काव्य नहीं ।

माधवनल कामकंदला कथा- यह विशुद्ध लौकिक प्रेमाख्यान है । यह कथा उत्तर भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध रही है और संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, फारसी आदि भाषाओं के काव्यों का विषय भी है । थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ इस कथा को आधार बनाकर इस काल में गणपति(१५२७ई०) माधवशर्मा(१५४३), कुशललाभ(१५५६ई०) और आलभ(१५७८ई०) ने क्रमशः माधवानल- कामकंदला प्रबन्ध, माधवानल- कामकंदला रस विलास (ब्रजभाषा) "माधवानल कामकंदला" चउपई(राजस्थानी) और माधवानल कामकंदला के नाम से अपनी अपनी रचनाएं प्रस्तुत की । इनमें से गणपति की रचना में कथा का वृहत् रूप मिलता है । शेष रचनाएं कथा के छोटे रूप को लेकर लिखी गयी हैं । आलभ कृत 'माधवानल कामकंदला' के बढ़े हुए अंश बाद के परिवर्तन कि किए हुए लगते हैं[1]। बृहत् रूप वाले कथानकों में माधवानल और कामकंदला के पूर्व जन्मों के वृत्तान्त, और कुछ अवान्तर कथाएं मिलती हैं । छोटे रूप मे ये नहीं है । इस कथा का मुख्य विषय, पुष्पावती नगरी से माधव का कामावती नगरी में आना और कामकंदला का परिचय प्राप्त करना तथा विक्रम की सहायता से अंत में कामकंदला की प्राप्ति है । इन सभी रचनाओं में घटना चक्र की जटिलता और कथा का कौतूहल प्रमुख है । काव्य की दृष्टि से इनका कोई महत्व नहीं है । आलभ की रचना के संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "इसमें जो कुछ रुचिरता है वह कहानी की है, वस्तु-वर्णन, भाव-व्यंजना आदि की नहीं । कहानी भी प्राकृत या अपभ्रंश काल से चली आती हुई कहानी है ।" ये रचनाएं कथा मात्र है ।खण्डकाव्य की कोटि में इनकी गणना नहीं हो सकती ।

पद्मावत- प्रेमाख्यानक रचनाओं में मलिक मुहम्मद जायसी कृत पद्मावत का स्थान सर्वोपरि है । इसकी रचना १५४०ई० के आस-पास समाप्त हुई । इसमें आए हुए वियोग के चित्र तो हिन्दी साहित्य में बेजोड़ समझे जाते हैं । वियोग के अतिरिक्त संयोग वर्णन, बारह मासा, तथा अन्य अनेक वर्णनों में कवि की प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार देखा जा सकता है । साहित्यिक वातावरण को प्रधानता होने के कारण

१- मनोहर लाल गौड़ का "शेख आलम" नामक हिन्दी अनुशीलन धीरेन्द्र वर्मा विशे०में प्रका० लेख पृ० ३९३ ।

२- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०० ।

यह कृति कथा ग्रंथ होते हुए भी महाकाव्य की कोटि में गृहीत हो चुकी है । इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन की सिंहल यात्रा और हीरामन तोते की सहायता से पद्मावती की प्राप्ति की कथा वर्णित है । उत्तरार्द्ध में राघवचेतन की प्रेरणा से पद्मावती की प्राप्ति के हेतु अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण कर राजा रत्नसेन को छलपूर्वक बंदी बनाना, पद्मिनी का गोरा बादल की सहायता से युक्ति-पूर्वक उन्हें छुड़ाना और राजा रत्नसेन का कुंभलनेर पर आक्रमण करके देवपाल को मारना व स्वयं वीरगति पाना, तथा नागमती और पद्मावती का सती होना आदि घटनाओं का वर्णन हुआ है । "कैनवॅस" विस्तृत होने के कारण यह खण्ड काव्य नहीं है ।

पद्मावत तथा अन्य सूफी और असूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की रचना फारसी की मसनवी शैली में हुई है । भारतीय प्रबन्ध काव्यों की सर्ग बद्ध पद्धति का इनमें अभाव है । कथा का विभाजन खण्डों में हुआ है जिनका नामकरण उस खण्ड में आने वाली मुख्य कथा को लक्ष्य करके किया जाता है । इसमें प्रारम्भ में ईश्वर की स्तुति और शाहेवक्त की प्रशंसा होती है । प्रारम्भ से अंत तक दोहा चौपाई के प्रयोग इनमें मिलता है । भारतीय प्रबन्ध काव्यों की भांति इनमें छन्द-परिवर्तन नहीं होता

मधुमालती (रचनाकाल १५४५ ई०)- इसके रचयिता मंझन के विषय में कोई जानकारी नहीं है । मधुमालती का कथानक रोमांस काव्यों की भांति जटिल और कौतूहल पूर्ण है । इसमें अति प्राकृत घटनाओं और अमानवीय पात्रों के सहारे चमत्कार उत्पन्न करने की चेष्टा अधिक है । घटनाओं की तर्क-सम्मत योजना के स्थान पर अस्वाभाविक ढंग से चमत्कारपूर्ण शक्तियों के सहारे वांछित कार्य सम्पन्न कराने की प्रवृत्ति इसमें प्रधान है । राजकुमार मनोहर को सोते हुए अप्सराएं मधुमालती की चित्रसारी में पहुंचा देती हैं और वहां से वापिस भी ले जाती हैं । वह राजकुमारी के विरह में प्रेम योगी बनकर समुद्र मार्ग से भयंकर यात्रा करता है जंगल में वह कुमारी प्रेमा का राक्षस के हाथों से उद्धार करता है । प्रेमा की सहायता से उसके ही घर में मधुमालती से उसका मिलाप होता है किन्तु पुनः आश्चर्यजनक ढंग से उनका वियोग करा दिया जाता है । इसके उपरान्त माता रूपमंजरी के शाप से मधुमालती पक्षी बनकर उड़ जाती है और ताराचंद के पास पहुंचकर उसे अपनी व्यथा सुनाती है । ताराचंद उसे मनोहर से मिलाने की प्रतिज्ञा कर उसके माता-पिता के घर पहुंचा देता है जहां बादमें राजकुमार मनोहर योगी वेश में पहुंचता है और दोनों का मिलन होता है ।

इस कृति में निराधार कल्पना, अतिशय भावुकता और कथावस्तु की तीव्रता आदि रोमांस के तत्वों का प्राधान्य है । इसका ढांचा विशुद्ध रोमांचक कथा

का है । प्रबन्ध काव्य की गरिमा का इसमें अभाव है ।
प्रेम बिलास प्रेमलता कथा (१५५७)?- इसकी एक प्रतिलिपि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय में सुरक्षित है । यही भी विशुद्ध लौकिक प्रेमाख्यान है । इसके रचयिता जटमल नाहर है । ये जैन श्रावक थे । इसकी कथा आरम्भ में सदयवत्स सावलिंगा की कथा से मिलती है । इस रचना में लोकोत्तर घटनाओं का संगठन अन्य (प्रका०) काव्यों से अधिक मिलता है । योगिनी की सहायता, काली का आशीर्वाद आदि कथा के विधायक अंग है । यह विशुद्ध प्रबन्ध कोटि मे नहीं आ सकता ।
चित्रावली(रचनाकाल १६१३ई०) - इसके रचयिता उसमान उपनाम "मान" कवि हैं । डा० रामकुमार वर्मा ने लिखा है "चित्रावली की क कथा में घटनाओं की शृंखला बहुत लम्बी और बहुत कौतूहलपूर्ण है उसमें अनेक अलौकिक बातों का भी समावेश है । कथा को विस्तृत रूप देने के लिए जबरदस्ती विपत्तियों की कल्पना की गई है । संक्षेप में नैपाल के राजा धरनीधर पंवार के पुत्र सुजानकुमार अनेक कठिनाइयों के बाद कंवलावती और चित्रावली से विवाह करने में समर्थ होते हैं । दो राजकुमारियों से विवाह करने के पूर्व जितनी कठिनाइयां सामने आती हैं उनका विस्तृत वर्णन चित्रावली में हैं[१] ।इस कृति का वातावरण भी निराधार कल्पनाओं और असंभव घटनाओं से परिपूर्ण है । यहां भी देव के द्वारा राजकुमार राजकुमारी की चित्रसारी में पहुंचाया जाता है और वहां से वापिस लाया जाता है । राजकुमार को अंधा बनाकर गुफा में डाल दिया जाता है जहां वह अजगर के द्वारा निगल लिया जाता है और फिर विरह ज्वाला के आधिक्य के कारण उगला जाता है । बनमानुष की सहायता से उसकी दृष्टि भी वापिस लौटती है । हाथी के द्वारा राजकुमार के पकड़े जाने और पुनः उस हाथी को पक्षिराज के द्वारा उड़ा ले जाने और समुद्रतट पर छोड़ देने जैसी असंभव, अतर्कसम्मत घटनाओं की योजना पर इसकी कथा का सम्पूर्ण ढांचा ही आधारित है । रोमांस काव्यों की समस्त विशेषताएं इसमें पूरी तरह उभरी हैं । प्रबन्धकाव्य की विशिष्ट कोटि में इसका ग्रहण नहीं हो सकता ।
रसरतन -पुहुकर कृत (सं० १६१८)- यह विशुद्ध लौकिक प्रेम-कथा है । इसमें राजकुमारी रम्भावती और वैरागर के राजकुमार सोम की प्रेमकथा का वर्णन है । प्रेमाख्यानों की समस्त विशेषताएं इसमें पूर्णता के साथ विद्यमान हैं । इसमें प्रसंगवश कल्पलता अप्सरा रति और कामदेव, आदि अतिमानवीय पात्रों की अवतारणा हुई है । प्रबन्धकाव्य की विशुद्ध कोटि में यह नहीं रखी जा सकती ।

१- हि० सा० का आलो० इति० (तृ० सं०) - डा० रामकुमार वर्मा, पृ० सं० ३२२ ।

ज्ञानद्वीप- रचनाकाल सन् (१६१९ ई०)- इसके लेखक शेखनबी थे । इसमें राजा ज्ञानद्वीप और रानी देवजानी की प्रेमकथा वर्णित है । यह खण्ड काव्य नहीं है ।

नल-दमयंती और नलदमन- महाभारत के नल दमयंती के आख्यान को लेकर इस युग में कई रचनाएं प्रस्तुत की गईं जिनमें नल दमयन्ती (नरपति कृत) और नल दमन (सूरदास कृत) मुख्य हैं । इनका रचनाकाल क्रमशः १५७५ ई० और १६३७ ई० है । इन रचनाओं का विकास प्रेमाख्यातक पद्धति पर हुआ है । यहां केवल नल दमन की कथा का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है । इस कथा में नल को दमयन्ती के प्रति उसके अतिशय रूप-गुण का वर्णन सुनकर प्रेम जाग्रत होता है । दमयन्ती के मन में नल के प्रति चित्र-दर्शन से प्रेम उत्पन्न होता है । इसमें नारद, इन्द्र, वरुण अग्नि आदि दैवी पात्र भी दमयन्ती को पाने को इच्छुक हैं । नल अदृश्य होकर दमयंती के महल में पहुंचता है । देवता स्वयंवर में नल का रूप धारण कर दमयंती की वरमाला पहनने के लिए उत्सुक होते हैं । दैवी संदेश पाकर ही दमयंती नल को पहचान पाती है । कलि पैरों के द्वारा नल के शरीर में प्रवेश करता है । उपर्युक्त अतिप्राकृत घटनाओं और अस्वाभाविक प्रसंगों पर इसके कथानक का मूल ढांचा निर्मित हुआ है । प्रबन्ध काव्य का वातावरण इसमें नहीं मिलता ।

इनके अतिरिक्त जान कवि कृत कनकावति (१६१८ ई०), कामलता (१६२१ ई०), मधुकर मालति (१६३४ ई०), रतनावति (१६३४ ई०) और छीता (१६३६ ई०) भी कथाग्रन्थ हैं । उनमें काव्यतत्व का दर्शन नहीं होता । अतः खण्ड काव्यों के अंतर्गत उन्हें ग्रहण नहीं किया जा सकता ।

कृष्णभक्ति धारा:-

सगुण भक्ति धाराओं के अंतर्गत कृष्णोपासक कवियों ने या तो कृष्ण के बाल जीवन को ग्रहण किया या उनके गोपी-बल्लभ प्रेमी रूप को । कृष्ण-भक्त कवियों की दृष्टि एकांगी और व्यक्ति निष्ठ अधिक थी । समाज और जीवन से वे प्रायः तटस्थ से रहे । प्रबन्ध काव्यों का दृष्टि कोण समाज सापेक्ष्य अधिक होता है । उसमें बाह्य विषय-वस्तुओं पर कवि की दृष्टि अधिक रहती है । प्रबन्ध काव्य विषय-प्रधान काव्य-रूप है विषयी प्रधान नहीं । अतः कृष्ण भक्ति साहित्य में गीतिकाव्य की रचना ही प्रधान रूप से हुई । कृष्ण की बाल क्रीड़ाओं और प्रेम लीलाओं तथा उनकी मधुर-मोहक

छवियों व चेष्टाओं ~~और प्रेम की~~ की विशद व्यंजना पदों और कवित्त सवैया आदि मुक्तकों में हुई । फिर भी भागवत पुराण में आयी हुई कृष्ण संबंधी विभिन्न कथाओं का आधार ले कर कुछ प्रबंधात्मक कृतियां भी निर्मित हुई जिनमें सुदामा-चरित, वेलि क्रिसन रुक्मिणी, रुक्मिणी मंगल प्रमुख हैं । नंददास के भंवरगीत और रासपंचाध्यायी को भी कुछ विद्वानों ने खण्डकाव्य कहा है किन्तु वस्तुतः इन दोनों कृतियों में खण्ड काव्य के तत्व नहीं मिलते । भंवरगीत में तो कथावस्तु का नितान्त अभाव है । इसमें केवल उद्धव और गोपियों का संवाद है जिसका विषय ज्ञान पर भक्ति की श्रेष्ठता सिद्ध करना है । यह दार्शनिक तर्क-वितर्क है जो व्यंग्य और वक्रता की प्रधानता के कारण काव्य-चमत्कार से युक्त कहा जा सकता है । इसमें इतिवृत्त और विविध विषय-वस्तुओं के वर्णन के प्रमुख तत्वों का पूर्ण-रूपेण अभाव है । रासपंचाध्यायी में रास क्रीड़ा का विस्तृत वर्णन है । इसमें रास की पृष्ठ भूमि के रूप में वृन्दावनादि के सुन्दर वर्णन मिलते हैं किन्तु इसमें भी कथानक की सुनिश्चित योजना का अभाव है । इसमें ब्रह्म और आत्मा के संबंध की रूप रेखा ही स्पष्ट दी गयी है । न इसमें कोई घटना है और न चरित्र-चित्रण का प्रयास । गोपियों की आत्मानुभूतियों के प्रकाशन में प्रगीतात्मक तत्वों का ही आ-भास मिलता है । केवल कथा के अध्यायों में विभक्त किए जाने से ही किसी कृति को प्रबन्धकाव्य नहीं मान लिया जा सकता । प्रबन्ध के मूल तत्वों का समावेश उसमें अवश्य होना चाहिए ।

कुछ विद्वानों ने भागवत् में आयी हुई कृष्ण की दान-लीला, मान-लीला, माखन-चोरी आदि विभिन्न लीलाओं के आधार पर वर्णित लघु प्रसंगों को भी खण्ड-काव्य के रूप में ग्रहण करने का विचार प्रगट किया है । "सूर सागर" के अन्तर्गत कृष्ण की अनेक ऐसी लीलाओं के प्रसंगों का वर्णन मिलता है किन्तु ये लघु प्रसंग खण्ड-काव्य की संज्ञा नहीं पा सकते । अधिक से अधिक इन्हें लघु निबन्ध काव्य -यदि इसे एक स्वतंत्र काव्य कोटि माना जाय- कहा जा सकता है ।

रूपमार्गीय उपासना-पद्धति की पोषक एक अन्य काल्पनिक रचना "रूपमंजरी" मिलती है जो प्रेमाख्यानक पद्धति की रचना है जिसके नायक कृष्ण और नायिका रूपमंजरी है । यह नंददास की कृति है । यह खण्ड काव्य है इसका विस्तृत अध्ययन आगे प्रस्तुत किया जा रहा है ।

राम भक्ति धारा-

राम-भक्ति साहित्य के अंतर्गत रामचरित मानस और रामचंद्रिका जैसे महाकाव्यों की रचना हुई । राम के आदर्श चरित्र में लोक मंगल और सामूहिक हित की भावना का प्राधान्य था । तुलसीदास की दृष्टि आत्मनिष्ठ न होकर लोकोन्मुख अधिक थी अतः वे हिन्दी साहित्य को एक सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य देने में सफल हुए । केशवदास ने उसे कलात्मक सौन्दर्य प्रदान करने की चेष्टा की । किन्तु खण्डकाव्य की दृष्टि से यह धारा अत्यन्त दरिद्र है । तुलसीदास का जानकी मंगल ही इस धारा के खण्ड काव्यों का प्रतिनिधि कहा जा सकता है । किन्तु उसमें उच्चकोटि के कवित्व के दर्शन नहीं होते और न उसमें प्रबन्ध कौशल ही दिखाई पड़ता है । फिर भी उसका आकार प्रकार खण्डकाव्य का ही है । तुलसीदास जी की अन्य कृति पार्वती-मंगल शिव-पार्वती-विवाह की घटना से संबंधित है । तुलसीदास जी ने इन दोनों प्रसंगों को रामचरित मानस में अधिक सफलता के साथ चित्रित किया है । राम चरित मानस के तत्संबंधी प्रसंग अधिक सुसंबद्ध और काव्यत्वपूर्ण हैं । स्वतंत्र काव्य रूप में इन प्रसंगों की अवतारणा करने पर इनके सौष्ठव में वृद्धि होनी चाहिए थी किन्तु ऐसा नहीं हुआ । इनकी रचना कदाचित लोक मांगलिक अवसरों और सामाजिक उत्सवों या संस्कारों के समय गाये जाने के लिए कवि ने की थी । यही कारण है कि उनमें उच्च कोटि की कलात्मकता का अभाव है । किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति में भी ये कृतियां सफल न हुईं । लोक में विवाह आदि संस्कारों के अवसर पर इन मंगलों के गाये जाने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । साहित्यिक जगत में भी इनका पठन-पाठन बहुत कम हुआ । एक श्रेष्ठतम कवि की रचना होने पर भी ये खण्डकाव्य अत्यन्त साधारण कोटि के हैं ।

अन्य रचनाएं -

भक्ति-काल में कुछ प्रशस्ति मूलक प्रबंधात्मक रचनाएं भी आश्रयदाता राजाओं या ऐति० वीर पुरुषों के चरित को आधार बनाकर लिखी गयीं । ऐसी रचनाएं रीति काल में प्रचुर मात्रा में लिखी गयीं किन्तु उनमें से कुछ भक्ति काल की काल सीमा के अंतर्गत आती है । इनमें से केशवदास कृत वीर सिंह देव चरित (१६०८ ई०) जहांगीर-जस-चंद्रिका और जयमल कृत गोरा बादल की कथा मुख्य हैं ।

वीरसिंह देव चरित- (१६२३ अथवा २८)- यह रचना ओरछा नरेश वीर सिंह देव की प्रशंसा में हुई नहीं । थे, कवि के आश्रयदाता थे । वस्तुतः यह प्रशस्ति ग्रन्थ है । इसमें काव्यत्व का अभाव है । पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने इसके संबंध में लिखा है कि इसे "काव्य ही नहीं कहा जा सकता[1] । जहांगीर-जस-चंद्रिका को तो वे प्रबंध कोटि में स्थान ही नहीं देते । कृति भी खण्ड काव्य नहीं है । जटमल कृत "गोरा बादल की कथा" कथा मात्र है । इसकी रचना सन् १६२३ ई० के आस-पास हुई । इसमें चित्तौड़ के राना रत्नसेन के दरबार के गोरा और बादल नामक दो प्रसिद्ध वीरों की कथा कही गयी है । रत्नसेन के सुलतान अलाउद्दीन द्वारा छल पूर्वक बंदी बना लिए जाने पर रानी पद्मिनी इन दोनों वीरों की सहायता से युक्ति पूर्वक राजा को छुड़ाती है । पद्मावत की इस कथा से गोरा बादल की कथा में साम्य है । इसके गद्य और पद्मय दो रूप मिलते हैं । इस संबंध में अब तक यह निश्चित पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि जटमल ने इसे गद्य में लिखा था या पद्य में या दोनो में । यह ग्रन्थ चाहे पद्य में लिखा गया हो या गद्य में, इतना निश्चित है कि यह एक कथामात्र है इसमें प्रबंधकाव्य के गुण विद्यमान नहीं हैं ।

इनके अतिरिक्त इस युग में डिंगल भाषा में कुछ चारण कवियों द्वारा प्रशस्ति मूलक ग्रन्थ लिखे गए । इनमें बीठू सूजा चारण रचित छंद राव जैतसी रउ" (सन् १५३४ ई०) विशेष उल्लेखनीय है । डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने अपने शोध प्रबंध "डिंगल पद्य साहित्य का अध्ययन" में इसे खण्डकाव्य कहा है[2] ।

छंद राव जैतसी रउ- (रचना काल- १५३४ ई०) (बीठू सूजा चारण कृत)

इसमें बीकानेर नरेश लूणकर्ण के पुत्र राउ जैतसी के जीवन की महत्वपूर्ण घटना मुगल सम्राट बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान के साथ उसके युद्ध और अंत में विजय प्राप्ति का वर्णन है । किन्तु मूल कथा के प्रारंभ के पूर्व राव जैतसी के पूर्वज राव चूंड़ा, राव रणमल, राव जोधा, राव बीका और राव लूणकर्ण आदि के युद्ध व शौर्य आदि का वर्णन [illegible] ग्रन्थ के बहुत बड़े भाग में हुआ है जो दूसरे खण्डकाव्य को क्षति पहुंचाता है । वास्तव में इसमें ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है । डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव अपने "डिंगल पद्य साहित्य का अध्ययन" नामक शोध ग्रंथ में लिखते हैं "किन्तु रचना के आशय तथा कलेवर एवं कथानक के लिए यह

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास- शुक्ल पृ० सं० २१०

अतिरिक्त सामग्री अनुपयुक्त, अहितकर, तथा अत्यधिक है और प्रत्यक्षतः असंबद्ध भी । यदि इस अतिरिक्त सामग्री को ग्रंथ की भूमिका या पीठिका स्वीकार किया जाय तो भी यह ग्रंथ के लिए अति विस्तृत और अशोभनीय ह सी है । इस विस्तृत भूमिका अथवा पीठिका का उद्देश्य स्पष्टतया, आश्रयदाता के अलावा उसके पूर्वजों की प्रशंसा करना, प्रतीत होता है[१] ।

वस्तुतः यह प्रशस्ति ग्रंथ है यद्यपि इसमें राउ जैतसी के युद्ध के सजीव एवं यथार्थ चित्र मिलते हैं परन्तु उसके पश्चात ही कवि चारुचारित पूर्ण प्रशंसात्मक शैली में राउ जैतसी तथा उसके नगादि का वर्णन करता है । वह राव जैतसी को सहदेव के समान बुद्धिमान तक कह देता है[२] । इतना ही नहीं नगर के वैभव, शांति और समृद्धि का वर्णन करते हुए वह प्रश्न कर बैठता है कि क्या यह पृथ्वी पर राम राज्य नहीं है[३] ?

ग्रंथ की निर्माण पद्धति से स्पष्ट विदित होता है कि लेखक का उद्देश्य खण्डकाव्य" की रचना करना नहीं है उसका उद्देश्य आश्रयदाता की प्रशंसा करना है और उसी के उपयुक्त उसने ग्रन्थ की पृष्ठभूमि निर्मित की है । काव्यरूप निर्णय करने में लक्षणों का निर्वाह उतना महत्वपूर्ण नहीं होता, जितना कवि का दृष्टिकोण । अतः "राउ जैतसी रउ छन्द" एक प्रशस्ति ग्रन्थ है । उसमें ऐतिहासिक विवरण पर्याप्त है, साहित्यिक सौन्दर्य भी उसमें कुछ स्थानों पर मिल सकता है, किंतु तो भी वह खंड काव्य नहीं है ।

भक्ति काल के खण्ड काव्य

भक्तिकाल में निम्नलिखित खण्ड काव्यों की रचना हुईः-

सुदामा चरित	नरोत्तमदास (१५३० ई० के आस पास)
जानकी मंगल	तुलसीदास (१५७० ई० के आस पास)
पार्वती मंगल	तुलसीदास (१५८६ ई०)
	जयसंवत्
बेलि किसन रुक्मिणी री-	पृथीराज राठौर (१५८३ ई०)

१- "डिंगल पद्य साहित्य का अध्ययन (लेखक डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव) अप्रका० शोध प्रबंध पृ० १२४ ।

२- छंद राव जैतसी रउ छं ९५ ।

३- वही छं १०३ ।

रुक्मिणी मंगल	नंददास (१६वीं शताब्दी उत्तरार्द्ध अनि०)
रुक्मिणी मंगल	नरहरि महापात्र (अनिश्चित)
रूपमंजरी	नंददास (इ० १६ वीं शता० उत्तरार्द्ध)

भक्तिकाल के उपर्युक्त खण्ड काव्यों को विषय की दृष्टि से तीन वर्गों में रखा जा सकता है -

मैत्री भाव-परक- (सुदामा चरित)

विवाह परक- (जानकी मंगल, पार्वती मंगल, रुक्मिणी मंगल दोनो और बेलि क्रिसन रुक्मिणी री)

आध्यात्मिक प्रेम परक- रूपमंजरी ।

प्रथम कोटि की रचना सुदामा चरित है । इसके नाम से इसके चरित काव्य होने का भ्रम होता है । वस्तुतः इसकी चरित संज्ञा औचित्य पूर्ण नहीं है । चरित के अंतर्गत कथानायक के संपूर्ण जीवन की विविध घटनाओं का क्रमानुसार विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जाता है । काव्यगत सौन्दर्य की ओर इसमें कवि की दृष्टि उतनी नहीं रहती जितनी घटनाओं और विषयों का पूर्ण एवं विस्तृत विवरण देने की ओर । किन्तु सुदामा चरित में सुदामा के दरिद्र परिवार का बड़ा ही सरस और करुणापूर्ण चित्र कवि ने अंकित किया है । पत्नी के आग्रह पर सुदामा का अपने पुराने मित्र कृष्ण से मिलने द्वारिकापुरी जाना और कृष्ण द्वारा उनका आतिथ्य सत्कार करना व उन्हें निहाल कर देना ही कथा का मुख्य प्रतिपाद्य है । यह एक अत्यंत सुन्दर और सरस खण्डकाव्य है । खेद है कि ऐसे विशुद्ध लौकिक भाव पर आधारित खण्डकाव्यों की परम्परा आगे नहीं मिलती ।

विवाहपरक रचनाएं इस युग में प्रचुर परिमाण में लिखी गयीं । तुलसीदास और नंददास जैसे चोटी के कवियों ने इन मंगलों की रचना की । किन्तु इनमें उनकी काव्य प्रतिभा उतनी प्रस्फुटित न हुई जितनी अन्य रचनाओं मे । पृथीराज राठौर की बेलि क्रिसन रुक्मिणी री इस परम्परा की सर्वश्रेष्ठ खण्डकाव्य कृति है । इसमें कवि की कवित्व शक्ति का पूर्ण विकास हुआ है । इसका

१- देखिए हिन्दी साहित्य का अतीत- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

२- देखिए तुलसीदास डा० माता प्रसाद गुप्त ।

साहित्यिक सौन्दर्य अनूठा है। नंददास का रुक्मिणी मंगल भी रुक्मिणी हरण की उसी कथा पर आधारित है किन्तु इसमें कथा का सीमित अंश ही ग्रहण किया गया है। आकार में लघु होते हुए भी नंददास के रुक्मिणी मंगल में साहित्यिक सौन्दर्य की कमी नहीं है। कथा प्रवाह के बीच बीच में वन-नगर आदि के अलंकृत वर्णन और सुन्दर सानुप्रासमयी भाषा का संगीत इस काव्य को आकर्षक बना देने में सहायक हुए हैं। उपर्युक्त दोनो कृतियों का विस्तृत अध्ययन आगे प्रस्तुत किया गया है। नरहरि महापात्र का रुक्मिणी मंगल कला की दृष्टि से उतना महत्वपूर्ण नहीं है और न वह मौलिक ही है। अतः उसका विस्तृत विवेचन अनावश्यक जान पड़ा। तुलसीदास के मंगल भी अत्यंत साधारण कोटि के है, अतः उनका विवेचनात्मक परिचय संक्षेप में दिया गया है।

आध्यात्मिक प्रेम परक रचनाओं में केवल रूपमंजरी ही खण्डकाव्य के रूप में सफल कही जा सकती है। इसमें रूपमंजरी के लौकिक प्रेम के असफल होने पर उसका प्रेम अलौकिक नायक कृष्ण की ओर उन्मुख होता है और सखी इन्दुमती की सहायता से वह स्वप्न में नायक कृष्ण को प्राप्त करती है। इसमें वियोग और संयोग के नाना भावों और अवस्थाओं का मार्मिक वर्णन हुआ है। यह प्रेमाख्यानक पद्धति की रचना है किन्तु इसका साहित्यिक सौन्दर्य इसे खण्डकाव्य के रूप में स्वीकृत करने को बाध्य करता है।

भक्ति काल के उपर्युक्त समस्त खण्डकाव्यों पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि भक्तियुग की रचनाएं होने पर भी इनमें भक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं मिलता और न भक्ति की भावना इन रचनाओं की मूल प्रवृत्ति ही है। भक्ति युग की छाप इन रचनाओं में केवल इस रूप में दिखाई देती है कि इन सभी रचनाओं के नायक, नायिकादि देव कोटि के हैं। सुदामा-चरित के सुदामा और सुदामा पत्नी तथा रूपमंजरी नायिका रूपमंजरी और उसकी सखी इन्दुमती लौकिक पात्र अवश्य है किन्तु वे भी अलौकिक नायक कृष्ण भी कृपा प्राप्त करने के लिए सचेष्ट है। सुदामा सखा भाव से और रूपमंजरी गोपी भाव से मंगल और बेलि काव्यों में भी बीच बीच में राम, कृष्ण, शिव आदि के प्रति भक्ति भावना के व्यंजक कुछ संकेत मिल जाते हैं।

<u>आदि कालीन खण्ड काव्यों से पार्थक्य :-</u>

आदिकालीन खण्डकाव्यों के पात्र प्रायः प्रसिद्ध ऐतिहासिक राजा थे किन्तु

भक्तिकालीन खण्डकाव्यों के पात्र प्रायः देव कोटि के हैं । रामकृष्ण, शिव, जानकी रुक्मिणी, पार्वती आदि देवकोटि के पात्र हैं और सुदामा, सुदामा पत्नी पौराणिक। रूपमंजरी काल्पनिक पात्र है किन्तु वह एक साधिका के रूप में आयी है । यह युग की धार्मिक प्रवृत्ति का ही प्रभाव है ।

आदिकालीन खण्डकाव्यों के कथानक कल्पित या प्रचलित लोक कथाओं पर आधारित थे किन्तु भक्तिकालीन कथानक प्रायः पौराणिक या रामायणीय है । वे श्रीमद्भागवत या रामायण की कथाओं पर आधारित हैं अतः कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन कवियों की दृष्टि केवल लोक कथाओं तक सीमित न रहकर पुराण-काव्या-दि से विषयवस्तु चयन करने की ओर प्रवृत्त हुई ।

आदिकालीन खण्डकाव्यों का मुख्य विषय लौकिक प्रेम के संयोग और वियोग पक्षों की मार्मिक व्यंजना करना मात्र था किन्तु भक्ति कालीन खण्डकाव्यों में विषय-वस्तु का विस्तार दिखाई देता है । इसमें प्रेम की संयोग-वियोग की स्थितियों के अति-रिक्त मैत्री भाव का आदर्श, दारिद्र्य के यथार्थ चित्र, पारिवारिक और सामाजिक जी-वन की झाँकी भी देखने को मिलती है । प्रेमिका को प्राप्त करने के लिए विरोधी राजाओं से युद्ध करने की सामंती परम्परा का पालन इस युग के खण्डकाव्यों में भी मिलता है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी में कृष्ण का पीछा करती हुई जरासंध आदि की सेनाओं से युद्ध करना इसका प्रमाण है ।

आदिकालीन खण्डकाव्यों में विवाहोत्तर प्रेम की परिस्थितियों का चित्रण मि-लता है । उनमें नैतिक और सामाजिक मर्यादा के अतिक्रमण की चेष्टा कहीं नहीं दिखाई पड़ती किन्तु भक्तिकालीन खण्डकाव्यों में से कृष्ण कथा पर आधारित खण्डकाव्यों में नैतिक सीमाओं के अतिक्रमण की चेष्टा दिखाई पड़ती है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी और रुक्मिणी मंगल में रुक्मिणी कृष्ण को संदेश भेजकर अपने हरण की व्यवस्था स्वयं करती है । भारतीय दृष्टि से यह कार्य नैतिकतापूर्ण नहीं माना जा सकता । रूपमंजरी अपने विवाहित पति को छोड़कर कृष्ण से जारभाव से प्रेम करती है, जो समाज की मर्यादा के विरुद्ध है । किन्तु सामाजिक सीमाओं का उल्लंघन इन रचनाओं में जहाँ क भी मिलता है वहाँ कृष्ण के आश्रय से ही । कृष्ण देव कोटि के पात्र हैं अतः उनको पति के रूप में पाने के लिए नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन भी कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में अनुचित नहीं माना गया ।

भक्तिकालीन खण्डकाव्यों में कलात्मक वातावरण अधिक है । आदिकालीन खण्डकाव्यों में कलात्मकता का अभाव है उनमें लोक तत्वों का आधिक्य है । बेलि क्रिसन

रुक्मिणी, रुक्मिणी मंगल (नंददास) और रूपमंजरी में साहित्यिक सौष्ठव पर्याप्त है ।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी भक्तिकालीन खण्डकाव्य आदिकालीन खण्डकाव्यों की अपेक्षा अधिक सफल हुए हैं । सुदामा-चरित में कृष्ण के चरित्र को उत्कर्ष मिला है । सुदामा और सुदामा पत्नी के चरित्र भी कम महत्व के नहीं है । कृष्ण और रुक्मिणी के चरित्र में अलौकिकता, उनके चित्रण में लौकिक दृष्टि की प्रधानता है ।

कथानकों में अलौकिक और अतिप्राकृत तत्व आदि-कालीन खण्ड-काव्यों की अपेक्षा भक्तिकालीन खण्डकाव्यों में अधिक मिलते हैं किन्तु उनका सम्बन्ध दैवी पात्रों से होने के कारण वे उतने अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होते । प्रत्युत दैवी पात्रों की अलौकिक शक्ति के परिचायक होने के कारण उन्हे उत्कर्ष प्रदान करते हैं ।

रस परिपाक की दृष्टि से भक्तिकालीन खण्डकाव्यों का क्षेत्र आदिकालीन खण्डकाव्यों की अपेक्षा अधिक व्यापक है । आदिकालीन खण्डकाव्यों में केवल शृंगार रस का ही परिपाक हुआ है किन्तु भक्तिकालीन खण्डकाव्यों में शृंगार के साथ वीर (बेलि क्रिसन रुक्मिणी), करुण, और शान्त आदि रसों की भी योजना हुई है। मैत्री, करुणा और भक्ति आदि भावों की योजना भी सुन्दर है ।

प्रबन्ध कला की विकास भक्तिकालीन खण्डकाव्यों में आदिकालीन खण्डकाव्यों की अपेक्षा अधिक हुआ । सुदामा चरित में नाटकीय तत्वों और संवादों का आश्रय लेकर उसमें रोचकता और प्रभावोत्पादकता लाने की चेष्टा हुई । उसमें खण्डकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का सफलता के साथ निर्वाह भी पहली बार हुआ । बेलि क्रिसन रुक्मिणी भी कलात्मक साज सज्जा और शास्त्रीय सिद्धान्तों के पालन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है ।रुक्मिणी मंगल और रूपमंजरी में प्रबन्ध विकास पर कवि की दृष्टि रही है ।

आदिकालीन खण्डकाव्य गीति शैली में लिखे गए किन्तु भक्तिकाल के खण्डकाव्य गीतों के अतिरिक्त दोहा-चौपाई, रोला जैसे साहित्यिक और सोहर जैसे लोक छन्दों में भी निर्मित हुए । इस प्रकार काव्य शैलियों की दृष्टि से भी भक्तिकालीन खण्डकाव्य वैविध्यपूर्ण कहे जा सकते हैं ।

आदिकालीन खण्डकाव्य केवल राजस्थानी भाषा में लिखे हुए मिलते हैं जिस पर अपभ्रंश की छाप पड़ी हुई दिखाई पड़ती है, किन्तु भक्तिकालीन खण्डकाव्यों की रचना अवधी, बृज और राजस्थानी भाषाओं में हुई। ये भाषाएं अपभ्रंश के

प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हैं ।

इस प्रकार आदिकाल से भक्तिकाल में हिन्दी खण्ड काव्यों की कला में अधिकाधिक विकास हुआ । उनमें वस्तु, शैली, भाषा आदि सभी दृष्टियों से व्यापकता आई । गुण और परिमाण दोनों दृष्टियों से भक्तिकाल खण्डकाव्य रचना के क्षेत्र में अधिक सम्पन्न हैं ।

- - -

सुदामा चरित्र

इसके रचयिता कवि नरोत्तम दास हैं । हिन्दी खण्ड काव्य साहित्य में इसका प्रमुख स्थान है । यह मैत्रीभाव परक रचना का अन्यतम उदाहरण है ।

रचना शिल्प :-- खण्ड काव्य की आवश्यकता के अनुकूल सुदामा के जीवन की एक ही महत्वपूर्ण घटना को इसमें लिया गया है और वह है स्त्री की प्रेरणा से सुदामा का अपने बाल-सखा द्वारिकाधीश श्री कृष्ण के यहाँ जाना और उनकी कृपा से अतुल वैभव का स्वामी बनना ।

इसकी कथा पौराणिक है । इसके नायक सुदामा दरिद्र किन्तु आदर्श ब्राह्मण हैं । महाकाव्य का नायक देवता अथवा राजकुल का सद्वंश क्षत्री होना अपेक्षित है किन्तु खण्ड-काव्य के लिए यह नियम अनिवार्य नहीं माना जा सकता । सुदामा एक सज्जन पुरुष हैं अत: खण्ड-काव्य का नायक उन्हें बनाना उपयुक्त ही है । सज्जनाश्रित कथा की तो महाकाव्यों तक के लिए व्यवस्था आचार्यों ने की है ।[१] अत: सुदामा का नायकत्व शास्त्रीय मान्यता के प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता ।

सुदामा के दारिद्र्य व दैन्य का बड़ा ही मार्मिक चित्र इसमें खींचा गया है जो हमारी करुणा को जगाता है । सुदामा के आत्म सन्तोष में शान्त-रस की झलक मिलती है । कृष्ण के मैत्री - भाव का आदर्श इसमें प्रस्तुत किया गया है । करुण-रस का परिपाक इसमें नहीं होता इसका पर्यवसान मित्र-विषयक रति-भाव में होता है । विभिन्न विषयों के वर्णन इसमें उपलब्ध हैं । `नगरार्णवशैलऋतु:` आदि महाकाव्य के लिए आवश्यक विषयों के वर्णन भले ही नहीं मिलते, पर द्वारिकापुरी का नगर वर्णन सुदामा के परिवार की दरिद्रता, सुदामा की फटेहाल स्थिति, आदि का वर्णन अत्यन्त सजीव है । पात्रों के रूप और आन्तरिक भावों का परिचय प्रभावोत्पादक है । कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय छन्दों का प्रयोग हुआ है । प्रारम्भ में मंगलाचरण का विधान मिलता है । सर्गों में कथा का विभाजन नहीं हुआ । खण्ड-काव्य में उसकी आवश्यकता भी नहीं होती ।

संवादों का इसमें प्राधान्य है । वे कहीं भी कथा के प्रवाह को अवरुद्ध नहीं करते, प्रत्युत उसे विकसित करने में सहायक हुये हैं । सुदामा और उनकी पत्नी के संवादों से उनके दारिद्र्य का यथार्थ चित्र उभर आता है । संवादों के आधिक्य के कारण कुछ विद्वानों ने इसे खण्ड-काव्य न कहकर नाटक-काव्य कह दिया है जो उचित नहीं जान पड़ता । नाटक में कवि की ओर से कुछ कहने की गुन्जाइश नहीं रहती । दूसरी बात यह है कि संवाद प्रबन्ध- काव्य में अनिवार्य रूप में

---

१ - देखिए, साहित्य दर्पण (आचार्य विश्वनाथ): अध्याय ६ श्लोक ३१८

रहता ही है । फिर इस कृति में तो संवाद कथा के प्रवाह में घुल-मिल कर उसके अंग हो गये हैं

वस्तु विवेचन :-- सुदामा - चरित की कथा भागवत दशम स्कन्ध के अध्याय ८० और ८१ की कथा पर आधारित है । भागवत के अनुसार सुदामा विदर्भ देश के निवासी एक ब्राह्मण थे और सन्दीपन गुरू के यहाँ उज्जयिनी में विद्याध्ययन करते थे । श्री कृष्ण इनके सहपाठी थे । एक दिन श्रीकृष्ण और सुदामा गुरू पत्नी के लिए लकड़ी बीनने जंगल में गए और वहाँ भटक गए । भूख लगने पर सुदामा ने गुरु- पत्नी के दिए हुए चावल अकेले ही चबा लिए । बाद में जब यह भेद खुला तो गुरु ने क्रुद्ध होकर उन्हें आजीवन दरिद्र रहने का श्राप दिया । आगे चलकर कृष्ण द्वारिका के स्वामी हुए और सुदामा अतिशय दरिद्र । सुदामा की पत्नी ने आग्रहपूर्वक उन्हें श्रीकृष्ण के पास भेजा । श्रीकृष्ण ने उनकी दशा समझ ली , वे अन्तर्यामी थे । कृष्ण की कृपा से सुदामा को अपार वैभव की प्राप्ति हुई ।

प्रस्तुत कृति में उक्त भागवतीय कथानक के अन्तिम अंश - सुदामा की पत्नी का सुदामा को कृष्ण के पास भेजना और कृष्ण की कृपा से उनका दारिद्र्य दूर होना - को ही खण्ड-काव्य के रूप में विकसित किया गया है । कथा का आरम्भ गणेश- स्तुति से होता है । पुन: वस्तु- निर्देश का विधान भी मिलता है । आरम्भ में सुदामा और उनकी पत्नी का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । वार्तालाप के मध्य एक दिन सुदामा अपनी पत्नी को बताते हैं कि कृष्ण उनके मित्र हैं । तभी से सुदामा- पत्नी कृष्ण के औदार्य का बखान करती हुई पति को उनके पास भेजने का आग्रह करने लगती हैं । वर्णनों, संवादों और दारिद्र के यथार्थ चित्रों में कवि की मौलिक प्रतिभा का दर्शन होता है । वस्तुत: ख्यात वृत्त का ढांचा मात्र कवि ने लिया है और उसको रूप रंग देने का कार्य उसका निजी है ।

चरित्र - चित्रण

सुदामा चरित्र के नायक सुदामा हैं । रंक होते हुए भी द्वारिकाधीश कृष्ण के अन्त:पुर में उनका भव्य आतिथ्य- सत्कार और उनकी कृपा के के फलस्वरूप राजकीय समृद्धि का अधिकारी बनना उनके उत्कर्ष का व्यंजक है । यद्यपि सुदामा के दारिद्र्य का निवारण कर उन्हें निहाल कर देने में कृष्ण के चरित्र की महानता प्रकट होती है किन्तु कथा के फल की प्राप्ति सुदामा को होती है , अत: वे ही इसके नायक माने जायेंगे ।

सुदामा चरित्र के पात्र अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते प्रतीत होते हैं । सुदामा ब्राह्मण वर्ग के प्रतिनिधि हैं । उनकी पत्नी स्त्री वर्ग की प्रतिनिधि हैं और कृष्ण आदर्श मित्र के प्रति-निधि हैं । इन पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं का चित्र पाठक के सामने उतना नहीं उभरता जितना उनके वर्ग विशेष का ।

चरित्र - चित्रण अभिनयात्मक प्रणाली का सहारा कवि ने विशेष लिया है । उनके

पात्रों का परिचय कराते हुए कवि की ओर से भी चरित्रों पर प्रकाश डाला गया है ।

सुदामा :--

सुदामा के रूप में एक भिक्षावृत्ति पर निर्भर करने वाले आत्म सन्तोषी और भाग्यवादी हरिभक्त ब्राह्मण का चित्र हमारे सामने उभरता है ।

वह अपने अभावों की ओर से पूर्णतः उदासीन है । भोगों को वह निरर्थक समझता है ।[1] स्त्री के कहने पर भी वह अपनी दरिद्रता निवारण के लिए सचेष्ट नहीं होता । अपनी भिक्षा- वृत्ति को वह ब्राह्मणत्व का गौरव समझता है :--

बिप्रन कौ प्रन है जु यही, सुख सम्पति सों कछु काज नहीं ,
के पढ़िबो, के तपोधन है कन मांगत ब्राह्मनै लाज नहीं ।[2]

सुदामा कट्टर भाग्यवादी हैं । ब्राह्मणी के द्वारिका जाने के लिए आग्रह करने पर वह कहता है

जो पै दरिद्र लिख्यो है ललाट तौ काहू पै मेटि न जात अजानी ।[3]

सुदामा में स्वाभिमान का गुण यथेष्ट है । कृष्ण उनके बचपन के साथी हैं । वे वैभव सम्पन्न हैं, किन्तु विपत्ति में उनके सामने हाथ फैलाना ठीक नहीं, इसमें उनके अहं को भारी धक्का लगेगा । वे इसे मित्रता की मर्यादा के विरुद्ध समझते हैं । वे पत्नी के आग्रह का उत्तर इस प्रकार देते हैं :--

तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की यही,
रीति मित्रई की नित प्रीति सरसाइए ।
मित्र के मिले में चित्त चाहिए परस्पर ,
मित्र जो जैंइए तो आपहू जेंवाइए ।
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप ,
तहां यहि रूप जाय कहा सकुचाइए ।
सुख दुख दिन तो कटैंही बनैंगे भूलि ,
विपत्ति परे पै द्वार मित्र के न जाइए ।[4]

कृष्ण की मैत्री के प्रति उन्हें पूर्ण आस्था है । वे कहते हैं -`प्रीति में चूक न है उनके हरि को मिलि हैं उठि कण्ठलगाइ के ।` द्वार गए कछु दैहैं पै दैहैं वे द्वारिकानाथ जू हैं सब लायके ।[5] किन्तु जब वे द्वारिका से खाली हाथ लौट कर चलते है, तो अपने विश्वास को

---

१ - सुदामा चरित छं० सं० ८- १२ पृ० ३१
२ - वही छं० सं० १२ पृ० ३४
३ - वही छं० सं० १४ पृ० ३५
४ - सुदामा चरित छं० सं० २० पृ० ४१

असत्य सिद्ध होते देख विक्षुब्ध हो उठते हैं । कभी अपनी पत्नी को कभी कृष्ण को बुरा-भला कहते हैं -

हौं आवत नाहीं हुतो , वाही पठियो ठेलि ,
कहिहौं घन सों जाइकै , अब घन धरो सकेलि ।[१]

\+ \+ \+

घर घर कर ओढ़त फिरे तनक दही के काज
कहा भयो जो अब भयो , हरि को राज समाज ।[२]

सुदामा के मन की खीज का यह वर्णन स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है । सुदामा की प्रतिक्रिया यथार्थ और अवसरोपयुक्त है ।

सुदामा का स्वभाव संकोची है । वे अपनी बात कृष्ण से कैसे कहेंगे ? मित्र के सामने अपनी दरिद्रता का बखान उनसे न हो सकेगा । उनकी पत्नी कृष्ण को अन्तर्यामी बता कर उनकी इस समस्या का हल ढूंढ़ती हैं किन्तु भेंट के लिए चावल और सुपाड़ी भी तो उनके घर में नहीं है । उसकी व्यवस्था भी पड़ोसी के घर से उनकी पत्नी कर देती हैं । किन्तु द्वारिका पहुंच जाने पर कृष्ण का राज वैभव देख कर अपनी तुच्छ भेंट देने का साहस उन्हें नहीं होता :

तन्दुल तिय दीन्हें हते , आगे धरियो जाय ,
देखि राज सम्पत्ति विभौ , दे नहिं सकत लजाय[३]

सुदामा में शहरी वातावरण से असंपृक्त रहने वाले भोले- भाले ग्रामीण का स्वरूप दिखाई पड़ता है । द्वारिका का वैभव देख कर वह अपने को हीन समझने लगता है । इसी प्रकार कृष्ण कृपा से जब उसकी झोपड़ी वैभवपूर्ण महल में परिवर्तित हो गयी, तो अपनी झोपड़ी को न पाकर सुदामा का झकझाना उनके भोलेपन का परिचायक है ।

सुदामा की पत्नी :--

सुदामा की पत्नी पतिव्रता , लज्जाशीला और बुद्धिमती हैं ।[४] अपने परिवार की दरिद्रता से वे खिन्न हैं । अपने पति की भांति वह आदर्शों के मोह में पड़ी रहकर जीवन के सौख्य से वंचित रहने में विश्वास नहीं करतीं । उसका दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक है ।

अपने पति से यह जानकर कि द्वारिकाधीश कृष्ण उनके सहपाठी मित्र हैं, वह उन्हें कृष्ण के पास जाने के लिए प्रेरित करती है । सुदामा उसके इस प्रस्ताव पर क्रुद्ध भी हो जाते हैं किन्तु वह तर्क के बल पर उन्हें वहां जाने के लिए विवश करती है - उसके तर्क हैं कि उसे 'दूध

---

१ - वही छं० सं० ६६
२ - वही छं० सं० ६८
३ - वही छं० सं० ४५
४ - सुदामा- चरित छं० सं० ५

मिठौती न मिले तो कम से कम मोटा अनाज ही भर पेट मिले । जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति तो कम से कम होनी ही चाहिए

कोदी सवां जुरतो भरिपेट न चाहती हौं दधि दूध मिठौनी
सीत बितीत भयो सिसियातहिं हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती
जो जनती न हितू हरि सौं मैं काहे को द्वारिका पेलि पठौती
या घर ते कबहुं न गयो पिय टूटो तयो अरु फूटी कठौती ।[१]

दारिद्र्य की थपेड़ों से वह ऊब चुकी है । सुदामा की भांति उसे अपनी दीन- हीन दशा पर सन्तोष नहीं है और वह भाग्य के भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने में विश्वास करती है । नारी सुलभ उपदेश मीठी चुटकियों से भरा है जो सुदामा के साथ ही पाठक को भी तिलमिला देता है :--

फाटे पट टूटी छानि खायो भीख मांगि अति,
बिना जन्म विमुख रहत देव पित्रई
वे हैं दीनबन्धु दुखी देख कै दयाल है हैं,
दै हैं कछु भलो सो हौं जानत अगत्रई
द्वारिका लौं जात पिय ! एते अलसात तुम ,
काहे को लजात भई कौन सी विचित्रई ।
जो पै सब जनम दरिद्र ही सतायो तो पै ,
कौन काज आई है कृपानिधि की मित्रई ।[२]

लोक व्यवहार में पुरुष की अपेक्षा स्त्री की बुद्धि अधिक पैनी होती है । सुदामा की पत्नी में यह विशेषता स्पष्ट देखी जा सकती है । कृष्ण को भेंट देने के लिए वह एक पाव चावल पड़ोसिन के यहां से ले आती है । उसी की प्रेरणा से सुदामा को कृष्ण कृपा के रूप में अतुल वैभव प्राप्त होता है ।

सुदामा पत्नी के चरित्र में नारी का यथार्थ व्यक्तित्व झलकता है । उसके चरित्र-चित्रण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है ।

श्रीकृष्ण :-

श्रीकृष्ण के चरित्र की महानता ही सुदामा के प्रसंग से व्यक्त हुई है । श्रीकृष्ण को आदर्श मित्र के रूप में उपस्थित कर सुदामा- चरित के कवि ने अपनी कृति को कृष्ण भक्ति-साहित्य में विशिष्ट स्थान का अधिकारी बना दिया है । सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण के बाल या मधुर रूप का ही स्तवन किया था । किन्तु द्वारिकाधीश

---

१ - वही छं० सं० १३
२ - वही छं० सं० १६

के रूप में अतुल धन-वैभव के स्वामी होते हुए भी अपने बाल-मित्र, सुदामा जी के प्रति जो प्रेम विह्वलता उन्होंने प्रदर्शित की वह उनके उच्च मानवीय गुणों की परिचायक है। सुदामा-चरित में कृष्ण का चरित्र मानवीय आदर्शों के उच्चतम धरातल पर प्रतिष्ठित कर कवि ने स्वार्थ-लिप्त समाज को एक नूतन सन्देश दिया है।

द्वारपाल से सुदामा का नाम सुनते ही कृष्ण राजकाज त्याग कर दौड़ पड़ते हैं, निम्नांकित पंक्तियों से उनके प्रेमावेग का सहज ही अनुमान किया जा सकता है-

बोल्यौ द्वारपालक "सुदामा नाम पाँडे" सुनि,
छाँड़े राजकाज ऐसे जी की गति जानै को?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पांय,
भेंटे लपटाय हिय ऐसे दुख मानै को?
नैन दोऊ जलभरि पूछत कुशल हरि
विप्र बोल्यो विपदा में मोहि पहिचानै को?
जैसी तुम कीन्ही तैसी करै को कृपा के सिंधु,
ऐसी प्रीति दीनबन्धु ! दीनन पै आनै को[1]।

कृष्ण उन्हें अंतःपुर में ले जाते हैं और उनकी दरिद्रता पर ध्यान न देकर उन्हें मणि मंडित चौकी पर बिठाते हैं। परात में पैर धोने के लिए पानी लाते हैं। उनके इस व्यवहार में कोई दिखावा या शिष्टाचार नहीं है। मित्र सुदामा की दीन दशा देखकर उन्हें आंतरिक पीड़ा होती है और उनके नेत्रों से अश्रु-धारा उमड़ पड़ती है-

ऐसे बेहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये,
हाय महा दुख पायौ सखा, तुम इतै न आये कितै दिन खोये।
देखि सुदामा की दीन दशा करुना करिकै करुना निधि रोये,
पानी परात को हाथ छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये[2]।

कृष्ण का यह दीनबंधुत्व समाज के दीन-हीन व्यक्तियों के लिए कितना बड़ा संबल है। कृष्ण को अपने बड़प्पन का किंचित अभिमान नहीं। पूर्वपरिचित मित्रों को पहचान न पाने का अभिनय करने वाले आज के मित्रों को कृष्ण के चरित्र से प्रेरणा लेने की आवश्यकता है। सुदामा को बिदा करने के पूर्व ही वे उनका समस्त दारिद्र्य दूर

१- सुदामा-चरित छं० सं० ३७।
२- वही छं० सं० ४३।

कर देते हैं और उसकी सूचना भी सुदामा को नहीं देते । थोड़ा सा उपकार कर जीवन भर उसका बखान कर अपना ऋण वे नहीं जताते । वे सुदामा को कृतज्ञता प्रकाश करने का अवसर भी नहीं देते । उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन मात्र किया । उनकी यह मौन सहायता उनके हृदय की विशालता की परिचायक है ।

कृष्ण के चरित्र को मानवीय धरातल पर प्रस्तुत करते हुए भी उनके चित्रण में कवि ने अलौकिकता का समावेश किया है । तीन दिन लगातार चलने के बाद जब सुदामा के पैर दुखने लगे और वे एक जगह घास पयाल बिछाकर सोने लगे तो अन्तर्यामी कृष्ण उन्हें सोते हुए ही गोमती नदी के किनारे पहुँचा देते हैं[१] ।

इसी प्रकार सुदामा की दशा को देखकर जब कृष्ण के नेत्र जलयुक्त हो जाते हैं तो इन्द्र कल्पवृक्ष, कुबेर आदि चिंतित हो उठते हैं[२] । इसी प्रकार सुदामा के चावल चबाते के साथ धन, धान्य सुख ऐश्वर्य का सुदामा के घर जाना तथा उससे कमला व रिद्धि, सिद्धि जैसी दैवी शक्तियों का व्याकुल हो उठना आदि प्रसंग कृष्ण के अलौकिक रूप की ओर इंगित करते हैं[३] । तीसरी मुट्ठी चावल चबाने के समय तो रुक्मिणी उनकी बाँह पकड़ लेती है[४]।

मित्र के साथ व्यंग विनोदपूर्ण बातें किये बिना प्रीति का परिचय नहीं मिलता । कृष्ण पहले तो भाभी के भेजे हुए चावल को न देने पर उपालंभ देते हैं और फिर सुदामा के पोटली खोलने की चेष्टा करते ही उसे छीन लेते हैं । इस छीना झपटी में पोटली फट भी जाती है किन्तु फिर भी भाभी के भेजे हुए प्रेम भरे तंदुल मुट्ठी में भर कर प्रेम से चबाने लगते हैं । चावल चबाने में जिस प्रेम की विशुद्धता और तीव्रता की व्यंजना होती है उसे सहृदय ही समझ सकते हैं । कृष्ण इसी के सहारे गुरु-माता के द्वारा दिए हुए चावलों को खा लेने की पूर्व घटना की याद दिलाकर सुदामा की चोरी की आदत की भी शिकायत करते हैं । मित्रों के बीच का यह निश्छल एवं अकृत्रिम प्रेम व्यवहार एक आदर्श प्रस्तुत करता है[५] ।

वर्णन

सुदामा चरित में बाह्य-वस्तु वर्णन के अन्तर्गत सुदामा के दरिद्र-परिवार और कृष्ण के राजकीय वैभव की झाँकी प्रस्तुत की गई है । प्रकृति के प्रति कवि का

१-५ सुदामा-चरित छं० सं० ३७, ३८, ५०-५२, ५४, ४८ ।

अनुराग नहीं है। उसके वर्णन के अवसर पाकर भी कवि ने उसकी उपेक्षा की है। मानव रूप चित्रण में कवि सूक्ष्म रेखाओं को उभार कर सम्पूर्ण चित्र की व्यंजना कर देता है। सुदामा चरित के वर्णन सहज स्वाभाविक और सजीव हैं। वे संक्षिप्त होते हुए भी मार्मिक हैं।

सुदामा के घर की दरिद्रता का चित्र कवि ने दैनिक व्यवहार में आने वाली वस्तुओं का ब्यौरा देकर प्रस्तुत किया है। इन चित्रों में दारिद्र्य का यथार्थ स्वरूप उद्घाटित हुआ है। इन चित्रों की विशेषता यह है कि इनमें सुदामा के अभावों का समान्य कथन न करके दरिद्रता का आभास कराने वाली विशिष्ट वस्तुओं की स्पष्ट रूपरेखा अंकित हुई है। एक उदाहरण देखिए-

फूटी एक थारी बिन टोंटनी की भारी हुती
  बांस की पिटारी औ कथारी हुती टाट की।
बैटे बिन छुरी औ कमंडल सौ टूक बहौ,
  फटे हुते पाये पाटी टूटी एक खाट की।
पथरौटा काठ को कठौता कहूं दीसै नाहिं,
  पीतर को लौटा हो कटोरा हौ न बाटको।
कामरी फटी सी हुती डोंड़न की माला ताक,
  गोमती की माटी को न सुद्धि कहूं माटकी[1]।

दरिद्र की झोपड़ी का इससे बढ़कर यथार्थ चित्र और क्या हो सकता है। खाने को अन्न और पहिनने को कपड़े भी उन्हें दुर्लभ हैं, इस तथ्य को कवि कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। कोदों सवां जैसे मोटे अनाज की रोटी भी भर पेट न पाने वाले और सीत में ठिठुरते वस्त्रहीन मानव की आकृति आंखों के सामने प्रत्यक्ष हो जाती है।

कोदों सवां जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती,
सीत वितीत भयौ सिसियातहि, हौं हठती पै तुम्हें न हठौती[2]।

कृष्ण के दरबारी वैभव और राजकीय आंतक का वर्णन भी आकर्षक है। केशव दास के इस प्रकार के वर्णनों से सुदामा चरित के वर्णन किसी भांति हेठे नहीं-

---

१- सुदामा-चरित छं० सं० ८१।

२- वही छं० सं० १३।

एक चित्र देखिए:-

दाहिने वेद पढ़ै चतुरानन सामुहे ध्यान महेस धरयौ है ।
बायें दोऊ कर जोरे सुसेवक देवन साथ सुरेस खरयौ है ।
ऐतेई बीच अनेक लिए धन पायन आय कुबेर परयौ है ।
देखि विभौ अपनो बपुरो वह ब्राह्मण चौंकि परयौ है[1]।।

कृष्ण का आतंक देखिए:-

चक्कवै चौंकि रहे चकि से तहां भूले से भूप कहां लौं गिनाऊं।
देव गंधर्व और किन्नर यच्छ से सांझ लौं देखे खरे जिहि ठाऊं[2]।

द्वारावती का वर्णन सांकेतिक है । सुदामा दिव्य द्वारा-वती की सुषमा देखकर सनाथ हो जाते हैं[3]। उनकी दृष्टि उस स्वर्णमयी नगरी को देखकर चौंधिया जाती है । वहां के भवन एक से एक बढ़कर आकर्षक तथा निवासी शिष्ट, गंभीर, शान्तप्रिय, विनम्र, सूर दूसरों का कष्ट हरण करने वाले हैं । वे साधु व ब्राह्मणों के भक्त हैं[4]। सुदामापुरी कृष्ण-कृपा से देव नगरी हो गई । उसका वैभव पूर्ण चित्र कवि ने खींचा है द्वारिका की अपेक्षा इस नगरी को अधिक वैभवपूर्ण दिखाकर कवि ने यह व्यंजित किया है कि कृष्ण ने सुदामा का वैभव अपने से भी ऊंचा कर दिया- इस वर्णन में शहरी जीवन की हलचल और भीड़भाड़ का यथार्थ चित्र मिलता है-

सुन्दर महल मनि मानिक जटिल अति, सुबरन सूरज प्रकाश मानौ दै रह्यौ[5]।

+ + +

जगर मगर जोति छाय रही चहुं ओर, अगर बगर हाथी घोरन की सोरहै ।
चौपर की बनी है बजार पुनि सोरन के, महल दुकान की कतार चहु ओर है ।।
भीर भरा धकापेल चहुं दिसि देखियत, द्वारिका तें दूनों यहां प्यादन की जोर है।

सुदामा के आतिथ्य के अंतर्गत कृष्ण के साथ उनके भोजन का वर्णन एक छंद में हुआ है किन्तु वह विवरणात्मक अधिक है । जो अत्यन्त स्वाभाविक बन पड़ा है ।

रूपे के रुचिर थार पायस सहित सिता,
सोभा जिन जीति है सरद हु के चन्द की ।
दूसरे पहीति भात सोधौं सुरभी कौ घृत,
फूले फूले फुलका प्रफुल्ल दुति मंद की ।

१- सुदामा-चरितछं० सं०६१ । २- वही, छं० सं० १६ ।
३- वही, छं० सं०३० । ४- [illegible]
५- ६: छं० सं० ७९-८० ।

पर मुगौरी बरी व्यंजन अनेक भांति,

देवता विलोकें सोभा भोजन अनन्द की,

या विधि सुदामा जु को आछे सै जिमाय प्रभु,

पाछे तो पछावरि परोसी आनि कंद की[१]।।

सुदामा-चरित में विविध विषयों के वर्णन उपलब्ध हैं किन्तु वे वस्तु का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए भी अधिक विस्तृत नहीं है। प्रायः प्रबन्धकाव्यों में वर्णन-विस्तार में लीन होकर कवि कथा के प्रवाह को भूल जाते हैं। कभी- कभी वस्तुओं और विषयों के लम्बे-चौड़े विवरण पाठक का जी भी उबाने लगते हैं। सुदामा-चरित के वर्णन संक्षिप्त हैं।

मानव रूप-वर्णन में कवि प्रवीण है। कुछ विशिष्ट रेखाओं के सहारे पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने की कला यहां भी दिखाई देती है। कृष्ण के चतुर्भुज विष्णु रूप का सजीव चित्र देखिए-

लोचन कमल दुख मोचन तिलक भाल, स्रवननि कुण्डल मुकुट धरे माथ हैं।

ओढ़े पीत बसन गरे में बैजयन्ती माल, शंख चक्र गदा और पद्म लिए हाथ हैं[२]।

उपर्युक्त चित्र में परंपरा का आश्रय कवि ने लिया है किन्तु सुदामा के रूप-वर्णन में कवि ने अपनी स्वतंत्र दृष्टि का परिचय दिया है। सुदामा का अभिज्ञान द्वारपाल कृष्ण को बताता है -

सीस पगा न झगा तन में प्रभु। जानै को आहि बसे केहि ग्रामा।

धोती फटी सी लटी दुपटी अरु। पांय उपानह को नहीं सामा।

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक। रह्यो चकि सों बसुधा अभिरामा।

पूछत दीन दयाल को धाम। बतावत आपनों नाम सुदामा[३]।।

नारी-रूप-वर्णन तो और भी संक्षिप्त है। कवि इस विषय पर कुछ अधिक कहने में सकुचाता सा है। नारी-रूप-वर्णन की चर्चा एक आध पंक्ति में करने के बाद ही कवि विषय बदल देता है। शृंगार पूर्णतया नियंत्रित है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं-

करि सिंगार पिय पै गई, पान खाति मुसकाति।

कही कथा श्रीकृष्ण की, जिन दीन्हीं यह भान्ति[४]।।

\+ \+ \+

जेवर जराऊ तुम साजे प्रति अंग अंग, सखी सोहै संग रह छूछी हुती छाम री।

तु तौ री! पाटम्बर ओढ़े हौ कनारीदार, सारी जरतारी वह ओढ़े कारी कामरी[५]

१-५: सुदामा-चरितः छं०सं०५९, ९, ३६, ११५, ८९।

सुनत चली आनन्दयुत, सब सखियन लै संग ।

नूपुर किंकनि दुंदुभि, मनहुं काम चतुरंग[1]।।

सुदामा के लाये हुए भाभी के चावल जब कृष्ण छीनकर चबाने लगे तो दैवी-शक्तियों मे जो हलचल पैदा हुई, उसका सुन्दर वर्णन कवि ने आलंकारिक शैली में प्रस्तुत किया है-

हूल हियरा में कानन परि है टेर, भेटत सुदामै स्याम चाबिन अघात ही ।

कहै नरोत्तम रिद्धि सिद्धिन मैं सोर भयो, गाड़े थरहरै मुख और सोचै कमला तहीं।

नाकलोग, नागलोग ओक-ओक थोक-थोक, ठाड़े थरहरे मुख सूखे सब गात ही ।

हालौ परौ थोकन में, लालो परो लोकन में, चालो परोचक्रन में, चाउर चबात ही[2]

रस और भाव-व्यंजना

सुदामा चरित में मित्र विषयक रति भाव की प्रधानता है । करूण इसका मुख्य रस नहीं है क्योंकि कथा का अंत सुदामा की विपन्नता में न होकर संपन्नता में होता है जो मैत्री भाव का ही आदर्श व्यक्त करती है । करूण सहायक भाव है । सुदामा का दारिद्र्य ही मैत्री भावना के आदर्श को व्यक्त करने की परिस्थिति उत्पन्न करता है । अंतिम छंदों में भी भावना का उत्कर्ष ही ध्वनित होता है -

कै वह टूटी सी छानी हुती, कहां कंचन के सब धाम सुहावत,

कै पग में पनही न हुती, कहां लै गजराजहु ठाड़े महावत ।

भूमि कठोर पै रैन कटै, कहां कोमल सेज पै नींद न आवत,

कै जुरतो नहिं कोदौं सवां, प्रभु के प्रताप ते दाख न भावत[3]।।

सुदामा का अभावग्रस्त जीवन पाठक की सहानुभूति को आकृष्ट करता है । एक करूण चित्र देखिए-

कोदों सवां जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती,

सीत वितीत भयौ सिसियातहि, हौं हठती पै तुम्हें न हठौती ।।

जो जनती न हितू हरि-सौं, तो काहे, को द्वारिका पेलि पठौती ।

या घर ते कबहूं न गयो पिय, टूटो तयौ अरु फूटी कठौती[4]।।

सुदामा-पत्नी की उक्तियों में कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना की सुन्दर व्यंजना हुईहै किन्तु इनमें कृष्ण की दीनवत्सलता का ही ध्यान किया गया है-

पूरन पैज करी प्रहलाद कों खंभ सौं बांधौ पिता जिहि बेरे ।

द्रौपदी ध्यान धरयो जब ही तब ही पट कोट लगे चहुं फेरे ।

१-४: सुदामा-चरितः छं० सं० ८५, ५२, १२८, १३ ।

ग्राह ते छूटि गयन्द पिय ! है हरि कौ निहछै जिय मेरे ।

ऐसे दरिद्र हजार हरैं के कृपासिंधु लोचन कोर के हेरे[१]।।

सुदामा झुंझलाहट, असमंजस, तर्क, शंका, चिन्ता आदि का यथार्थ स्वरूप निम्नांकित एक ही छन्द में व्यक्त हुआ है-

द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू आठहुं जाम यहै जक तेरे,

जौ न कह्यौ करिए बडौ दुख जैए कहा अपनी गति हेरे ।

द्वार खरे प्रभु के छरिया तहं भूपति जान न पावत नेरे,

पांच सुपारी तै देखु बिचारि कै भेंट को चारि न चाउर मेरे[२]।।

सुदामा की खीज और पश्चाताप् की मिली जुली व्यंजना इन पंक्तियों में देखिए:-

हौं आवत नाहीं हुतो, वाही पठियौ ठेलि,

कहिहौं धन सो जाइके, अब धन धरौ सकेल[३]।।

पुराने मित्र से मिलने के लिए जो तीव्र उत्कण्ठा सच्चे मित्रों में रहती है उसको शब्दों में बांधना कठिन है । कवि ने अनुभावों के सहारे कृष्ण की उत्कण्ठा और प्रेम विह्वलता का सजीव रूप खड़ा कर दिया है: क

बोल्यौ द्वारपालक "सुदामा नाम पांडे" सुनि,

छांडे राजकाज ऐसे जी की गति जानै को ?

द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पांय,

भेंटे लपटाय हिय ऐसे दुख मानै को?

नैन दोऊ जलभरि पूछत कुशल हरि,

विप्र बोल्यो विपदा में मोहि पहिचानै को[४]?

उसी प्रकार मित्र के बिछोह के समय भी कृष्ण की वेदना कम नहीं-

गोपुर लौं पहुंचाय कै, फिरे सकल दरबार,

मित्र वियोगी कृष्ण के, नैन चली जल धार[५]।।

सुदामा जब अपने गांव को लौटते हैं तो अपनी झोपड़ी न पाकर कैसे संभ्रम में पड़ जाते हैं । कवि ने बड़ी विदग्धता के साथ इस स्थल का निर्वाह किया है । सुदामा की मानसिक प्रतिक्रिया का यथार्थ चित्र इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

वैसोहि राज समाज बने गज बाजि घने मन संभ्रम छायौ ।

कैधौ पर्यो कहूं मारग भूलि कै, कै अब फेरि हौं द्वारिका आयौ ।

१-५: सुदामा-चरित: छं० सं० १५, २५, ६९, ३७, ६५ ।

भौन विलोकिन को मन लोचत सोचत ही सब गांव मंझायौ,

पूछइ पाडि फिर सबसों पर झोंपड़ी की कहुं खोज न पायौ[१]।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सुदामा चरित का कवि विविध भावों और विभिन्न अवसरों पर मानव मन की प्रतिक्रियाओं को उद्घाटित करने की अद्भुत क्षमता रखता है।

उद्देश्य

सुदामा-चरित की रचना का प्रधान उद्देश्य मैत्री भाव का आदर्श समाज के सम्मुख प्रस्तुत करना है । कृष्ण को सामाजिक आदर्शों की प्रतिष्ठा कर कवि ने उन्हें राम के समकक्ष ला दिया है । राम की मैत्री का आदर्श सुग्रीव व विभीषण आदि के साथ उनकी मित्रता के रूप में रामकथा में चित्रित हुआ है किन्तु राम की मित्रता में वह विशुद्धता और निस्वार्थता नहीं दिखाई देती जो कृष्ण और सुदामा की मैत्री में । राम ने सुग्रीव के साथ मैत्री विशिष्ट कार्य सम्पन्न कराने के उद्देश्य से की थी । विभीषण भी राम के पभुत्व से प्रेरित होकर और भाई रावण के द्वारा निष्कासित होकर राम का मित्र बना था । अतः राम का मैत्री-निर्वाह एक प्रकार से केवल मित्रों के द्वारा संपन्न किए गए कार्यों का प्रतिदान मात्र था । किन्तु कृष्ण के साथ सुदामा की मैत्री बाल्यावस्था की मैत्री थी । एक ही गुरु के पास विद्याध्ययन करते हुए अत्यन्त स्वाभाविक परिस्थितियों में उनकी मित्रता का विकास हुआ था । उसमें स्वार्थबुद्धि का लेश भी नहीं था । देश, काल और सामाजिक स्थिति का व्यवधान उनकी मित्रता का बाधक नहीं बन सका । युग बीत जाने पर द्वारिकाधीश कृष्ण और रंक सुदामा का मिलाप केवल मैत्री के धरातल पर हुआ । स्थान की भिन्नता, काल का व्यवधान और सामाजिक स्थिति का पार्थक्य उनकी दृढ़ मैत्री को फीका ना कर सका । कृष्ण ने अपने मित्र के संकटों का हरण कर लिया, अपने से बढ़कर उन्हें वैभव प्रदान किया, किन्तु इसकी खबर भी सुदामा को न थी । यह निःस्वार्थता समाज के व्यक्तियों के लिए कितनी स्पृहणीय है । कृष्ण के चरित्र के इस नूतन पक्ष को उद्घाटित कर समाज हित की भावनाको अग्रसर करना इस रचना का प्रथम उद्देश्य है ।

ब्राह्मणों की मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा की वृद्धि करना इसका आनुषंगिक उद्देश्य है । कवि के समसामयिक युग मे ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा का ह्रास और शूद्रों की बढ़ती

१- सुदामा-चरित-छं०सं० ७७ ।

हो रही थी इसका संकेत हमें महात्मा तुलसीदास के मानस में मिलता है[1]। कवि ने सुदामा को आदर्श ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया है। कृष्ण को भी ब्राह्मणों का भक्त बताकर कवि ने ब्राह्मणों की महत्ता सिद्ध की है[2]। सुदामा को, मस्तक में तिलक लगाए, और हाथ में सुमिरनी लिए, ब्राह्मण समझकर द्वारिकापुरी के निवासी दौड़कर उनके पैर छूते हैं[3]। कृष्ण का द्वारपाल भी सुदामा को ब्राह्मण जानकर आदरपूर्वक दण्ड-प्रणाम करता है[4]। इस प्रकार ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा वृद्धि इस रचना का दूसरा उद्देश्य है।

जीवन की सरलता, और सात्विक पवित्रता की महत्ता भी इस कृति में व्यक्त हुई है।

युग-व्यंजना

सुदामा-चरित तत्कालीन परिस्थितियों की झलक मिलती है। कवि अपने युग और समाज की देन होता है अतः युग की परिस्थितियो से वह प्रभावित अवश्य होता है। यही कारण है कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कवि की रचनाओं मे युग के चित्र प्रतिबिंबित हो उठते हैं। ईश्वर और भाग्य में आस्था तत्कालीन समाज में गहरी थी- सुदामा और सुदामा पत्नी के संवादो से यह भली भांति अनुभित किया जा सकता है।

वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा ब्राह्मण आदि उच्च वर्गों में उस समय पर्याप्त थी। यद्यपि निम्न वर्ग की आस्था उस पर धीरे- धीरे समाप्त होती जा रही थी, जिसका संकेत तुलसीदास की रचनाओं से मिलता है[5]। वर्णाश्रम धर्म कीप्रतिष्ठा और उसके समर्थन के लिए भी कवि ने कदाचित् सुदामा को कृष्ण एवं देवतादि द्वारा वंदित दिखाया है। उस समय ब्राह्मण को अपने परंपरागत कर्त्तव्य-पालन पर गर्व था - भिक्षावृत्ति को वह बुरा नहीं समझता था। सुदामा की यह उक्ति देखिए-

---

१- बादहिं शूद द्विजन संग, हम तुम तें कछु घाटि।
जानहि वेद सो विप्रवर आंख दिखावहिं डांटि।। रामचरित मानस

२- विप्र के भगत हरि विदित जगत बंधु------- छं० सं० २१।

३- सुदामा-चरित छं० सं० ३०-३१।

४- वही, छं० सं० ३२।

५- बादहिं सूद्र द्विजन सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानइ ब्रह्न सो विप्रबर आंखि देखावहि डाटि।।
मानस(गुटका, गीता प्रेस) उत्तरकाण्ड, दो०सं० ९९ ख।

छत्रिन के पन जुद्ध, जुवा, दल काजि चढ़े गज बाजिन ही ।
वैस को वानिज और कृषी, प्रन सूद कौ सेवन साजन ही ।
बिप्रन कौ प्रन है जु यही, सुख सम्पत्ति सो कछु काज नहीं ।
कै पढ़िवौ कै तपोधन है कन मांगत बाह्मनै लाज नहीं[1]।।

भारतीय समाज के मान्य आदर्शों का प्रभाव युग -युगों से किस प्रकार आस्था-अनास्था के मध्य बढ़ता-घटता आज तक चला आ रहा है इसका प्रमाण हमें लगभग ४०० वर्षों पूर्व लिखी हुई इस रचना से भली-भांति मिल जाता है । इस दृष्टि से भइ भी इस रचना का महत्व है ।

भाषा-शैली

सुदामा-चरित की भाषा बोलचाल की बृजभाषा के निकट होते हुए भी साहित्यिक सौन्दर्य से युक्त है । इसकी भाषा स्वच्छ, समर्थ और प्रभावोत्पादक है । माधुर्य और प्रसाद गुण-सम्पन्न है । इसकी भाषा में एक प्रवाह और संगीत-मयता है जिससे यह पाठक को मुग्ध कर लेती है ।

व्याकरण की दृष्टि से भी सुदामा-चरित की भाषा प्रायः निर्दोष है । शब्दों की तोड़-मरोड़ नहीं हुई । पित्रई, अगत्रई, विचित्रई, बित्रई आदि शब्द तुक के आग्रह के परिणाम हैं ।

शब्दों का प्रयोग बृजभाषा की प्रकृति के अनुकूल है । सिच्छा, परिच्छा, भिच्छा, चक्कवे, विरगापन, वसन, कृष्न, निरद्वन्द्व, जदुकुल, असनान आदि । संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग कम नहीं है । कृष्ण के रूप-वर्णन में संस्कृत तत्सम शब्द अधिक हैः-

लोचन कमल दुखमोचन तिलक भाल,
स्रवननि कुण्डल मुकुट धरे माथ हैं
ओढ़े पीत वसन गरे में वैजयन्ती माल,
शंख चक्र गदा और पद्मलिए हाथ है[2]।

सलिल, संपत्ति, तंदुल, विप्र, चतुरानन, त्रिपुरारि आदि अनेक शब्द अन्यत्र मिलते हैं । विदेशी शब्द "लायक, सामा आदि भी इक्के-दुक्के दिखाई पड़ जाते हैं ।"

कहावतों और मुहावरों के प्रयोग यद्यपि कम हैं फिर भी सूक्तियों और व्यंग्योक्तियों ने काव्य की भाषा को प्रभावपूर्ण बना दिया है । एक दो उदाहरण लीजिये

१- सुदामा-चरित छं० सं० १२ । २- वही, छं०सं० ९ ।

व्यंग्योक्ति:- जातहिं दैहै लदाय लढ़ा भरि लैहौं लदाय यह जिय जानी[1]।

+ + +

सूक्ति:- नाम लेत चौगुनीगए ते द्वार सौगुनी सो,

देखन सहस गुनी प्रीति प्रभु मानि हैं[2]।

लाक्षणिक प्रयोगों के उदाहरण मिलते हैं:-

पानी परात कौ हाथ छुऔ नहिं नैनन के जल सौं पग धोये[3]।

अलंकार

सुदामा -चरित में अलंकार प्रदर्शन की ओर कवि की रुचि नहीं है । वैसे सुकवि की रचनाओं में अनायास ही अलंकारों की योजना हो जाती है । सुदामा-चरित में भी ऐसे ही अलंकार अनेक स्थलों पर मिलते हैं जो उक्तियों में नगीने की भांति जड़े हुए हैं और भावों को व्यंजित करने या उत्कर्ष प्रदान करने में सहायक होते है, कहीं भी चमत्कार-पदर्शन के लिए उनकी योजना नहीं मिलती ।

शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक की योजना विशेष रूप से हुई है जिससे भाषा में श्रुति-मधुरता उत्पन्न हो गई है । अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, विभावना विशेषोक्ति आदि मुख्य है ।

द्वारिकापुरी के नागरिकों की गम्भीरता की व्यंजना उपमा अलंकार की सहायता से बड़ी सफलता के साथ हुई है । मौन साध साथ कर बैठने के द्वारा मानो कवि ने चित्र प्रस्तुत कर दिया है -

पूछे बिन कोऊ काहू सों न करै बात,

देवता से बैठे सब साधि साधि मौन हैं[4] ।

नीचे के रूपक अलंकार में कुमुद और चंद यद्यपि परंपरागत उपमान हैं किन्तु दारिद्र्य के संताप को मिटाने के लिए शीतल गुण युक्त चन्द्रमा की कल्पना अधिक उपयुक्त होने के कारण उक्ति सुन्दर बन गयी है -

महादानि जिनके हितु, जदुकुल कैरव चन्द ।

ते दारिद सन्ताप तैं, रहैं न किमि निरद्वन्द्व[5]।।

उत्प्रेक्षा के सहारे कवि को सुदामा की पत्नी के सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने में सफलता मिली है-

---

१-५: सुदामा-चरितः छं० सं० १४, २१, ४३, ३१, ७ ।

सुनत चली आनन्दयुत, सब सखियन लै संग ।

नूपुर किंकनि दुंदुभि, मनहुं काम चतुरंग[1]।।

और अतिशयोक्ति का चमत्कार भी देखिए:-

काँपि उठी कमला मन सोचत "मोसों कहा हरि को मन औंको",

रिद्धि कंपीं सब सिद्धि कंपीं नव-निद्धि कंपीं बम्हना यह कौंको ?

सोच भयो भर नायक को जब दूसरी बार लियो भरि भौंको ।

मेरु डरयो बकसे जनि मोहि कुबेर चबावत चाउर चौंको[2]।।

प्रतीप अलंकार यहां एक ओर चांदी की थाली और.खीर की श्वेतता का आभास देता है तो दूसरी ओर चन्द्र के सुधामय होने के गुण का भी आरोप पायस पर करता हुआ प्रतीत होता है जिससे उपमेय और उपमान में रूप-रंग का ही साम्य नहीं गुण का भी साम्य सिद्ध होता है-

रूपे के रुचिर थार पायस सहित सिता,

सोभा जिन जीति है सरद हु के चन्द की[3]।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि सुदामा-चरित में अलंकार ऊपर से लदे हुए नहीं हैं । वे भाव और अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करने वाले तथा काव्योत्कर्ष के साधक हैं । कहीं भी वे चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं लाये गए हैं और उनके द्वारा भाव को कोई क्षति ही पहुंचती है । उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त व्यतिरेक, विशेषोक्ति, स्वभावोक्ति, काव्यार्थ पत्ति, परिकर उदात्त आदि अलंकारों के सुन्दर उदाहरण सुदामाचरित में मिलते हैं । विरोध मूलक अलंकारों का प्रयोग कम हुआ है । फिर भी एक आध उदाहरण ढूंढने पर मिल जाते हैं ।

छंद-योजना

सुदामा-चरित में कवित्त, सवैया, दोहा और कुंडलिया चार प्रकार के वृत्तों का प्रयोग मिलता है । कुंडलिया छन्द केवल एक है । दोहों का प्रयोग मुख्यतः इतिवृत्त वर्णन के लिए हुआ है । कवित्त और सवैयों में भावों एवं चित्रों की अभिव्यक्ति हुई है।

कवित्त और सवैये प्रधानतः मुक्तक शैली के छंद हैं किन्तु सुदामा-चरित में प्रबन्ध काव्य के लिए इनका सफल प्रयोग हुआ है । कृष्ण भक्त कवियों ने अपने आराध्य की लीलाओं का गान और उनके प्रति भक्ति पूर्ण आत्म निवेदन पदों के माध्यम से किया-

---

१- ३: सुदामा-चरित: छं० सं० ८५, ५१, ५९ ।

किन्तु सुदामा-चरित के रचयिता ने विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखी हुई अपनी रचना को भक्त-रचनाओं से पृथक् करने के लिए कवित्त, सवैया, आदि साहित्यिक वृत्तों का व्यवहार करना उचित समझा और इसमें उसे पूर्ण सफलता मिली । कवि की कोमल पदावली के योग से कवि द्वारा प्रयुक्त कवित्त, सवैयों में एक नूतन संगीत का प्रवाह उत्पन्न हो गया । कवित्त सवैयों में उसने उनकी मुक्तक प्रकृति के अनुकूल भावों को ढाल दिया और इतिवृत्तात्मक अंशों को दोहों में प्रस्तुत किया ।

- - -

अध्याय ३

बेलि क्रिसन रुक्मिणी री (रचना काल १६३७ ई०)

विवाह-परक खण्ड काव्यों में "बेलि क्रिसन रुक्मिणी री" सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसके रचयिता कवि पृथ्वीराज राठौर, अकबर के दरबारी थे। उन्होंने ही महाराजा प्रताप को पत्र लिखकर उन्हें अकबर के सामने आत्मसमर्पण करने के विरुद्ध समयोचित चेतावनी दी थी। उनकी यह रचना राजस्थान की प्राचीन साहित्यिक भाषा "डिंगल" में लिखी गयी है, जो इस बात का पुष्ट प्रमाण उपस्थित करती है कि डिंगल भाषा न केवल वीरादि कठोर रसों को व्यंजित करने में सक्षम है वरन् श्रृंगारादि कोमल रसों को भी सफलता के साथ व्यक्त कर सकती है। यह रचना राजस्थान में इतनी लोकप्रिय है कि वहां यह पंचमवेद के रूप में स्वीकृत हो चुकी है। इसी से इसका महत्व आंका जा सकता है।

रचना शिल्प - बेलि क्रिसन रुक्मिणी एक साहित्यिक परम्परा की कृति है। इसमें खण्ड काव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह कवि ने सचेष्ट होकर किया है। प्रारंभ में मंगलाचरण मिलता है। कथानक पौराणिक है और नायक चतुर धीरोदात्त-श्रीकृष्ण हैं। श्रृंगार प्रमुखरस है वीर वीभत्स आदि अंगी हैं। शैल, ऋतु, सूर्योदय, उद्यान, जल क्रीड़ा, मधुपान, विप्रलम्भ, विवाह, रत्नोत्सव, मंत्रद्युतप्रयाण आदि शास्त्रोक्त विषयों का वर्णन प्रसंगानुसार हुआ है। आद्यन्त एक ही छंद का व्यवहार हुआ है। अलंकारों का समावेश यथा स्थान मिलता है। रुक्मिणी को चतुर्वर्ग में से एक फल "काम" की प्राप्ति होती है। इसमें सर्ग विभाजन नहीं हुआ है। प्रासंगिक कथाओं का भी इसमें अभाव है। कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह की घटना का ही वर्णन इसमें हुआ है। वर्णनों में महाकाव्योचित विस्तार या व्यापकत्व नहीं है। अतः यह कृति "खण्डकाव्य" की दृष्टि से अत्यन्त सफल है।

बेलि० के कथानक को तीन भागों में रखकर देखा जा सकता है:-

१- विवाह के पूर्व रुक्मिणी के बाल्यकाल से वयः सन्धि वर्णन तक

२- माता-पिता की चिन्ता से लेकर कृष्ण रुक्मिणी के द्वारिका पहुंचने व विवाह विधि संपन्न होने तक

३- विवाहोत्तर प्रसंग

उपर्युक्त तीन भागों में से द्वितीय भाग मुख्य कथा से संबंधित है अतः उसका सम्यक् विकास अपेक्षित है। प्रारंभिक भाग रुक्मिणी के रूप में और यौवन के क्रमिक विकास का वर्णन करने की कवि की श्रृंगारिक रुचि का परिणाम है । प्रस्तुत कृति में रुक्मिणी का परिणय ही मुख्य कार्य है अतः रुक्मिणी के रूप-यौवन का विकास अप्रासंगिक न होकर कथा के मुख्य कार्य को उत्कर्ष प्रदान करने वाला है । इस प्रकार प्रारम्भिक कथा-भाग प्रबंध की दृष्टि से अनावश्यक न होकर कथा के विकास में सहायक माना जायगा । किन्तु विवाहोत्तर कथा-भाग खण्डकाव्य की सीमित परिधि को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक नहीं है । ऋतु वर्णन आदि के प्रसंग कथा के अनिवार्य अंग नहीं प्रतीत होते-अलग से जुड़े हुए ज्ञात होते हैं । मुख्य कथा १५८ छंदों में समाप्त हो जाती है किन्तु इसी प्रकार के उखड़े हुए वर्णनों से ग्रन्थ को ३०५ छंदों तक खींचा गया है अतः ग्रन्थ के विविध अंगों का सन्तुलन नष्ट हो गया है । एक ही सर्ग वाले खण्डकाव्य में युद्ध, ऋतु जैसे विविध विषयों का विस्तृत वर्णन कृति के सन्तुलन को क्षति पहुंचाता है । ठाकुर रामसिंह व सूर्यकरण पारीक ने षट् ऋतु वर्णन को विवाह और कुमारोदय के बीच समुचित अन्तराय प्रदर्शित करने के उद्देश्य की पूर्ति करने के कारण अक्षम्य माना है[१] । किन्तु कुमार (प्रद्युम्न) के जन्म से ही कथानक का अंत नहीं होता । अनिरुद्ध के भी जन्म और विवाह की सूचनाएं मिलती हैं । वस्तुतः प्रद्युम्न जन्म भी सूचना के रूप में ही प्रस्तुत है । अतः विवाद और मारोदय के व्यवधान को मिटाने की चेष्टा अनावश्यक है, मुख्य कथानक की समाप्ति ह तो अभिसार-वर्णन के बाद ही प्रभात वर्णन (छ० १८६) तक मानी जानी चाहिए ।

प्रबंधकार कवि अपनी कथा की सामग्री इतिहास, पुराण काव्य आदि कहीं से ले सकता है किन्तु उस सामग्री में काव्यानुकूल परिवर्तन और काट-छांट कर उसे अपनी रुचि के अनुकूल बना लेता है । बेलि में कृष्ण और बलराम का पीछा करती हुई सेना के साथ युद्ध विस्तार से वर्णित हुआ है । यही नहीं युद्धान्त के वीभत्स दृश्यों की भी योजना हुई है । श्रृंगार रस के "नैरन्तर्य" में इससे बाधा उपस्थित होती है । किन्तु पृथ्वीराज के राजपूती संस्कारों ने उन्हें इस अवसर पर संयम से काम न

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी री -संपा० ठाकुर व पारीक, भूमिका पृ० १४

लेने दिया । ठाकुर रामसिंह व सूर्यकरण पारीक ने इन वर्णनों के औचित्य का शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण कर वीर-रस के चित्रणों का तो समर्थन कर दिया है, किन्तु वीभत्स वर्णन को सदोष सिद्ध किया है[1]।

वस्तु-विवेचन- बेलि क्रिसन रुक्मिणी में रुक्मिणी के वयो विकास, पूर्व-राग, रुक्मिणी हरण, कृष्ण रुक्मिणी विवाह, विवाहोत्तर रतिक्रीड़ा तथा प्रद्युम्न जन्म आदि के प्रसंगों का समावेश हुआ है । रुक्मिणी के हृदय में कृष्ण के प्रति पूर्वराग का उदय शास्त्रों में उनके गुणानुवाद का वर्णन पढ़कर होता है । उनके माता-पिता कृष्ण को ही उनके उपयुक्त वर समझते थे किन्तु भाई रुक्मी ने हठपूर्वक शिशुपाल को विवाह लग्न भेजकर इसमें बाधा उपस्थित कर देता है । रुक्मिणी अत्यंत चिंतित होकर मन ही मन कृष्ण की आराधना करती हैं और शिशुपाल के बारात सहित आ पहुंचने पर जब केवल तीन दिन विवाह के शेष रह जाते हैं, तो ब्राह्मण के द्वारा कृष्ण के पास संदेश भेजती हैं । कृष्ण उचित अवसर पर आकर अंबिका मंदिर से पूजन के हेतु गयी हुई रुक्मिणी का हरण करते हैं । पीछा करती हुई सेना के साथ बलराम का घोर युद्ध होता है । कृष्ण रुक्मी को विरूप कर देते हैं किन्तु रुक्मिणी की व्यथा को देखकर पुनः उसके सिर पर हाथ फेर कर बाल जमा देते हैं । द्वारिका पहुंचने पर कृष्ण रुक्मिणी का विवाह विधिवत् सम्पन्न होता है । इसके उपरान्त कृष्ण - रुक्मिणी की रतिक्रीड़ा और षट्ऋतुओं में उनके आनंदोपभोग का विशद वर्णन हुआ है । प्रद्युम्न जन्म तथा वंश वृद्धि की सूचनाएं भी दी गई हैं ।

बेलि क्रिसन रुक्मिणी की कथा का मूलाधार भागवत पुराण है[2] । प्रस्तुत काव्य में कथा के पौराणिक स्वरूप की रक्षा करते हुए भी कवि ने उसमें काव्योपयुक्त परिवर्तन किया है । आगे की पंक्तियों में कवि की मौलिकता का मूल्यांकन करने की चेष्टा की गई है ।

बेलिकार ने बेलि का रूपक देते हुए स्वयं भागवत का ऋण स्वीकार किया है[3]

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी री -संपा० ठाकुर व पारीक, भूमिका पृ० ८८

२- भागवत पुराण- दशमस्कंध अध्याय(५२-५५)

३- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छ० सं० १७१

किन्तु फिर भी यह ग्रंथ भागवत के तत्संबंधी कथांश का अनुवाद मात्र नहीं है । कवि ने इस कथानक को अपनी कल्पना के रंग में रँगकर प्रस्तुत किया है और कथा में भी अनेक स्थलों पर परिवर्तन किया है । इसके भाषा, भाव और शैली में पूर्ण मौलिकता है । उदाहरण के लिए भागवत के दो श्लोक तथा बेलि के उनके समानान्तर दो छन्दों को प्रस्तुत किया जाता है:-

यां वीक्ष्य ते नृप तयस्तदुदार हास-
व्रीडाऽवलोकहृत चेतस् उज्झितास्त्राः ।५३।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा
यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम। ।५४।
(दशम स्कंध, अध्याय ५३)

आकर्षण बसीकरण उनमादक
परठि द्रविण सोखण सर पंच ।
चितवणि हसणि लसणि गति संकुचणि
सुन्दरि द्वारि देहुरा सन्च
(बेलि० १०९)

मन पंगु थियौ सहु सेन मूरछित
तह नह रही सम्पेखतै ।
नीपायौ किरि तदि निकुटी मैं
मठ पूतली पाषाण मै
(बेलि० ११०)

भागवत में रुक्मिणी की खुली मुस्कान और लजीली चितवन के प्रभाव से राजा मोहित और मूर्च्छित हो जाते हैं और अस्त्र-शस्त्र हीन होकर अपने हाथी, घोड़ों और रथों से नीचे गिर पड़ते हैं किन्तु बेलि में राजाओं के मूर्च्छित होने के लिए पर्याप्त कारण-काम के पाँचों बाणों का आघात- दिया गया है और सबसे महत्वपूर्ण बात है रुक्मिणी की चितवन, हास्य, लास्य, गति और संकोच में काम के पाँचों बाणों का स्वरूप अलग अलग देखना । वस्तुतः कवि की मौलिकता और काव्य-प्रतिभा का यह उत्कृष्ट उदाहरण है ।

भागवत में रुक्मिणी कृष्ण को मौखिक सन्देश ही भेजती हैं किन्तु बेलि में रुक्मिणी कृष्ण को पत्र भी भेजती है। इस परिवर्तन के द्वारा न केवल एक नवीन साधन का उपयोग किया गया है वरन् रुक्मिणी और कृष्ण की जन्म-जन्मान्तर की प्रीति व उनकी व्याकुलता को अधिक स्वाभाविक रूप में व्यक्त किया गया है[1]। रुक्मिणी के पत्र में व्यक्त किये गये भावों से सहृदय पाठक जितना प्रभावित होता है, दूत के सन्देश-कथन से उतनी प्रभावात्मकता की आशा नहीं की जा सकती। प्रेम-निवेदन में मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती इसका अनुभव कवि को था, अतः पत्र लिखवाकर प्रिय और प्रेमी को सीधे संपर्क में आने का अवसर देकर कवि ने काव्योत्कर्ष की वृद्धि की है। संस्कृत के काव्यों में नायिका द्वारा नायक को प्रेम-पत्र भेजने की परंपरा रही है[2]।

रुक्मिणी के द्विजदूत का संध्यावेला में प्रस्थान और रात्रि में कुंडनपुर के निकट सोकर द्वारिकापुरी में प्रातः जगना कवि कल्पनाजन्य है। इसके द्वारा कवि भगवान् की अलक्ष्य शक्ति और अलौकिक सामर्थ्य का परिचय देकर अपनी भक्ति-भावना को ही व्यं-जित करता है[3]। भागवत में रुक्मिणी के मन में पूर्वराग का उदय कृष्ण के रूप-गुण की प्रशंसा अतिथियों से सुनकर होता है किन्तु बेलि में रुक्मिणी स्वयं शास्त्रों में वर्णित कृष्ण के गुणों पर अनुरक्त होती है[4]। अतिथियों की प्रासंगिक कथा खण्डकाव्य के सीमित प्रबन्ध की दृष्टि से अनावश्यक थी।

भागवत के समान बेलि में भगवान कृष्ण ब्राह्मण के प्रति धर्म का निरूपण नहीं करते। ऐसा करके बेलिकार ने एक अप्रासंगिक और नीरस स्थल को कथानक से बहिष्कृत कर दिया है। आतिथ्य-सत्कार के पश्चात् तुरन्त ही कृष्ण ब्राह्मण से उसके आगमन का उद्देश्य पूछने लगते हैं[5]। वयः संधि,[6] नख-शिख,[7] ऋतु वर्णन[8] आदि में कवि की मौलिकता

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी री छं० ५८-६६

२- शाकुन्तल-कालिदास (शकुन्तला का दुष्यंत को पत्र भेजना)

३- वही छन्द ४७

४- वही छन्द १९

५- वही छन्द ५५

६- वही छन्द १५-२७

७- वही छन्द ८१-९९

८- वही छन्द १८७-२६८

देखी जा सकती है ।

कृष्ण का रुक्मिणी के भ्रातृ-भाव को समझकर रुक्मिणी के मुड़े हुए सिर पर हाथ रखकर बाल जमा देना भी कवि की अपनी सूझ है[1] । किन्तु इससे एक अविश्वसनीय प्रसंग की वृद्धि ही हुई है । ठाकुर और पारीक का यह स्पष्टीकरण कि कवि ने युद्ध के परिणाम की इस दुःखान्त घटना को सुखान्त बनाकर काव्य-सौष्ठव बढ़ाने की चेष्टा की है,[2] उपयुक्त नहीं प्रतीत होता । युद्ध से काव्य का अन्त नहीं होता । काव्य की समाप्ति तो प्रद्युम्न-जन्म की सुखान्त घटना से होती है । हां, कृष्ण-रुक्मिणी के चरित्र के मानवीय तत्व को इससे अवश्य उत्कर्ष मिला है ।

चरित्र-चित्रण-

यह नायिका प्रधना रचना है । रुक्मिणी प्रधान पात्री है ।

रुक्मिणी - रुक्मिणी के चरित्र को अधिक व्यापक परिवेश में रखकर देखने की चेष्टा "बेलि" में हुई है । उसकी बाल्यावस्था से उसके मां बनने तक के जीवन को इसमें चित्रित किया गया है । इसके बीच उसके कन्या-रूप, पत्नी-रूप और माता-रूप तीनों पक्ष आ जाते हैं । किन्तु प्रथम दो पक्षों को ही इसमें विस्तार दिया गया है - मातृत्व पक्ष की सूचना मात्र ही दी गई है । कन्या-पक्ष के अन्तर्गत रुक्मिणी के शैशव, वयः संधि और यौवन तीनों कालों का चित्रण है । कथा की मुख्य घटना कृष्ण-रुक्मिणी विवाह का सम्बन्ध उनकी यौवनावस्था से ही विशेष है ।

रुक्मिणी अपने माता-पिता की सबसे छोटी छठी सन्तान और एकमात्र पुत्री है[3] । किन्तु अन्य बालकों की अपेक्षा उसके अंगों की वृद्धि द्रुतगति से होती है[4]। वह सखियों के साथ बाल-क्रीड़ा करती हुई सबको सुख देती है[5] । उस समय उसका यौवन सुप्त रहता है । वयः संधि अवस्था में रुक्मिणी को अपने यौवनागम का प्रथम ज्ञान होता है[6] । यौवनागम के साथ ही उसमें अंगों को छिपाने की चेष्टा और लज्जा का

१- शाकुन्तल-कालिदास(शकुन्तला का दुष्यंत को पत्र भेजना) छं० १३७

२- बेलि क्रिसन रुक्मिणी(हि०ए०) संपा०रामसिंह ठाकुर, सूर्यकरण पारीक, भूमिका पृष्ठ संख्या ५८

३- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छं० ११

४- " छं० १३

५- " छं० १४

उदय होता है[१]। यह लज्जा और संकोच का भाव उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होता है।

रुक्मिणी चार-वेद, षट-दर्शन, व्याकरण, पुराण, स्मृति, शास्त्रविधि, चौंसठ कला और चौदह विद्या का ज्ञान प्राप्त करती है[२]। शास्त्रों में भगवान् का गुणानुवाद पढ़कर उनके मन में पूर्वराग उत्पन्न होता है और उनको वर रूप में पाने की अभिलाषा को पूरा करने के लिए वे शिव-पार्वती का पूजन करती है[३]।

परिवार में माता-पिताबंधु आदि उसके विवाह के संबंध में मंत्रणा करते हैं किन्तु वह संकोचवश अपने मनकी बात नहीं कह पाती। अपने भावों को वह तब तक दबाए रखती है जब तक कि शिशुपाल बारात लेकर आ नहीं पहुंचता[४]। अंतिम घड़ी में कोई चारा न देख वह कृष्ण को पत्र भेजती है और ब्राह्मण को अविलम्ब द्वारिका प्रस्थान करने का आदेश देती है। अपने पत्र में भी रुक्मिणी अपनी प्रेमातुरता या विरह-दशा का वर्णन नही करती। वह अपने को सिंह की बलि, गाय या तुलसी-पत्र आदि से उपमित कर अपनी असहायावस्था का ही परिचय देती है[५]। वह अपने पूर्व जन्म की घटनाओं का स्मरण दिलाकर कृष्ण से अपनाने के लिए विनय करती है।

नारी हृदय की सरलता और शकुनापशकुन में विश्वास कृष्ण के लिए रुक्मिणी में दिखाई देता है[६]। कृष्ण की प्राप्ति में बाधा उपस्थित होने पर वह विद्रोह करती है और कृष्ण के आने में विलम्ब होने पर अत्यन्त अस्थिर व अधीर हो जाती है[७]। देवालय में जाने के पूर्व कृष्ण मिलन की उत्कट अभिलाषा से शृंगार करती है, और अंबिका से भक्ति पूर्वक मनोकामना पूरी करने की अभिलाषा प्रगट करती है[८]। इतनी दृढ़ अनुरक्ति होने पर भी रुक्मिणी संयम कहीं नहीं खोती, यही उनकी विशेषता है।

अपने विरोधी भाई को भी क्षमा दिलाना उसके भाई के प्रति ममत्व का व्यन्जक है।

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छं० १८

२- " छं० २८

३- " छं० २९

४- " छं० ३८

५- " छं० ५९

६- " छं० ७०

७- " छं० ७१

८- " छं० १०९

रुक्मिणी बेलि की प्रधान पात्री हैं । उनमें काव्य की नायिका के लिये आवश्यक समस्त गुण विद्यमान हैं । वे लक्ष्मी का अवतार बतायी गयी हैं । उनका रूप-गुण अनुपमेय है । वे मुग्धा, स्वकीया और वासकसज्जा नायिका हैं । उनका कृष्ण-प्रेम कृष्ण के गुणानुवाद का मनन करके उत्पन्न होता है । उनके प्रेम में अनन्यता है । उनकी सखियां उनको कृष्ण से मिलाने में सहायक होती हैं ।

रुक्मिणी के गुणों के उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि उनका चरित्र रूढ़ और परम्परानुमोदित है । कवि ने उसमें विकास करने की चेष्टा नहीं की है । कृष्ण - कृष्ण के लौकिक व अलौकिक दोनों रूपों की झलक बेलि में दिखाई पड़ती है लौकिक दृष्टि से वे अत्यन्त प्रभुता सम्पन्न द्वारिकाधीश हैं जिनके वैभव का कोई पार नहीं है । वे अपने विरोधी राजाओं को परास्त कर अपने प्रेम में अनुरक्त रुक्मिणी का स्वयंबर से हरण कर अपने शौर्य का परिचय देते हैं । रुक्मी के अपराध के लिए उसे मौत के घाट नहीं उतारते वरन् रुक्मिणी के भ्रातृ-स्नेह को समझकर उसे विरूप कर देते हैं[1]।

उनका दूसरा पक्ष अलौकिक शक्ति सम्पन्न परमेश्वर का है । उनकी अलक्ष्य शक्ति या कृपा से ही रुक्मिणी का दूत कुंडनपुर में सोता है और द्वारिकापुरी में जागता है[2]। रुक्मिणी के कटे हुए बाल कृष्ण के हाथ रखने पर पुनः जम जाते हैं[3]। यही नहीं रुक्मिणी अपने सन्देश में उनके पूर्व अवतारों की चर्चा करती हैं तथा उन्हें सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी बताती हैं[4] । कृष्ण के रूप-बल को देखकर कुंडनपुर के निवासी अपने-अपने भावों के अनुकूल भिन्न-भिन्न रूपों में उनका दर्शन करते हैं[5]। कृष्ण के लिए भगवत्सत्ता-सूचक विविध विशेषणों का प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है ।

कृष्ण के हृदय में भी रुक्मिणी के लिए प्रेम विद्यमान है जो अवसर पाकर रुक्मिणी के प्रेमपत्र से उनकी दुःख कातर अवस्था का अनुभव कर उद्दीप्त हो जाता है । उस अवसर पर उनके शरीर में प्रेम जन्य रोमांच, अश्रु, स्वरभंग, आदि सात्विक अनुभावों का उदय होता है । रुक्मिणी की करुणापूर्ण अवस्था उन्हें असह्य हो जाती है अतः

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छं० १३७

२- " छं० ४७

३- " छं० १३७

४- " छं० ५९-६६

५- " छं० सं० ७६-७७

वे तुरन्त रथ में बैठकर कुंदनपुर चल पड़ते हैं ।

कृष्ण के शौर्य्य-पराक्रम का अनुमान सभी को है । नगर के नर-नारी उनके आने पर उनके रुक्मिणी का पति बनने का अनुमान कर लेते हैं । जरासंधादि उनके आगमन से भयभीत हो जाते हैं । वे युद्ध की आशंका या संभावना होने पर भी अकेले कुंडनपुर से चल देते हैं, यह उनके शौर्य का सूचक है । सच्चे वीर अपने शत्रु को कभी अधिक शक्तिशाली नहीं समझते और न दूसरों की शक्ति से आतंकित होते हैं । युद्ध-भूमि में उनकी सेना जरासंध की सेना को पराजित कर देती है । रुक्मी के पुनः ललकारने पर वे हंसते हुए उसके शास्त्रास्त्रों को खंडित कर देते हैं और तलवार से उसका बध करने को प्रस्तुत होते हैं ।

रुक्मि को क्षमा करने में उनकी उदात्तता का परिचय मिलता है । रुक्मिणी के आंसुओं को देख उन्हें दया आ जाती है- यह उनके महत्व का सूचक है । बलराम उनके सहायक व सखा हैं ।

उनके सहज मानवीय रूप का दर्शन अभिसार के पूर्व उनकी उत्सुकता और अधीरता में देखा जा सकता है । शय्या और द्वार के मध्य आकुल होकर बारम्बार चक्कर काटना उनके शुद्ध लौकिक रूप का परिचायक है ।

अन्य चरित्रों का कथा भाग में विशेष महत्व नहीं है ।

रस और भाव-व्यंजना

प्रस्तुत ग्रंथ शृंगार प्रधान है । शृंगार में भी संयोग पक्ष का चित्रण ही कवि को अभीष्ट है । वियोग वर्णन का अवसर विवाह के पश्चात् नहीं आता । उनके पूर्वराग जनित वियोग का परिचय रुक्मिणी की प्रतीक्षा में दिखाई पड़ता है । इस वियोग दशा के अंतर्गत रुक्मिणी में अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण कीर्तन और उद्वेग के चित्र मिलते हैं विरह की शेष पांच दशाओं को न दिखाकर कवि ने रुक्मिणी के शील व मर्यादा की रक्षा की है-

अभिलाषा- सांभलि अनुराग थयो मनि स्यामा, वर प्रापति वन्छती वर
हरि गुण मणि, ऊपनी जिका हर हर तिणि वन्दे गवरि हर[1]।

+ + + +

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छं० २९

देवाले पैसि अम्बिका दरसे घणै भाव हित प्रीति घणी ।
हाथे पूजि कियौ हाथा लगि, मन वंछित फल रुषमणी [1] ।

चिन्ता- रहिया हरि सही जाणियौ रुषमणि, कीध न इवड़ी ढील कई ।
चिन्तातुर चित इम चितवन्ती, थई छींक तिमणीर थई [2] ।

स्मृति और गुण कथन से रुक्मिणी का पत्र भरा हुआ है [3] । समय कम और द्वारिका की दूरी का विचार कर वे उद्विग्न हो उठती हैं-

उद्वेग- तथापित रहेन हूं सकूं, बकूं तिणि, त्रिया, अनै प्रेम आतुरी ।
राज दूरि द्वारिका विराजौ, दिन नेड़उ आइचौ दुरी [4] ।

संयोग शृंगार के अंतर्गत रति-क्रीड़ा, रत्यन्त एवं विभिन्न ऋतुओं में कृष्ण-रुक्मिणी के आनंद-विहार के सरसक चित्रों से बेलि भरपूर है । संयोग शृंगार का वर्णन अन्य मंगल काव्यों की अपेक्षा अधिक स्थूल और मांसल है, फिर भी रीतिकालीन कवियों की अश्लीलता उसमें नहीं है । मिलन के पूर्व नायक-नायिका के मनोभावों का चित्रण अत्यन्त उत्कृष्ट है । रुक्मिणी की सखियां अत्यन्त कुशल हैं । वे पहले से ही केलिगृह को सजा रखती हैं और विवाह के बाद वर-वधुओं को अलग-अलग महलों में कर देती हैं । इससे नायक-नायिकाओं की मिलनोत्कंठा और संकोच आदि के चित्रण का अवसर कवि को मिल जाता है -निम्नछंद में रुक्मिणी के मिलन-पूर्व के संकोच को कितने अनुपम रूप में प्रस्तुत किया गया है-

संकुड़ित समसमा सन्ध्या समयै, रति वंछित रुषमणि रमणि ।
पथिक बधू द्रिठि पंख पंखिया, कमल पत्र सूरिजि किरण [5]

कृष्ण की अधीरता देखिए-

पति अति आतुर त्रियामुख पेखण, निसा तणौ मुख दीठ निठ ।
चन्द्र किरणि कुलटा सु निसाचर, द्रवडित अभिसारिका दिठ [6] ।

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छन्द १०८
२- वही छन्द ७०
३- वही छन्द ५९-६४
४- वही छन्द ६५
५- वही छन्द १६२
६- वही छन्द १६३

सखियों के साथ-साथ जाते हुए रुक्मिणी पग-पग पर बढ़ी ही जाती हैं। उनकी लज्जा का चित्र अत्यन्त सुन्दर है ।

अवलंबि सखी कर पगि पगि ऊभी, रहती मद वहती रमणि
लाज लोह लंगरे लगए, गय जिमि आणी गय गमणि[1] ।

रुक्मिणी की सखियां अत्यन्त कौशल से उन्हें कृष्ण के केलिगृह में पहुंचाती हैं । कृष्ण-रुक्मिणी के मिलन के पश्चात् एक-एक करके धीरे -धीरे सब वहां से खिसक जाती हैं[2]। सुरतान्त में नायक-नायिका के रतिलाभ पर कह-कहे भी लगाती हैं[3] ।

कृष्ण, रुक्मिणी की प्रतीक्षा और मिलनोत्सुकता में शय्या और द्वार के बीच व्याकुल घूमते हैं । रुक्मिणी के केलिगृह में आते ही वे असीम आनन्द में डूबकर रोमांचित हो जाते हैं । बार-बार देखने पर भी उनकी रूप-तृषा शान्त नहीं होती- दरिद्र जैसे धन को देखता हो । रुक्मिणी के कटाक्ष ही दूती का कार्य करने लगते हैं, और वे दोनों के मनों को जोड़ते हैं[4] । सुरति की "एकान्तोपयुक्त क्रीड़ा" का वर्णन कवि नहीं करता, वह गोप्य है । उसके सुख का संकेत मात्र किया गया है । इस प्रकार कवि ने शृंगार के नग्न चित्रों से काव्य को दूषित नहीं होने दिया । सुरतान्त की अवस्था के चित्र कवि ने अवश्य खींचें हैं[5] । वे बहुत कुछ परम्परानुकूल हैं ।

वर्णन

नायिका- इस कृति में नायिका रुक्मिणी का रूप वर्णन दो स्थलों पर विस्तार से मिलता है । एक में उनके यौवनोदय और वयःसन्धि का वर्णन है[6] । पुनः कृष्ण-मिलन के उद्देश्य से अंबिकालय जाने के पूर्व रुक्मिणी के शृंगार (शिख-नख) का अलंकार-पूर्ण वर्णन है[7] । अपने अंगों के विकास से रुक्मिणी को यौवनागम का आभास मिलने लगता है । इस वयः संधि की अवस्था की तुलना स्वप्नावस्था[8] से करके कवि ने उसके स्वरूप और उसकी यथार्थ अनुभूति को व्यंजित करने में सफलता पाई है ।

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छन्द १६७
२- वही छन्द १७२
३- वही छन्द १७९
४- वही छन्द १७०, १७३
५- वही छन्द १७४-१७८
६- वही छन्द १५-२७
७- वही छन्द ८१-१०१
८- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छन्द १५

रुक्मिणी के अंगों में यौवन-विकास के चिन्हों को पवित्र उपमानों की सहायता से व्यक्त करने के कारण वे अधिक परिष्कृत और पूत हो गए हैं । रुक्मिणी के कपोलों पर यौवन सूचक लालिमा को कवि उषाकाल की लाली बताता है जिसको देखकर नवोदित उरोज रूपी ऋषि संध्याबंदन के लिए जाग उठे हैं:-

पहिलौ मुख राग प्रगट थयौ प्राची, अरुण कि अरुणोद अम्बर ।
पेखे किरि जागिया पयोहर, सन्ध्या वन्दण रिखेसर[1] ।

रुक्मिणी अपने विकसित अंगों को माता-पिता के सामने छिपाने की चेष्टा करती हैं, किन्तु छिपाते हुए भी उन्हें लज्जा आती है[2] । उनके चित्त में भी चंचलता बढ़ गई है[3]।

यौवनावस्था को परंपरागत उपमान बसन्त से उपमित कर रुक्मिणी के अंग-प्रत्यंग में बसन्त के लक्षणों को प्रगट किया गया है । इसके लिए बन, कमल-दल, कोकिल, पंख, भ्रमर, मलयाचल, चंदन, मंजरी, अंकुर समीर, चंद्र, ज्योत्स्ना, तारों की पंक्ति, कुमोदिनी, दीपशिखा, अंधकार, रात्रि, ज्वार, पंचबाण, वरुणपाश, हाथी का कुंभस्थल, गजमद, सुमेरुगिरि, शिखर, प्रयाग, तट, करभ, कदली खम्भ, कदली का गूदा, पंखुड़ियों पर स्थित जलकण, रत्न-आभा, तारों का प्रकाश, सूर्य, बालचन्द्र हीरा आदि भिन्न वर्गों के उपमान लाए गए हैं । प्रकृति से गृहीत उपमानों का आधिक्य है । सभी उपमान परम्परागत हैं ।

रुक्मिणी का श्रृंगार-वर्णन शिख-नख पद्धति पर हुआ है । श्रृंगार के पूर्व सद्यःस्नाता के वर्णन का भी अवसर कवि ने निकाल लिया है । इसमें उत्प्रेक्षाओं का सहारा लिया गया है ।

स्नान के बाद श्रृंगार सखियों की सहायता से होता है । इसके अंतर्गत रुक्मिणी के कण्ठ, बाल, नेत्र, मस्तक, भौंह, कुच, भुजा, कलाई, उरस्थल, कटि, चरण नासिका, मुख, दन्त आदि के स्वाभाविक सौन्दर्य एवं उनकी श्रृंगार-विधि को अलंकृत शैली में प्रस्तुत किया गया है । अंगों का वर्णन इसमें सिलसिलेवार नहीं है । इसका कारण कदाचित् यह है कि कवि यहां श्रृंगार वर्णन प्रधान रूप से कर रहा है अतः श्रृंगार के क्रम को ध्यान में रखकर ही वर्णन किया गया है । श्रृंगार के पूर्व स्नान

१- वेलि० छन्द १६
२- वही छन्द १८
३- वही छन्द १७

स्वाभाविक है, स्नान के बाद रुक्मिणी के गले में केवल पवित्री दिखाई देती है। सखियां चोटी फूलों से गूंथती हैं, मांग संवारती हैं। तब कानों में कुंडल पहनने और आंखों में काजल लगने का वर्णन है। इसके उपरान्त माथे में तिलक लगाकर वे कंचुकी धारण करती हैं। पुनः बाजूबंद, गजरे, पहुंची, हार आदि आभूषण धारण करके वे पहने हुए वस्त्र त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करती हैं। करधनी, नूपुर, घुंघरू आदि वस्त्र बदलने के बाद पहनती हैं और नथ सबसे अंत में। इस प्रकार मुख में पान खाकर हाथ में एक बीड़ा पान लेकर रुक्मिणी अंबिकालय जाने को प्रस्तुत होती है[1]।

इस वर्णन में कुछ उपमान कवि के पौराणिक और ज्योतिष-ज्ञान पर आधारित हैं। नवरतनी पहुंचियों के लिए कवि कल्पना करता है मानो हस्त नक्षत्र को चन्द्रमा ने बेध लिया है[2]। इसी प्रकार रुक्मिणी की कटि पर स्थित करधनी में कवि को सिंह राशि पर समस्त ग्रहों के स्थित हो जाने का आभास मिलता है। नाक की बेसरि का मोती ऐसा लगता है जैसे शुक के मुख में भागवत हो। इन उपमानों से कवि के ज्ञान की व्यापकता का परिचय मात्र मिलता है। यही उपमान-उपमेय के साम्य का आधार ढूंढने में बुद्धि का सहारा विशेष रूप से लेना पड़ता है अतः कोई रसात्मक प्रभाव इन उपमानों का नहीं पड़ता।

रुक्मिणी के शृंगार की विशिष्टता यह है कि उसके वस्त्राभूषण अथवा सौन्दर्य प्रसाधन उसके अंगों पर ऊपर से लदे नहीं मालूम होते। वे इतने सहज और स्वाभाविक हैं जैसे उनके अंगों के सहज विकसित रूप हों। उसके आभूषण पुष्प हैं तो पयोधर फल, शरीर लता है तो वस्त्र पत्ते[3]। फूल और फल, लता और पत्र एक दूसरे से अविच्छिन्न हैं।

<u>नायक</u>- कृष्ण के रूप-वर्णन की चेष्टा इसमें नहीं हुई है। उनके गुणों का ही बखान मिलता है। ऋतु वर्णन के अंतर्गत उनके विभिन्न ऋतुओं के शृंगार और दिनचर्या का वर्णन मिलता है। कुंडनपुर में आने पर वहां के नर-नारी उन्हें भिन्न-भिन्न रूपों में देखते हैं। कामिनियां उन्हें कामदेव, दुर्जन काल, भक्त नारायण, वेदज्ञ वेदार्थ और

१- वेलि क्रिसन रुक्मिणी छं० सं० ८४-९९

२- वही, छं० सं० ९५

३- वही, छं० सं० ६५

योगीश्वर उन्हें योगतत्व कहते हैं[1]। इसमें तुलसी के "जाके रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी" का सादृश्य है । इनमें कृष्ण के अलौकिक स्वरूप की ओर ही इंगित किया गया है ।

ऋतु-वर्णन

बेलि में कृष्ण और रुक्मिणी की रतिविषयक श्रृंगार भावनाओं को उद्दीप्त करने के लिए ही पृष्ठभूमि के रूप में विभिन्न ऋतुओं का वर्णन किया गया है, बीच बीच में ऋतुओं के सौन्दर्य के स्वतंत्र चित्र भी मिलते हैं । यह वर्णन ग्रीष्म से प्रारंभ होकर बसन्त में समाप्त होता है । कालिदास के ऋतु-संहार में ऋतु-वर्णन ग्रीष्म से प्रारंभ होता है । श्री रामसिंह ठाकुर और सूर्यकरण पारीक ने स्वसंपादित बेलि की भूमिका में इसी आधार पर ‡ बेलिकार के कालिदास से प्रभावित होने की संभावना प्रगट की है[2]। इन वर्णनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें राजस्थानी ऋतुओं की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराया गया है । ग्रीष्मऋतु में नैऋत्यकोण से आने वाले गरम हवा के थपेड़े जन जीवन में निश्चेष्टता ला देते हैं इसका विदग्धतापूर्ण वर्णन बेलि में मिलता है-

नैरन्ति प्रसरि निरधण गिरि नीझर
घणी भजै घन पयोधर
झोलै बाइ किया तरु झंखर,
लवली दहन कि लू लहर[3]।

वर्षा ऋतु का वर्णन सुन्दर लगता है । राजस्थान के मरु वासियों के जीवन में वर्षा का महत्व अत्यधिक है । वे वर्षा के स्वागत के लिए कितने उत्सुक रहते हैं इसका परिचय वहां की लोक-मान्यताओं, वर्षा संबंधी अनुमानों और कल्पनाओं से मिलता है । वर्षा सम्बन्धी ज्योतिष, नक्षत्र, वायु-परिवर्तन, बादलों का रंग आदि समस्त ज्ञान इस वर्णन के अंतर्गत मिलता है । बसन्त ऋतु के वर्णन को पर्याप्त विस्तार दिया गया है । बसन्त के दस मास गर्भ में रहने के बाद उसके प्रसव के पश्चात् बनस्थिति रूपी माता दूध के रूप में मधु-झरती है । उसके जन्म के अवसर पर आनंद बधाई के दृश्य

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छं०सं० ७६

२- वही, पृ० ९५-९६(भूमिका-बेलि क्रिसन रुक्मिणी-हि०ए०)

३- वही, छं० १९१

दिखाए गए हैं । ऋतुराज की महफिल की शोभा सांग रूपकों के सहारे सुन्दरता से व्यक्त हुई है । इसमें कवि की कल्पना का चमत्कार देखने योग्य है ।

विभिन्न ऋतुओं की प्रकृति के स्वरूप का उद्घाटन करने के लिए नायक-नायिका के जीवन से संबंधित उपमानों की योजना अनेक स्थलों पर हुई है। यथा-

काली करि कांठलि ऊजल कोरण,
धारे श्रावण धरहरिया ।
गलि चालिया दिसो दिसि जलग्रभ
थंभि न विरहिण नयण थिया[1]।

बादलों का अविरल बरसना उसी प्रकार प्रतीत होता है जैसे नायिका के नेत्रों से निरन्तर अश्रु प्रवाह है।

ग्रीष्म ऋतु में कृष्ण की क्रीड़ा का स्वरूप देखिए:-

कसतूरी गारि कपूर ईंट करि, नवै निहाणी नवी परि
कुसुम कमल दल माल अलंकित हरि क्रीड़ै तिहँणि धवल हरि[2]

और बसन्त में-

ग्रह पुहप तणी तिणि पुहयित ग्रहणी पुहपई ओढ़ण पाथरणि ।
हर खि हिंडोल पुहुमै हिण्डति सहि सहचरि पुहपाँ सरणि[3] ।

कवि की निजी रुचि के अनुकूल प्रकृति के पदार्थ भी उसी शृंगार-क्रीड़ा में रत दिखाई पड़ते हैं । वर्षा ऋतु में नायक मेघ और नायिका पृथ्वी के समागम के पश्चात् नायिका के बिखरे हुए केश-पाश का दर्शन कीजिए:-

मिलियै तट ऊपरि बिथुरी मिलिया
घण घर धाराधर घणी ।
केस जमण गंग कुसुम करम्बित
वेणी किरि त्रिवेणी बणी[4]

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छं० १९५
२- वही, छन्द १९२
३- वही, छन्द २६७
४- वही, छं०सं० २००

प्रकृति के उद्दीपक स्वरूप को देखकर सभी में रति-भाव उद्दीप्त हो जाता है ऐसे समय में वातावरण की उपेक्षा नहीं की जा सकती नायक-नायिका रूठे नही रह सकते -

रूठा पै लागि मनावि करे रस
लांगी देह तणी गिणि लाभ
दम्पति ए आलिंगन दीधा,
आलिंगन देखे घर-आभ[1]

युद्ध-वर्णन- बेलि का कवि स्वयं एक राजपूत वीर था और अनेक युद्धों में स्वतः अपने बाहुबल को प्रदर्शित करने का अवसर उसे मिला था। यही कारण है कि युद्ध का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं ओज पूर्ण है । इसके अंतर्गत योद्धाओं की ललकार व गर्वोक्तियां, सेनाओं की एक दूसरे की ओर बढ़ना, दौड़ते हुए घोड़ों का वेग, आकाश में धूल छाना, बन्दूक, हवाई, तोप, बाण, भाले, कृपाण आदि अस्त्र-शस्त्रों के वार व शब्द, कवच, ढाल आदि से सज्जित योद्धागण, युद्ध-वाद्य, कोलाहल आदि युद्ध के समस्त अंगों का वर्णन हुआ है । वीरों और कायरों के हृदय पर होने वाली युद्ध की हुंकारों की प्रतिक्रिया का अनुभव भी कवि लिखना नहीं भूला । युद्धस्थल में सिरों का कट-कट कर गिरना, कबन्धों का उकसना, भुजाओं का खण्डित होना, कन्धों का टूटकर गिरना आदि दृश्यों को हृदयंगम कराकर कवि युद्ध का सजीव चित्र आंखों के सामने खड़ा कर देता है[2]। अप्रस्तुत योजना के अंतर्गत वर्षा एवं कृषि के समस्त रूपों का सादृश्य युद्ध की क्रियाओं में नियोजित हुआ है । योद्धाओं (विशेषकर कृष्ण के रुक्मि पर) के क्रोध और आंतरिक वीरोल्लास की झलक यत्र-तत्र अनुभावों के सहारे व्यंजित करने की चेष्टा भी दिखाई पड़ती है । युद्ध के रोमांचकारी दृश्य- शरीरों के घाव, लहू के फुहारे, कटे सिरों के ढेर, घोड़ों के पैरों से युद्ध में पड़े वीरों का कुचला जाना- युद्ध की भयंकरता के परिचायक हैं । योगिनियों का युद्धस्थल में कूदना, गिद्धों का मांस नोच-नोच कर खाना आदि वीभत्स दृश्यों की योजना भी परंपरानुकूल हुई है । युद्ध के ओजपूर्ण वर्णन का एक चित्र देखिए-

---

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छं० २०१

२- वही, छं० सं० १३१

कलकलिया कुन्त किरण कलि ऊकलि, वर जति विसिख विवरजित वाउ
घड़ि घड़ि धबकि धार धारू जल सिहरि सिहरि समझै सिलाउ[1]।

प्रबन्ध की दृष्टि से युद्ध-वर्णन का विस्तार अप्रासंगिक लगता है । श्रृंगार - रस के प्रवाह में यह वर्णन बाधक हुआ है ।

भाषा-शैली

बेलि की भाषा प्राचीन साहित्यिक राजस्थानी या डिंगल भाषा है । डिंगल भाषा के सभी नियमों का पालन इसमें हुआ है किन्तु फिर भी अस्वाभाविकता या कृत्रिमता का दर्शन इसमें नहीं होता इस भाषा में संगीत और प्रवाह विद्यमान है । शब्दों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति इसमें नहीं दिखाई पड़ती । भाषा में कहीं भी शिथिलता नहीं मिलती । भावों को प्रकट करने में वह पूर्णतया समर्थ है ।

अलंकार - वैशिष्टय-

बेलि क्रिसन रुक्मिणी में अलंकारों का प्राचुर्य है । शब्दालंकारों में डिंगल के प्रसिद्ध अलंकार वयणसगाई का प्रयोग हुआ है जो भाषा में संगीत प्रवाह उत्पन्न करने में सहायक हुआ है । इसका प्रयोग प्रायः प्रत्येक छन्द में हुआ है । इसमें चरण के प्रथम और अंतिम शब्दों के प्रथम वर्ण में साम्य होता है । इसके अतिरिक्त अन्य शब्दालंकार-अनुप्रास, यमक आदि के भी पग-पग पर प्रयुक्त हुए हैं ।

अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकारों का प्रयोग बहुलता के साथ हुआ है । इनमें कवि-कल्पना का चातुर्य दिखायी पड़ता है । अलंकारों का प्रयोग अधिक होने पर भी वे निरर्थक और ऊपर से लादे हुए प्रतीत नहीं होते । वे भावाभिव्यक्ति में अथवा वस्तुओं का बिम्ब ग्रहण कराने में सहायक हुए हैं । रुक्मिणी शैशवकाल में क्रीड़ा करती हुई अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होती थीं । बेलिकार ने उपयुक्त अप्रस्तुतों का सहारा लेकर निम्नलिखित छन्द में उसके सौन्दर्य का गतिमय चित्र हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष कर दिया है - इसे पढ़ते ही मानसरोवर में क्रीड़ा करते हुए हंस के बच्चों का और दो पत्तों वाली कांचनलता का मानस बिम्ब प्रस्तुत हो जाता है -

---

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी छ० सं० ११९

रामा अवतार नाम ताइ रुषमणि, मान सरोवर मेरु गिरि ।
बालकति किरि हंस चौ बालक, कनक बेलि विहुं पान किरि[1]।

रुक्मिणी के अंगों में यौवन का उभार प्रदर्शित करने के लिए कवि बसन्त के अवयवों का उनपर आरोप करता है । नायिका के भृकुति संचालन की क्रिया को कमल पर भौरों के मंडराने की क्रिया के द्वारा प्रत्यक्ष किया गया है । अतः निम्नांकित सांग रूपक परम्परागत उपमानों पर आधारित होते हुए भी भावोत्कर्ष में सहायक है-

दल फूलि विमल बन, नयण कमल दल,
कोकिल कण्ठ सुहाइ सर ।
पांपणि पंख संवारि नवी परि
भ्रूहारे भ्रमिया भ्रमर[2]।

उपर्युक्त उद्धरणों में कवि ने मानवीय रूप को प्राकृतिक उपमानों के सहारे उद्घाटित किया है किन्तु कहीं कहीं प्राकृतिक वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए कवि ने मानवीय क्रिया व्यापारों को भी उपमान रूप में प्रस्तुत किया है । निम्नांकित दृष्टान्त और"विभावना" अलंकार के इस उदाहरण को देखिए-

अजहुं तरु पुहुप न पल्लव, अंकुर, थोड़ डाल गादटित थिया ।
जिम सिणगार अकीधै सोहति प्री आगनि जाणियै प्रिया[3]।

निम्नांकित पंक्तियों में क्रोध से उफनते हुए रुक्मी की उपमा बरसाती नाले के उमड़ चलने से दी गई है जो बड़ी उपयुक्त है । केवल "रुक्मी को क्रोध आ गया," कह देने से उक्ति में कोई सरसता न आती किन्तु बरसात के उमड़ते हुए नाले का दृश्य उपस्थित कर कवि रुक्मी की आपे से बाहर होने की मुद्रा तथा मर्यादा या सीमा को लांघकर बाहर जाने की चेष्टा को हृदयगंम कराने में सफल हुआ है । उत्कृष्ट कवियों की प्रतिभा ऐसे ही सादृश्य-विधान के सहारे साधारण और सामान्य विषय-वस्तुओं में भी सौन्दर्य और सरसता की सृष्टि कर देती है-

मावीत्र म्रजाद मेटि बोलै मुखि, सुवर न को सिसुपाल सरि
अति अंबु कोपि कुंवर ऊफणियौ, बरसालू बाहला वरि[4]।

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी री छ० सं० १२
२- वही, छ० सं० २०
३- वही, छ० सं० १२८
४- वही, छ० सं० ~~१२८~~ ३४

कैतवापह्नुति का एक उदाहरण लीजिए जिसमें प्रकृति के रूपों पर मानवीय भावों का आरोप किया गया है । कवि की सहृदयता और कल्पना का यह चित्र देखिए:-

लागी दलि कलि मलया निल लागै त्रिगुण परसतै षुणत्र
रटति पूत मिसि मधुप रुंखराइ, भात श्रवति मधु दूध मिसि[1]।

कुछ स्थलों पर कवि ने ज्योतिष ज्ञान पर आधारित उपमानों की योजना की है जो भावोत्कर्ष में अधिक सहायता नहीं पहुंचाते- उदाहरण के लिए यह अत्युक्ति देखिए-

स्यामा कटि मेखला समरपित, क्रिया अंग मापित करल ।
भावी सूचक थिया कि मेला सिंघ रासि ग्रहगण सकल ।

कटि के लिए सिंह की कटि की उपमा रूढ़ है किन्तु यहां कवि शब्द चमत्कार का सहारा लेकर सिंहराशि की कल्पना कर लेता है । कटि पर स्थित मेखला आदि में सिंह राशि पर एकत्रित समस्त ग्रहों का स्वरूप कवि को दिखाई पड़ने लगता है । इसमें कोई सौन्दर्य नहीं ज्ञात होता, कवि की कल्पना निरर्थक दौड़-धूप करती जान पड़ती है ।

- - -

१- बेलि क्रिसन रुक्मिणी री छं० सं० २३१

अध्याय ४

रुक्मिणी मंगल (नंददास) तथा अन्य मंगल-संज्ञक काव्य

रुक्मिणी मंगल-

इसका रचनाकाल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। विवाहपरक मंगल संज्ञक रचनाओं में नंददास के रुक्मिणी मंगल का स्थान सर्वोच्च है । तुलसीदास के मंगलों में कवित्व का दर्शन नहीं होता । खण्डकाव्य के रूप में उनका महत्व अत्यन्त साधारण कोटि का है, किन्तु नंददास की यह रचना आकार लघु होते हुए भी सरस, सुगठित और काव्यत्वपूर्ण है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी को छोड़कर रुक्मिणी विषयक समस्त रचनाओं मे कवित्व की दृष्टि से नंददास के रुक्मिणी मंगल का स्थान अत्यन्त महत्व का है ।

रचना-शिल्प- रुक्मिणी मंगल में अत्यन्त सीमित कथा भाग को ग्रहण किया गया है। रुक्मिणी को जब यह ज्ञात होता है कि रुक्म ने शिशुपाल के साथ उसके परिणय की व्यवस्था कर ली है तो वह स्तंभित रह जाती है । इसके पूर्व की गतिविधि का वर्णन कवि ने नहीं किया । वस्तुतः कृष्ण-रुक्मिणी का परिणय ही कथा का मुख्य लक्ष्य है अतः शिशुपाल के साथ विवाह-सम्बन्ध चलाना या माता-पिता व रुक्मि के पारस्परिक मतभेद को प्रदर्शित करना मुख्य कथा की पृष्टिभूमि है उसका अंश नहीं । शिशुपाल को विवाह -लग्न भेज देने से ही रुक्मिणी की कृष्ण-संबंधी चिन्ता उत्पन्न होती है ।यह चिन्ता ही वह बीज है जो उसके दृढ़ संकल्प में अंकुरित होकर उद्योग(दूत-भेजना) में विकसित होती है और उसके हरण में पुष्पित होकर विवाह में फलित होती है । इसी प्रकार कथा भाग को संक्षिप्त करने की प्रवृत्ति कथा के अंत में दिखाई पड़ती है । रुक्मिणी-हरण समाप्त होने के साथ ही कथा समाप्त हो जाती है । द्वारिका पहुंचकर कृष्ण-रुक्मिणी के विधिवत् विवाह सम्पन्न होने की सूचना मात्र दे दी गई है ।

इस कृति की विशेषता यह है कि इसमें विशुद्ध कथात्मक(या इति वृत्तात्मक) स्थल बहुत कम हैं । वस्तुओं और भावों के वर्णन में ही कवि की वृत्ति अधिक रमी है । कथानक जटिल बनाने की चेष्टा कवि नहीं करता । यहां तक कि श्रीमद्भागवत के कथानक की जटिलताओं और उसके विस्तारों को भी वह त्याग देता है । मार्मिक परिस्थितियों का चित्रण करते हुए कथा को विकास की ओर ले जाने का अद्भुत कौशल इसमें दिखायी पड़ता

है । इतिवृत्तात्मक अंश भी काव्यत्व पूर्ण ढंग से प्रस्तुत हुए हैं

वस्तु-विवेचन- रुक्मिणी मंगल का आधार भी भागवत दशमस्कंध की अध्याय ५२ से ५५ तक की कथा है, किन्तु बेलि की अपेक्षा "रुक्मिणी मंगल" का कथानक संक्षिप्त होते हुए भी अधिक सुश्रृंखलित है । नंददास ने भागवत के प्रबंध की दृष्टि से अनुपयुक्त स्थलों को छोड़ दिया है और अनेक स्थलों पर उनमें परिवर्तन भी किया है । नंददास ने रुक्मिणी के आरंभिक कथा-भाग को छोड़ दिया है और रुक्मिणी के पूर्वराग के उदय की परिस्थिति का वर्णन भी नहीं किया है । इसका संकेत रुक्मिणी के पत्र में "जब तें तुम्हरे गुनगन मुनिजन नारद गाये[1] कहकर कर दिया है । शिशुपाल के साथ अपना संबंध जोड़े जाने का समाचार सुनने के पश्चात् रुक्मिणी की विरहानुभूति के विस्तृत चित्रण से कथा प्रारंभ होती है[2] । नंददास की रुक्मिणी भी मौखिक सन्देश न भेजकर कृष्ण को पत्र भेजती है । शास्त्र - व्याकरणाभि में निष्णात रुक्मिणी के लिए यह अधिक स्वाभाविक है । रुक्मिणी की दूत अधिक हितचिन्तक और कर्त्तव्यनिष्ठ प्रतीत होता है[3] । वह द्वारिका और कृष्ण के वैभव का भली भांति निरीक्षण करता है । भागवत की भांति रुक्मिणी मंगल में कृष्ण पत्रवाहक को धर्म-नीति आदि का व्याख्यान नहीं देते । प्रबन्ध-गठन की दृष्टि से समस्त कार्य-व्यापारों की योजना कथा के मुख्य फल की ओर उन्मुख होनी चाहिए । प्रस्तुत प्रसंग इस दृष्टि से अनावश्यक है । भागवत की भांति नंददास की रुक्मिणी अपने पत्र में अपने हरण की युक्ति और बेलि की भांति अपने हरण-स्थल का निर्देश नहीं करती । वे अपने पत्र में अपने प्रेम की अनन्यता और अपनी असहायावस्था का ही परिचय देती है[4] ।

युद्ध का संकेत मात्र नंददास ने किया है तथा युद्धान्त के रुक्मी को बध करने के लिए कृष्ण के उद्यत होने, रुक्मिणी के क्षोभ, बल्देव जी की व्यंगोक्ति और कृष्ण की दया आदि- प्रसंगों को त्याग दिया है । रुक्मिणी मंगल में कृष्ण रुक्मी को मूंड मूड़ कर छोड़ देते हैं[5]।

१- नंददास- शुक्ल- रु० मं० पं० ११९ ।
२- "सिसु पालहिं दई रुक्म, रुक्मिनी बात सुनीजब" (वही पं० ५)
३- द्विजन गयौ फिरि भवन, गवन कियौ धरिक जु पवन-गति ।
   आरति निरखि रुक्मिनी, अरु उत कृष्न-दरसरति (वही पं० ५३,५४)
४- वही, पंक्ति ११९-१५० ।
५- वही पंक्ति २६०

चरित्र-चित्रण

रुक्मिणी- रुक्मिणी-मंगल की रुक्मिणी बेलि की रुक्मिणी की अपेक्षा अधिक चिन्तनशील, अधिक बुद्धिमती और स्वतंत्र व्यक्तित्व रखती हैं। रुक्मि के शिशुपाल के साथ अपने विवाह के प्रस्ताव का समाचार सुनते ही वे चित्रवत् रह जाती हैं। उनकी विरहाकुलता भी कम नहीं है किन्तु उनकी बुद्धि सदैव सजग रहती है। अपनी विरह-व्यथा को वह सखियों से छिपाये रखती हैं और इसके लिए वे चतुराई से काम लेती हैं। सखी के सामने आने पर वे लम्बी लम्बी श्वासें भरना छोड़ देती हैं। मुख बंद किए हुए ही दूसरों के प्रश्नों का उत्तर दे देती हैं। सखियां रुक्मिणी की आंखों में आंसू देखकर रुक्मिणी से जिज्ञासा करती हैं तो रुक्मिणी आंखों में पुष्परज पड़ने का बहाना कर रहस्य को छिपाने की चेष्टा करती हैं[2]। इसी प्रकार सखियां जब फूलों का हार लाकर उन्हें भेंट करती हैं तो रुक्मिणी उसे हाथ से नहीं छूती उसे निकट रखवा लेती हैं[3]।

रुक्मिणी में संकल्प की दृढ़ता अधिक है। पार्वती मंगल की पार्वती में भी संकल्प की दृढ़ता कम नहीं है वे भी काम-दाह के बाद परिजनों, पुरजनों के घर लौट चलने के आग्रह के सामने नहीं झुकती[4]। किन्तु इस सीमा तक वे नहीं पहुचती -

करत विचार मनहि मन अब धौं कैसी कीजै
लोक लाज, कुल कानि किधैं, मोहि सरबस छीजै
ज्यौं पिय हरि अनुसरौं, करौं सोइ जतन, धरौं हठ
मात, तात अरु भ्रात, बंधु जन सबै परौ मठ
आगि लागि जरि जाहु लाज, जो काज बिगारै
सुंदर नंद-कुंवर नगधर सौं अंतर पारै
पति परि हरि, हरि भजत भई, गोकुल की गोपी
तिनहुं सबै बिधि लोपी, परम-प्रेम-रस ओपी[5]।

वे लोकलाज, कुल मर्यादा और व्यक्तिगत संकोच सभी को चुनौती दे डालती है और माता-पिता व बंधु आदि को भट्ठी में झोंकने को तत्पर हैं। यही

१- रु० मं० पंक्ति १३-१४

२- वही, पं० ११-१२

३- वही, पं० १७-१८

४- वही, पं० ३६

५- वही, पं० ३७-४४

नहीं गोकुल की गोपियों का आदर्श स्मरण कर वे अपने विद्रोही कृत्य का समर्थन भी कर लेती हैं । नंददास की रुक्मिणी, सचमुच सजीव, साहसपूर्ण और अन्याय का प्रतिकार करने को उद्यत दिखाई पड़ती है - बेलि की रुक्मिणी की भांति लज्जा, संकोच, भय और आशंका की प्रतिभा मात्र नहीं है ।

रुक्मिणी-मंगल की रुक्मिणी का स्वरूप अधिक लौकिक है वे अपने पत्र में पूर्व जन्मों की प्रीति का स्मरण दिलाकर अपना अधिकार नहीं जताती और न अपने देवत्व की ओर ही संकेत करती हैं । इसके स्थान पर वे अपने पूर्वराग के उदय व उसके विकास का ही परिचय देती हैं[1]। वे कृष्ण की महत्ता उनकी शरणागत-वत्सलता का स्मरण दिलाकर अपने पूर्वराग के विकसित होने की स्वाभाविक अवस्था की ओर संकेत करती हैं । पत्र में वे रुक्मी और शिशुपाल की स्पष्ट शब्दों में शिकायत करती हैं और उस विशेष परिस्थिति के अनुकूल कार्यवाही करने की प्रार्थना करती हैं[2]।

रुक्मिणी-मंगल भी रुक्मिणी में भी यद्यपि के प्रति भक्ति की भावना है । कृष्ण को वे सुर, नर, मुनि, गंधर्व, जच्छ, किन्नर, विधि नाइक[3] समझती हैं किन्तु एक मुग्धा प्रेमिका के लौकिक स्वरूप की भी उनमें रक्षा हुई है । उनकी पूर्वराग जनित वेदना और प्रेम की पीड़ा लौकिक नारी की ही वेदना और पीड़ा है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी में रुक्मिणी का यह रूप प्रस्फुटित नहीं हुआ है ।

रुक्मिणी-मंगल में कृष्ण के अलौकिक कार्यों को उद्घाटित नहीं किया गया । हां, प्रशस्तिगान या गुणगान के रूप में रुक्मिणी के द्वारा उनके अलौकिक स्वरूप का निर्देश अवश्य किया गया है । रुक्मिणी-मंगल के कृष्ण पुष्टिमार्गीय परम्परा के अनुकूल मधुर-भक्ति के आलम्बन हैं । कृष्ण के वीरत्व या शौर्य- पक्ष को इसमें विस्तार नहीं दिया गया । जो न केवल शृंगार प्रधान काव्य के रस-प्रवाह में वरन् पुष्टिमार्गीय भक्ति-भावना के आलंबन के स्वरूप में भी बाधक बनता ।

कृष्ण के मन में भी रुक्मिणी के प्रति पूर्वराग विद्यमान था इसकी सूचना भी कवि सांकेतिक रूप में देता है - पत्रिका कृष्ण को "ताती" लगती है वे उसे हृदय कुच से लगाकर सुख पाते हैं - इसके साथ ही उनके नेत्रों से अश्रुप्रवाह निकल पड़ता है और "रुक्मिनि अंसुंवन भीनी" पत्रिका "पुनि हरि अंसुवन भीनी" हो जाती है- दोनों प्रेमी-प्रेमिका का यह सूक्ष्म अंतर्मिलन कृष्ण के पूर्वराग को व्यंजित कर देता है[4]।

१- रुक्मिणी-मंगल(नंददास प्रथम भाग) पं० ११८-१२१ ।
२- वही, पं० १२९-१३० ।
३- वही, पं० ११३ ।
४- वही, पं० सं० १०५-११० ।

कृष्ण रुक्मिणी हरण के लिए कुंडनपुर जाते हैं किन्तु उनका लक्ष्य रुक्मि और शिशुपालादि को दण्ड देना भी है[1] भक्तों को शरण देना और दुष्टों का विनाश करना - ये दोनों कार्य एक साथ ही कृष्ण के द्वारा सम्पन्न होता है ।

कृष्ण के आतिथ्य -सत्कार की भावना को नंददास ने अधिक विशद रूप में चित्रित किया है । दया की वृत्ति रुक्मिणी-मंगल के कृष्ण में सहज और स्वाभाविक दिखाई गई है, वह रुक्मिणी की व्यथा या करुणा से प्रेरित नहीं है ।

कृष्ण का चरित्र रुक्मिणी की अपेक्षा गौण है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी में भी यही भावना है किन्तु बेलि में ऋतु-वर्णन एवं युद्धादि के दृश्यों की योजना से उसका विकास कुछ अधिक हो गया है । रुक्मिणी-मंगल के कृष्ण में बेलि के कृष्ण से यही विशेषता है कि इसमें कृष्ण चरित्र के अलौकिक और अस्वाभाविक कृत्यों को कथा में सम्मिलित नहीं किया गया है । उनके प्रति भक्ति-भावना का परिचय उनके गुण-कथन के रूप में दिया गया है ।

रस और भाव-व्यंजना

इसमें रुक्मिणी का पूर्वराग जनित वियोग दशा का चित्रण ही प्रधान है। यह शास्त्रीय पद्धति पर हुआ है । रुक्मिणी के हृदय की समस्त व्यथा उसके अंगों में उभर आयी है, सात्विक अनुभावों के रूप में वह प्रगट हो जाती है, अतः सखियों से अपने प्रेम की पीड़ा छिपाने की रुक्मिणी की चेष्टा व्यर्थ हो जाती है:-

दुरी न रहति पिय आरति, प्रगटहि देति दिखाई
पुलकि अंग, स्वर भंग, स्वेद, कबहूं जड़ताई ।
उर बर थर थर कंपत, चिंतत कुवंर कन्हाई
कबहु टकी लगि जाइ, कबहु आवत मुरझाई
ह्वै गयौ कछु बिबरन तन, छाजत यौ छबि छाई
रूप अनूपम बेलि, तनक मनु घाम में आई[2]।

वैवाहिक मंगल वाद्य उसके मन को मथ रहे हैं । उसी अवसर पर उसकी दृष्टि हाथ में बंधे हुए कंगन पर चली जाती है- जो शिशुपाल के साथ विवाह के उपलक्ष मे बंधा है- उसकी व्यथा का वेग आंखों से उमड़ने लगता है । वह आशा और निराशा के हिंडोले में झूलने लगती है । मन ही मन सोचती है, क्या कृष्ण उसके न होंगे[3]? कितनी मार्मिक अवस्था है ।

१- रुक्मिणी-मंगल(नंददास, संपा० उमाशंकर शुक्ल) पं० सं० १४७-१४८ ।
२- वही,(नं० प्रथम भाग, शुक्ल) पं० १२३-१२८ ।
३- वही, पं० ३३-३४ ।

द्विज दूत को जब रुक्मिणी लौटा हुआ देखती है तो उससे समाचार पूछने में उन्हें भय लगता है । न जाने वह विष उगलेगा या अमृत । इसी से जब द्विज संदेशा सुना देता है तो उनके निकले हुए प्राण जैसे पुनः शरीर में लौटते हैं[1]। रुक्मिणी की उत्कण्ठा का कितना मनोवैज्ञानिक चित्र कवि ने खींचा है ।

रुक्मिणी के वियोग-वर्णन में विरह की मरण, उन्माद और प्रताप को छोड़कर सभी दशाओं के चित्र देखने को मिल जाते हैं । नंददास के काव्य में जहां एक ओर शास्त्रीय नियमों और लक्षणों के निर्वाह का आग्रह है वहां दूसरी ओर स्वतंत्र कल्पना के सहारे भावों को रमणीय बनाकर प्रस्तुत करने का कौशल भी ।

रुक्मिणी की विरह-दशा की कुछ अवस्थाएं निम्नांकित छन्दों में देखी जा सकती हैं । अंबिका की स्तुति करते हुए रुक्मिणी की अभिलाषा देखिए-

अहो देबि अंबिका, ईस्वरी ! तुम सब लाइक ।
महामाइ, बरदाइ, सुसंकट तुमरे नाइक ।
तुम सब जिय की जानति, तुम सौं कहा दुराऊं ।
गोकुलचंद, गोविन्द, नंद-नंदन पति पाऊं[2]।

मानसिक तर्क-वितर्क में रुक्मिणी की चिन्ता व्यक्त हुई है-

कबहुंक मन मन सोचत, मोचत स्वास ढरारे
मोहन सोहन स्याम, न ह्वै हैं पीय हमारे[3]।

रुक्मिणी कृष्ण के गुणों का स्मरण करती हैं बड़े देवता भी उनकी चरण-रज पाने की इच्छा रखते हैं-

तिनके चरन-कमल-रज, अज से बांछन लागे
सनके, सनंदन, सिव, सारद, नारद अनुरागे[4]।

वियोग की अवस्था नायिका को कभी कभी असह्य हो उठती है । उस समय वह अधीर होकर छटपटाने लगती है । उसका "उद्वेग" इन पंक्तियों में देखिए-

इहां कुंवरि तरफरत, फिरत घट आंगन ऐसैं
रबि-कर तपत करी मछरी, थोरे जल जैसें[5]।

विरह की तीव्रता से दैनिक क्रिया कर्म और आहार-विहार आदि से

१- रुक्मिणी-मंगल (नंददास प्र०भा०, शुक्ल) पं० १५९-१६२
२- वही, पं० सं० २०५-२०८ । ३- वही, पं० सं० ३१-३३ ।
४- वही, पं० सं० ४५-४६ । ५- वही, पं० सं० १५१-१५२ ।

विरक्ति हो जाना स्वाभाविक ही है । आचार्यों ने इस अवस्था को व्याधि की संज्ञा दी है-

मिटी भूख अरु प्यास, पास कोउ और न भावै
कौने जाइ उसास भरै दुख कहत न आवै[१]।

जड़ता, मूर्च्छा आदि की दशाओं का भी संकेत रुक्मिणी मंगल में मिलता है ।

किन्तु प्रलाप, उन्माद और मरण आदि की अवस्थाएं नहीं आयी । रुक्मिणीयदि कृष्ण को पाने में सफल नहोती तो इन अवस्थाओं का चित्रण हो सकता था । पूर्वराग की अवस्था में वियोग दशा का वर्णन नियंत्रित और सीमित रहना स्वाभाविक ही है ।

उपरोक्त वियोग दशाओं के साथ सात्विक भावों तथा अनेक चेष्टाओं आदि का मिश्रण करने के कारण कवि का वियोग-चित्रण अत्यन्त मार्मिक और हृदयस्पर्शी हो गया है ।

विरह की अग्नि का वर्णन कवियों का प्रिय विषय रहा है- नंददास उस विरहाग्नि का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से करते हैं । सखियां फूलों के हार गूंथ कर लाती हैं, किन्तु रुक्मिणी उन्हें हाथ से न छूकर निकट धरवा लेती हैं- क्योंकि अपने विरह से जलते हाथों से छूने पर वे मुरझा न जायं[२]। इसी प्रकार उनके विरह के हाथ से लिखी हुई चिट्ठी भी कुंडनपुर से द्वारिका पहुंचने पर भी जलती रहती है[३]।

रूप-वर्णन- रुक्मिणी-मंगल अत्यंत संक्षिप्त रचना है अतः उसका वर्णन बेलि के वर्णन की समता नहीं कर सकता । फिर भी रुक्मिणी-मंगल में रुक्मिणी के अंबिकालय से बाहर आने के बाद उनकी नख-शिख-शोभा का प्रभाव कवि ने दिखलाया है । यह वर्णन परंपरागत उपमानों के सहारे होने पर भी प्रभावोत्पादक और अवसर-के अनुकूल है । यहां रुक्मिणी के अंग-प्रत्यंग का वर्णन कवि का लक्ष्य नहीं है । जिन अंगों पर स्वाभाविक रूप से दर्शक की निगाह पड़ती है उन्हीं का प्रभाव दिखाने की चेष्टा की गई है । मंदिर से निकलते समय उनकी मंद- मंद चाल,नूपुर-ध्वनि,पैरों की

१- रुक्मिणी-मंल(नंददास, संपा० उमाशंकर शुक्ल) पं० सं० २१-२२ ।

२- वही, पं० सं० १५-२० ।

३- वही, पं० सं० १०८ ।

लाली आदि का वर्णन है। कृष्ण को देखने की लालसा से घूंघट हटाने पर उनकी मुख-श्री, दंत-पंक्ति, कटाक्ष आदि की झलक ही मिल पाती है।

शिख-नख पद्धति पर कृष्ण का विस्तृत रूप-वर्णन नंददास के रुक्मिणी मंगल में हुआ है[1]। कृष्ण के कुंडनपुर आने पर उनके रूप का प्रभाव अंकित करते हुए उनके अंगों के सौन्दर्य पर कवि की दृष्टि गई है। सांवले कृष्ण के अंगों में करोड़ों कामदेवों का लावण्य समाया हुआ है। अतः दर्शकों की दृष्टि जिस अंग पर पड़ जाती है वहीं बन्दी हो जाती है। उनकी "अलकें, उनकी ललित लटपटी पगियां, कटीली भौहें, नेत्र, कानों में मंडलाकृत कुंडल की ज्योति, पीतांबर, श्रीवत्स-वक्ष और चरणारविन्द एक से एक बढ़कर मोहक स्थल हैं जो दर्शक की दृष्टि को जाल में फंसाये रखने में समर्थ हैं। किन्तु जिसके नेत्रों में एक से अधिक मोहक अंगों की अपार रूप राशि का लोभ है, उनकी दशा उस चोर की भांति हो जाती है जो भरे घर से चोरी करके भागने का उद्योग करता है। एक घर से यदि बचकर निकल भी आया तो दूसरे घर में अवश्य पकड़ जायगा[2]। तुलसी के जानकी मंगल के राम की ही भांति कृष्ण के रूप को भी देखकर उन्हें रुक्मिणी के योग्य वर होने की कल्पना कुंडनपुर के नर-नारी कर लेते हैं। कोई"दुखदायक" रुक्मि को बुरा-भला कहता है तो कोई शिशुपाल के साथ रुक्मिणी के विवाह को बंदर के गले में मीठा बांधना कहता है। कुछ जरासंध शिशुपाल आदि को अपमानित कर कृष्ण के रुक्मिणी को बरण कर ले जाने का अनुमान कर लेते हैं[3]। शिशुपाल जरासंधादि भी हतप्रभ होकर विषादयुक्त हो जाते हैं[4]।

प्रभाव की दृष्टि से कृष्ण का रूप-वर्णन मंगल काव्यों के नायकों में सर्वश्रेष्ठ है। श्री उमाशंकर शुक्ल ने लिखा है "नंददास का प्रेम प्रधानतया रूपासक्ति मूलक ही है अतएव कृष्ण की रूपमाधुरी का चित्रण कवि ने बड़े विस्तार के साथ किया है[5]।

इसी प्रकार द्वारिकापुरी में कृष्ण के रूप-वैभव को देखकर रुक्मिणी का भेजा हुआ द्विजदूत अत्यंत सुखी होता है। उन्हें यदु पुरुषों के बीच देखकर

१- रु० मं० (नंददास प्र० मा० शुक्ल) पंक्ति १६९-१८२।
२- सं० भं० पं० १
३- वही पंक्ति १८७-१८९
४- ~~भूमिका पृ० १०४~~। वही पंक्ति ९१-९२
५- भूमिका पृ० १०४

ब्राह्मण को ऐसा लगा मानों चन्द्रमा आकाश से पृथ्वी पर आ गया है + अथवा कमलों के समूह में सूर्यदेव उपस्थित हों, वे कंकण, करधनी, कुंडल आदि अलंकारों से युक्त अत्यन्त शोभा पाते हैं[1]।

द्वारिका-वर्णन

द्वारिका का वर्णन रुक्मिणी के ब्राह्मण दूत के वहां पहुंचने पर होता है अवसर बेलि क्रिसन रुक्मिणी में भी द्वारिका का वर्णन मिलता है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी और रुक्मिणी-मंगल दोनों के वर्णनों में भिन्नता है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी का वर्णन द्वारिका नगरी के धार्मिक वातावरण का ही परिचायक है । चूंकि बेलि क्रिसन रुक्मिणी में रुक्मिणी का दूत प्रातःकाल के समय द्वारिका पहुंचता है अतः प्रातःकालीन वातावरण ही प्रधान है । चारों ओर यज्ञ, तप, वेद-पाठ आदि हो रहे हैं । बेलि क्रिसन रुक्मिणी के ब्राह्मण दूत को प्रकृति के अन्य मोहक रूप आकर्षित न कर सके केवल कुछ पनिहारिनें दिख गई हैं और कोकिल का स्वर कानों में पड़ गया है । इसके विपरीत नंददास ने द्वारिका नगरी का अत्यन्त सुरुचि पूर्ण वर्णन किया है । उनके द्विजदूत की दृष्टि अधिक व्यापक है वह द्वारिका के निकटवर्ती बन-उपबन, लताकुंज, सरोवर व विहंग आदि की शोभा पर मुग्ध होता है । द्वारिका की भव्य अट्टालिकाएं, गवाक्ष, ऊंचे-ऊंचे, ध्वज, गुड़ी सभी को देख वह आश्चर्य में पड़ता है ।

रुक्मिणी -मंगल के इन वर्णनों में उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास आदि की छटा देखते ही बनती है । उपमान प्राचीन होते हुए भी उनकी कल्पना में नवीनता है । एक दो दृष्टान्त पर्याप्त होंगे-

और बिहंगम रंग भरे, बोलत हिय हरहीं ।
जनु तर वर रस भरे, परस्पर बातें करहीं[2]।
कुंज कुंज प्रति कुंज पुंज, भंवर गुंजत अनुहारे ।
मनौं रवि-डर तम भजै, रोवत हैं बारे[3]।

वृक्षों पर पक्षियों का बोलना मानों वृक्षों का पारस्परिक वार्तालाप है इसी प्रकार कुन्जों में भौरों का गुंजार मानों अंधकार के सूर्य के भय से भाग जाने के

१- भूमिका, पृ० ८९-९१ २- वही, पं० ६३-६४
३- वही, पं० ६७-६८

कारण, उनके बच्चों का रुदन है (भंवरों के काले रंग के आधार पर अंधकार के बच्चों के रूप में उनकी कल्पना अत्यन्त स्वाभाविक है) इन उपमानों की योजना में कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का अनुमान किया जा सकता है ।

भाषा-शैली- इसकी रचना साहित्यिक ब्रजभाषा में हुई है । इसमें संस्कृत की सरल शब्दावली का व्यवहार हुआ है । विदेशी शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है । केवल लाइक में शब्द का प्रयोग मिलता है । नंददास की भाषा गूढ़ से गूढ़ भावों को सरलता से व्यंजित करने में समर्थ है । यह श्रुति मधुर, शृंगार आदि कोमल रसों के अनुकूल और हृदय पर चोट करने वाली है । नंदकदास की भाषा के सम्बन्ध में श्री उमाशंकर शुक्ल लिखते हैं । "फ्रांसीसी विद्वान् तासी ने अपने इतिहास में लिखा है कि नंददास ने जयदेव के "गीत-गोविन्द" के अनुकरण पर रचना की है । कदाचित् उनका तात्पर्य यह था कि नंददास ने जयदेव की भाषा-शैली का अनुकरण किया । श्रुति मधुर तथा कोमल कांत पदावली की सरस योजना नंददास की काव्य कला का वह आवश्यक गुण है जो तत्कालीन भाषा-साहित्य के लिए नई बात थी । उनकी भाषा का माधुर्य संस्कृत भाषा की सरल शब्दावली पर ही अवलम्बित है ------अनुप्रासादि शब्दालंकारों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अर्थालंकारों से लदी हुई जिस आदर्श साहित्यिक भाषा की कवि ने सृष्टि की उसमें सरस प्रवाह है, अद्भुत संगीत है और हृदय पर चोट करने की अपूर्व क्षमता है[1]। रुक्मिणी-मंगल की भाषा का नमूना निम्नांकित छन्द में देखिए-

भरि आए जल नैन, प्रेम-रस ऐन सुहाये
जनु सुंदर अरबिंद, अलिन दल बैठि हिलाये
अलि पूछति बलि बात, कहौ क्यौं नैननि पानी
पहुप-रेनु उड़ि परी, कहति तिन सौं मृदु बानी[2]।

छन्द

रुक्मिणी-मंगल की रचना आद्यन्त रोला छन्द में हुई है । "रोला"छन्द नंददास का अत्यन्त प्रिय छन्द है । इसमें वे सिद्धहस्त भी हैं । सामान्यतः रोला में चार चरण होते हैं किन्तु रुक्मिणी मंगल में दो-दो चरणों से ही छंद पूरा होता है । प्रबन्ध के लिए कदाचित् यह परिवर्तन अधिक सुविधापूर्ण सिद्ध हुआ है । एक भाव को व्यक्त कर दूसरे भाव को प्रारम्भ करने को दो ही चरणों के बाद अवसर मिल जाता है, चार चरणों तक एक ही भाव को खींचने की आवश्यकता नहीं होती । प्रबंध रचना

१- नंददास प्र० भा० -भूमिका पृष्ठ १११

२- वही, - रुक्मिणी-मंगल पं० ९-१२

के लिए छोटे छन्द अधिक उपयुक्त होते हैं । चरणों पर मात्राएं कई स्थलों पर बढ़ी हुई मिलती हैं जिससे शुद्ध पाठ में कठिनाई होती है । उदाहरण-

पूछि न सकै मुख बात, दई यह कहा कहैगो[१]।

इसमें "सकै" को "सक" पढ़ने से मात्रा दोष दूर हो जाता है । अन्य स्थलों पर भी इसी प्रकार दीर्घ को लघु पढ़ने से मात्रा का दोष दूर हो जाता है । इन रोलों में एक प्रकार का संगीत विद्यमान है ।

अलंकार वैशिष्ट्य

रुक्मिणी- मंगल में शब्दालंकारों में अनुप्रास और अर्थालंकारों मे उत्प्रेक्षा का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है । उत्प्रेक्षा अलंकार विषयों और भावों का यथार्थ रूप खड़ा करने में अत्यधिक सहायक हुआ है । यद्यपि इसमें गृहीत उपमान रूढ़ हैं । भिन्न प्रकृति के क्षेत्र में गृहीत उपमान शताब्दियों से इसी प्रकार व्यवहृत होने पर भी कभी बासी नहीं होते । कवि उन्हें अपनी नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा के सहारे नवीन रूप रंग देकर इस भांति प्रस्तुत करता है कि प्राचीन होते हुए भी वे अत्यन्त नवीन भासित होते हैं। रुक्मिणी कृष्ण के विरह में व्यथित है । उनकी आंतरिक व्यथा के कारण उनमें वैवर्ण्य सात्विक का उदय हुआ । उनके शरीर का रंग उतर गया इसका स्वरूप बोध कराने के लिए कवि की अप्रस्तुत योजना का सौन्दर्य नीचे की पंक्तियों में देखिए-

ह्वै गयौ कछु बिबरन तन, छाजत यौं छबि छाई

रूप अनूपम बेलि, तनक मनु घाम में आई[२]।

अनुपम रूप वाली बेलि से नारी शरीर की ~~उपक~~ उपमा देना यों भी सहृदयता पूर्ण है । यह उपमा न केवल रुप या आकार साम्य पर आधारित है वरन् गुण साम्य पर भी । बेलि में कोमलता और सुकुमारता का गुण विद्यमान है । धूप लग जाने से बेलि कुछ मुरझा जाती है, उसी प्रकार अनुपम रूपवती रुक्मिणी की कांति कुछ फीकी पड़ गयी है । यहां मुरझाई हुई बेलि के द्वारा कवि रुक्मिणी के वैवर्ण्य का आभास कराने में कृतकार्य हुआ है । उत्प्रेक्षा के अनेक उत्कृष्ट उदाहरण द्वारिकापुरी के वर्णन के प्रसंग में मिलते हैं-

सुक, पिक, चातक, सबद, सुमीठी पुनि अस रटहीं ।

मनौं मार-चटसार, सुढार चटा* गन पढ़हीं[३]।

१- रुक्मिणी-मंगल(नंददास- शुक्ल) पं० १५९ ।

२- वही, पं० २७-२८ ।　　　　३- वही, पं० सं० ६१-६२ ।

औ बिहंगम रंग भरे, बोलत हिय हरहीं ।

जनु तरवर रस भरे, परस्पर बातैं करहीं[१]।

कुंज कुं प्रति, पुंज, भंवर गुंजत अनुहारे ।

मनौं रबि - डर तम भंग, तजै, रोवत हैं बारे[२]।

इसी प्रसंग मे द्वारिका की मणिमय अट्टालिकाओं की ऊंचाई का बोध कराने के लिए और काव्योत्कर्ष की वृद्धि के लिए कवि ने अतिशयोक्ति का सहारा लिया है-

उज्ज्वल मनिमय अटा, घटा सौं बातैं करई ।

जगमग जगमग जोति होति, रबि-ससि सौं अरई[३]।

रुक्मिणी -मंगल में कहीं कहीं मूर्त विषयों के लिए अमूर्त उपमानों का आश्रय लेकरकवि ने सौन्दर्य की सृष्टि की है । नीचे की पंक्तियों में सरोवर के जल की निर्मलता को मुनियों के मन से उपमित किया गया है । उपमानों की योजना से भी कवि की प्रवृत्तियां और उसके वातावरणादि का परिचय प्राप्त होता है । सच्चा कवि केवल रूढ़ियों का ही पालन नहीं करता वह अपनी अनुभूति पर आधारित अपने आस-पास के वातावरण से भी काव्य सामग्री का चयन करता है । नंददास एक भक्त कवि थे और संत-महात्माओं का सत्संग उन्हें सुलभ था । अतः उस वातावरण से उपमान ग्रहण करने में उनकी वास्तविक काव्य प्रतिभा का परिचय मिलता है-

सुभग सुगंध सरोवर, निरमल-मुनि- मन जैसें ।

प्रफुलित बरुई इन्दु, सरोवर राजत तैसें[४]।

किन्तु यह उपमान तुलसी के मानस से लिया गया जान पड़ता है । तुलसीदास ने भी लिखा है "संत हृदय जस निर्मल बारी"[५]

विरोध मूलक अलंकारों का प्रयोग बहुत कम हुआ है । किन्तु फिर भी चेष्टा करने पर उदाहरण मिल जाते हैं निम्नांकित पंक्तियों मे "विरोधाभास" की योजना कृष्ण के हृदय में स्थित विरह व्यथा की गंभीरता को व्यंजित करती है-

श्री हरि हियौ सिरावत, लावत लै लै छाती ।

लिखी विरह के हाथन, पाती अजहूं ताती[६]।

१- रुक्मिणी-मंगल(नंददास-उमाशंकर शुक्ल) पं०सं० ६३-६४

२- वही, पं०सं० ६७-६८ ।

३- वही, पं०सं० ६९-७० ।

४- वही, पं० सं० ६५-६६

५- रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड

६- रुक्मिणी-मंगल(नंददास-स०उमाशंकरशुक्ल) पं० १०७-१०८ ।

उपर्युक्त पंक्तियों में विरह से जलती हुई "पाती" को हृदय में लगाने से कृष्ण का हृदय शीतल होता है जो प्रत्यक्ष रूप से एक विरोध का आभास देता है । जलती हुई वस्तु के संपर्क में आने वाली वस्तु जलन का अनुभव करेगी न कि शीतलता का । इस विरोधाभास के द्वारा कृष्ण की विरह-व्यथा की व्यंजना कवि बड़े कौशल से करता है ।

इस प्रकार रुक्मिणी मंगल में प्रयुक्त अलंकार अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति -अर्थात् काव्य की सौन्दर्य वृद्धि में सहायक हुए हैं ।

जानकी-मंगल

जानकी-मंगल साधारण कोटि की रचना है । इसमें राम-जानकी के विवाह के प्रसंग को कथा का आधार बनाया गया है । कथा का क्रम बहुत कुछ बाल्मीकि रामायण के आधार पर रखा गया है । मानस की कथा से इसमें भिन्नता है । रामचरित के एक विशिष्ट अंश पर आधारित होने के कारण इसकी कथा खण्डकाव्य के उपयुक्त है किन्तु इसके प्रबन्ध का विकास समुचित रूप से नहीं किया गया है । काव्यत्व पूर्ण स्थलों और सरस सुन्दर वर्णनों का इसमें अभाव है । काव्य-पुराणादि के अंशों पर आधारित रचना का कोई विशेष उद्देश्य होता है । उसमें किसी न किसी पक्ष का उत्कर्ष अवश्य दिखाया जाता है । मूल की अपेक्षा उसमें अधिक चमत्कार एवं अधिक काव्य सौन्दर्य की सृष्टि की जाती है । किन्तु राम-कथा के एक अंश पर आधारित इस कृति में कोई वैशिष्ट्य लक्षित नहीं होता । तुलसीदास की ही कृति मानस भी है । उसमें यह कथा भाग अधिक उत्कर्ष पूर्ण है अतः "जानकी-मंगल" की स्वतंत्र रचना का कोई महत्व नहीं प्रतीत होता । "जानकी-मंगल" के अंतिम छन्द से यह संकेत मिलता है[1] कि इसकी रचना विवाहादि संस्कारों पर लोक में गाये जाने के लिए की गयी थी किन्तु इसके लोक प्रचलित होने या विवाहादि संस्कारों में गाये जाने का भी कोई प्रमाण नहीं मिलता । अतः इस उद्देश्य को पूर्ण करने में भी यह असफल रही । विवाह-विधि का विस्तृत विवरण कला की दृष्टि से कोई महत्व नहीं रखता।

प्रबन्ध गठन की दृष्टि से यह अत्यन्त शिथिल है । घटनाओं व प्रसंगों को इसमें अनावश्यक ढंग से संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया गया है । स्वयंबर-रचना के पश्चात्

१- उपबीत ब्याह उछाह जे सियराम मंगल गावहीं ।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिन पावहीं ।।
(जानकी-मंगल, गीता-प्रेस, पृ० ५९, छ० २४)

देश-देश के राजाओं के पास सन्देश भेजे जाते हैं और सब अपने साज-सजाकर जनकपुर में आने लगते हैं । ऐसा लगता है कि कथानक तूफान की गति से आगे दौड़ता है और कवि आवश्यक वर्ण्य वस्तुओं की भी सूचना मात्र देकर आगे बल पड़ता है ।

छन्द संख्या १६ से कथा स्थल जनकपुर से अयोध्या आ जाता है । जनकपुर में जब अनेक राजाओं और राजकुमारों की भीड़ स्वयंबर - स्थल में लग जाती है और स्वयंबर की तैयारी पूरी हो चुकती है + उस समय महर्षि विश्वामित्र राजा दशरथ के यहां राम लक्ष्मण को मांगने के लिए पहुंचते हैं जो कि असंगत है । क्योंकि वहां से वे राम-लक्ष्मण को मांग कर पहले अपने आश्रम में ले जाते हैं । आश्रम जाते हुए मार्ग में ताड़का-बध होता है । आश्रम में विश्वामित्र उन्हें शस्त्र-विद्या सिखाते हैं । राम राक्षसों को मारकर विश्वामित्र का यज्ञ सम्पन्न कराते हैं । इतना सब हो चुकने के अनन्तर विश्वामित्र राम-लक्ष्मण सहित स्वयंबर के लिए प्रस्थान करते हैं । उस समय भी मार्ग में अहिल्या का उद्धार होता है और तब कहीं राम-लक्ष्मणादि गुरु सहित स्वयंबर में भाग लेने पहुंचते हैं । इतनी घटनाओं के घटित होने में कितना समय लगा होगा किन्तु फिर भी विश्वामित्र राम लक्ष्मण सहित स्वयंबर में उपस्थित रहते हैं । काल-संकलन की ओर कवि का ध्यान नहीं गया है ।

जानकी-मंगल में सीता के जन्म से लेकर उनके विवाह तक की कथा कहीं गई है । वस्तुतः सीता के स्वयंबर से उनके विवाह-विधि सम्पन्न होने तक की कथा कहना ही कवि को इष्ट है - किन्तु जनकपुर, जनक, सीता-जन्म आदि की सूचना देकर कवि ने कथा को पूर्ण बनाने की असफल चेष्टा की है । राम-कथा इतनी ख्यात और लोक प्रसिद्ध है कि सीता के स्वयंबर या विवाह को वर्णित करने के लिए पृष्ठभूमि के रूपमें जन्म, वृत्तान्त तथा अन्य परिचयात्मक सामग्री को प्रस्तुत करने की आवश्यकता न थी । सीता के जन्म और विवाह के बीच की परिस्थितियां और घटनाओं का ऐसा संक्षिप्त कथन रचना के सौरस्य को नष्ट कर देता है । जानकी मंगल का अधिकांश भाग नीरस इतिवृत्तात्मक कथनों और परिचयात्मक अंशों से भरपूर है । कथा के क्रम में तो अनेक असं-गतियां हैं ही अतःइसके पाठक को न काव्य का आनन्द मिल पाता है और न कथा का राम विवाह के पश्चात् लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि का विवाह सम्पन्न कराना प्रबन्ध की दृष्टि से त्रुटि पूर्ण है । किन्तु तुलसीदास जी राम कथा के परंपरागत क्रम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करना चाहते थे । अतः कला की आवश्यकता की उपेक्षा करके भी उन्होंने उसके मूल रूप को सुरक्षित रखा । सद्गुरुशरण अवस्थी का यह कथन सत्य ही है - "यों तो सारी कथा ऐसी संक्षिप्त कर दी गई है कि उसने केवल वर्णनात्मक

इतिवृत्ति का रूप धारण कर लिया है, परन्तु ऐसे स्थलों की भी उपेक्षा की गई है जहां कोई सहृदय कवि बहुत कुछ कह सकता है।"[1]

चरित्र-चित्रण, वर्णन, रस आदि की दृष्टि से यह रचना अत्यन्त साधारण कोटि की है। अतः इसका विस्तृत विवेचन अनावश्यक है।

पार्वती-मंगल

पार्वती-मंगल की कथा भी तुलसीदास ने रामचरितमानस के बालकाण्ड में दी है जो काव्यत्व की दृष्टि से पार्वती मंगल की कथा से अधिक सुन्दर है। किन्तु पार्वती मंगल की कथा में यह विशेषता है कि इसमे प्रासंगिक कथाओं को त्याग दिया गया है। पार्वती से संबंधित कथा भाग ही इसमें प्रधान है। तारकासुर के प्रसंग को इसमें स्थान ही नहीं मिला। रति और कामदेव का प्रसंग भी अत्यन्त संक्षिप्त-सूच्य है। इसकी रचना पर कुमारसंभव की छाया विद्यमान है। शिव, पार्वती आदि के चरित्र परंपरागत हैं उनमें कोई नवीनता नहीं है। प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक वर्णन-विस्तार का इसमें भी नितान्त अभाव है। आकार-प्रकार और कथा के ढांचे की दृष्टि से यह खण्डकाव्य अवश्य है किन्तु कवित्व की दृष्टि से यह भी एक साधारण रचना है अतः इसका विस्तृत विवेचन अनावश्यक है। इसका संक्षिप्त विवेचनात्मक परिचय यहां दिया जा रहा है।

पार्वती-मंगल का प्रबंध जानकी - मंगल की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। इसका कथानक राजा हिमवान और मैना के भाग्य की सराहना एवं पार्वती के जन्म से उनके यहां ऋद्धि-सिद्धि संपत्ति की वृद्धि के वर्णन से प्रारम्भ होता है तथा विवाह विधि सम्पन्न होने और पार्वती के साथ शिव के कैलाश जाने पर समाप्त होता है। कामदेव के भस्म होने की प्रासंगिक कथा को अनावश्यक रूप से संकुचित कर दिया गया है। इसको विस्तार देना आवश्यक और प्रबन्ध के लिए हितकर सिद्ध होता है क्योंकि इससे नायक शिव के उत्कर्ष की वृद्धि होती है। इसमें इतिवृत्तात्मक स्थलों की योजना अवश्य चातुर्य के साथ की गई है जिससे वे नीरस नहीं मालूम पड़ते। जैसे पार्वती की वय वृद्धि को एक ही पंक्ति "सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्र भूषन भाल ही"[2] में

1- तुलसी के चार दल में जानकी मंगल की आलोचना

2-

2- पार्वती-मंगल(संपा॰ डा॰ माताप्रसाद गुप्त, प्रका॰ हि॰सा॰स॰)पृ॰१, छं॰ सं॰९

कौशल से व्यक्त कर दिया गया है । नारद का भविष्य कथन नारद-मैना संवाद से आकर्षक हो गया है । उमा की तपस्या के लिए माता-पिता की सीख के साथ तपस्या की कठोरता और उमा की कोमलता का अनुमान कर माता-पिता का वात्सल्य उमड़ा पड़ता है । माता व्यथित होकर कह उठती है "जगदीश जुवति जिनि सिजहि"[1] शंकर के क्रोधाभिभूत हो कामदेव को भस्म कर डालने से सभी पुरवासी आतंकित हो उमा से तपस्या त्याग देने का आग्रह करते हैं- किन्तु उमा का नेत्र और प्रेम अधिकाधिक दृढ़ होता जाता है । तपस्या-रत पार्वती का वर्णन करुणापूर्ण है । "सकुचहिं बसन बिभूषन परसत जो बपु । तेहि सरीर हर हेतु अरंभेउ बड़ तपु"[2] । बटु रूप शिव और पार्वती के संवाद आकर्षक हैं । विवाह की तैयारी और बारात की सजावट आदि के प्रसंगों को कुछ विस्तार मिला है । बारात के मार्ग का आनंद और उल्लास चित्रित करने में कवि को सफलता मिली है ।किन्तु फिरभी पार्वती-मंगल के वर्णनों का विस्तार प्रबंध काव्य की दृष्टि से पर्याप्त नहीं है । विवाह पद्धतियों के विवरण में कोई कलात्मकता नहीं है किन्तु उसी को अनपेक्षित विस्तार मिलता है । घटनाओं को भी अत्यन्त संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया गया है ।

रुक्मिणी-मंगल (नरहरि कृत)

अकबर के दरबारी कवि नरहरि ने भी एक रुक्मिणी मंगल की रचना की थी । इनका आविर्भावकाल सन् १५९३ ई० के आस पास माना जाता है[3]। इसका रुक्मिणी मंगल नंददास के रुक्मिणी मंगल तथा तुलसी के मंगलों के बाद लिखा गया। इसमें तुलसीदास के मंगलों में प्रयुक्त छंद पद्धति का अनुकरण किया गया है । मंगलाचरण में गणपति, गौरि और शारदा की बंदना प्रारंभ में मिलती है वह भी तुलसीदास के मंगलों की परम्परा का ही प्रभाव है । इसके रचना का उद्देश्य भी कदाचित् समाज को विवाह आदि सामाजिक उत्सवों के अवसर गाये जाने के लिए उपयुक्त गेय सामग्री प्रदान करना रहा है ।

यह कृति डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल द्वारा उनकी पुस्तक "अकबरी दरबार के हिन्दी कवि" में उद्धृत की गयी है । इसके पाठ का आधार "काशीराज पुस्तकालय"

१- पार्वती-मंगल(संपा०डा० माताप्रसाद गुप्त,प्रका० हि० सा० स०)पृ०५, छ०सं० २५ ।
२- वही, पृ० ८, छं० सं० ३९ ।
३- हि० सा० का आलो० इति० - डा० रामकुमार वर्मा पृ० ६०१ (चतुर्थ संस्करण)

कीप्रतिलिपि है । यह १५ पृष्ठों के आकार की एक लघु रचना है । इसमें दन्त्य"स" के स्थान पृष्ठों पर तालव्य "श" का प्रयोग शर्वत्र हुआ है -

राजकुंअरि शुकुमारि सो दुरि दुरि रो वद
लाज न काहुनि कहे ओ जन बीगो वइ[१]।

यह रचना भाषा, भाव, प्रबन्ध योजना, वर्णन आदि सभी दृष्टियों से निम्न कोटि की है । कथा में कोई मौलिकता नहीं है । इसमें जानकी-मंगल की ही भांति घटनाओं को अत्यन्त संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है । अतः इसका विस्तृत विवेचन अनावश्यक है ।

- - -

१- अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, पृ० सं०

अध्याय ५

रूप-मंजरी

(आध्यात्मिक प्रेम परक खण्डकाव्य)

"रूपमंजरी" के रचयिता अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नंददास हैं । इसका रचना-काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता किन्तु विद्वानों ने इसे सन् १५६८ ई० के आस-पास अनुमानित किया है[1]। इसमें पुष्टिमार्गीय प्रेमा-भक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है अतः इसका स्वरूप एक साम्प्रदायिक रचना का हो गया है, किन्तु फिर भी कला का पक्ष इसमें अप्रधान नहीं होने पाया है । नंददास में काव्य-प्रतिभा यथेष्ट थी जिसका परिचय "रूपमंजरी" शिख-नख, ऋतु, बन एवं बिरह -मिलन आदि के वर्णनों में भली-भांति मिल जाता है । इसकी कथा का निर्माण प्रेमाख्यानक पद्धति पर चौपाई-दोहा शैली में हुआ है और स्वप्न-दर्शन, प्रतिमा-दर्शन से प्रेमोदयकी कथा रूढ़ि भी इसमें मिलती है किन्तु फिर भी आश्चर्यक तत्वों और अतिप्राकृत घटनाओं का इसमें प्राधान्य नहीं है । अनेक प्रकार के लौकिक अलौकिक पात्रों का अवतरण कर कथा को जटिल बनाने की चेष्टा इसमें नहीं हुई । प्रेम मार्ग की बाधाओं भयंकर यात्राओं एवं निर्जन व अपरिचित स्थानों में नायक-नायिकाओं के भटकने के कौतूहल पूर्ण वर्णनों आदि का इसमें अभाव है । इस प्रकार प्रेमाख्यानक पद्धति पर निर्मित होने पर भी इसका वातावरण मध्ययुगीन विशुद्ध रोमांचक प्रेम कथाओं जैसा नहीं है । अतः इस कृति को प्रबन्ध-काव्य के विशिष्ट रूप में ग्रहण किए जाने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती ।

यद्यपि इस कृति में आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना हुई है किन्तु तो भी यह आन्यापदेशिक या अन्योक्ति परक रचना नहीं है । इसमें लौकिक प्रेमिका का अलौकिक प्रेमी के प्रति दाम्पत्य-रति भाव व्यंजित हुआ है । अलौकिक या आध्यात्मिक प्रेमी की ओर उन्मुख होने पर भी प्रेम की भावना या उसकी तीव्रता विशुद्ध लौकिक भाव है अतः इसकी काव्यात्मकता को कोई क्षति नहीं पहुंचती । इसमें रूपक का आवरण नहीं है अतः आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजक होते हुए भी यह रचना सूफियों के प्रेमाख्यानों से भिन्न परंपरा की कृति है । किन्तु कुछ विद्वानों ने रूपमंजरी के पात्रों और स्थानों

१- हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ०—

के नामों का विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त बताकर उनमें प्रतीकात्मकता ढूंढ़ने की चेष्टा की है और इसके द्वारा सम्पूर्ण कथा का एक आध्यात्मिक अर्थ - "निर्भीक चित्त होकर धर्म का आश्रय लिए हुए रूपनिधि- परमात्मा का अंश रूपमंजरी- आत्मा ही इस प्रेम मार्ग पर चलकर उसमें लीन हो सकती थी"[१] - निकाला है। किन्तु प्रस्तुत लेखक की समझ से यह अर्थ विद्वानों की कष्ट-कल्पना ही है। जायसी आदि की भांति नंददास ने इस कृति में कहीं भी इसकी ओर संकेत नहीं किया है।

रचना-शिल्प- रूपमंजरी की प्रेम-कथा को प्रबन्ध काव्य के रूप में विकसित करने की चेष्टा कवि ने की है। प्रबन्ध काव्य में देश, काल और प्रकृति आदि की निश्चित पृष्ठभूमि पर कथा का ढांचा खड़ा किया जाता है। रूपमंजरी में प्रारम्भिक प्रस्तावना के बाद कवि निर्भयपुर का वैभवपूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है। तत्पश्चात् रूपमंजरी के माता पिता और रूपमंजरी की शैशव एवं तरुण अवस्थाओं का परिचय देता है और उसके रूप-गुण आदि का विस्तृत वर्णन करता है। प्रकृति-वर्णन भी निर्भयपुर एवं वृन्दावन का वर्णन करते हुए किया गया है। प्रबन्ध काव्य के लिए आवश्यक इतिवृत्ति और मार्मिक वर्णन दोनों तत्वों का सामंजस्य रूपमंजरी में हुआ है। इतिवृत्तात्मक अंश कथा प्रवाह को अक्षुण्य रखते और हमारे कौतूहल को जागृत रखते हैं तथा वर्णनात्मक अंश हमारी सौन्दर्य पिपासा या काव्य-रुचि को तृप्त करते चलते हैं।

रूपमंजरी की कथा का विकास संतुलित नहीं है। धार्मिक (पुष्टिमार्गीय) सिद्धान्तों के प्रतिपादन की चेष्टा में प्रबन्ध के आवश्यक अंगों को अविकसित छोड़ दिया गया है। रूपमजरी के लौकिक विवाह की परिस्थितियों को कवि ने बिल्कुल ही उड़ा दिया है जो प्रबन्ध कला की दृष्टि से एक बहुत बड़ी त्रुटि है। केवल लोभी और कुबुद्धि ब्राह्मण ने कुरूप और क्रूर पति से उसका विवाह करा दिया, इतनी सूचना पर्याप्त नहीं है। यह घटना रूपमंजरी के लौकिक व्यक्तित्व को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ने वाली प्रमुख घटना है, अतः इसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिये थी। रूपमंजरी का लौकिक पति कौन क और कैसा था? उसकी कुरूपता और क्रूरता का क्या स्वरूप था? विवाह के पश्चात् किस प्रकार पति-पत्नी का मिलन हुआ और पत्नी को कैसे विरक्ति जागृत हुई आदि अनेक प्रकार की जिज्ञासाएं हमारे मन में उत्पन्न होती हैं। फिर माता-पिता पुराहित पर निर्भर रहकर उसके निर्णय को स्वीकार करने को क्यों विवश हुए? विवाह

१- नंददास क ग्रंथावली, पृ० १०७।

के पूर्व ही पति की कुरूपता को देखकर इन्होंने आपत्ति क्यों नहीं की? ये सभी प्रश्न पाठक के लिए रहस्य ही बने रहते हैं ।

अलौकिक नायक कृष्ण के प्रति रूपमंजरी का प्रेम प्रतिभा दर्शन और स्वप्न दर्शन से जागृत होता है । उसकी सखी इन्दुमती उसकी सहायिका बनती है । आध्यात्मिक दृष्टि से वह गुरु का और लौकिक दृष्टि से वह प्रेम घटक का कार्य करती है। पूर्वराग की अवस्था में रूप मंजरी का विरह उत्तरोत्तर विकसित होता है । षट्ऋतु वर्णन के सहारे उसकी अभिव्यक्ति हुई है और अंतिम मिलन भी प्रत्यक्ष न होकर स्वप्न में ही होता है । इस सफलता का श्रेय बहुत कुछ उसकी सखी इन्दुमती को है। रूपमंजरी का प्रयत्न नगण्य है । उसकी अपेक्षा इन्दुमती का ही व्यक्तित्व अधिक उभरता है । फिर भी विरह और मिलन की अनुभूतियां विशुद्ध लौकिक होने के कारण उनमें काव्योचित्त सौन्दर्य का अभाव नहीं है ।

रूपमंजरी में बीच-बीच में भाव, हाव, हेला आदि साहित्य शास्त्र के विषयों की व्याख्या मिलती है जो अप्रासंगिक है ।

रूपमंजरी में जीवन के एक ही प्रेम-पक्ष को इसमें आधार बनाया गया है और अलौकिक नायक कृष्ण की प्राप्ति भी एक मात्र घटना इसमें ली गयी है । अतः यह खण्डकाव्य की परिधि में ही आती है । महाकाव्यात्मक विस्तार इसमें नहीं है । खण्डकाव्य के शास्त्रीय लक्षण भी इसमें अंशतः मिलते हैं । प्रारम्भ में मंगलाचरण है जो आशीर्वादात्मक और वस्तु-निर्देशात्मक दोनों प्रकार का है । कथा का बिभाजन सर्गों में नहीं है । किन्तु नायक प्रधान न होकर कृति नायिका प्रधान है और उससे संबंधित वृत्त उत्पाद्य है । आद्यन्त एक ही रस शृंगार की योजना हुई है । चतुर्वर्ग फल में से एक "काम"(या आध्यात्मिक अर्थ में "मोक्ष") की प्राप्ति होती है । विविध विषय - विरह, मिलन आदि और वस्तुओं -नगर, बन आदि- के वर्णन यथास्थान मिलते हैं । आद्यन्त दोहा- चौपाई छन्द का व्यवहार मिलता है ।

<u>वस्तु-विवेचन-</u> रूपमंजरी निर्भयपुर नामक नगर के यशस्वी राजा धर्मधीर की कन्या थी वह अनिन्द्य सुन्दरी थी । विवाह योग्य होने पर माता पिता ने उसके उपयुक्त बर ढूंढ़ने का कार्य पुरोहित को सौंपा, किन्तु उस कुबुद्धि ब्राह्मण ने लोभवश उसका विवाह एक कुरूप और क्रूर पति से करा दिया । उसकी सखी इन्दुमती ने उपपति-रस द्वारा उसके सौन्दर्य को कृतार्थ कराने की चेष्टा की । एक दिन गोबर्धन जाकर वह रूपमंजरी को कृष्ण की प्रतिभा दिखा लायी । उन्हेंही रूपमंजरी के योग्य नायक समझकर इन्दुमती ने मन ही मन कृष्ण की आराधना की । फलतः एक दिन रूपमंजरी

ने स्वप्न में कृष्ण को देखा और उन पर अनुरक्त हो गयी । सखी यह समाचार पाकर हर्षित हुई और रूपमंजरी के भाग्य की सराहना करने लगी । वह रूपमंजरी के हृदय को कृष्ण का आलय समझकर उसी को कृष्ण रूप में पूजने लगी । इधर रूपमंजरी की विरहानुभूति चरम सीमा पर जा पहुंची । सखी इन्दुमती ने अत्यन्त कातर वाणी में कृष्ण से प्रार्थना की । फलतः रूपमंजरी ने स्वप्न में ही कृष्ण का मिलन सुख प्राप्त किया । इस प्रकार स्वप्न की ओट में रूपमंजरी को गिरिधर पिय की प्राप्ति हुई । इन्दुमती भी उसकी संगति से मोक्ष पा गयी । रूपमार्गीय उपासना पद्धति और मधुरा भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से निर्मित होने के कारण इसके कथानक का ढांचा कुछ विचित्र सा है ।

रूपमंजरी की कथा काल्पनिक है किन्तु विद्वानों ने इसकी प्रमुख पात्री रूपमंजरी को ऐतिहासिक सिद्ध करने की चेष्टा की है । नंददास ने अपनी कुछ कृतियों में अपने एक परम रसिक मित्र होने का उल्लेख किया है । "रास पंचाध्यायी"[१] और "दशमस्कंध"[२] की रचना कवि ने इसी मित्र के आग्रह पर की थी । "दशमस्कंध"[३], "अनेकार्थमंजरी"[४] और "मानमंजरी नाममाला"[५] ग्रंथों के उल्लेखों से विदित होता है कि उसे संस्कृत का अच्छा ज्ञान न था ।। "दशमस्कंध" के बहुत से अध्यायों के आरम्भ में कवि अपने इस मित्र को संबोधन भी करता है । डा॰ दीनदयाल गुप्त के अनुसार यह रसिक मित्र अष्ट कवि या पुष्टिमार्गीय वैष्णवों में से कोई नहीं हो सकता । उनका अनुमान है कि रूपमंजरी ग्रंथ की नायिका रूपमंजरी ही कदाचित् कवि की परम रसिक मित्र है[६]।

रूपमंजरी के ऐतिहासिक पात्री होने का कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं है । इस संबंध में जो कुछ जानकारी प्राप्त हो सकी है वह वार्ता के उल्लेखों से । दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता के अन्तर्गत २३२वीं वार्ता में रूपमंजरी की वार्ता दी गई है[७]। जिसके अनुसार रूपमंजरी ग्वालियर के किसी क्षत्री के यहां उत्पन्न हुई थीं और

१- देखिए- रासपंचाध्यायी (नंददास, संपा॰ शुक्ल) पं॰ सं॰ ३९-४० ।

२- परम विचित्र मित्र इक रहे । कृष्ण चरित्र सुन्यो सो चहै ।
तिन कही दसम स्कंध जु आहि । भाषा करि कछु बरनौ ताहि।-दशमस्कंध ।

३- भागवत दशम स्कंध । ४- अनेकार्थ मंजरी (नंददास, संपा॰शुक्ल) पं॰ ५६ ।

५- मानमंजरी नाम माला(नंददास, संपा॰ शुक्ल)पं॰ ३-४ ।

६- अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय -डा॰दीनदयाल गुप्त भाग १, पृ॰सं॰ १००।

७- दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता, गोस्वामी हरिराय प्रणीत, सं॰ब्रज भूषण शर्मा विद्या॰दा॰पारीख पृ॰सं॰२३४-२३६ ।

अत्यन्त रूपवती थीं । वह क्षत्री गोसाईं जी का सेवक था । अतः उसने रूपमंजरी को भी गोसाईं जी का सेवक बनाया । बड़ी होने पर एक क्षत्री अक्न से उसका विवाह हुआ जो अकबर का सेवक था और स्नेह पात्र था । रूपमंजरी भी महलों में रहने लगी अकबर ने उसके रूप पर रीझ कर उसे अपनी लौंड़ी बनाया और उसे अलग महल दिया वह धर्मशील थी अतः उसने अकबर से कहा, यदि तुम हमारा स्पर्श करोगे तो मैं ज़हर खाकर मर जाऊंगी । अकबर ने उसे न स्पर्श करने का वचन दिया किन्तु दिन में एक बार उसका मुख देख लेने मात्र की इच्छा प्रकट की । इस प्रकार बादशाह उसका मुख देखकर ही प्रसन्न रहने लगा ।

रूपमंजरी के पास एक गुटका था । वे उस गुटके को मुंह में रखकर नित्य गोवर्धन नाथ जी के दर्शनों के लिए आती थीं । गोवर्धन नाथ जी के दर्शन के पश्चात् वे नंददास जी के पास आती । नंददास जी से उनकाबहुत स्नेह था । वे नंददास जी से भागवत और रस के ग्रंथ सुनती थीं । नंददास जी से उन्होंने गान भी सीखा और नंददास जी के साहचर्य से रूपमंजरी की प्रीति गोवर्धन नाथ जी में बहुत बढ़ी । गोवर्धन नाथ जी उसके महल में पधार कर उसे दरसन देते थे । वे रात्रि में चार पहर तक उसके साथ चौपड़ खेलते थे ।

उपर्युक्त कथा को प्रामाणिक मान लेने पर रूपमंजरी की घटनाओं को भी नितान्त कल्पित नहीं कहा जा सकता । किन्तु उपर्युक्त वार्ता की प्रामाणिकता पूर्ण तया संदिग्ध है ।

चरित्र-चित्रण

रूपमंजरी में पात्रो के चरित्र-चित्रण की चेष्टा नहीं हुई । इसमें रूपमंजरी ही मुख्य नि पात्र के रूप में चित्रित हुई है । उसके सौन्दर्य और प्रेम का चित्रण प्रधान है । नायक कृष्ण का प्रत्यक्ष रूप से कथा में कोई भाग नहीं । वे नायिका के प्रेम के आलम्बन हैं और परोक्ष-रूप में नायिका से स्वप्न में मिलते हैं । सखी इन्दुमती का चरित्र महत्वपूर्ण है । अन्य चरित्र गौण हैं ।

रूपमंजरी- रूपमंजरी के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है "स्वच्छंद प्रेम" । "स्वच्छंद प्रेम" की मूल भावना के अंतर्गत उसके व्यक्तित्व के अन्य पक्ष समाहित हो गए हैं । लोक मर्यादा का उसके लिए कोई महत्व नहीं । वह कोमलता, भावुकता और सुन्दरता की प्रतिमूर्ति है । आचार्यों के अनुसार जिसको देखते ही चित्त में रतिभाव जागृत हो जाय उसे नायिका कहते हैं । रूपमंजरी भी ऐसी ही नायिका है ।

जब कोउ वा तन तनक निहारै । ताकौं निधरक पंच सर मारै ।
रूप गुण आदि में वह दूसरी "समुद्र की बेटी" अर्थात लक्ष्मी है । यौवन का वेग उसमें पूर्णत पर है । "तिय-तन सर, बालापन पानी, जोबन तरनि किरन अधिकानी"। नायिकाओं के कांति, लावण्य, मधुर आदि समस्त आभूषण उसमें विद्यमान हैं ।

इस प्रकार रूपमंजरी का व्यक्तित्व भावात्मक अधिक है उसमें क्रियाशीलता का पक्ष गौण है । रूपमंजरी के चरित्र पर दो अन्य दृष्टियों से विचार किया जा सकता है एक तो सामाजिक या नैतिक दृष्टि से और दूसरे आध्यात्मिक या साधक की दृष्टि से । सामाजिक या नैतिक दृष्टि से रूपमंजरी का प्रेम मर्यादाहीन है । भारतीय आदर्शों के अनुसार विवाह एक धार्मिक और नैतिक बंधन है । पति-पत्नी के रूप में आबद्ध प्राणी सदैव के लिए एक हो जाते हैं उनके सम्बन्ध-विच्छेद की कल्पना नहीं की जा सकती । "कुरूपता" और "कठोरता" आदि दुर्गुणों की परीक्षा तो विवाह के पूर्व ही हो सकती है । एक बार विवाह संस्कार सम्पन्न हो जाने के बाद इन दोषों का कोई महत्व नहीं रह जाता । "रूपमंजरी" में इस अनमेल विवाह के पीछे मूर्ख ब्राह्मण की लोकवृत्ति को दोषी ठहराया गया है किन्तु यह वैवाहिक बंधन की पवित्रता और दृढ़ता को शिथिल करने के लिए अस्त्र नहीं बनाया जा सकता । रूपमंजरी द्वारा विवाहित कुरूप पति की उपेक्षा और "उपपति" की प्राप्ति के द्वारा अपने रूप-यौवन को सफल बनाने की चेष्टा को कभी भी उचित और लोकहित के अनुकूल नहीं कहीजा सकती । इस दृष्टि से रूपमंजरी और उसकी सखी इन्दुमती का कार्य उनकी स्वच्छन्द वृत्ति और स्वच्छन्द प्रेम की भावना का द्योतक है । किन्तु नायिका रूपमंजरी का यह स्वच्छन्द प्रेम कृष्ण की ओर उन्मुख होने के कारण हेय नहीं कहा जा सकता । मध्ययुग में देवी-देवताओं के संदर्भ में नैतिक-बंधन शिथिल हो जाते थे । इसलिए कृष्ण का आश्रय लेकर "परकीया" प्रेम के अनेक चित्र मध्ययुग के कवियों द्वारा प्रस्तुत किए गए । विवाहित होते हुए भी मीरा की "पति भाव" से कृष्ण की उपासना को समाज अनैतिकता पूर्ण नहीं मानता ।"रूपमंजरी" का उपपति भाव कृष्णोन्मुखी होने के कारण सामाजिक या नैतिक दृष्टि से भी उसे अग्राह्य नहीं कहा जा सकता । आध्यातिक दृष्टि से रूपमंजरी माधुर्य भाव की उपासिका कही जा सकती है । माधुर्य-उपासना के अन्तर्गत आराध्य कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने की कामना साधक करता है ।

अतः इस प्रकार की भक्ति में दाम्पत्य प्रेम का आकर्षण और तीव्रता रहती है। वल्लभ सम्प्रदाय के अंतर्गत लोक, वेद और कुल की मर्यादा का उल्लंघन भी इस उपासना के क्षेत्र में विहित ठहराया गया है। अतः इन्दुमती का प्रयत्न और रूपमंजरी का कृष्ण की रूपमाधुरी पर मुग्ध होकर उसकेभक्त रूप का विह्वलता का ही परिचायक है। पूर्वराग उनके विरह में व्याकुल होना है। अतः साम्प्रदायिक दृष्टि से उप पति-रस या परकीया प्रेम अवैध नहीं है। परकीया प्रेम में स्वकीया प्रेम की अपेक्षा अधिक तन्मयता और तीव्रता रहती है। इन्दुमती कहती है-

रस की अवधि कहत कवि ताही, रस में जो उपपति रस आही[१]।

सो रस जौ या कुंवरिहि होई, तौ हौ निरखि जियौं सुख सोई[४]।

रूपमंजरी के चरित्र का एक अन्य पक्ष भी है। जिसके अनुसार रूपमंजरी रूपमार्ग की उपासना का आलंबन भी है। उसकी सखी इन्दुमती उसके रूप की उपासना करके ही मोक्ष पा जाती है। डा० दीनदयाल गुप्त के अनुसार रूपमंजरी में दुहरी उपासना पद्धति की योजना हुई है "एक ससीम लोक सौन्दर्योपासना द्वारा निस्सीम दिव्य सौन्दर्य को पाना और दूसरा प्रेम के उपपति भाव द्वारा भगवान के नैकट्य को प्राप्त करना। कवि ने रूपमंजरी के रूप में इन्दुमती की आसक्ति द्वारा रूपोपासना के मार्ग का वर्णन किया है और कृष्ण में "जार भाव" से रूपमंजरी की आसक्ति द्वारा भक्ति के माधुर्य भाव को दिखाया है[५]।"

इन्दुमती- इन्दुमती नायिका रूपमंजरी की सखी है जो उसके रूप के निरर्थक होने की कल्पना कर चिंतित है होती है और उसे सार्थक करने के लिए गिरिधर कृष्ण से उसे मिलाने का प्रयत्न करती है। "रूपमंजरी" के निम्नलिखित दोहे से ऐसा लगता है कि इन्दुमती के रूप में कवि ने स्वयं अपने को ही कथा का एक पात्र बनाया है-

इंदुमती मतिमंद पै, और नाहिं निवहंत।

नागर, नगधर, कुंवर-पद, इहि मग छुओ चहंत[६]।

एक सखी के रूप में इन्दुमती का चरित्र आदर्श कहा जा सकता है। अपनी सहचरी के कल्याण के लिए उसकी तपस्या और कठिन साधना उसके चरित्र को ऊंचा उठाने वाली है। इन्दुमती ने रूपमंजरी के सुख-दुख को अपना सुख-दुख बना लिया और अपनी सेवा और अर्चना का फल ही अपनी सखी को दे डाला। यह उसका महान्

१-४:-रूपमंजरी (नंददास, संपा० शुक्ल) पंक्ति संख्या ७९, ७०, १०२, १६६-१६७।
५- अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय, भाग २, पृ० सं० ७९५।
६- रूपमंजरी (नंददास, संपा० शुक्ल) पं० २३-२४।

त्याग कहा जा सकता है । उसमें सहृदयता, परोपकारिता और कृष्ण-प्रेम की दृढ़ता अपनी चरम सीमा पर पहुंची जान पड़ती है ।

वस्तुतः इन्दुमती के चरित्र का दूसरा पक्ष एक रूप मार्ग की उपासना करने वाली साधिका का है जो रूप की मूर्ति रूपमंजरी में ही भगवान का दर्शन कर उसी में उनकी पूजा करती है और अंत में उसी के सहारे मोक्ष पा जाती है ।

अन्य चरित्र गौण है अतः उनका विवेचन अनावश्यक है ।

वियोग-वर्णन

रूपमंजरी का कृष्ण के प्रति विरह पूर्वराग जन्य है । उसकी विरह-दशा का चित्रण परम्परागत ऋतु-वर्णन की पद्धति पर किया गया है । विरह की अग्नि उसमें तभी से प्रज्वलित हो उठती है जब वह नायक कृष्ण के प्रत्यक्ष मिलन के लिए व्याकुल होती है । उसकी हविरहाग्नि का वर्णन लघु प्रसंगों के सहारे किया गया है,

"आन के ढिंग उसास नहिं लेहि । मूंदि मुंह तिहिं उत्तर देहि ।
तपत उसासन जो कोउ लहै । बाल बिरहिनी का तब कहै ।
जो कोउ कमल फूल पकरावै । हाथ न छुवै निकट धरवावै ।
अपने कर जु बिरह जुर ताते । यति मुरझाहि डरति तिम याते[1]।

पावस ऋतु विरहिणियों के लिए अत्यन्त दुखदायी होती है । पावस के समस्त उपकरण नायिका के मन में भय, क्षोभ, आकुलता, आदि को जन्म देते हैं और वेदना को तीव्रता प्रदान करते हैं । वेदना के स्वरूप को उभारने के लिए कवि ने इन्दुमती के वार्तालाप के प्रसंगों का सहारा लिया है । ज्यों ज्यों नायिका की व्यथा को हल्का करने की चेष्टा सखी अथवा अन्य किसी के द्वारा होती है त्यों त्यों प्रियतम के रूप-भाव व्यंजक किसी न किसी प्रसंग के आजाने के कारण उसकी व्यथा घटने के स्थान पर अधिक तीव्र हो जाती है । प्रकृति के क्रिया-व्यापारों द्वारा उसमें सजीवता आ गयी है । पावस, शरद एवं बसन्त के चित्र सुन्दर एवं   दीपक हैं । वर्षाकालीनरात विरहिणी की व्याकुलता को बढ़ा देती हैः-

घन हर घोरैं पवन झकोरैं । दादुर झींगुर कानन फारैं ।
पटबिजना तहं अधिक सतावै, घटन तैं उछटि चिनग जनु आवै ।
पुनि तहं पापी पपिहा दहै, तासौं इंदुमती इमि कहै ।
अरे सकुनि । बिन अगिनि दहै रे, बंचक रंचक चुप कै रहै रे[2]।

१- रूपमंजरी पृष्ठ १५(पं० ३२१ से ३२४ तक) । २- वही, पृ० १६(पं० ३४०-४२) ।

नायिका मेघ में प्रियतम की उनहार पाकर उसकी ओर देखती है किन्तु वह उसके गर्जन से भयभीत होकर छिप जाती है:-

घन मैं तनक जु पिय उनहारी । तिहि ललच देखै बर नारी ।
बगन की माला, नैंन बिसाला, मानत पिय उर पंकज माला ।
दामिनि दमक देखि दृग नावै, पिय पट पीत छोर सुधि आवै[1]।

पावस में नायिका का हृदय आवा की भांति जलता है । रूपमंजरी को विह्वल देखकर सहचरी इंदुमती उसे वर्षा बीतने के बाद नायक से मिलाने के लिए कहती है[2] और बीन बजाकर उसकी व्यथा हल्की करने की चेष्टा करती है, किन्तु घी सींचने से आग कैसे बुझ सकती है[3]। प्रिय की त्रिभंगी मूर्ति तो उसके मन में फंस के रह गयी - अतः वह कलम लाती है-

पिय मूरति जु आनि उर अरै, कामिनि कलमल-कलमल करै[4]।

शरद ऋतु में सहचरी नायक के पास संदेशा भेजती है । नायिका कमल पत्रों के कपोत बनाकर उड़ाने की चेष्टा करती है[5]। वह प्रिय के रूप दर्शन के लिए छटपटाती है । प्रकृति के नायिका के अंगों से होड़ लेने वाले पदार्थ स्वभावतः ~~हर्षित~~ हर्षित हो उठे हैं देखिए-

अंजन बिन दिखि नैंन सुहाये, खंजन दुरे कहूं तैं आये ।
देखि कुंवरि कौ बदन उदास, इंदु मुदित ह्वै उदित अकास ।
निरखि मलिन मुख, नलिन अति, फूले सब इकसार ।
बैरी चीत्यौ जगत मैं, तू जिनि करि करतार[6]।।

पूर्ण चन्द्र को सब रात अग्नि बरसाने के कारण नायिका भला बुरा कहती है । उसका यह कथन प्रलाप की अवस्थाओं पहुंचा लगता है- वह सखी से पूछती है कि राहु इस रांड को निगलकर भी क्यों छोड़ देता है तो सखी उसका कारण बताती है कि तेरे कंत ने ही राहु के दो टुकड़े कर दिए जिससे उसके उदर नहीं रहा, तभी तो चन्द्रमा निकल-निकल कर बिरही जनों को संतप्त करता है- वह राहु के शरीर को पुनः जोड़ने के लिए नायक को लाने के लिए कहती है- और चंद्रमा के लिए उसकी व्यवस्था

१- रूपमंजरी पृ० १६(पं० ३३७-३३९) । २- वही, पृ० १७ पं० ३५३ ।
३- वही, पृष्ठ १७, पं० ३५९-३६० । ४- वही, पृ० १७, पं० ३६१।
५- वही, पृष्ठ १७, पं० ३६८ । ६- वही, पृ० १८, पं० ३७३-३७६ ।

यह है-

के अहरनि पर गरि कुमर, सु कर लौह घन लेइ ।

जब हीं आनि परै तहां, तब हीं ता सिर देइ[1]।।

नायिका की "खीज" की व्यंजना उपर्युक्त पंक्तियों में स्वाभाविक हुई है ।

हेमन्त ऋतु का दीर्घ निशा में नायिका की नींद कहीं जाकर सो जाती है । इस ऋतु मे नायिका कामदेव की प्रतिमा बनाकर उनसे विनय करती है कि वह (कामदेव) उसे पंवशर का लक्ष्य न बनावे । शिशिर में वह सखी इंदुमती से अपनी वर्षा के बाद नायक से मिलाने की प्रतिज्ञा पूरी न करने का उलाहना देती है - वह कहती है अब बसन्त का आगमन होने वाला है कामदेव ती पहले से ही विद्यमान है- अतः अब पावक और पवन का संयोग होगा - इस पंवड विरहाग्नि को वह कैसे सहेगी ।

होली में नगर के लोग बृज-लीला गाते हैं । नायिका उसमें गिरिधर पिय की उनहारि का वर्णन सुनकर मूर्च्छित हो जाती है । नायिका की मां व्यथित होकर भूत का उपचार करने में " कुल नाथ" के पूत की कुशलता का बखान कर उसकी व्यथा को और भी बढ़ा देती है, सखी इन्दुमती की युक्ति से नायिका की मूर्च्छा भंग हो पाती है ।

बसंत में नायिका काम के बाणों से कैसे बच पाती है? इसके पीछे कवि ने आकर्षक प्रसंग की कल्पना की है - सांगरूपक का यह चित्र देखिए-

" एक राउ आखेटक चढ्यौ, बिरही मृग मारन रिस बढ्यौ ।

पुहुप कौ चाप, पनिच अलि लिये, पांच बान पांचौ कर लिये ।

सोषन, दहन, उचाटन, छोभन, तिन मैं निपट बुरौ संमोहन।

त्रिगुन पवन तुरंग चढ़ि गायौ, दलमलि देस कुंवरि ढिंग आयौ ।

रूपमंजरी दिखि हंसि परी, बदन सुबास निकसि अनुसरी ।

सो सुबास जब भौंरन पाई, टूट पनिच सब तहं चलि आई ।

इतने हि मांझ उबरि गई माई, नातर मार, मारि तिहिं जाई[2]।"

ग्रीष्म की अधिकता के कारण जड़ चेतन सभी निष्क्रिय से हो जाते हैं- पशु-पक्षी भी अपने स्वाभाविक बैर-भाव को भूलकर निश्चेष्ट पड़े रहते हैं ।

१- रूपमंजरी, पृष्ठ १८, पं० ३७६-३८७ ।

२- वही, पृ० २३-२४(४९६-५०२) ।

अति निदाघ मै अस सुधि नाहीं, दादुर रहत फनी फन छांही[1]।

उस ग्रीष्म में भी शीतल पदार्थ नायिका के तन-मन में आग लगाते हैः-

चंदन चरचे अति परजरै, इंदु किरन घृत बुंद सी परै ।

घनसारहि दिखि मुरझाति ऐसैं, मृगीवंत जल दरसै जैसैं[2]।

विरह की उष्णता क वर्णन करने में अत्युक्ति का भी सहारा कवि लेता हैः-

हार के मुतिया उर झर माहीं, तचि-तचि तरकि लवा ह्वै जाहीं[3]।

इस प्रकार विरह-वर्णन में लघु प्रसंगों की योजना द्वारा कवि ने नूतन सौन्दर्य की सृष्टि कर दी है । विरह की विविध दशाओं-अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण, कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा, मरण के चित्र मिलते हैं ।

विरह की विविध व अन्तर्दशाओं का वर्णन रूपमंजरी में हुआ है ।

संयोग-वर्णन- रूपमंजरी में नायिका रूपमंजरी का नायक कृष्ण से मिलन दो बार स्वप्न में ही होता है । प्रथम मिलन में पूर्वराग का उदय होता है । रूपमंजरी स्वप्न में उन्हें देखकर और अपने योग्य नायक समझकर उनमें अनुरक्त हो जाती है । यह मिलन वृन्दावन के एक कुंज में होता है । कृष्ण मुस्काते हुए, इंदुमती को पूछते हुये आते हैं, नायिका लज्जित होकर मौन रह जाती है । नायिका के न बोलने पर नायक कृष्ण एक सुन्दर फूल नायिका के कपोल पर खींचकर मारते हैं[4]।

नायक-नायिका का संयोग-वर्णन दूसरे अवसर पर किया गया है । इसमें मानसिक वृत्तियों का उद्घाटन उतना नहीं हुआ जितना शारीरिक चेष्टाओं का, अतः वर्णन सांकेतिक या सूक्ष्म न रहकर अधिक स्थूल हो गया है । इन्दुमती की विनय एवं दैन्य पूर्ण प्रार्थना के पश्चात् कृष्ण स्वप्न में पुनः नायिका रूपमंजरी के निकट आते हैं । यह मिलन यमुना तट पर कल्पवृक्ष के नीचे कुंज में ही होता है ।पिय को देखकर नायिका लज्जित होकर सखी के पीछे छिप जाती है । हंसते हुए पिय उसके समीप आते हैं और वह सखी के शरीर में लता की भांति लिपट जाती है । यहां पर उसका स्वरूप मुग्धा नवोढ़ा का चित्रित किया गया है[5]। कुछ पंक्तियां बड़ी मार्मिक एवं तथ्यपूर्ण हैः

१- रूपमंजरी, पृ० २४(पं० ५०९) । २- वही, पृ० २४(पं० ५११-५१२) ।
३- वही, पृ० २४(पं० ५१३) । ४- वही, पृ० ११(पं०२२०-२३२) ।
५- वही, पृ० २५(पं०५३२-५५१) ।

बनिता-लता सहज सुखदाई, ऐंचे सरस निरस ह्वै जाई ।

नेह नबोढ़ा नारि कौं, बार बार कन्याइ ।

थलरामे पै ण्डाइये, निरपीहे निरसाइ[1]।।

मन चहै रम्यौ, रू तन चहै भग्यौ, कामिनि कौं यह कौतुक लग्यौ ।

जो पारद कौं कर थिर करै, सो नबोढ़ बाला उर धरै[2]।

रति-क्रीड़ा के वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी मांसल हैं । नायिका नायक के अंगों में घुल जाना चाहती है - शरीर की रोमावली भी नायिका को आलिंगन में बाधक लगती है-

प्रेम पुलक अंकुत तिहि काला, सो अंतर सहि सकति न बाला ।

चित बिवधान सहति नहिं सोई, रूपमंजरी अस रस भोई[3]।

और सबेरा होने पर भी-

जात न उठि लपटात सुठि, कठिन प्रेम की बात ।

सूर उदोत करौत सम, चीरि किये विवि गात [4]।।

रत्यन्त में नायिका को संभोग हर्षिता के रूप में चित्रित किया गया है ।

रूप-वर्णन

नंददास प्रेम और यौवन के चित्रण में अत्यन्त कुशल हैं । रूपमंजरी रूपमार्गीय उपासना पद्धति का पोषक काव्य है अतः रूप-वर्णन को अधिकाधिक उत्कर्ष इसमें मिला है ।

इसमें शैशवावस्था और अज्ञात यौवना मुग्धा के मार्मिक चित्र अंकित हुए हैं । शैशवावस्था- रूपमंजरी के बाल रूप को दिव्य और अलौकिक आभा से सम्पन्न करने की चेष्टा कवि ने की है । उसके अंग-अंग से शुभ लक्षण प्रगट होते हैं[5]। वह रूप-मृगी की चंचल बालिका है जो अपनी छबि से पृथ्वी को पावन करती घूमती है[6]। उसके रूप को देखकर मेघ छाया करते हैं, पशु-पक्षी उसके पीछे घूमते हैं[7]। उसकी समता पार्वती[8] और लक्ष्मी[9] से की गई है । उसके रूप की ज्योति अंधकार का नाश करती है[10]

१- रूपमंजरी, पृ० २५(पं० ५३९-५४१) । २- वही, पृ०२६(पं०५४६-५४७) ।
३- वही, पृ० २६(पं० ५५२-५५३) । ४- वही, पृ०२६(पं०५६०-५६१) ।
५- वही, पृ०४ (पं०६५) । ६-१०- वही, पं० क्रमशः ६७,६९,६५,७०, ७१-७२ ।

रूपमंजरी के अलक, भौंह आदि के आकर्षक तथा अंगों के रंग-रूप का उत्कर्ष पूर्ण चित्रण परंपरागत उपमानों के सहारे हुआ है। किन्तु सौन्दर्य की सहज नैसर्गिकता को अभिव्यंजित करने के लिए परम्परागत उपमानों की अपूर्णता और अनुपयुक्तता की ओर भी संकेत किया गया है। रूपमंजरी की अलकों का वर्णन देखिए-

सहज सुगंध सांवरी अलकैं, बिन हि फुलेल उलेल सी झलकैं।
नीरस कबि जे रसहि न जानैं, व्याल बाल सम बाल बखानैं[1]।

रूपमंजरी के अंगों की उज्जवलता जैसे जैसे बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे सोने के आभूषणों की कांति फीकी पड़ रही है[2]। उसके रूप को देखकर उसके स्वयं रति अथवा उसकी छोटी बहिन या पुत्री होने का संदेह होता है[3]।

वयः संधि का वर्णन अधिक विस्तृत नहीं हैं किन्तु वह संयत और सांकेतिक होने के कारण नवीन सा लगता है। उरोजों के उभार की व्यंजना के लिए कवि दोनों उरोजों के मध्य की दरार का वर्णन करता है- इस अवस्था में उरोज अभी अविकसित हैं अतः- नाहिंन उलहे उरज दरारा, पै मणि लुठन लग्यौ मोति हारा[4]।

इसी प्रकार उसके काम और यौवन की अभिज्ञता की व्यंजना किस कौशल के साथ कवि करता है -

गुड़ा-गुड़ी के व्याह बनावैं, लाज गहै जब सेज सुवावै[5]।

उपर्युक्त वर्णन नख-शिख पद्धति पर होते हुए भी उसके समस्त अंगों का वर्णन नहीं किया गया है। किन्तु फिर भी उसके सौन्दर्य की रेखाएं इस प्रकार उभारी गई हैं कि सम्पूर्ण चित्र पूर्णता के साथ नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है।

अज्ञात यौवनावस्था- इस अवस्था का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ तन्मय होकर कवि ने किया है। यह वर्णन सजीव, सटीक और साभिप्राय है। रूपमंजरी वस्तुतः उस "रूपनिधि" परमात्मा का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी बंदना ग्रंथ के आरम्भ में की गयी है। वह कवि की रूपोपासना करने है का आलंबन है अतः उसके रूप-वैभव का उत्कर्ष पूर्ण चित्र खींचा गया है। भक्त के हृदय का आलंबन बनने वाला, रूप सामान्य रूप से विशिष्ट होना स्वाभाविक ही है। यह कृति का सर्वोत्कृष्ट स्थल ही नहीं है, साहित्य-शास्त्र, काव्य और उपासना तीनों के संगम का भव्यतम उदाहरण है। कवि की मूर्ति-विधायिनी कल्पना का दर्शन इसमें प्रति पग पर देखा जा सकता है। यौवन के आगमन का सजीव चित्र इन पंक्तियों में देखिए-

---

१-५:- रूपमंजरी, पंक्ति (क्रमशः) ७३-७४, ७७, ८०, ८२, ८५।

"तिन तन रूप बढ़त चल्यौ ऐसें, दुतिया चांद कलन करि जैसें ।
जुबन राउ जब उर-पुर लयौ, सैसव राउ जघन-बन गयौ ।
अरन लगे जब दोउ नरेसा, छीन पर्यौ तब तिय मधि देसा ।
तिय-तन सर, बालापन पानी, जोबन-तरनि,किरन अधिकानी ।
ज्यौं ज्यौं सैसव-जल थुरवाने, त्यौं त्यौं नैन-मीन इतराने[1]।"

यहां मुग्धा अज्ञात यौवना नायिका का चित्र प्रस्तुत करने वाली पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता-

"सखि जब सर-स्नान लै जाही, फूले अमलन कमलनं माही ।
तिय तन परिमल जब लखि पावैं, अंबुज तजि सब अलि चलि आवैं ।
इंदुमती जब भंवर उड़ावै, इंदुबदनि अन्हांन तब पावै ।
पौंछि डारति रोम की धारा, मानति बाल सिबाल की डारा ।
चंचल नैन चलत जब कौने, सरद कमल दल हू तैं लौने ।
तिनहिं श्रवन बिच पकर्यौ चहै, अंबुज दल से लागैं, कहै ।
नवला निकसति तीर जब, नीर चुवत बर चीर ।
अंसुवन रोवत बसन जनु, तन बिछुरन की पीर[2]।।

अलियों का कमलों को त्याग कर रूपमंजरी को घेर लेना, नायिका का रोमावलि को सेंवार की डाल समझना, कोने की ओर चलने वाले नेत्रों का कानों के बीच पकड़ा जाना, और वस्त्रों का नायिका के शरीर से बिछुड़ने की पीड़ा के कारण आंसू टपकाना, कवि की सहृदयता , विदग्धता और सूक्ष्म कल्पना का परिचय देते हैं ।

रूपमंजरी के रंग की गोराई के अतिरिक्त, वेणी, भ्रुव, नेत्र, नासिका, कपोल, अधर, दन्त, चिबुक, हाथ, कुच, रोमावलि, कटि, चरण आदि अंगों का स्वाभाविक सौन्दर्य प्रतीप, व्यतिरेक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की सहायता से व्यक्त किया गया है । उपमान प्राचीन हैं किन्तु कहीं-कहीं एक साथ अनेक उपमान रखकर उपमेय के सौन्दर्य को खिला दिया गया है -

मृगज लजे, खंजन भजे, कंज लजे छबि छीन ।
दृगन देखि दुख दीन ह्वै, मीन भये जल लीन[3]।।

१- रूपमंजरी, पृ० ५(पं० ९९ से १०३ तक) । २- वही, पृ० ५(पं०१०५ से ११२ तक
३- वही, पृ० ६(पं० १२५-१२६) ।

अनेक स्थलों पर अभिनव कल्पना भी दिखाई देती है । जहां जहां रूपमंजरी चरण धरती है वहीं वहीं पृथ्वी अपनी जीभ धरती घूमती है- चरणों की कोमलता एवं लालिमा की अतिशयता तो इससे व्यंजित होती है साथ ही उसके दिव्य सौन्दर्य की भी व्यंजना होती है । रूपमंजरी में "रूपनिधि" परमात्मा की छाया है तो पृथ्वी उसके स्वागत के लिए अपनी कठोरता त्याग कर कोमल जिह्वा पर उसे क्यों न धारण करे -

चरन धरत जहं जहं तरुनि, अरुन होत सो लीह ।
जनु धरती फिरै, तहं तहं अपनी जीह[1]।।

उक्त सौन्दर्य वर्णन के अंतर्गत आध्यात्मिक संकेत भी मिलते हैं-

चिबुक-कूप छबि उझके जोई, जगत-कूप पुनि परै न सोई ।
कंठ-लीक छबि पीक की धारा, फीकि परी सब छबि संसारा ।
छरा निबौरी दिखि भई बौरी, जगत ठगौरी जनु इकठौरी[2]।

पुनः रूपमंजरी के(अयत्नजअलंकारों के अंतर्गत) द्युति, लावण्य, रूप,माधुर्य, कांति, रमणीयता, सुन्दरता, मृदुता, सुकुमारता आदि का वर्णन करते हुए उनके लक्षणों का भी निर्देश कर दिया गया है । यहां पर नंददास का कवि रूप नहीं आचार्य का रूप ही अधिक उभरा है । फिर भी रूपमंजरी का रूप-वर्णन हिन्दी-साहित्य के उत्कृष्ट तम नायिका रूप-वर्णनों मे से एक है इसमें कोई सन्देह नहीं ।

नायक-रूप- नायक कृष्ण का अवतरण इस कृति में परोक्ष रूप में होता है, फिर भी स्वप्न दर्शन के पश्चात् इंदुमती के आग्रहपर रूपमंजरी नायक कृष्ण की उनहारि बताती है । इसी अवसर पर नायक के रूप का वर्णन शिख-नख पद्धति पर किया गया है । सांवला, रंग, मोर मुकुट, बांकी भौंह, कमल नेत्र, पीताम्बर, मुरली आदि उपकरणों से युक्त उनका रूप परंपरानुकूल है, फिर भी इसमें नवीनता है । कवि ने रंग और ध्वनि की योजना करके इसे रंगीन और मुखर बना दिया है- इस चित्र में रंगों की योजना अनूठी हुई है । स्याम स्वेत, लाल, पीत आदि रंगों का सामंजस्य ही नहीं । उनमें "मरकत" और "लाल" का रस, मोतियों का "पानिप" और "दामिनि" की द्युति भी मिली है । कृष्ण की मुरली से बिना बजाए ही राग टपकता है[3]।

१- रूपमंजरी, पृ० ७(पं० १४७-१४८) । २- वही, पृ० सं० ७ पं० १३१-१३३ ।
३- रूपमंजरी, पं० २५६-२६४) ।

उनके रूप-वर्णन के साथ उनके प्रभाव और अलौकिक शक्ति की व्यंजना हुई है-

आध्यात्मिक दृष्टि से नायक कृष्ण ही इस सृष्टि के मूल हैं:-

धर, अंबर, ससि, सूरज, तारे, सर, सरिता, साइर, गिरि भारे ।
हम, तुम, औ सब लोग-लुगाई, रचना तिन हीं देव बनाई[1]।

वे शिव, योगी और वेदों के लिए भी अगम्य हैं:-

जाकौं संभु समाधि लगावैं, जोगि जन मन हूं नहिं आवैं ।
निगमहि निपट अगम जो आही, अबला किहि बल पावै ताही[2]।

प्रकृति - वर्णन

रूपमंजरी में प्रकृति-वर्णन केवल दो स्थलों पर हुआ है । एक तो प्रारम्भ में निर्भयपुर नगर के वर्णन प्रसंग में और दूसरा रूपमंजरी के प्रथम स्वप्न का वर्णन करते हुए वृन्दावन की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराते हुए ।

नंददास के प्रकृति वर्णन में एक प्रवाह एक तारतम्य सा दिखाई पड़ता है । एक के बाद दूसरा पदार्थ स्वतः सामने आता जाता है । वर्णन अत्यन्त सरस और कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के परिचायक हैं । किन्तु ऐसा लगता है जैसे नंददास के पास गिने-चुने विषय और उनको प्रगट करने के लिए चुनी हुई शब्दावली है, जिसका प्रयोग वे जहां आवश्यकता हुई, कर डालते हैं । रूपमंजरी के निर्भयपुर नगर की प्राकृतिक शोभा का वर्णन रुक्मिणी मंगल की द्वारिकापुरी की प्राकृतिक शोभा का वर्णन प्रायः एक सा है । इसमें प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र कवि ने उपस्थित किये हैं-

रूपमंजरी- आसपास अमराइ बरारी, जहं लगि फूलत ती फुलवारी ।
चुनहि फूल मालन छबि भरी अवनी उतरि परी जनु परी ।
बोलहि सुक, सारिक, पिक, तोती, हरियर, चातक, पोत कपोती ।
मीठी धुनि सुनि अस मन आवैं, मैन मनौं चटसार पढ़ावैं।
फलन के भार नमित द्रुम ऐसैं, संपति पाइ बड़े जन जैसैं ।
का कहियै कासार निकाई, सारस हंस बंस छबि छाई ।
निरमल जल जनु मुनि-मन आही, परसत खन जन-पातक जाही ।
फूल फूलि रहे जलज सुदेसे, इंदीवर, राजीव, कुसेसे ।

1- रूपमंजरी-पृ०२१(पं०४३८-४३९) । 2- वही, (पं० १७६-१७७) ।

पानी पर पराग परी ऐसी, बीर फुटक भरी आरसि जैसी ।
पदमन कौं जब पौन डुलावै, तब लंपट अलि बैठि न पावै ।
जनु ननकारति मानिनि तिया, आन जुबति रत जान्यौ पिया ।
कंज-कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत इमि परभात ।
जनु रबि-डर तम तजि भज्यौ, रोवत ताके तात[१]।।

बृन्दावन के वर्णन में उसकी अलौकिकता, दिखाना कवि को इष्ट है अतः भेदकातिशयोक्ति के सहारे उसके फूलों का रंग, भौरों का शब्द आदि सामान्य से भिन्न बताया गया है ।

एक ठांउ इक बन है जानौं, ताकी छबि हौं कहा बखानौं ।
आनहिं रंग पुहुप मैं देखे, अपनी बारी नहिं तस पेखे ।
औरहि भांति भंवर रव राजैं, ठौर ठौर कछु जंत्र से बाजैं ।
रूखन देखि भूख भजि जाई, यह उपखान सांच है माई ।
रटहिं बिहंगम इमि मन हरैं, जनु द्रुम अप मैं बातै करैं ।
गहबर कुंज-पुंज अति सोहै, मनिमय मंडप छबि तहं को है ।
पुहुप बितान बान अस बाने, चंद चखौंडि के जनु ताने[२]।

कवि के प्रकृति वर्णनों में आलंकारिकता एवं चित्रात्मकता का प्रधान है । कवि व्यौरों के सहारे चित्रों को पूर्ण करता है । उनमें प्राचीन उपमानों का सहारा लेते हुए भी कवि ने नूतन कल्पना और अपनी स्वतंत्र पर्यवेक्षण शक्ति का परिचय दिया है ।

प्रेम-तत्व

रूपमंजरी में नायिका रूपमंजरी का लौकिक प्रेम आध्यात्मिक स्वरूप धारण करता है । उसके प्रेम (या रति) भाव का आलम्बन लौकिक न रहकर अलौकिक हो जाता है । संसार के पुरूष सब भावना रूप में स्त्रीवत् हैं । पुरूष एकमात्र कृष्ण हैं । वे रूपनिधि हैं, नित्य हैं । वे लौकिक रूप को पवित्र करने वाले हैं । वे आनंद (रस) रूप हैं ।

रूपमंजरी में वर्णित-प्रेम-पद्धति के अनुसार रस-रूप कृष्ण की लीलाओं का श्रवण -कीर्तन करने से उनके प्रति राग जागृत होता है इसी राग के सहारे आनंद(रस)

१- रूपमंजरी-पृ० ३ (पं०४६-५८) ।   २-वही, पं० सं० २०९-२१५ ।

रूप ब्रह्म की प्राप्ति होती है । रूप-मँजरी के हृदय में उस प्रियतम कृष्ण के लिए उसकी सखी इन्दुमती क्रम-कम से प्रेम प्रज्वलित करती है-

प्रेम बढ़ावहि छिनहिं छिन, बूझि बूझि उनहारि ।
ज्यौं मथि काढ़ी अग्नि कन, क्रम-क्रम देत पजारि[1]।।

फलस्वरूप उसके हृदय में प्रियतम इस प्रकार झलकने लगते हैं जैसे चंद्रकांत मणि में चन्द्रमा झलकता है-

रूपमंजरी तिय हियहि, पिय झलकै इमि आइ ।
चंद्रकांत मनि मांझ जिमि, परम चंद्र की झाइ[2]।।

प्रियतम के प्रेम की किरणेंक हृदय में ही सीमित नहीं रहती उसके शरीर में भी प्रेम की आग लगा देती है-

तिय-हिय दरपन, तन रूई, रही हुती पुट पागि ।
प्रीतम तरनि किरनि परसि, जागि परी तन आगि[3]।।

प्रेम एकनिष्ठ होता है । द्वैत के लिए उसमें स्थान नहीं । उस प्रेमी में ही सारी वृत्तियां सिमट कर केन्द्रीभूत हो जाती है- प्रेम बहुतों के साथ नहीं हो सकता-

प्रेम एक, इक चित्त सौं, एकहि संग समाइ ।
गंधी कौ सौदौ नहीं, जन जन हाथ बिकाइ[4]।।

उसी एक प्रियतम के प्रेम में लीन होकर प्रेमी समस्त संसार की ही नहीं अपनी भी सुधि-बुद्धि खो बैठता है, वह भीतर ही भीतर प्रेम-सुधा का आनंद लेता है- प्रेम की मदिरा विलक्षण है-

भूत छुयैं, मदिरा पियैं, सब काहू सुधि होइ ।
प्रेम-सुधा-रस जो पियै, तिहिं सुधि रहै न कोइ[5]।।

इस प्रेम-सुधा-रस की बेसुधी का अनुभव मिलन की अपेक्षा विरह में अधिक होता है । सच्चे विरही तो सृष्टि के कण कण में अपने प्रेमी का ही दर्शन करते हैं-

हौं जानौं पिय मिलन तैं, बिरह अधिक सुख होइ ।
मिलते मिलियै एक सौं, बिछुरे सब ठां सोइ[6]।।

ऐसे प्रेम के सहारे प्रेमी अपने प्रियतम को अवश्य पा लेता है चाहे वह अगम्य ही क्यों न हो-

---

१- रूपमंजरी- (पं० २४६-२४७) । २- वही, पृ० १५(पं०३१६-३१७) ।
३- वही,(पं० २९१-२९२) । ४- वही, (३५०-३५१) ।
५- वही, (पं० ४५८-४५९) । ६- वही, (पं०४८६-४८७) ।

जदपि अगम तें अगम अति, निगम कहत हैं जाहि ।

तदपि रंगीले प्रेम तें, निपट निकट प्रभु आहि[1]।।

किन्तु इसके लिए दृढ़ता और कर्मठता की आवश्यकता है । प्रेम की बकवास से प्रियतम की प्राप्ति नहीं हो सकती -

कथनी नाहिंन पाइयै, पैयै करनी सोइ ।

बातन दीपक ना बरै, बारे दीपक होइ[2]।।

भाषा-शैली

रूपमंजरी की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी प्रसाद गुण सम्पन्नता है । नीचे की पंक्तियाँ कितनी सहज बोध गम्य है-

मीठी धुनि सुनि अस मन आवै, मैन मनौं चटसार पढ़ावै ।

फलन के भार नमित द्रुत ऐसैं, संपति पाइ बड़े जन जैसैं[3]।

इनमें लम्बे चौड़े सामासिक पदों का व्यवहार नहीं है । छोटे छोटे दो दो अक्षरों वाले शब्दों की माला सी पिरोयी गयी है । संयुक्त और परुष वर्णों का अभाव है । कोमल वर्णों की योजना के साथ प्रवम वर्णों का संयोग इनमे अद्‌भुत संगीत की सृष्टि कर रहा है ।

"माधुर्य" तो रूपमंजरी का मुख्य वर्ण्य ही है अतः माधुर्य गुण की उसमें क्या कमी । एक उदाहरण लीजिये-

सखि जब सर-स्नान लै जाही, फूले अमलन कमलन माही ।

तिय तन परिमल जब लखि पावैं, अंबुज तजि सब अलि चलि आवैं[4]।

नंददास के इसी शब्द योजना कौशल को लक्ष्य कर डा॰ रामकुमार वर्मा उ लिखते हैं "प्रत्येक पद मानों अंगूर का गुच्छा है, जिसमें मीठा रस भरा हुआ है[5]।"

अनुप्रासों की सहज स्वाभाविक छटा रूपमंजरी में अत्यन्त मनोहर लगती है । पंक्ति पंक्ति में इसका सौन्दर्य दर्शनीय है । इसके लिए कवि को चेष्टा नहीं करनी पड़ती वह स्वतः ही प्रवाह के साथ चला आता है । इसी के कारण भाषा में अद्‌भुत नाद-सौन्दर्य की सृष्टि हुई है ।

१- रूपमंजरी (पं॰ ५७७-५७८) । २- वही, (पं॰ ५७९-५८०) ।

३- वही, (पं॰ ४९-५०) । ४- वही, (पं॰ १०४-१०५) ।

५- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ॰ सं॰ ७९१ ।

सहज सुगंध सांवरी अलकैं, बिन हिं फुलेल उलेल सी झलकैं ।

नीरस कबि जे रसहि न जानैं, ब्याल बाल सम बाल बखानैं[1]।

चंदन चरचि, चंद उगवाई, मंद सुगंध समीर बहाई ।

पिक गवाइ, केकी कुहकाई, पपिहा पै पिउ पीउ बुलाई[2]।

नंददास अपनी भाषा में शब्दों को नगीने की तरह जड़ देते हैं उन्हें बदल देने पर जैसे भाषा का सौष्ठव ही नष्ट हो जाता है । शब्दों को यथास्थान बैठाने पर थोड़े मे बहुत कह डालने की कला में वे अत्यन्त निपुण है । नीचे की पंक्तियों में यह कौशल देखिए-

घन मैं तनक जु पिय उनहारी । तिहि लालच देखें बर नारी ।

बगन की माला, नैंन बिसाला । मानत पिय उर पंकज माला।

दामिनि दमक देखि दृग नावै । पिय पट पीत छोट सुधि आवै ।

नंददास ने संस्कृत के शब्दों को कोमल और मधुर बनाकर एवं ब्रजभाषा के सांचे में ढालकर उनका व्यवहार किया है किन्तु जो शब्द स्वतः कोमल हैं उन्हें तत्सम रूप में प्रयुक्त किया है ।

मुहावरों के प्रयोग ने रूपमंजरी की भाषा की व्यंजकता बढ़ाने में सहायता की है-

उदा॰ क- खीर-नीर निवारि पियै जो । इहि मग प्रभु पदवी पावै सो[3]।

ख- रस-विहीन जे अच्छर सुनहीं । ते अच्छर फिरि निज सिर धुनहीं[4]।

ग- तुव जस-रस जिहि कवित न होई । भीत चित्र सम चित्र है सोई[5]।

घ- ऊंची अटा घटा बत राहीं । तिन पर के की केलि कराहीं[6]।

ङ- बाल वयस संधि मैं छबि पावै । मनभावै, मुंह कहन न आवै[7]।

च- कर मींडै, सहचरि पछिताई । कूर विधाता कौन बनाई[8]।

छ- बैनी बनीकि सांपिनि आही । बुरी दीठि देखै तिहिं खाही[9]।

ज- ता पर सोवत नाक चढ़ावै । सो वह सुकुमारता कहावै[10]।

झ-सो तरि बूड़ति है मधि धारा । मोह लाल लगावहु पारा[11]।

न- मृग तृष्णा हू पानी करै । मन के लड्डन भूख पुनि हरै[12]।

१- रूपमंजरी, पं॰७४-७४ । २- वही, पं॰ ५२७-५२१ ।

३-१२:वही, पं॰सं॰ २१, २९, ३६, ४२, ८१, ९६, ११८, १६१, १८८, २४० ।

शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की चेष्टा नंददास में नहीं । भाषा पर उनका अधिकार है । बृजभाषा का उत्कृष्ट साहित्यिक स्वरूप रूपमंजरी में मिलता है ।

अलंकार वैशिष्ट्य

रूपमंजरी के कवि द्वारा प्रयुक्त अलंकारों की बानगी हम रुक्मिणी-मंगल के प्रसंगमें देख चुके हैं । डा॰ दीनदयाल गुप्त ने लिखा है "नंददास चमत्कारवादी कवि नहीं थे । उनके काव्य अलंकारों का प्रयोग भाव और भाषा को सजीव और चित्ताकर्षक बनाने के लिए ही हुआ है ।" -----रूप वर्णन में स्वरूप बोध कराने तथा भाव चित्रण में भावोत्कर्ष लाने के लिए कवि ने उत्प्रेक्षा से विशेष काम लिया है । नंददास की उत्प्रेक्षाओं की कल्पना बड़ी मार्मिक और प्रभाव शालिनी होती है उनमें मौलिकता रहती है, वे सिर-पैर की उड़ान और शब्दों की कलाबाजी नहीं है[1]।"

डा॰ गुप्त के उपर्युक्त विचार रूपमंजरी में प्रयुक्त अलंकार वैशिष्ट्य का यथार्थ बोध कराते हैं । रूपमंजरी में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग हुआ है । एक से भाषा की वृद्धि हुई है तो दूसरी से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास।

उत्प्रेक्षाओं की योजना कवि ने बड़ी कुशलता के साथ की है । बन में पक्षियों का कलरव सुनकर कवि कल्पना करता है मानो कामदेव की पाठशाला खुली हुई है कवि ने एक सुन्दर और यथार्थ सादृश्य खड़ा करके पक्षियों के कलरव के शृंगारोद्दीपक पक्ष को व्यंजित किया है ।

मीठी धुनि सुनि अस मन आवै, मैन मनौं चटसार पढ़ावै[2]।

इसी प्रकार भौरों की कालिमा एवं उनके गुंजार को लक्ष्य कर उन्हें रात के रोते हुए पुत्र बताना कवि की सुन्दर कल्पना है-

कंज-कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत इमि परभात ।
जनु रबि-डर तम तजि भज्यौ, रोवत ताके तात[3]।।

रूप वर्णन में प्रायः परम्परागत प्राकृतिक उपमानों के सहारे कवि ने नवीन सौन्दर्य करने की चेष्टा की है । प्रतीप अलंकार का यह उदाहरण देखिए-

मृगज लजे, खंजन भजे, कंज लजे छबि छीन ।
दृगन देखि दुख दीन ह्वै, मीन भये जल लीन[4]।।

उदाहरण और दृष्टान्त अलंकार में जो सादृश्य विधान है वह भावोद्बोधन में सहायक है- किन्तु पूर्व कवियों से गृहीत होने के कारण मौलिक नहीं लगता । नीचे

१- अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृ॰ ८८७ ।
२- रूपमंजरीः पं॰ ४९ । ३- वही, पृ॰ ५७ । ४- वही, पं॰१२५-१२६ ।

शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की चेष्टा नंददास में नहीं । भाषा पर उनका अधिकार है । ब्रजभाषा का उत्कृष्ट साहित्यिक स्वरूप रूपमंजरी में मिलता है ।

अलंकार वैशिष्ट्य

रूपमंजरी के कवि द्वारा प्रयुक्त अलंकारों की बानगी हम रुक्मिणी-मंगल के प्रसंगमें देख चुके हैं । डा॰ दीनदयाल गुप्त ने लिखा है "नंददास चमत्कारवादी कवि नहीं थे । उनके काव्य अलंकारों का प्रयोग भाव और भाषा को सजीव और चित्ता-कर्षक बनाने के लिए ही हुआ है ।" -----रूप वर्णन में स्वरूप बोध कराने तथा भाव चित्रण में भावोत्कर्ष लाने के लिए कवि ने उत्प्रेक्षा से विशेष काम लिया है । नंद-दास की उत्प्रेक्षाओं की कल्पना बड़ी मार्मिक और प्रभाव शालिनी होती है उनमें मौलिकता रहती है, वे सिर-पैर की उड़ान और शब्दों की कलाबाजी नहीं है[1]।"

डा॰ गुप्त के उपर्युक्त विचार रूपमंजरी में प्रयुक्त अलंकार वैशिष्ट्य का यथार्थ बोध कराते हैं । रूपमंजरी में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग हुआ है । एक से भाषा की वृद्धि हुई है तो दूसरी से भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास।

उत्प्रेक्षाओं की योजना कवि ने बड़ी कुशलता के साथ की है । बन में पक्षियों का कलरव सुनकर कवि कल्पना करता है मानो कामदेव की पाठशाला खुली हुई है कवि ने एक सुन्दर और यथार्थ सादृश्य खड़ा करके पक्षियों के कलरव के शृंगारोद्दीपक पक्ष को व्यंजित किया है ।

मीठी धुनि सुनि अस मन आवै, मैन मनौं चटसार पढ़ावै[2]।

इसी प्रकार भौरों की कालिमा एवं उनके गुंजार को लक्ष्य कर इन्हें रात के रोते हुए पुत्र बताना कवि की सुन्दर कल्पना है-

कंज-कंज प्रति पुंज अलि, गुंजत इपि परभात ।
जनु रबि-डर तम तजि भज्यौ, रोवत ताके तात[3]।।

रूप वर्णन में प्रायः परम्परागत प्राकृतिक उपमानों के सहारे कवि ने नवीन सौन्दर्य करने की चेष्टा की है । प्रतीप अलंकार का यह उदाहरण देखिए-

मृगज लजे, खंजन भजे, कंज लजे छबि छीन ।
दृगन देखि दुख दीन ह्वै, मीन भये जल लीन[4]।।

उदाहरण और दृष्टान्त अलंकार में जो सादृश्य विधान है वह भावोद्बोधन में सहायक है- किन्तु पूर्व कवियों से गृहीत होने के कारण मौलिक नहीं लगता । नीचे

१- अष्टछाप और बल्लभ सम्प्रदाय, द्वितीय भाग, पृ॰ ८८७ ।
२- रूपमंजरीः पं॰ ४९ ।   ३- वही, पृ॰ ५७ ।   ४- वही, पं॰ १२५-१२६ ।

उदाहरणों में प्रथम दो तुलसी से और तीसरा कबीर से प्रभावित है ।

उदाहरण- (१) फलन के भार नमित द्रुम ऐसैं, संपति पाइ बड़े जन जैसें[1]।

\+ \+ \+

(२) रूप मंजरी छबि कहन, इंदुमती मति कौंन ।
ज्यौं निरमल निसिनाथ कौं, हाथ पसारे बौन[2]।।

\+ \+ \+

दृष्टान्त- (३) प्रेम एक, इक चित्त सौं, एकहिं संग समाइ ।
गांधी कौ सौदौ नहीं, जन जन हाथ बिकाइ[3]।।

वस्तु वर्णन क में वैशिष्ट्य लाने के लिए बात को कुछ बढ़ा चढ़ाकर कहना आवश्यक हो जाता है । केवल यथा तथ्य विवरण नीरस और शुष्क लगने लगता है किन्तु अतिशयोक्ति ऐसी न होनी चाहिये जो असम्भव या हास्यास्पद हो जाय । रूपमंजरी के ऐसे वर्णन सुन्दर बन पड़े है-

ऊंची अटा घटा बतराहीं, तिन पर केकी केलि कराहीं[4]।

\+ \+ \+

औरहिं भांति भंवर रव राजैं, ठौर ठौर कछु जंत्र से बाजैं[5]।

किन्तु कहीं कहीं पर वे सीमा को पार कर गए हैं -रूपमंजरी की विरहाग्नि से उसका हार के मोतियों का तड़क कर चूर हो जाना चमत्कार पूर्ण भले ही हों किन्तु वह स्वाभाविक नहीं लगता -

हार के मुतिया उर भर माहीं, उचिल तचि तरकि लवा ह्वै जाहीं[6]।

विभावना के निम्नांकित उदाहरण भावोत्कर्ष में सहायक हैं-

ता भूपति के भवन को, उदय न बारे सांज ।

बिन ही दीपक दीप जनु, दिये कुंवरि घर मांज[7]।

विरोध मूलक अलंकारों के भी कुछ उत्कृष्ट उदाहरण रूपमंजरी में मिलते हैं-

असंगति- मोहियत दृगन के अचरज भारे, चलहि आन तन आनहि मारे[8]।

\+ \+ \+

विषम- कहं हौं कुटिल, कुचील, कुहिय की, कहं यह दया सांवरे पिय की[9]।

\- - -

१- रूपमंजरी: पं० ४९-५० । २- वही, पं० १६२-१६३ ।
३- वही, पं० ३५०-३५१ । ४-९: (क्रमशः) पं० सं० ४२, २११, ५१३, ७१-७२, १२४, २६९ ।

खंड ४

रीति-काल (१६५० ई० से १८५० ई० तक)

अध्याय १

रीति काल का प्रबन्धात्मक साहित्य

रीति-काल में मुक्तक-रचनाएं प्रचुर परिमाण में हुईं। आचार्यत्व या साहित्य-शास्त्रीय विवेचन इस युग के कवियों का प्रधान कर्तव्य बन गया था। लक्षणों की दृष्टि से यद्यपि वे संस्कृत के प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्देशित परिभाषाओं को ही दुहराते थे किन्तु उन परिभाषाओं के अनुसार कवित्त-सवैयों का निर्माण स्वयं करते थे। ये कवित्त सवैये सामान्यतः शृंगार-रस प्रधान होते थे, किन्तु भूषण जैसे वीर-रस के कवियों की रचनाएं भी लक्षण-उदाहरण ग की शैली में लिखी गयीं। इस प्रकार जहां यह युग रीति प्रधान था, वहां इसे मुक्तक-प्रधान युग की संज्ञा देना भी अनुचित न होगा। रीति-परम्परा से मुक्त प्रबन्ध कोटि की रचनाएं इस युग में लिखी अवश्य गयीं किन्तु उनमें प्रबन्ध काव्य के गुणों का प्रायः अभाव है।

इस युग में लिखी गयी प्रबन्धात्मक रचनाएं सामान्यतः चार प्रकार की मिलती हैं।
१- ऐतिहासिक चरित शैली की (प्रशस्ति मूलक) रचनाएं
२- प्रेमाख्यानक परम्परा की रचनाएं
३- बृहदाकार पौराणिक या धार्मिक रचनाएं
४- वर्णनात्मक प्रबन्ध कोटि की रचनाएं

प्रथम कोटि के अंतर्गत बवनिका राठौड़ रतनसिंह जी री महेसदासो तरी (१६५८ ई०) राजविलास (१६७७ई०), छत्रप्रकाश(१७१० ई०), जंगनामा(१७१२ ई०), रासा भगवन्तसिंह (१७३५ई०), सुजानचरित (१७५३ई०), करहिया को राय सो (१७६७ ई०), हिम्मत बहादुर विरुदावली (१७९३ ई०), हम्मीर रासो(१८२३ ई०) हम्मीर हठ (ग्वाल कवि) और हम्मीर हठ(चन्द्रशेखर) मुख्य हैं। इनमें से अधिकांश रचनाएं ऐसी हैं जो सामान्य कोटि के नायकों को आश्रय बनाकर चली हैं। इनमें कवियों ने अपने हितचिन्तक राजाओं और जागीरदारों की अत्युक्ति पूर्ण प्रशंसा करके उन्हें ऊंचा सिद्ध करने की चेष्टा की है। फलतः ये ग्रन्थ प्रशस्ति मात्र बनकर रह गए और लोक में प्रसिद्ध न हो सके। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसी ही रचनाओं के बारे मे लिखा है "ऐसी पुस्तकों में सर्वप्रिय और प्रसिद्ध वे ही हो सकी हैं जो या तो देव काव्य के रूप मे हुई हैं या जिनके नायक कोई कोई देश प्रसिद्ध वीर या

जनता के श्रद्धाभाजन रहे हैं - जैसे शिवाजी, छत्रसाल या महाराणाप्रताप आदि। जो पुस्तकें यों ही खुशामद के लिए, आश्रित कवियों की रूढ़ि के अनुसार लिखी गयीं, जिनके नायकों के लिए जनता के हृदय में कोई स्थान न था, वे प्राकृतिक नियमानुसार प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं । बहुत सी तो लुप्त हो गयीं । उनकी रचना में सच पूछिये तो कवियों ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय ही किया[1]।"
इन रचनाओं में अंतिम अर्थात् चन्द्रशेखर कृत हम्मीर हठ ही ऐसी रचना है जिसमें साहित्यिक सौंदर्य पर्याप्त है और जो "खण्डकाव्य" की विशुद्ध प्रबन्ध कोटि में गृहीत हो सकती है । अतः उसका विस्तृत अध्ययन इस खण्ड के अध्याय १ में प्रस्तुत किया जा रहा है । शेष रचनाएं खण्डकाव्य की कोटि में नहीं आतीं । अतः उनका संक्षिप्त विवेचन ही यहां प्रस्तुत किया जा रहा है-

<u>बचनिका राठौड़ रतनसिंह जी री</u>- इसका दूसरा नाम "रतन रासो" भी है । इसके रचयिता जग्गाजी (जगमल) थे । इसमें रतलाम के राजा महेसदास के पुत्र रतन-सिंह के शाहजहां के विद्रोही राजकुमारों - औरंगजेब और मुराद - से युद्ध करते हुए वीर गति पाने की घटना का वर्णन है । डा० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव ने इसके एक चरित्र प्रधान वर्णनात्मक खण्डकाव्य कहा है[2]। किन्तु डा० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव का उपर्युक्त मत युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता । खण्डकाव्य की दृष्टि से जो कमियां इसमें हैं डा० श्रीवास्तव ने उनका परिचय देते हुए भी इसे खण्डकाव्य मानने का दुराग्रह किया है । इसके खण्डकाव्यत्व के विपक्ष में मुख्य तर्क यह है कि इस ग्रन्थ में नायक रतनसिंह का चरित्र जोधपुर नरेश जसवन्तसिंह के सामने दब गया है । जसवन्तसिंह शाहजहां की ओर से नियुक्त सेनानायक हैं । वे कूट-नीतिज्ञ और दूरदर्शी हैं, वे ही रास्ते के राजाओं और नवाबों को अपने साथ मिलाते हुए उज्जैन पहुंचते हैं जहां विद्रोहियों का दशन किया जाता है । किन्तु रतनसिंह जसवन्तसिंह के सेनापतित्व में युद्ध ही नहीं करते वरन् एक साधारण दूत के रूप में जसवन्तसिंह का संदेश लेकर औरंगजेब और मुराद के पास भी जाते हैं[3] ।

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या ३२४ ।

२- देखिये, डिंगल साहित्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या १२७ ।

३- देखिये, छन्द संख्या ७२ ।

अतः उनका स्थान उस वीर सिपाही से ऊंचा नहीं उठ पाता जो अपने से वरिष्ठ अधिकारी की आज्ञा का पालन तत्परता से करता है । खण्डकाव्य के नायक में जो गरिमा होनी चाहिए वह रतनसिंह में नहीं दिखाई पड़ती । अतः इसे हम खण्ड-काव्य नहीं कह सकते । इसमें रतनसिंह तो युद्ध में काम आ जाते हैं किन्तु विजय श्री रूपी फल पाने का यश जसवन्तसिंह को मिलता है । भले ही स्वर्ग में रतनसिंह का भव्य स्वागत होता है, किन्तु कथा का मुख्य लक्ष्य शत्रुओं का संहार है न कि स्वर्ग का स्वागत । अतः फल की प्राप्ति जसवन्तसिंह को ही हुई मानी जायगी । इस दृष्टि से जसवन्तसिंह के चरित्र को प्रधानता मिल गई है और रतनसिंह का चरित्र गौण हो गया है । इसकी घटना ऐतिहासिक है । उसमें कोई नवीन उद्भावना कवि के ने नहीं की है अतः काव्य की अपेक्षा इसका ऐतिहासिक महत्व अधिक है । वस्तुतः यह एक प्रशस्ति मात्र है । नायक रतनसिंह लोक-हृदय का आलम्बन नहीं है । अतः उसके नायकत्व के आश्रम में लिखा गया काव्य विशुद्ध खण्डकाव्य की कोटि में नहीं आ सकता ।

राज-बिलास- इसके रचयिता मान एक दरबारी कवि थे । इसमें उन्होंने अपने आश्रयदाता महाराणा राजसिंह व उनके पूर्वजों के अनेक युद्धों का वर्णन किया है । इसकी रचना का मुख्य उद्देश्य आश्रयदाता की अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करना है । प्रबन्ध काव्य रचना का दृष्टिकोण इसमें नहीं दिखाई पड़ता । यदि इसे प्रबन्ध काव्य मान क भी लिया जाय तो भी अनेक ऐतिहासिक व अनैतिहासिक घटनाओं के विस्तार के कारण यह कृति खण्डकाव्य की कोटि में गृहीत नहीं हो सकती । वर्णनों को भी इसमें अनावश्यक विस्तार दिया गया है । उच्च कोटि के कवित्व के दर्शन इसमें नहीं होते ।

छत्र-प्रकाश- इसके रचयिता लाल (या गोरेलाल) थे । इसमें श्री रामचन्द्र जी से लेकर बुंदेलों तक की वंशावली का वर्णन किया गया है । इसमें चम्पतराय की विजयों, उनके जीवन के अंतिम दिनों में उनके राज्य का मुगलों के हाथ में जाने, छत्रसाल द्वारा उसका पुनरुद्धार करने और मुगलों के साथ उनके अनेक युद्धों का वर्णन किया गया है । वस्तुतः यह एक चरित काव्य है । विशुद्ध प्रबन्ध कोटि में इसकी गणना नहीं हो सकती । खण्डकाव्य की परिधि में तो इसके आने का प्रश्न ही नहीं उठता ।

जंगनामा- इसके रचयिता श्रीधर (या मुरलीधर) थे । इसमें फर्रुखसियर के उत्तराधिकार युद्ध की घटना को आधार बनाया गया है । इसमें कथानक का विकास क्रमबद्ध रूप से नहीं हुआ है । अमीरों, वीरो तथा वर्ण्य विषयों की लम्बी लम्बी सूचियां देकर कवि ने इसके कथानक को नीरस व हेय बना दिया है । ऐतिहासिक दृष्टि से यह रचना महत्वपूर्ण है किन्तु प्रबन्धकाव्य के तत्वों का इसमें अभाव है । कथानक एक घटना तक सीमित न होने के कारण खण्डकाव्य-कोटि में इसे ग्रहण स्कनन करना सम्भव नहीं है ।

रासा भगवन्तसिंह - इसके रचयिता सदानंद ने अपने आश्रयदाता के अंतिम युद्ध का वर्णन इस ग्रंथ में किया है । इसमें युद्ध के वर्णन अच्छे हुए हैं । अनावश्यक प्रसंगों को भी इसमें बहिष्कृत कर दिया गया है । किन्तु इसके नायक की गणना लोक प्रसिद्ध वीरों में नहीं की जा सकती । वे सामान्य जनसमाज के वीर भावों का आदर्श नहीं बन सकते । अतः इस ग्रन्थ को एक प्रशस्ति रचना से अधिक का महत्व नहीं दिया जा सकता ।

सुजान चरित- इसमें सूदन ने अपने आश्रयदाता भरतपुराधीश सुजानसिंह के सात युद्धों के साथ साथ उनके पूर्वजों का भी वर्णन किया है । यह एक चरित ग्रन्थ है । खण्डकाव्य के लिए एक घटना और सीमित वर्णनों की आवश्यकता होती है । अतः यह कृति खण्डकाव्य नहीं है ।

करहिया को रायसोः - इसके रचयिता गुलाब कवि थे । इसमें भरतपुर के राजा जवाहरसिंह के करहिया के पमारों के साथ हुए युद्ध का वर्णन मिलता है । इसका आकार-प्रकार खण्डकाव्य के अनुकूल है । युद्ध के वर्णन भी सुन्दर बन पड़े हैं किन्तु इसमें वर्णित युद्ध की घटना राष्ट्रीय यासार्वजनिक महत्व की न होकर नायक के व्यक्तिगत हितों से ही संबंधित है । इसके नायक जवाहर सिंह की गणना राष्ट्रीय वीरों में नहीं हो सकती । उनकी वीरता लोक के वीर भाव का आलम्बन नहीं हो सकती अतः यह व्यक्ति की वीरता का गुणगान करने के कारण प्रशस्ति काव्य की कोटि में ही रखा जा सकता है । प्रबन्धकाव्य का नायक ऐसा होना चाहिए जो लोक हृदय का आलम्बन बन सके । अतः यह कृति विशुद्ध खण्डकाव्य की कोटि में गृहीत नहीं हो सकती ।

हिम्मत बहादुर बिरुदावली- इसके रचयिता कवि पद्माकर थे । इस ग्रन्थ में उन्होंने अपने आश्रयदाता अनूपगिरि हिम्मत बहादुर के अर्जुनसिंह नोने के विरुद्ध लड़े गए युद्धों का वर्णन किया है । ग्रन्थ के आरम्भ में चरितनायक की प्रशंसा की गई है । वस्तुओं की सूची गिनाने की भद्दी परम्परा का अनुकरण इसमें मिलता है जिसके कारण कथा में अरोचकता और उसके प्रवाह में बाधा उत्पन्न हो गयी है । यह ग्रन्थ भी प्रशस्ति मूलक है । इसके नायक हिम्मत बहादुर ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार एक चरित्रहीन व्यक्ति थे । ऐसे पुरुष को काव्य का नायक बनाकर पद्माकर ने सरस्वती को ही कलंकित किया । आदर्श नायक के अभाव में इस कृति को खण्डकाव्य की कोटि में ग्रहण नहीं किया जा सकता ।

हम्मीर रासोः- हम्मीर के वीर-चरित्र को आधार बनाकर इस काल में जोधराज, ग्वाल और चन्द्रशेखर बाजपेयी ने अपने अपने ग्रन्थों की रचना की । जोधराज की कृति का नाम हम्मीर रासो है और शेष दोनों कवियों की रचनाओं का नाम हम्मीर हठ है । हम्मीर विषयक ये ग्रन्थ प्रशस्ति ग्रन्थ नहीं हैं क्योंकि रणथम्भौर के शासक वीर हम्मीर अंतिम हिन्दू वीर थे जिन्होंने देश की रक्षा के निमित्त मुसलमानों से डट कर लोहा लिया था । उनके वीर एवं आदर्श चरित्र के लिए हमारे हृदयों में पूज्य भाव विद्यमान हैं । यही कारण है कि उनके आदर्श चरित्र से प्रभावित होकर संस्कृत, प्राकृत तथा विविध देशी भाषाओं के साहित्य में अनेक काव्य नाटकादि की रचना हुई । इन सभी कृतियों में आदि कालीन रासो परम्परा का प्रभाव विद्यमान है । इनमें से जोधराज का हम्मीर रासो चरित्र काव्य है । इसमें आरम्भ में गणेश और सरस्वती की स्तुत स्तुति की गई है। तत्पश्चात् आश्रयदाता तथा कवि का परिचय देने के बाद सृष्टि, मानव रचना, चन्द्र सूर्य वंशों के वर्णन पौराणिक विश्वासों के अनुकूल हुए हैं । क्षत्री कुलों की उत्पत्ति तथा हम्मीर एवं अलाउद्दीन के जन्म से संबंधित मनगढन्त कल्पनाएं की गई हैं । इसके वर्णन भी परम्परानुकूल हैं । युद्ध की तड़ातड़ - भड़ाभड़ के अतिरिक्त वस्तुओं के लम्बे चौड़े वर्णन इसमें उपलब्ध हैं । यदि इसे प्रबन्ध काव्य की विशुद्ध काव्य कोटि में स्थान दिया जाय तो भी यह खण्डकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य के अधिक निकट होगा । अतः प्रस्तुत अध्ययन में इसका विशेष महत्व नहीं है ।

हम्मीर हठ(ग्वाल कवि कृत) उपलब्ध न हो सकने के कारण इसके विषय में अधिक कहना संभव नहीं है, किन्तु अनुमानतः यह रचना जोधराज के हम्मीरहठ के अनु-

प्रेमाख्यानक परंपरा की रचनाओं में पुहुपावती (१६५९ ई०), माधवानल-कामकंदला (दामोदर १६८०, बोधा, १७५२-५८, हरनारायण १७५५ ई०) चंदकुंवर की बात (१६८३ ई०), हंस जवाहर (१७३६ ई०), इन्द्रावती (१७४४ ई०) अनुराग बांसुरी (१७६४ ई०), मधुमालती (१७८० ई०), ऊषा-चरित्र (जनकुंज-कवि, १७८२ ई०, मुरलीदास १८२६ ई०, जीवनलाल नागर ऊषाहरण-१८२९ ई०) युसुफ जुलेखा १७९० ई० मुख्य हैं। ये सभी रचनाएं प्रेमाख्यान की संपूर्ण विशेषताओं से युक्त हैं, इनमें से एक भी रचना विशुद्ध खण्डकाव्य की कोटि में नहीं आती। यहां इनका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है -

पुहुपावती - इसके रचयिता दुखहरनदास कायस्थ थे। इसमें राजपुर के राजकुमार और अनूपगढ़ की राजकुमारी पहुपावती की प्रेम कथा वर्णित है। प्रेमाख्यानक काव्यों की समस्त विशेषताएं इसमें उपलब्ध हैं। कथा का कौतूहल तत्व इसमें प्रधान है। अलौकिक और अतिप्राकृत घटनाएं एवं अस्वाभाविक क्रिया-व्यापार इसके रूप-विधान में प्रमुख अंग हैं। कथा-विन्यास की जटिलता के साथ साथ इसमें भयंकर यात्राओं और विषय परिस्थितियों की योजना करके कथा को चमत्कारपूर्ण बनाया गया है। प्रबंधकाव्य का गांभीर्य इसमें नहीं दिखाई पड़ता। यह विशुद्ध कथा काव्य है। खण्ड काव्य इसे नहीं कह सकते।

माधवानल कामकंदला - माधवानल कामकंदला के प्रसिद्ध आख्यानको लेकर इस काल मे दुखहरनदास, बोधा और हरनारायण ने अपने-अपने प्रेमाख्यान काव्य प्रस्तुत किए। इन सभी में यद्यपि कवियों की निजी रूचि के अनुकूल कथानकों में परिवर्तन, और परिवर्तन हुए हैं किन्तु तो भी सभी की रचना पद्धति और मूल घटनाएं प्रायः एक सी हैं। माधवानल और कामकंदला प्रायः सभी में नायक नायिका है और उनके मिलन की घटना ही सबका वर्ण्य है। सभी में माधव को संगीत कला में निपुण दिखाया गया है और इसी गुण के कारण अन्ततोगत्वा वह नव अपनी प्रेमिका को पाने में सफल होता है। सभी में माधव पहुपावती से निर्वासित होकर कामावती और कामावती से निर्वासित होकर अंत मे उज्जैनी पहुंचता है। सभी में विक्रमादित्य के द्वारा माधव और कन्दला की परीक्षा लेने पर दोनो की मृत्यु होती है और अन्त में बैताल की सहायता से दोनो पुनर्जीवित होते और एक दूसरे को प्राप्त करते हैं। बोधा की रचना में नायक नायिका के पूर्व जन्म के

वृतान्त भी मिलता है । वास्तव मे ये सभी रचनाएं कथा-काव्य के अंतर्गत आती हैं । इनमें अमानवीय पात्रों जैसे भवानी शिव, बैताल आदि की सहायता से कथा अग्रसर होती है । मृतकों के जी उठने की अस्वाभाविक परिस्थिति की अवतारणा करके चमत्कार की सृष्टि की गई है । कथानक-रूढ़ियों का व्यवहार प्रचुर मात्रा में हुआ है । प्रबन्धकाव्य की महाकाव्य-खण्डकाव्य जैसी विशुद्ध काव्य कोटियों में इनकी गणना नहीं हो सकती ।

चंदकुंवर की बात - इसके रचयिता हंस कवि हैं । इसमें अमरपुरी के राजकुमार चंदकुंवर और एक सेठ की स्त्री के प्रेम का वर्णन हुआ है । यह रचना इतिवृत्तात्मक है और गद्य-पद्य मिश्रित शैली में लिखी गई है । इसमें नायक के रास्ता भटक जाने और अपरिचित स्थानों-आश्रमादि- में पहुंचने के वर्णन प्रेमाख्यानक पद्धति के अनुकूल है । लौकिक नायक के आश्रय से परकीया प्रेम की व्यंजना इसमें हुई है, जो सामान्यतः अन्य प्रेमाख्यानों में नहीं पायी जाती । इसका कथानक खण्डकाव्य के आदर्शों के विरुद्ध है । अतः यह खण्डकाव्य नहीं है ।

हंस जवाहर- इसके रचयिता कासिमशाह थे । ये सूफी कवि थे । इसमें राजा हंस और रानी जवाहर की प्रेम-कथा का वर्णन किया गया है । सूफियों के प्रेमाख्यानों की सभी विशेषताएं इस कृति में उपलब्ध हैं । कथा को रोचक बनाने और इसमें वैचित्र्य उत्पन्न करने की कवि की चेष्टा इसमें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है । विशुद्ध प्रबंध काव्य के लक्षण इसमें नहीं मिलते ।

इन्द्रावती- इसके रचयिता नूर मुहम्मद भी सूफी कवि हैं । इस ग्रंथ में कालिंजर के राजकुंवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम कथा वर्णित है । इसमें की कहानी के माध्यम से सूफी प्रेम-पद्धति का परिचय दिया गया है । यह मूलतः कथा-ग्रन्थ है, खण्ड काव्य नहीं है ।

अनुराग-बांसुरी- इसके रचयिता नूर मुहम्मद सूफी कवि थे । अन्य सूफियों की रचनाओं की भांति इसमें भी आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना हुई है । किन्तु अन्य सूफी रचनाओं में जहां लौकिक कहानियों के आश्रय से आध्यात्मिक पक्ष की व्यंजना होती है वहां इस कृति में संपूर्ण कहानी और समस्त पात्र रूपक बद्ध हैं । इसमें मूरतिपुर नगर के राजा जीव के पुत्र अंतःकरण और उसकी रानी महामोहिनी की कल्पना की गई है । बुद्धि और चित्त अंतःकरण रूपी राजकुमार के सहचर हैं ।

फिर भी प्रेम-पक्ष की व्यंजना इसमें अन्य प्रेमाख्यान काव्यों की पद्धति पर ही हुई है । इसकी भाषा अपेक्षाकृत संस्कृतनिष्ठ है । दोहा के स्थान पर इसमें चौपाइयों के बीच-बीच बरवै छंद की योजना की गई है । यह रूपक-बद्ध कथा है । इसे खण्डकाव्य की संज्ञा नहीं मिल सकती ।

उषा-अनिरुद्ध की कथा- ऊषा अनिरुद्ध की पौराणिक प्रेम कथा को प्रेमाख्यानक काव्यों का आधार बनाने वाले अनेक कवि हुए जिनमें जनकुंज कवि, मुरलीदास, और रामदास के ऊषा चरित्र तथा जीवन लाल नागर के ऊषाहरण की गणना की जा सकती है । इन रचनाओं में विषय की दृष्टि से कोई मौलिकता नहीं है । प्रेमाख्यानक परंपरा की प्रायः सभी विशेषताएं इनमें विकसित हो गई हैं । खण्डकाव्य की दृष्टि से इन रचनाओं का कोई महत्व नहीं है ।

युसुफ-जुलेखा- इसके रचयिता शेख निसार थे । यह सूफी पद्धति की प्रेमाख्यानक कृति है । इसकी कथा का आधार फारसी में लिखा हुआ जामी का प्रसिद्ध काव्य युसुफ-जुलेखा है । इसमें याकूब के पुत्र युसुफ की कष्ट कथा और सुलतान तैमूर की सुन्दरी कथा जुलेखा की युसुफ के लिए व्यक्त प्रेम-कथा का वर्णन किया गया है । इसका वातावरण एवं इसमें प्रतिष्ठित आदर्श विदेशी हैं । प्रेमाख्यानक काव्य की प्रायः समस्त विशेषताएं इसमें मिलती हैं । यह खण्ड काव्य नहीं है ।

तृतीय कोटि की रचनाओं में सबलसिंह चौहान का महाभारत (१६६१-१७२४) के बीच । २- मधुसूदनदास कृत रामाश्वमेध (१७८२ ई०) ३- छत्रसिंह कृत विजय-मुक्तावली (१७०० ई०) ४- गोविन्द सिंह का चंडी चरित्र (१७०० ई० के लगभग) ५- गुमान मिश्र का नैषध-चरित्र (१७४३ ई०) ६- सरयूराम का जैमिनिपुराण (१७४८ ई०) ७- बृजबासीदासकृत -बृजविलास (१७७० ई०) ८- गोकुलनाथ आदि का महाभारत (१७७३-१८२७ ई०) ९- कृष्णदास का भाषा भागवत (१८०० के लगभग)और पद्माकर का रामरसायन मुख्य हैं । इस वर्ग की अधिकांश रचनाएं संस्कृत ग्रन्थों के भाषाबद्ध रूपान्तर हैं । प्रायः सभी बृहदाकार हैं ।

महाभारत-कथा - उपर्युक्त पहली, तीसरी आठवीं रचनाओं में महाभारत की कथा का वर्णन हुआ है । सबलसिंह चौहान ने संपूर्ण महाभारत की कथा दोहा-चौपाई में प्रस्तुत की है । गोकुलनाथ आदि ने विविध छंदों में और काव्यगुण युक्त शैली में महाभारत की समग्र कथा को लगभग दो हजार पृष्ठों में प्रस्तुत

किया है । छत्रसिंह की विजयमुक्तावली महाभारत की कथा का अक्षरशः अनुवाद न होकर एक स्वतंत्र काव्य कृति के रूप में विकसित हुई है । इसकी भी रचना विविध छन्दों में हुई है । इन कृतियों में से कोई भी खण्डकाव्य नहीं है, यह स्पष्ट है ।

रामाश्वमेध(मधुसूदन) - इसकी कथा का आधार पद्मपुराण और शैली रामचरितमानस की है । इसकी चौपाइयां मानस से मिलती जुलती हैं । इसमें श्रीरामचन्द्र द्वारा अश्वमेध - यज्ञ का अनुष्ठान, घोड़े के साथ गई हुई सेना के साथ सुबाहु, दमन, विद्युन्माली, राक्षस, वीरमणि, शिव, सुरथ आदि का घोर युद्ध होता है । अंत में राम के पुत्र लव और कुश के साथ भयंकर संग्राम, श्री रामचन्द्र द्वारा युद्ध का निवारण और पुत्रों सहित सीता का अयोध्या में आगमन आदि प्रसंगों का वर्णन है । यह रचना विशालकाय होने के कारण महाकाव्य कोटि की है ।

चंडी-चरित्र- इसमें दुर्गा-सप्तशती की कथा ओजपूर्ण ब्रजभाषा में कही गयी है । इसमें मौलिकता और स्वतंत्र प्रबन्ध-कौशल का अभाव है । अतः खण्डकाव्य नहीं है ।

नैषध-चरित-(गुमान मिश्र)- इसमें श्री हर्ष के नैषध-काव्य का नाना छंदों में पद्यानुवाद किया गया है । अनुवाद ग्रंथ होने के कारण स्वतंत्र प्रबन्ध की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है ।

जैमिनि पुराण भाषा- (सरयूराम) - दोहो - चौपाइयों तथा अन्य कई छंदों का प्रयोग इसमें किया गया है । इसमें ३६ अध्याय है । इसमें युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, संक्षिप्त रामायण, सीता-त्याग, लवकुश युद्ध, मयूर ध्वज, चंद्रहास आदि राजाओं की अनेक कथाएं आयी है । यह खण्डकाव्य नहीं है यह स्पष्ट है ।

ब्रज विलास(ब्रजवासीदास)- तुलसीदास के मानस के अनुकरण पर दोहा-चौपाई में इसकी रचना हुई है । इसमें कृष्ण के जन्म से लेकर मथुरा-गमन तक का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है । इसकी कथा सूरसागर के क्रम से रखी गयी है । भाषा सीधी, सरल और सुव्यवस्थित होने के कारण इस ग्रन्थ का प्रचार साधारण जन समाज में बहुत हुआ । कृष्ण के क्रीड़ामय जीवन का

चित्रण प्रधान होने के कारण इसमें रामचरित मानस के समान जीवन की अनेक रूपता का उद्घाटन न हो सका । यदि इसे स्वतंत्र प्रबन्ध काव्य के रूप में स्वीकार किया जाय तो भी यह महाकाव्य के अन्तर्गत आयगी ।

भाषा-भागवत(कृष्णदास)- जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है यह ग्रन्थ भागवत का भाषानुवाद मात्र है ।

राम-रसायन(पद्माकर)- यह ग्रन्थ बाल्मीकि रामायण के आधार पर दोहे-चौपाई में लिखा हुआ चरित काव्य है । इसमें कवित्व का अभाव है । खण्डकाव्य की दृष्टि से इस रचना का कोई महत्व नहीं है ।

चौथी क्रम कोटि के अन्तर्गत, दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली-वर्णन, जन्मोत्सव वर्णन, मंगलवर्णन, राम-कलेवा आदि प्रसंगों का वर्णन करने वाली रचनाएं आती हैं । नागरीदास, चाचा हितवृन्दावनदास आदि कवियों ने अनेक ऐसी रचनाएं प्रस्तुत की हैं ।पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इन्हें कथात्मक प्रबन्ध न कहकर वर्णनात्मक प्रबन्ध कहा है[1]। वस्तुतः ये रचनाएं प्रबन्ध कोटि की न होकर मुक्तक ही हैं । अतः इनका अध्ययन यहां अप्रासंगिक है ।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रीतिकाल में यद्यपि प्रबन्धात्मक रचनाएं प्रचुर परिमाण में निर्मित हुई किन्तु तो भी विशुद्ध प्रबन्धकाव्यों की कला उनमे न निखर सकी । उत्कृष्ट प्रबन्ध काव्यों का इस युग में अभाव है ।

- - - -

१- देखिए, हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ संख्या ३२३ ।

हमीर हठ (रचनाकाल १८४५ ई०)

इसके रचयिता पं० चंद्रशेखर बाजपेयी थे । हमीर हठ की रचना उन्होंने अपने आश्रयदाता पटियालानरेश महाराज नरेन्द्रसिंह जी की आज्ञा से, उनसे प्राप्त एक चित्रावली के आधार पर की थी[१]। किन्तु फिर भी हम्मीर विषयक प्राचीन काव्य-ग्रन्थों से इस कृति का कथानक भिन्न नहीं है । इसके पूर्व हिन्दी भाषा मे लिखे गए हम्मीर विषय ग्रन्थों में भाषाकृत हमीर दे चउपई[२], जोधराज कृत हमीर रासो और ग्वालकविकृत "हम्मीर हठ" मुख्य हैं । किन्तु उपर्युक्त सभी ग्रन्थ प्रधानतः चरित काव्य हैं । उनमें काव्य का दृष्टिकोण गौण है । प्रायः सभी में कथा को चरित शैली के अनुकूल अनावश्यक विस्तार दिया गया है जो कि खण्डकाव्य के सीमित कलेवर के अनुकूल नहीं पड़ता । आलोच्य कृति में अनावश्यक विस्तारों से बचने की चेष्टा की गयी है । इसमें अलाउद्दीन और हम्मीर के अनेक युद्धों की घटना को न लेकर अंतिम युद्ध को ही प्रधानतः काव्य का विषय बनाया गया है, और गृहीत घटना के आरंभ, मध्य अंत का निर्वाह भली प्रकार किया गया है । यह विविध छंदो में साहित्यिक दृष्टिकोण से लिखी गई रचना है । उसमे उच्च-कोटि के कवित्य के दर्शन होते हैं । इसके कवित्व को लक्ष्य करके ही पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे हिन्दी साहित्य का एक रत्न कहा है[३]।" इस प्रकार हम्मीर विषयक काव्यों में अपेक्षाकृत नवीन रचना होने पर भी चन्द्रशेखर का हम्मीर हठ ही खण्डकाव्यों की कोटि में स्थान पाने का अधिकारी है ।

रचना शिल्प

हम्मीर हठ में नायक हम्मीर के जीवन से संबंध रखने वाली भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना को आधार बनाकर उसे खण्डकाव्य के रूप में विकसित किया गया है । दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन का रणथम्भौर दुर्ग पर आक्रमण तथा उसका पराजित होकर लौटना (यद्यपि इतिहास में अलाउद्दीन

१- देखिए, हमीर हठ (संपा० रत्नाकर) भूमिका पृ० ३ ।

२- देखिए "हिन्दुस्तानी में डा० मा० प्र० गुप्त का "हम्मीर विषयक एक नवप्राप्त प्राचीन रचना हमीर दे चउपई" लेख ।

३- देखिए हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० सं० ३९० ।

विजयी होकर लौटता है) ही इसकी मुख्य घटना है । महिमा मंगोल का आखेट के समय प्रेम प्रसंग एवं दंड के भय से उसका वीर हमीर के यहां शरण लेना युद्ध की पीठिका प्रस्तुत करता है । जो न केवल कविपरम्परानुकूल है वरन् कथा के स्वाभाविक पूर्वापर क्रम-विकास में सहायक सिद्ध होता है । नायक के उत्कर्ष की रक्षा के लिए अन्त में उसकी विजय दिखाते हुए भी इतनी स्वाभाविक परिस्थिति उत्पन्न कर दी गई है जिसमें नायक की आत्म-हत्या भी उसके चरित्र की भव्यता और महत्ता की प्रतीक बन गई है, साथ ही इससे ऐतिहासिक सत्य की रक्षा भी हो गई है । इतिहास सम्मत वीर हम्मीर की युद्ध में मृत्यु यहां पराजय जन्य या शत्रु द्वारा नहीं, विजयोत्तर परिस्थितियों से प्रेरितहोकर आत्म-बलिदान के रूप में हुई है ।

इस खण्डकाव्य में शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह भी एक सीमातक हुआ है । प्रारंभ में मंगलाचरण की योजना हुई है । जिसमें "गिरिवरधर" और गंगधर" (कृष्ण और शिव) की वंदना की गई है । पुनः अपने आश्रयदाता पटियाला नरेश राजा नरेन्द्रसिंह का यश वर्णित है जिनके आदेश से कवि ग्रन्थ रचना में प्रविष्ट हुआ । इसका कथानक इतिहासोद्भूत और ख्यात है । नायक हम्मीर सद्वंश क्षत्री राजा है । वह धीरोदात्त एवं सर्वगुण संपन्न है । अलाउद्दीन दिल्ली सुलतान है । उसमें भी प्रतिनायक के अनुकूल शक्ति सामर्थ्य है । इसका प्रमुख रस "वीर" है श्रृंगार और वीभत्स आदि उसके पोषक है । युद्ध का कारण और उसका परिणाम दिखाकर कथानक के आदि मध्य अन्त का समुचित निर्वाह करके इसे पूर्णता प्रदान की गई है । इसकी शैली अत्यन्त ओजस्वनी एवं रसोपयुक्त है । भावानुकूल छन्द परिवर्तन भी इसमें होता गया है । एक ही प्रमुख कथा के आदि से अंत तक प्रवाहित होने के कारण इसमें सर्गादि के विभाजन की आवश्यकता नहीं समझः गयी । शब्द और अर्थालंकारों की छटा तो सर्वत्र दर्शनीय है । युद्ध के दृश्यों तथा सैनिकों के आंतरिक हर्षोल्लास, जय-पराजय और आशा-निराशा से पूर्ण परिस्थितियों का वर्णन अत्यन्त सुन्दर हुआ है । इन वर्णनों में सजीवता और स्वाभाविकता है । वस्तुओं और नामों की सूची गिनाकर अनावश्यक विस्तार देने की चेष्टा नहीं हुई है । वर्णनों का विस्तार खण्डकाव्य की आवश्यकता के अनुकूल सीमित है । ग्रंथ के अंत में रचनाकाल देने की प्रथा का निर्वाह किया गया है।

आश्रयदाता राजा नरेन्द्रसिंह की प्रशस्ति अंत में भी मिलती है ।

शास्त्रीय दृष्टि कोण से सर्गबद्ध प्रणाली पर इसकी रचना भले ही नहीं हुई किन्तु फिर भी इसमें खण्डकाव्य के मूलतत्व-सुसंबद्ध कथा और युद्ध मृगयादि के सुन्दर वर्णन उपलब्ध है । अतः इसके खण्डकाव्यत्व से इनकार नहीं किया जा सकता महाकाव्योचित वैविध्य या वर्णन-विस्तार इसमें नहीं है । एक ही बात या विषय को विभिन्न छंदों के द्वारा प्रगट करने की चेष्टा में इसमें पुनरावृत्ति बहुत हुई है जो कभी कभी उबाने वाली सिद्ध होती है, किन्तु फिर भी अनेक गुणों के बीच एक आध अवगुण क्षम्य कहा जा सकता है ।

वस्तु परिचय और विवेचन

पूर्व लिखित ग्रन्थों से "हमीर हठ" की कथा का सूक्ष्म अंत स्पष्ट हो जाय, इस उद्देश्य से यहां उसका वस्तु-परिचय किंचित विस्तार से कराया जा रहा है ।

इस ग्रन्थ की कथा दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन और रणथम्भौर के अंतिम हिन्दू नरेश वीर हम्मीर के युद्ध की ऐतिहासिक घटना पर आधारित है । एक बार सुलतान अपनी बेगमों के प्रस्ताव को मानकर बेगमों सहित आखेट के लिए जाता है । उसकी मरहट्टी बेगम वहां मीर महिमा मंगोल को देखकर काम-मोहित हो जाती है और वह मृग को ढूंढते हुए महिमा मंगोल के निकट जाकर अपनी अभिलाषा व्यक्त करती है । महिमा मंगोल भय प्रगट करता हुआ रानी को प्रबुद्ध करने की चेष्टा करता है किन्तु रानी मृत्यु का भय दिखाकर उसे अपने साथ संभोग करने के लिए विवश कर देती है । इसी समय उनके निकट एक शेर आ जाता है । प्रेम-पाश में आबद्ध रहते हुए भी मीर एक ही तीर में उसका संहार कर डालता है ।

महल में लौटने के बाद एक दिन जब सुलतान शयनागृह में उस मरहट्टी बेगम के साथ था तो एक मूषक के खड़मड़ करने से उसका सुख-भंग हुआ उसने खड़े होकर चार तीर छोड़े और मूषक को मार डाला । खवासों ने सुलतान को मुबारकबाद दिया । इस पर मरहट्टी बेगम को हंसी आ जाती है । सुलतान के हंसने का कारण पूछने पर पहले तो वह टालने की चेष्टा करती है किन्तु सुलतान के हठ करने पर वह प्रातः काल तक की मुहलत मांगती है । एक खोजे के द्वारा वह मीर महिमा मंगोल को पत्र भेजकर अविलंब देश-त्याग की सलाह देती है । सूचना पाते ही मीर चल पड़ता है और सुलतान से एक मात्र लोहा लेने वाले रणथंभौर के शासक वीर हमीर की शरण में जाता है । मंत्रियों के विरीत मत की परवाह न कर वीर हमीर

उसे अभयदान देते हैं ।

मरहट्टी रानी से मीर के अपराध का समाचार पाकर सुलतान उसे पकड़वाने के लिए सेवकों को भेजता है । यह जानकर कि हमीर ने उसको शरण दी है सुलतान अपने वजीर को रणथम्भौर भेजकर हमीर से कहलाता है कि वह महिमा मंगोल को तुरन्त निकाल दे और दण्डस्वरूप देवल कुमारी को दिल्ली भेज दे । प्रत्युत्तर में वीर हमीर न केवल अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहने की सूचना देते हैं वरन् वे गढ़ गजनी, सईस के रूप में अलीखान और मरहट्टी बेगम को भेज देने के लिए भी कहते हैं ।

सुलतान अलाउद्दीन हम्मीर का करारा उत्तर पाकर क्रोध से भर उठता है और सेना को सुसज्जित होने का आदेश देता है । पैदल हाथी, और घोड़ों की अपार सेना लेकर सुलतान रणथम्भौर को घेर लेता है । वीर हमीर अपनी सेना को मोर्चों पर लगा देते हैं और दुर्ग की रक्षा की तैयारी करते हैं । बान तोप गोले आदि से आसमान में धुन्ध भर जाती है । घोर युद्ध शुरू हो जाता है । युद्ध के अवसर पर भी वीर हमीर नृत्य-संगीत आदि का आनंद निश्शंक होकर लेता है। सुलतान यह सुनकर अपने उड्डान से नटी को तीर से घायल करवाता है[1] । हम्मीर को इससे सोच होता है और दूसरे ही दिन जंग छिड़ जाता है । राजा नृत्य का आदेश देता है । सुलतान को क्रोध आताह और इधर मीर उड्डान को मारने के लिए प्रस्तुत होता है । शाह को भी मारने का आदेश मीर मांगता है किन्तु राजा सुलतान को छोड़कर दूसरों को मारने का ही आदेश देता है । वह एक तीर से सुलतान के मुकुट के दो खण्ड कर देता है । वीर हम्मीर किले के भीतर से युद्ध करता है । उसकी तथा उसकी सेना की कोई क्षति न देख तथा अपनी सेना का संहार होते देख सुलतान भयभीत होकर दिल्ली के लिए वापि लौट चलता है । वीर हमीर की सेना में विजय का हर्ष छा जाता है । हमीर का भाई रणमल जब यह समाचार सुनता है तो अपने पुत्र सहित घोड़े पर सवार होकर सुलतान से जाकर मिलता है और सुरंग के मार्ग से दुर्ग में प्रवेश करने का भेद बताकर तथा अन्य गुप्त भेद बताके और सहायता करने का आश्वासन देकर उसे लौटा लाता है । पुनः शाही खेमे गाड़ दिए जाते हैं । सुरंग के मार्ग का पता लगाकर सुलतान उसमें रखी सत सहस्त्र मन बारूद में आग लगाकर किले को उड़ा देता है । उसका धुआं समस्त वातावरण में

१- वीर हमीर छं० १७८ ।

व्याप्त हो जाता है । राजा रणमल की इस गद्दारी का समाचार पाकर किला छोड़-कर बाहर खुले युद्ध के लिए निकल पड़ता है । दुर्ग छोड़ने के पूर्व वह देवलकुमारी को ढाढ़स देता है । संकट को टालने के लिए देवलकुमारी राजा से अपने को सुलतान को सौंपने का प्रस्ताव करती है । पर इससे हमीर का रक्त खौल उठता है । वह जाजा को स्वगृह जाने का आदेश देता है किन्तु वह बिपत्ति के समय राजा का साथ छोड़कर जाने के लिए तत्पर नहीं होती । माता से वह बिदा लेने जाता है । वह उसे कर्त्तव्य पालन के लिए प्रोत्साहन देती है । पुनः शास्त्र से सुसज्जित दोनो सेनाएं मैदान में आमने सामने खड़ी होती हैं । "सूल सर सेल करवाल आदि की मार होती है, गोले छूटते हैं । घमासान युद्ध होता है । सुलतान की सेना का संहार होता है । चौहान बीर हमीर की मार से सुलतान अलाउद्दीन रही बची सेना के साथ भाग खड़ा होता है । हमीर के शूरवीरो ने आगे बढ़कर उनके झण्डे छीन लिए और हर्ष के साथ किले की ओर चल पड़े । रानियों ने यवन झण्डों को किले की ओर बढ़ते देख जौहर का निश्चय किया और छुरी, खड्ग, अनदासू आदि की सहायता से आत्म-हत्या कर ली । हमीर ने जब लौटकर यह दृश्य देखा तो स्तब्ध हो गया । उसने भावी को बलवान् माना । उसके मन में बैराग्य उदय हुआ । उसने राज्य भार पुत्र को सौंपकर सृष्टिकर्ता की शरण में जाना ही उचित समझा । ब्राह्मणों को दानादि देकर, पुत्र का तिलक करके, उसने तलवार से अपना सिर काट डाला और अपना नाम पृथ्वी पर अमर कर दिया ।

हमीर हठ के कथानक में कोई मौलिकता नहीं है । नवीन प्रसंगों की उद्भावना की चेष्टा इसमें नहीं हुई । हम्मीर काव्य के पूर्ववर्ती लेखकों की उद्भावनाओ को जैसे का तैसा इन्होंने ग्रहण किया है । जोधराज, ग्वाल आदि हिन्दी कवियो में ही नहीं, नयचंद सूरि "हमीर महाकाव्य (अप०) में भी कथा इसी रूप में मिलती है । आगे चलकर डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी "वीर हमीर" नामक रचना में कथा को इसी रूप में अपनाया है । रणथम्भौर के अंतिम हिन्दू राजा बीर हमीर चौहान पृथ्वीराज के वंशज थे । दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन से उनका युद्ध हुआ था । इसी युद्ध में वे वीरगति को प्राप्त हुए थे । यह इतिहाससिद्ध है । कवियों ने युद्धों के राजनैतिक कारणों की उपेक्षा कर उनके पीछे प्रेम-प्रसंगों की कल्पना द्वारा ऐतिहासिक घटनाओं को विशुद्ध काव्य का स्वरूप प्रदान करने की परम्परा रही है । पृथ्वीराज रासो पद्मावत आदि ग्रंथों में भी यह प्रवृत्ति दर्शनीय है । अपभ्रंश काल की अनेक रचनाओ में इसी प्रवृत्ति का दर्शन होता है । मरहट्टी बेगम के साथ मीर महिमा मंगोल का प्रेम-प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यों पर

नही है किन्तु इसकी कल्पना इनके पूर्ववर्त्ती कवि जोधराज अवश्य कर ली थी । इसका प्रमाण यह है कि हमीर दे चउपई" जैसे प्राचीन हम्मीर विषयक काव्यों में इस प्रेम-प्रसंग का उल्लेख नहीं हुआ है । उनमें युद्ध के राजनैतिक कारण ही दिए गए हैं[1] ।

"मुसलमान इतिहास लेखकों ने जलालउद्दीन और अलाउद्दीन से हुए हम्मीर के युद्धों का जो वर्णन किया है, वह बहुत संक्षिप्त है और हम्मीर के शासन काल के अभिलेख भी अति स्वल्प और अपर्याप्त है अतः इतिहास से हम्मीर हठ की कथा की प्रामाणिकता की जांच कठिन है । हम्मीर विषयक प्राचीन काव्य ही इस संबंध में अधिक सहायक हो सकते हैं । हम्मीर हठ के पात्रों के नामों में पूर्ववर्ती रचनाओं के नामों से कुछ परिवर्तन किया गया है जिसका निर्देश यहां किया जा रहा है । हमीर विषयक के अन्य ग्रंथों मे महिम मंगोल के प्रतिस्पर्धी वीर का नाम गभरूशाह है किन्तु इस जाति में उसका नाम उदयन है । अन्य ग्रंथों में हमीर की ओर से गद्दारी करने वाला सुरजन है किन्तु हमीरहठ में रणमल (हम्मीर) के भाई की कल्पना की गई है कि इसी प्रकार छोड़ के राव रणधीर से संबंधित कथा का इसमें उल्लेख नहीं हुआ है ।

हम्मीर हठ के कथानक को एक सुगठित खण्डकाव्य का रूप देने के लिए कवि ने इसमें आवश्यक काट-छांट की है । पूर्ववर्ती हम्मीर विषयक काव्यों में पायी जाने वाली विस्तृत प्रस्तावना, सृष्टि और मानव-रचना, सूर्य और चंद्रवंशों का वर्णन, राजपूतों की उत्पत्ति तथा हम्मीर व अलाउद्दीन आदि के जन्म संबंधी प्रसंगों को इसमें छोड़ दिया गया है । इसमें अलाउद्दीन और हम्मीर का संक्षिप्त परिचय देकर युद्ध के कारण अर्थात् मरहट्ठी रानी और महिमाशाह के प्रेमप्रसंग के वर्णन से कथा प्रारंभ की गयी है ।

हम्मीर विषयक अन्य रचनाओं में अलाउद्दीन एक बार नहीं दो या तीन बार रणथम्भौर पर आक्रमण करता है ।"हम्मीर दे चउपई" में एक बार अलुग खां आक्रमण करता है किन्तु पराजित होकर लौटता है । दुबारा अलाउद्दीन स्वयं आक्रमण करता है और १२ वर्ष तक गढ़ घेरे रहता है । अंत में छल से हमीर के प्रधान रणमल और

१- देखिए हिन्दुस्तानी [ ] डा० माता प्रसाद गुप्त के हम्मीर विषयक एक नव प्राप्त रचना हमीर दे चउपई" लेख में हमीर दे चउपई का कथानक पृ० ५ ।

१- वही पृ० ४ से उद्धृत, डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ इंडिया भाग २ पृ० १०९७-११०३ पर आधारित निष्कर्ष ।

रायपाल को मिला लेता है । हम्मीर यह देखकर स्वयं आत्मत्हत्या करता है । हम्मीर हठ में अलाउद्दीन एक ही बार आक्रमण करता है और पराजित होकर जब लौटने लगता है तभी रणमल्ल के आ मिलने से वह पुनर्जीवन सा पाकर पुनः आक्रमण करता है किंतु फिर भी पराजित होता है । इस प्रकार यह युद्ध एक ही युद्ध कहा जायगा । पूर्ववर्ती घटनाएं युद्ध की पीठिका प्रस्तुत करती हैं । युद्धान्त के हमीर के आत्म -त्याग आदि के विषय कथा के उत्कर्ष पूर्ण अंत के सूचक हैं । इस प्रकार हमीर हठ मे आदि,मध्य और अंत का निर्वाह उत्तम रीति से हुआ है ।

चरित्र-चित्रण

हम्मीर- इस काव्य के नायक अंतिम हिन्दू सम्राट् रणथंभौर वीर हमीर हैं ।ये पृथ्वीराज चौहान के वंशज थे । यवनों के विरुद्ध इन्होंने स्वातंत्र्य-रक्षा के लिए बराबर युद्ध किया अतः ये अत्यन्त प्रसिद्ध राष्ट्र वीरों में स्थान पाने के अधिकारी हुए। इनके उदात्त चरित्र को आधार बनाकर अनेक काव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य, नाटकादि की रचना हुई है ।

प्रस्तुत कृति यद्यपि युद्ध (घटना) प्रधान है तथापि नायक के जातिगत, व्यक्तिगत और पदगत स्वरूप का परिचय उनके कार्य-कलापों और कथनोपकथनों से भली-भाँति मिल जाता है ।"आन पर मर मिटना" राजपूत राजाओं का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण गुण रहा है । "प्राण जाहिं पर बचन न जाई" का निर्वाह करने वाले भारतीय वीरों का चरित्र स्वतः इतना आकर्षक है कि वह सामान्य हृदय को प्रभावित करने की क्षमता रखता है । "हमीर" में इस जातीयगुण की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है । मीर महिम मंगोल उसके पास फरियाद लेकर आता है । वीर क्षत्रिय हमीर उसको शरण में ले लेते हैं । वे उसके अपराध अथवा न्याय-अन्याय का पता नहीं लगाते । उसका शरण में आना ही उसे अभयदान पाने का अधिकारी बना देता है । मंत्रियों और मुसाहिबों की सलाह भी उन्हें पथ से विचलित नहीं कर पाती । दिल्ली सुलतान की अपार शक्ति भी उसके मन में शंका नहीं जगाती-शरणागत की रक्षा उसका जातीय धर्म है, और इसके पालन में वह अपना सर्वस्व होम कर सकता है-

धड़ नच्चै लोहू बहै, परि बोलै सिर बोल ।
कटि कटि तन रन में परै, तौ नहिं देहुं मंगोल ।

\+ + +

सिंह गमन, सु पुरूष बचन, कदलि फलै इक बार ।
"तिरिया तेल, हमीर हठ, चढ़ै न दूजी बार[१]।"

उसकी दृढ़ता देखिए चाहे प्राकृतिक शक्तियाँ अपना धर्म छोड़ दे किन्तु वह अपना धर्म नहीं छोड़ सकता[२]। अलाउद्दीन का संदेश उसके वजीर मोल्हन से पाकर वह भयभीत नहीं होता वरन् निशंक हो कर ईंट का जबाब पत्थर से देता है- वह मोल्हन से कहता-

सकल अमीरन के आगे या संदेसो मेरो मोल्हन सुनाइयो अलाउद्दीन गाजी कौं
माँगत प्रथम गढ़ गजनी हमीर फेरि दीजै अली खान सो निज बागी कौं ।
दीजै भेजि हरम हुजूर मरहठी बेगि चाहिये जो कुशल तखत सिराजी कौं
तुमसे मिलै जो पातसाह पाँच और तौ हमीरगढ़ चक्कवै चहत रन साजी कौं[३]

वीर हमीर का क्षत्रियत्व के साँचे में ढला हुआ चरित्र सर्वत्र एक रस रहता है । सुलतान की फौज के रणथम्भौर घेर लेने पर मंत्री को घबड़ाया हुआ जान कर हमीर जो कहते हैं वह उनके स्वभाव के अनुकूल ही है-

गौरि संभुतन परिहरै, अचल मेरू चल होय ।
बोल्यो बचन हमीर को, चलन हार नहिं कोय ।
सिंधु चलै मरजाद तजि, उलटै अवनि अनन्त ।
बोल्यौ बोल हमीर को, सो नहिं बहुरि चलन्त ।
सरनागत पालन करै, अरु बरतै सुचि नीति ।
समर सस्त्र सनमुख सहै, यह छत्रिन की रीति ।
लखि दीनन को दुख हरै, करै प्रजा पर प्रीति ।
प्रान तजै पर काज को, छत्री समर अजीत[४]।

यहीं नहीं वे परमार्थ के आदर्श दधीचि, शिवि, जगदेव आदि की दुहाई भी देते हैं[५]। वे रण को क्षत्रियों का तीर्थ बताते हैं[६]। सुलतान को यमपुर भेजने का दम भरते हैं[७]।

१-३: हमीर हठ छं० सं० ६५-६६, ६९-६३, १०३ ।
४-७: वही, छं० सं० १४२-१४५, १४६, १४७, १४८ ।

वीर वही है जो बड़े से बड़े संकट में भी विचलित न हो । हमीर का किला अलाउद्दीन जैसे शक्तिशाली सुलतान की फौजों से घिरा हुआ है । जहां निरन्तर तोप-गोलों की बौछारों से विनाश का विकराल दृश्य उपस्थित है वहां हमीर के मुख पर एक शिकन भी नहीं । किले के भीतर नृत्य संगीत और आमोद-प्रमोद की धारा प्रवाहित है । यह निश्चिन्तता ही वीर हृदय की पहचान है । सुलतान अलाउद्दीन की महती शक्ति के प्रति यह उपेक्षा भाव ? फिर सुलतान इस संगीत लहरों को सुनकर क्रोध से क्यों न बौखला उठता?[1] वह उड्डान से तीर छुड़वाकर नटी को घायल करवा देता है । इस अवसर पर वीर हमीर के मुखसे कुछ दौर्बल्य सूचक शब्द निकलते हैं वह कह उठता है "प्रथम मन्त्र मान्यो कहु नाहीं । हठ करि मंड्यो जंग वृथा ही"[2] किन्तु उक्त कथन पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में हमीरदेव के "तात्कालिक शोक के आधिक्य की व्यंजना मात्र करता है[3]।"

सच्चे वीरों को वीर शत्रु भी सौभाग्य से ही मिलते हैं । इसीलिए अपने युद्ध के अरमानों को पूरा करने के लिए वे उन्हें जीवित रखना चाहते है दूसरों के द्वारा वह शत्रु का बध नहीं पसन्द करता और न छिपकर उनकी हत्या करवाना चाहता है । मीर के अलाउद्दीन का तीर द्वारा बध करने का आदेश चाहने पर हमीरदेव कहते हैं-

साह न मारत काठ को, जो खेलत सतरंज ।
उचित न यह जो हारिये, पादशाह प्रभुभंज ।
छोड़ि शाह के प्रान, मारि और मेरो हुकुम ।
महिमा गही कमान, सुनि आयस चहुंवान की[4]।

हमीर में वीरता के साथ-साथ एक योग्य सेनापति की दूरदर्शिता भी है । शत्रु के गढ़ घेर लेने पर वे अपने दीवान को सावधान करते हैं और कोट की रक्षा के लिए सेना को तैयार होने व तोपों की परीक्षा करने का आदेश देते है। रणमल की गद्दारी के फलस्वरूप जब सुलतान सुरंग के मार्ग से दुर्ग को दारू (बारूद) से उड़ा देता है तो राजा किले को अरक्षित समझकर बाहर जाकर खुले मैदान में युद्ध करने का निश्चय करता है । ये बातें उसकी दूरदर्शिता की सूचक हैं । खुले मैदान में हमीर तलवार हाथ में लेकर इस प्रकार कूद पड़ता है जैसे मृगों

१-२: हमीर हठ- छं० सं० १७२-१७६ । १८१ ।
३- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३९० । ४-वही, छं०सं० १९१-१९२ ।

के झुण्ड में सिंह । घोर युद्ध करके वह सुलतान की विपुल सेना का संहार कर विजयी होता है ।

वीरता, साहसिकता आदि के साथ-साथ वीर हमीर कोमलता, भावुकता आदि मानवीय सद्गुणों का भण्डार है । दुर्ग को छोड़कर युद्ध में जाने के पूर्व वह देवलकुमारी, जाजा और माता से बिदा लेने जाता है । उसकी विनम्रता इस अवसर पर देखी जा सकती है । वह मातृ वत्सल है[1]। ईश्वर और भाग्य में उसे अगाध विश्वास है । विजय के पश्चात् जब रानियों के जौहर का समाचार मिलता है तो वह स्तब्ध रह जाता है और उसे विधि-विधान समझकर अपने मन को समझाता है[2]। नारियों ने हमीर का वचन मानकर उसके लिए जौहर कर अपने प्राण गंवाए अतः उसके लिए अब संसार में जीवित रहना अनुचित है । फलतः वह विरक्त हो जाता है पुत्र को राज्यभार सौंपकर खड्ग से अपना सिर काट डालता है- अंतिम कर्तव्य-पालन उसके चरित्र को उदात्त बना देता है ।

इस प्रकार हम्मीर शरणागत वत्सल, आन पर दृढ़ रहने वाला, वीर साहसी, कर्तव्यपरायण, कष्टसहिष्णु, त्यागी, परोपकारी तथा धर्म और ईश्वर में आस्था रखने वाला सच्चा राष्ट्र सेवक है ।

<u>अलाउद्दीन-</u> अलाउद्दीन ऐतिहासिक पात्र है । उसका रणथम्भौर पर आक्रमण और विजय इतिहास सम्मत है । वह जहां प्रतिनायक के रूप में चित्रित हुआ है । प्रतिनायक को भी नायक की ही भांति वीर, पराक्रमी और अद्भुत शक्ति संपन्न दिखाया न जाता है । ऐसे शक्ति सम्पन्न विरोधी शत्रु का दर्प चूर्ण करने में नायक की गौरव-वृद्धि होती है । अलाउद्दीन के प्रतिनायकत्व पर इस दृष्टि से कुछ आलोचकों ने टीका टिप्पणी की है जो बहुत कुछ तथ्य पूर्ण है । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है "एक त्रुटि हम्मीर हठ की अवश्य खटकती है । सब अच्छे कवियों ने-प्रति नायक के प्रताप और पराक्रम की प्रशंसा द्वारा उससे भिड़ने वाले या उसे जीतने वाले नायक के प्रताप और पराक्रम की व्यंजना की है।राम का प्रतिनायक रावण कैसा था? इन्द्र, मरुत, यम, सूर्य आदि सब देवताओं से सेवा लेने वाला, पर हम्मीर हठ में अलाउद्दीन एक चुहिया के कोने मे दौड़ने से डर के मारे उछल भागता है और

१-२: वीर हमीर, छं० सं० २७६-२७८ । ३७१-३७२ ।

पुकार मचाता है[1]।"

शुक्ल जी का कथन अति रंजना पूर्ण है । चूहे के कारण अलाउद्दीन के डरकर भागने या पुकार मचाने का वर्णन हमीर हठ में नहीं है । मूषक की खटपट से युद्ध - में बाधा पड़ने के कारण वह उठकर चार तीर छोड़ता है । और चूहे को मार डालता है[2]। तथापि ऐसी ही परिस्थित में मीर मंगोल के एक तीर में शेर मारने की घटना के संदर्भ मे अलाउद्दीन का कार्य कायरतापूर्ण ही कहा जायगा । इस घटना से अलाउद्दीन की झुंझलाहट या तुनकी मिजाजी का परिचय भी प्राप्त हो जाता है । किन्तु अलाउद्दीन के बल, पराक्रम आदि का वर्णन भी कवि ने जी खोल कर किया है- उसके आतंक से समस्त भू-मण्डल आक्रान्त है-

थर थर कंपै मेदिनी, रवि रथ झंपै धूरि ।
साह अलाउद्दीन जब सहज चलत कछु दूरि ।
असी लक्ख दल बल सबे जिहिं दिसि देखत बंक ।
तिहि दिसि कोप्यो काल जनु होत राव सब रंक[3]।

प्रतिनायक अलाउद्दीन को काल से भी कराल और रावण से भी टक्कर लेने वाला कह बताया गया है-

संक न करत लंकपति सों जुरन जंग जोहि कै जमात जम छोम निडक्त है
काल से कराल या अलाउद्दीन पातसाह ताको चोर चारों ओर राखि को सक्त है[4]

तथापि अलाउद्दीन का पराक्रम उसकी सेना के शूर-सामंतों और उसके अतुल वैभव का परिणाम है । उसमें सच्चे बीर के गुण नहीं मिलते । सच्चे वीरों को अपने प्राणों का मोह नहीं होता । किन्तु अलाउद्दीन अपनी प्राण-रक्षा के निमित्त सदैव चिन्तित रहता है । मीर के तीर से छत्र-भंग होने के बाद उसकी प्रतिक्रिया देखिए-

छत्र भंग मेरो भयो, भरे सूर सामंत ।
प्रान बचत दीखत नहीं, जानि लियो बिरतन्त[5]।

यही नहीं, लौटि चलो अपने घर को जो भई सो भई कहि जान न एकौ[6]। से अलाउद्दीन अपने किये हुये पर पछताता भी ज्ञात होता है । भयंकर युद्ध के बीच भी अलाउद्दीन की रण कुशलता का विशेष परिचय नहीं दिया जाता ।

अलाउद्दीन एक विषयी बादशाह के रूप में प्रस्तुत किया गया है । उसका महल "गोरी थोरी बैसवारी नवल किशोरियो"[7] से भरा हुआ है । वे सभी

१-हिन्दी साहित्य का इति०,पृ०सं० ३९१ ।२-३-हमीर हठ,छं०सं० ४२-४३,९-१० ।
४-६-वही, छं०सं०५०,पृ०८-९, १०८-पृ०३४, ३११-पृष्ठ ४८ ।
७- वही, पृ० १,छं०११ ।

उसकी वासना-पूर्ति का साधन हैं किन्तु फिर भी उसकी वासना अतृप्त रहती है। रूपवती सुन्दरी स्त्रियों का समाचार पाते ही वह उन्हें अपने महल में लाने के लिए आतुर हो उठता है और इसी उद्देश्य से बड़े बड़े युद्ध भी मोल लेना उसका स्वभाव है। वीर हमीर से भी वह दण्डस्वरूप देवलकुमारी को अपने यहाँ भेजने के लिए कहलाता है[1]। उसका अधिकांश समय महलों या मृगया में ही जाता है अथवा किसी अभिलषित सुन्दरी की प्राप्ति हेतु किए गये युद्ध में। ऐसे कामुकवृत्ति वाले बादशाह की बेगमें व्यभिचारिणी हों तो आश्चर्य ही क्या? मरहट्टी बेगम मीर महिमा मंगोल नामक सरदार की वीरता पर मुग्ध होकर उसके साथ प्रणय-क्रीड़ा करती है और उसकी प्राण रक्षा के निमित्त, रहस्य खोलने के पूर्व उसे सन्देश भेजकर भगा देती है। न्यायानुकूल मरहट्टी बेगम को भी उसके अपराधों का दण्ड मिलना चाहिए, किन्तु इसकी ओर बादशाह की दृष्टि न जाकर अपने प्रतिद्वन्द्वी मीर के अपराध पर ही जाती है। न्यायप्रियता का गुण बादशाह का भूषण होता है किन्तु अलाउद्दीन में इसका लेश भी नहीं। असहनशीलता का परिचय नर्तकी को उड्डयन से तीर चलवाकर घायल करवाने की घटना से मिलता है। मीर को न देने पर अलाउद्दीन का हमीर से युद्ध ठनना उसकी अहंकार वृत्ति का परिचायक है। रणमल्ल के साथ मिलकर गुप्त रूप से सुरंग के रास्ते जाकर किले को बारूद से उड़ा देना उसके छल का परिचायक है। इस प्रकार अलाउद्दीन को हम कामुक और उद्धत प्रकृति का प्रतिनायक कह सकते हैं।

रस और भाव-व्यंजना

हमीर-हठ में प्रधान रस वीर है जिसकी अभिव्यक्ति युद्ध के वर्णनों और वीरों की गर्वोक्तियों में हुई है। इसमें वीर हमीर उत्साह भाव के आश्रय हैं। प्रतिनायक अलाउद्दीन और उसकी सेना आलम्बन है। वीरों की ललकार, हुंकार आदि उद्दीपन हैं। गर्वोक्ति तथा नेत्र भुजा आदि का फड़कना अनुभाव है। गर्व, धृति, मति आदि अनुभाव हैं। हम्मीर हठ के युद्ध वर्णन में वीर रस के उपर्युक्त समस्त अवयवों का दर्शन होता है। इस प्रकार इस कृति में वीर रस का पूर्ण परिपाक सफलता के साथ हुआ है। इसमें प्राचीन शैली का युद्ध वर्णन मिलता है जिसमें एक ओर रासों की युद्ध वर्णन शैली के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर शत्रु की सेना के भयभीत होकर भागने और आतंकग्रस्त होने में भूषण के चित्रों का स्मरण हो आता है। हम्मीरहठ

1- हमीर हठ, पृ० १८ छन्द १५।

के युद्ध वर्णन की विशेषता यह है कि युद्ध के समस्त उपकरणों का समानुपातिक वर्णन और चित्रण इसमें मिलता है । वस्तुओं के लंबे चौड़े विवरण इसमें नहीं मिलते । निरर्थक शब्दावली के द्वारा युद्ध का प्रभाव अंकित करने की चेष्टा नहीं की गई । ओजस्वी एवं भावानुकूल भाषा मे दृश्यों और मनोभावों के चित्र अंकित किए गए हैं ।

अलाउद्दीन की सेना के हाथी[1], घोड़ों[2] और सैनिकों[3] का विशद वर्णन किया गया है । घोड़ो की चंचलता, सजलता, बंकता, वेग आदि के वर्णन तथा उनकी युद्ध कालीन साज-सज्जा के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किए गए हैं ।

हम्मीर की सेना जब चलती है तो उसका आतंक देखिए-

चलत कटक डरैलत इमि धरती ।
प्रबल पवन हत जिमि लघु तरनी ।
सहमि सुरेस संकमन माने ।
घना धीस तजि नीर पराने ।
मंदर मेरु कली समकं पै ।
फाटत फन फनीस फन भांपै ।
करत छार खुर धार पहारनि ।
शोवत महि मतंग मद धारनि[4]।

सेना की सजावट, कूच, योद्धाओं के उत्साह युद्धोन्माद, रणवाद्य, अस्त्र-शस्त्रों की चमक, हाथियों की मस्ती, घोड़ो के नृत्य आदि के आलंकारिक वर्णनों की पुनरावृत्ति भी हुई है किन्तु वह भिन्न छंदों एवं भिन्न सन्दर्भों में होने के कारण प्रभाव वृद्धि में सहायक है ।

हम्मीर अपने सैनिकों को सावधान कर दुर्ग के ऊपर बैठकर युद्ध की आज्ञा देता है । वह क्षात्रधर्म का बखान करता हुआ राजपूतों के रक्त में प्राणों का संचार करता है । वे शत्रु का संहार करने के तीखे अरमान- "कटि कटि अंग धरनि गिर जावै। पै रिपु जीवत जान न पावै[5]" - व्यक्त करते हैं ।

१- देखिए हमीर हठ छं सं० ११३, ११४, ११५ ।
२- देखिए हमीर हठ छं सं० ११२, १२१ ।
३- वही छं सं० ३०१-३०३ ।
४- वही छं० सं० ११८-१२५ ।
५- वही छं सं० १५६ ।

द्वितीय युद्ध में हम्मीर के दुर्ग के बाहर आने के बाद दोनों सेनाओं के मध्य जो तुमुल युद्ध होता है उसका रोमांचकारी वर्णन कवि ने किया है- हम्मीर और अलाउद्दीन युद्ध का चित्र देखिए-

लरे पातसाह और हमीर रन थम्भ खेत,
बीरता बखानै कौन सुभट अरेजे है ।
हाँकि हाँकि दलनि दबाइ दहपट्टि हतरे करै
बाजी औ बितुण्ड झुण्ड झूमत खरेजे हैं करै
मारे रण मुगल पछारे वीर जादे अध फारे
फर लोटद्ध पठान वे अरेजे हैं।
पार भये नेजे धूमि भूमि में परे जे करे,
टूक टूक रेजे सरे रेजे से करेजे हैं[१] ।

युद्ध का सांग रूपक के सहारे पावस के साथ सादृश्य अंकित करने की परंपरा सी रही है । "हम्मीर हठ में अधिक विस्तृत न होकर यह रूपक एक ही दो छंदों तक चलता है । अपने शत्रु ग्रीष्म का गर्व हरण करने के लिए पावस दल-बादल लेकर आक्रमण करता है ।

उठो धूर धुरवान धरनि जलधर दल जु है ।
धवल धजा बकपाँति छत्र छनदा छबि छुहै ।
धुरै बंब घनघोर बिरद बन्दी पिक बोलै ।
गज तुरंग रथ बेग बिहद हद मारुत डोलै ।
छिति अंधकार छायो सघन, दृग पसारि सूझै न कर
दीसै न पन्थ पावस नृपति चढ़यो साजि दल जलबदर[२] ।

वीरों की मुद्रा के चित्र उनके हृदयस्थ भावों को व्यंजित करते हैं-

आनन औरै ओप, भुज फरकत हरषत हियो ।
भये अरुन दृग कोप, देखी देखा दुहन सों
ताले करे तुरंग, अंग अंग उभगे सुभट
चढ़यो चौगुनो रंग, सूरन के तन बदन में[३] ।

वीरोत्साह व्यंजक उक्तियों की भरमार है ओजपूर्ण शब्दावली के चयन से वीर रस का

१-३ हमीर हठ छं सं० ३९७, ३९८, ३०९-३१० ।

वातावरण मूर्त हो उठा है । निम्नांकित छप्पय में हम्मीर की अपनी मां के प्रति वास्दर्पभरी उक्ति देखिए-

करौ जुद्ध करि क्रुद्ध आज अवरूद्ध सुद्ध मन ।
अरि बिहंडि करि खंड खंड डारौं गनी मगन ।
परै सोर चहुं ओर घोर दिन राति न सुज्झै ।
गज तुरंग चतुरंग अंग भरि भूत अरूज्झै ।
बिनु मुण्ड रूण्ड धावै धरनि, कवन बोलि बूकौं नहीं ।
मोरौं न बाग रनभूमि तें भानु मातु मेरी कही ।

बीभत्स- युद्ध के बीभत्स दृश्यों के अंतर्गत रूंड, मुंड, रूधिर, मांस, मज्जा, अस्थि आदि में मोद मनाते हुए भूत-प्रेत, भैरव, पिशाच, योगिनी, चंडी, काली, नृत्य करते हुए शिव, पार्वती, शिवगणों के साथ साथ शृंगाल, गृद्ध आदि मांसाहारी पक्षियों के दृश्य अंकित हुए हैं- एक चित्र देखिए-

चुंचन चुत्थैं गृद्ध मास जंबुक मिलि भच्छैं । बाटै चरबि पिसाच प्रेत गहि हाड प्रतच्छैं।
मर्षै मोद भरि भूत रूण्ड भैरव लै भज्जै ।गहि कपाल रन पान करत चण्डीगण गज्जैं
नाचैं निहारि जुटि जोगिनी सुभट जच्छ कन्या बरैं। रन भुम्मि भये कायर विमुख-
सूर समर साका करै[1]।

शृंगार- हम्मीर हठ में चारण परंपरा के वीर काव्यों की शैली अपनायी गया है । वीर की पृष्ठभूमि में शृंगार यहां क भी विद्यमान है । मीर महिमा और मरहट्टी रानी के प्रेम-प्रसंग इसमें युद्ध का कारण बनाया गया है ।

वीर-रस की भांति शृंगार-चित्रों को अंकित करने में कवि निपुण है । अलाउद्दीन की रानियों के सौन्दर्य का वर्णन कवि निम्नांकित छंद में रसिकता के साथ करता है-

थोरी थोरी वैसवारी नवल किशोरी सबै,
भोरी भोरी बातनि बिहंसि मुख मोरतीं ।
बसन विभूषन बिराजत बिमल तन
मदन मरोरनि तरकि तृन तोरतीं ।
प्यारे पातसाह के परम अनुराग रंगी,
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं ।

1- हमीर हठ, छं०सं० ३३१ ।

काम अबला सी कलाधर की कला सी चरु,

चरु चंपक लता सी चपला सी चित चोरती[1]।

चारण परम्परा के ग्रंथों मे आश्रय दाता राजाओं के युद्धों, प्रेम-प्रसंगों के साथ साथ मृगया का वर्णन करने की परिपाटी भी रही है । हमीर हठ मे भी मीर महिमा ~~मंगल~~ मंगोल व मरहट्ठी बेगम के प्रेम-प्रसंग के उपयुक्त परिस्थिति प्रयत्न करने के लिए कवि ने मृगया वर्णन का अवसर निकाल लिया है । इसके अंतर्गत घोड़ों की जाति और उनके वेग आदि कावर्णन है । बेगमें मरदाने शिकारी वेश में धनुष-वाण लेकर घोड़ो की सवारी करती हैं । रानियों की शोभा, विलास-क्रीड़ा आदि का वर्णन भी इस प्रसंग में हुआ है । मृगया का गति मय चित्र इन पंक्तियों में देखिए-

कहूं खींचि कम्मान को बान मारैं ।
मृगा जात भागे लगीं पूर छोटें ।
कहूं खींचि समसेर को फेरि घोड़ा,
करैं वार द्वौ खंड ह्वै भूमि लोटैं ।
कहूं मारि नेजा दिये डारि केते,
नहीं प्रान छूटे परे भुंड ओटैं ।
मनो जीव पापीन को जम्म राजा,
दियो दंड घोई सबै घूम चोटैं[2]।

<u>शान्त</u>- विजयी हम्मीर युद्ध क्षेत्र से लौटकर रानियों के जौहर का समाचार सुनता है तो उसे वैराग्य उत्पन्न हो जाता है । विधि के इस प्रपंच को अज्ञेय मानकर उसमें निर्वेद का संचार होता है-

यह जग इन्द्रजाल सम जानौ । करनहार नट सरिस बखानौ ।
छिन मैं करत और का और । देखि न परै रहै सब ठौर ।
कारन करन आपस बजोई । थिर जन हार जगत को सोई ।
जाकी सरन आज मैं जैहौं । राज भार सुत के सिर दैहौं[3]।

<u>करुणा</u>- करुणा का अवसर रानियों के जौहर होने के समय आता है । किन्तु उसका परिपाक नहीं होता । क्योंकि करुण यहां निर्वेद में परिवर्तित हो जाता है ।

1- हम्मीर हठ, छं०सं० १२ ।२-वही, छं०सं० २५ ।
३- वही, छं०सं० ३८४-३८५ ।

हमीर हठ मे रस योजना आदर्श की भित्ति पर अवस्थित है । उसमें उत्तम प्रकृति के सात्विक रसों की सृष्टि की गई है । क्रोध, शोक आदि दुखात्मक भावों की स्थिति नायक में नहीं दिखायी गयी अन्यथा उसके औदात्य की रक्षा नहीं होती । युद्ध के अवसर पर रौद्र शोक आदि की व्यंजना क्षणिक आवेश के रूप में संचारी के अंतर्गत ही मानी जा सकती है । क्रोध की स्थायी भाव उसमें नहीं होता ।

भाषा-शैली

हमीर हठ की भाषा साहित्यिक ब्रज भाषा है । चारणों द्वारा निर्मित रासो ग्रन्थों और ऐतिहासिक वीर-काव्यों में भाषा का बनावटी रूप मिलता है । चारण कवियों का भाषा के इस प्राचीन साहित्यिक रूप को सीखने के लिए अभ्यास करना पड़ता था । यही कारण है कि बहुत बाद की कृतियों में भी भाषा का प्राचीन स्वरूप दिखलाई पड़ता है[1] । हम्मीर हठ भी उसी साहित्यिक परम्परा की कृति है[2] । इसमें भी युद्ध वर्णनों व वीरोक्तियों में कहीं कहीं भाषा के प्राचीन रूप की (विशेषकर संयुक्ताक्षर गर्भित शैली) झलक मिलती है-

> तहाँ तज्जत तुरंग गल गज्जत गयन्दगन बज्जत निसान सुनि आवत दराज
> सुनि धुक्कत धरनि मद मुक्कत महीप सब सुक्कत सुरेस सुरसहित समाज
> पुनि कम्पति पुहूमि रवि झम्पन गरद चलि चम्पत प्रबल दल दीरघ दरा
> मुख राजत सुरंग चढ़ी अँगन उमंग जब साजि चतुरंग चढ्यो साह सिवाज[3]

किन्तु पं० चन्द्रशेखर ने अपनी भाषा को प्राचीन रूढ़ियों से मुक्त कर अधिक स्वाभाविक और प्रवाह पूर्ण बनाने में पूर्ण सफलता पाई है । हम्मीर हठ की भाषा सामान्यतः आडम्बर शून्य, प्रभावोत्पादक एवं परिष्कृत है । उसमें सूदन आदि के समान शब्दों की तड़ातड़ और भड़ाभड़[4] नहीं सुनाई पड़ती । निरर्थक शब्दावली का जमघट नहीं रहता । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है

१- प्राकृत अपभ्रंश साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव- डा० राम सिंह तोमर (थीसिस) पृ० १३२ ।
२- वही पृ० २२६ ।
३- हमीर हठ छं सं १२० ।
४- न्दिी साहित्य का इतिहास - पं० रामचंद्र शुक्ल पं० ३९० ।

"उनकी भाषा पूर्ण व्यवस्थित, च्युत-संस्कृति आदि दोषों से मुक्त और प्रवाह-मयी है[१]।" अन्य स्थल पर उन्होंने लिखा है "चंद्र शेखर जी का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था । अनुप्रास की योजना प्रचुर होने पर भी भद्दी कहीं नहीं हुई, सर्वत्र रस में सहायक ही है । ----जिस रस का वर्णन है ठीक उसके अनुकूल पदविन्यास है । जहां शृंगार का प्रसंग है वहां यही प्रतीत होता है कि किसी सर्वश्रेष्ठ शृंगार कविकी रचना पढ़ रहे हैं[२]।"

उग्र भावों की व्यंजना के लिए कर्ण कटु शब्दों के प्रयोग की परम्परा भी रही है किन्तु हम्मीर हठ के रचयिता ने ऐसे कठोर वर्णों के प्रयोग की चेष्टा नहीं की- कोमल शब्दावली के सहारे ही उसने उग्र भावों की व्यंजना और ओज की सृष्टि करने में सफलता पाई है । उपर्युक्त उद्धरण इसका प्रमाण है । शृंगार पूर्ण स्थलों में माधुर्य गुण की छटा दर्शनीय है । संस्कृत के तत्सम, व ब्रजभाषा के साहित्यिक बोल चाल के रूपों का प्रयोग अधिक हुआ है । विदेशी शब्दों का प्रयोग कवि ने खुलकर किया है । अरबी, फारसी के समसेर, नेजा, आलीजाह, कनात, खवास, तखत नशीन, महल, जनाने खास, हजूर, हाजिर, हरम, अरज, जरदोजी, पेसबन्द, माहताब, गरीब, गनीम, सलाम, गलामैं, ममारखी, दरबान, गरीबनेवाज़, हुकुमे, दराज आदि अनेक शब्द तत्सम रूप में मिलते हैं । इनके द्वारा मुसलमान बादशाह अलाउद्दीन के दरबारके इस्लामी वातावरण का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने मे कवि को पर्याप्त सहायता मिली है । राजा हम्मीर देव के वैभव, वार्तालाप आदि के वर्णनों में विदेशी शब्दों का प्रयोग उतना नहीं मिलता । ऐसे स्थलों पर संस्कृत तत्सम या उनके ब्रजभाषा रूप ही अधिक मिलते हैं । यत्र-तत्र मुहावरों का प्रयोग भाषा की व्यंजना को बढ़ाने में सहायक हुआ है-

जौ न देहिं तौ होत बिनास । दीन्हें बड़ो जगत में हास ।
दोऊ भांति बात यह ऐसी । सांप छछून्दर की गति जैसी[३]।

अलंकार - योजना

हम्मीर हठ में अलंकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है । किन्तु कहीं भी वे भावों की गति अवरुद्ध नहीं करते । वे सर्वत्र भावोत्कर्ष में सहायक हैं । शृंगार-चित्रों में उपमानों की शृंखला चित्ताकर्षक है-

---

१-हिन्दी साहित्य का इतिहास-पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० ३९० ।
२- वही, पृ० ३९१ । ३- हम्मीर हठ, छं० सं०१३९ ।

क- कामकमला सी, कलाधर की कलासी, चरु चंपक लता सी, चपला सी
तून तोरती[1]।

\+ + +

ख- चंद की कला सी विमला सी चढ़ी बाजिन पैं, बसन विभूषन बलित बर
बेनी हैं।

किन्नरी, नरी सी जरी हेम की छरी सी, भरी जोबन अनूप रूप रति
सुख देनी है[2]।

इसी प्रकार रंग-बिरंगी वस्त्रों और जड़ाऊं जेवरों का बेगमो के शारीरिक सौन्दर्य के साथ सामंजस्य उपस्थित करने में यह उत्प्रेक्षा सहायक हुई है-

खेलि सिकार रहीं सिगरी सजि साह के संग तुरंग चढ़ी ते ।

स्याम सुरंग हरे पियरे पट मानहु दामिनी मेघ मढ़ी ते ।

जेव जड़ाव के जेवर की उमगै अति अंग उमंग बढ़ी ते ।

सूरज की किरनें मनो कोटिन मेघन के तन फोर कढ़ी ते[3]।

घोड़ों की गति, युद्ध की भयंकरता, राजाओं के पराक्रम आदि का वर्णन अतिशयोक्ति की सहायता से किया गया है-

करैं पौन के संग में गौन पूरे, मनो बाज छूटे कला कोटि सीखे[4]।

\+ + +

चली छार से करत खुर धारनि पहार अति तायल तुरंग उड़त जनु बाज[5]।

सांग रूपकों को प्रस्तुत करने में कवि कुशल है । कोमल भावों की व्यंजना के लिए कठोर अप्रस्तुत, और कठोर भावों की योजना के लिए कोमल अप्रस्तुत कवि ने जुटाएं हैं किन्तु फिर भी कवि अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हुआ है । नायिका के नेत्रों का प्रभाव दिखाने के लिए तीर से घायल किए जाने की अप्रस्तुत योजना देखिए-

"मारे दृग बान तान भृकुटी कमान, करि घायल निदान, कहै नजर बचाय के[6]।
और युद्ध के भीषण दृश्यों का परिचय कराने के लिए पावस के कोमल रूप को अप्रस्तुत के रूप में उपस्थित किया गया है -

---

१-२- हमीर हठ छं० सं० १२, १३ । ३- वही, छं०सं० २२ ।

४-५- वही, छं०सं० २४, १११ । ६- वही, छं०सं० २८ ।

उठो शूर गुरवान गरनि जलधर दल जुट्टै ।
धवल धजा बक पांति छत्र छनहा छबि छुट्टै
घुरै बंब धन घोर बिरद बंदी पिक बोलै
गज तुरंग रथ बेग बिहद हद मारुत डोलै
छिति अन्धकार छायो सघन दृग पसारि लूकै न करि
दीसै न पन्थ पावस नृपति चढ़्यो साजि दल जल दबर[1] ।

अर्थान्तरन्यास- एक ही छन्द में अनेक अलंकारों का "संकर" कवि ने प्रस्तुत किया है । नीचे के उदाहरण में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और संदेह का संकर दृष्टव्य है-

मार परी दुहू ओर विषम विबहद छोर ठौर ठौर गोली बान गोला
बरसत हैं ।
जैसे प्रलै काल में फनीके फना मंडल तें फैलें फूत कारवि फुलिंगी सरसत हैं ।
बरसैं अंगारे कै धौं टूटै आसमान तारे कोटिन कतारे केतु बारे दरसत है ।
तोपै औनि अम्बर कों कठिन कराल मानौ रूद्र नैन ज्वालन के जाल भरसत
हैं[2]।

युद्ध के वर्णन में कुछ अत्युक्तियां भी आ गयी है जो भावों को तीव्रता प्रदान करने मेंसहायक हैं-

करौं छार छन में पहार धरि कोट उलट्टौं ।
दुवन देस दल मलौं दवन देसन दह पट्टो[3]।

युद्ध वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का सुन्दर प्रयोग हुआ है । उपमान परंपरागत -प्रकृति में ग्रहीत है किन्तु कहीं - कहीं अलौकिक व्यक्तियों को उपमान बनाया गया है । इसके लिए रंभा, मैनका, मंजुघोषा, पारथ, भीष्म, शंभु, इन्द्र, कर्ण, अर्जुन, शेषनाग आदि की अवतारणा हुई है ।

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, तुल्ययोगिता आदि के भी सुन्दर प्रयोग इसमें मिलते है । विस्तार भय से सबका विस्तृत विवेचन यहां संभव नहीं है । निष्कर्ष यह है कि हम्मीर हठ में विविध अलंकारों की सुंदर

१- हमीर हठ, छं०सं० । २-वही, छं०सं० १६३ ।
३- वही, छं०सं० १७५ ।

योजना हुई है । सर्वत्र वे काव्य-सौंदर्य की वृद्धि करते है, कहीं भी उनमें शिथिलता, अस्वाभाविकता, या भद्दापन नहीं आने पाया है । खण्डकाव्यों मे अलंकार योजना की दृष्टि से हम्मीर हठ महत्वपूर्ण कृति है ।

छन्द-योजना

छंद योजना की दृष्टि से हमीर हठ में चारण-काव्य परम्परा का अनुकरण किया गया है । इसमें विविध छन्दों की योजना हुई है । इस दृष्टि से यह रचना अपभ्रंश की संदेश रासक और हिन्दी की चारण काव्य परम्परा में आती है ।

इस कृति में एक दर्जन छन्दों का प्रयोग हुआ है । हमीर हठ के संपादक बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" ने ग्रंथ की भूमिका में लिखा है "छंद भी कवि जी जहां तहां बदलते जाते हैं जिससे दो कार्य साधन होते है । प्रथम तो यह कि पढ़ने वाला नये नये छन्दों के कारण उकताता नहीं और दूसरे यह कि बहुधा जहां जो उचित है, वहां वह छन्द इस अदल बदल में पड़ जाता है[1]।" वस्तुतः भावों के अनुकूल छंद-योजना के कारण कृति में विशेष चमत्कार आ गया है ।

प्रस्तुत कृति में कवित्त, सवैया, छप्पय, त्रिभंगी, दोहा, सोरठा, झूलना, भुजंग प्रयान, पदरी, मोतीदाम, तोटक और चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है । जिनमें कवित्त, सवैया और त्रिभंगी को छोड़कर सभी मात्रिक है । शृंगार और शान्ति आदि कोमल रसों के वर्णन में कवि ने प्रधानतः कवित्त, सवैया और दोहा आदि बड़े वृत्तों का ही प्रयोग किया है । वीर रस का वर्णन प्रधानतः छप्पय कवित्त व भुजंग प्रयान मे हुआ है । इतिवृत्त वर्णन के लिए कवि ने विशेष कर चौपाई पदरी, तोटक आदि छोटे छन्दों का विशेष व्यवहार किया है । वस्तुओं की गति, स्फूर्ति और तीव्र भावावेग को व्यक्त करने के लिए कवि ने झूलना, मोतीदाम आदि छन्दों को चुना है । संवादों व अन्य व्यापारों के लिए दोहा, सोरठा आदि को माध्यम बनाया गया है । जिस प्रकार भावानुकूल पद योजना के संघटन में कवि दक्ष है उसी प्रकार भाव-परिवर्तन के साथ छंद परिवर्तन में । छंदों की प्रकृति को पहचानने में उसकी प्रतिभा अद्भुत है ।

– – –

१– हम्मीर हठ– सं० जगन्नाथ प्रसाद "रत्नाकर", भूमिका पृष्ठ ४ ।

खंड ५

आधुनिक-काल (१८५० ई० से १९५० ई० तक)

अध्याय १

आधुनिक - काल का प्रबन्धात्मक - साहित्य

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में खण्डकाव्य रचना का प्रयास अधिक नहीं हुआ । यह हम पिछले खण्ड में देख चुके हैं । आधुनिक काल में खण्डकाव्य कला का विकास नये सिरे से हुआ, जिसमें प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र के लक्षणों के निर्वाह की ओर कवियों की दृष्टि विशेष रूप से उन्मुख हुई । रीति काल तक के पूर्व पृष्ठों में विवेचित खण्डकाव्यों मे नरोत्तमदास के सुदामा-चरित को छोड़कर एक भी कृति ऐसी नहीं है जिसका निर्माण क सर्ग बद्ध प्रणाली पर हुआ हो । आधुनिक युग में मैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथ-वध से खण्डकाव्य रचना का जो सूत्रपात हुआ उसमें खण्डकाव्यों को प्रायः सर्गबद्ध प्रणाली पर निर्मित करने की प्रवृत्ति विकसित हुई । सियारामशरण गुप्त का मौर्य विजय, रामनरेश त्रिपाठी के मिलन, पथिक, स्वप्न, अनूपशर्मा का सुनाल, गोकुलचन्द्र शर्मा का प्रणवीर प्रताप इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं । सर्गबद्धता के साथ साथ इन खण्डकाव्यों में देश, काल, प्रकृति एवं वातावरण आदि की सुनियोजित पृष्ठ भूमि पर कथानकों का भवन निर्मित किया जाने लगा । आदर्श चरित्रों का विकास और धार्मिक परिस्थितियों के चित्रण में कवियों ने अपनी कवित्व शक्ति का परिचय दिया । इस प्रकार खण्डकाव्यों में प्रबन्ध गाम्भीर्य और कलात्मक सौन्दर्य लाने की प्रवृत्ति इस ठ युग में उत्तरोत्तर विकसित होती हुई दिखाई पड़ी ।खण्डकाव्यों में प्राचीन संस्कृत साहित्य शास्त्र की समृद्ध परम्पराओं को पुनर्जीवित करने की जो चेष्टा दिखाई पड़ी उसका मूल आधुनिक युग की व्यापक राष्ट्रीयता के विकास मी ही खोजा जा सकता है ।

युग परिस्थिति- सांस्कृतिक दृष्टि से आधुनिक काल की सबसे महत्वपूर्ण घटना है भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना । १८४९ ई॰ के द्वितीय सिख-युद्ध के बाद अंग्रेज सम्पूर्ण भारत के स्वामी बन गए थे । देशी राजाओं ने भी अंग्रेजों की प्रभुसत्ता को स्वीकार कर लिया था । अंग्रेजों की शासन की स्थापना से यद्यपि भारत की दासता के बंधन शिथिल न हुए किन्तु फिर भी सदियों से गुलाम बनी हुई भारतीय जनता ने इस शासन काल मे करवट बदली । डा॰ लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है "उन्नीसवीं शताब्दी में अंगरेजों की जीवित जाति के संस्पर्श में आने से देश के जीवन का उससे प्रभावित होना अनिवार्य था । मुसलमान शासकों की तरह अंगरेजो ने भारतवर्ष को

अपना घर नहीं बनाया, यही ठीक है । लेकिन तो भी यूरोप की सभ्यता का आघात पाकर समूचा देश उत्तेजित हो उठा । ऐसी अवस्था में आत्म गरिमा भूली हुई हिन्दू जाति में अभ्युदयाकांक्षा के उदय से नव जीवन का संचार होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी[1]।" पाश्चात्य साहित्य के संपर्क और पाश्चात्य ढंग की शिक्षा के प्रभाव से देश में स्वदेश-प्रेम और स्वजाति- गौरव की भावना का विकास हुआ । १८५७ ई० की राज्य-क्रान्ति के द्वारा देश ने प्रथम बार अपनी स्वातन्त्र्य-लालसा का संकेत दे दिया था । इस विद्रोह से कंपनी सरकार के पैर लड़खड़ाते जान पड़े । फलतः १८५८ ई० में भारत का शासन ईस्ट-इंडिया कंपनी के स्थान पर सीधे ब्रिटिश सरकार के हाथों में चला आया । इस समय इंगलैण्ड में महारानी विक्टोरिया का शासन काल था जो अपनी सुख-शान्ति और समृद्धि के लिए विख्यात है । १८५८ ई० के उसके घोषणापत्र में शासन की ओर से भारतीयों के प्रति, उदारता, दया और धार्मिक सहिष्णुता दिखलाने का आदेश दिया गया था । उसी के प्रेरणा से ब्रिटिश सरकार के तत्कालीन प्रतिनिधियों का ध्यान शासन सम्बन्धी सुधारों तथा जनता के हित के कार्यों की ओर भी गया था । शासन की इस विनम्र नीति के परिणामस्वरूप उस काल (विक्टोरिया का शासन काल) में राजभक्ति की भावना भी लक्षित होती दिखाई पड़ी । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में इसी राजभक्ति का स्वर प्रस्फुटित हुआ है किन्तु इसके साथ ही देश की आर्थिक दुर्दशा, अशिक्षा, सांस्कृतिक ह्रास आदि विषय उनके चित्त में बराबर विक्षोभ उत्पन्न करते रहे । आवागमन के साधनों का आविष्कार हो जाने से इंगलैण्ड की बनी हुई वस्तुओं को भारत पहुंचाने में सरलता हो गई । अंग्रेजी वस्तुओं की खपत- विशेषकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में अधिकाधिक बढ़ती गयी और भारत का धन और भी तेजी से विलायत पहुंचने लगा । भारतेन्दु तथा उनके युग के अन्य कवियों की रचनाओं में राजभक्ति के साथ साथ इस आर्थिक व्यवस्था के प्रति असंतोष का तीखा स्वर सुनाई पड़ता है ।"अंगरेज राज सुखसाज सज सब भारी पै धन विदेश-चलि जात यहै अति ख्वारी"में भारतेन्दु की तत्सम्बन्धी पीड़ा का परिचय मिलता है । इसी प्रकार भारत-दुर्दशा नाटक में "हा, हा, भारत-दुर्दशा

१- आधुनिक हिन्दी साहित्य, प्रथम संस्करण, पृष्ठ सं० २९६

न देखी जाई ।" कहकर वे अपना क्षोभ प्रकट करते हैं । अंगरेजो की इस व्यावसायिक नीति के परिणाम स्वरूप देश के उद्योग-धन्धे नष्ट हो गए । कृषि को भी धक्का लगा और स्थान-स्थान पर दुर्भिक्ष पड़े, जिनको वजह से अगणित नर-नारी अकाल मृत्यु के शिकार हुए । डा० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने लिखा है - "अंगरेजों के शासन-प्रबन्ध तथा आर्थिक नीति, और भारत में अकालों का घनिष्ट संबंध है । उन्नीसवीं शताब्दी में अंगरेजों के राज्य में फैलने के साथ भारतवर्ष में अकालों का डेरा जमता गया । जब कभी अकाल पड़ा देश के लाखों आदमी काल के ग्रास बन गये, गाय, भैंस आदि पशुओं का तो कुछ ठिकाना ही नहीं । यातायात के उचित प्रबन्धों के अभाव के कारण निर्दिष्ट स्थान पर सहायता पहुँचाने में अत्यन्त कठिनाई पड़ती थी । जिस समय दिल्ली में दरबार हो रहा था, दक्षिण में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसमें लाखों मनुष्य मर गये ।-----लार्ड लिटन (१८७६-१८८० ई०) ने इस दुर्भिक्ष को दूर करने के प्रयत्न किए । -----लार्ड एलगिन (१८९४-१८९९ ई०) के जमाने में पश्चिमोत्तर प्रान्त, मध्य प्रदेश, बिहार और पंजाब में भीषण अकाल पड़ा । -----लार्ड कर्जन (१८९९-१९०५ ई०) के समय में सन् १९०० ई० में गुजरात अकाल पीड़ित हुआ[१]।"

ऐसी परिस्थिति में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष की भावना उत्पन्न होना स्वाभाविक था । देश देश को विदेशी शासन से मुक्त करने की लालसा भी इसी के साथ-साथ उत्तरोत्तर तीव्र होती गई । सन् १८८५ ई० में इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना बम्बई में हुई । प्रारम्भ में उसका स्वरूप एक सामाजिक संस्था का रहा किन्तु आगे चलकर उसने उग्र राष्ट्रीयता का बाना पहन लिया । लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस ने विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकना अपना एकमात्र लक्ष्य बना लिया । किन्तु ब्रिटिश सरकार की आतंकपूर्ण दमन नीति के सामने कांग्रेस का यह रूप स्थिर न रह सका । आगे चलकर महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने अहिंसा और असहयोग को अपना अस्त्र बनाया । गांधी जी के इन सिद्धांतों को अपना कर कांग्रेस ने समय-समय पर अनेक सत्याग्रह आन्दोलनों का संचालन किया जिनके सामने ब्रिटिश सरकार की दमन-नीति भी कारगर न हुई । गान्धी जी के

१- ४- आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५०-१९००) प्रथम संस्करण पृष्ठ सं० २५ ।

इन आन्दोलनों ने देश में राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने में बड़ी सहायता पहुंचाई । इस युग के कवियों ने भी इस महान् राष्ट्रीय कार्य में मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, सोहनलाल द्विवेदी और सियारामशरण गुप्त के खण्डकाव्यों की मूल प्रेरणा गान्धीवादी दर्शन ही है । छोटे छोटे आख्यानों - काव्यों और खण्डकाव्यों के द्वारा भारत के अतीत के प्रति प्रेम और वर्तमान के प्रति जागरूकता का भाव जगाकर इन कवियों ने जन समाज में नवीन राष्ट्र-चेतना को जन्म दिया ।

सामाजिक क्षेत्र में ब्राह्म समाज (१८२८ ई०) आर्य समाज (१८७५ ई०) थियोसाफिकल सोसायटी (१८७५ ई० में अमरीका में स्थापित) रामकृष्ण मिशन आदि संस्थाओं ने महत्वपूर्ण कार्य किए । इनमें उत्तरी भारत में सबसे अधिक प्रभाव आर्य समाज का पड़ा । आर्य समाज ने एक ओर धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों को मिटाने की भरसक चेष्टा की तो दूसरी ओर वैदिक संस्कृति और भारत की प्राचीन सभ्यता की ओर जनता का ध्यान आकर्षित कर उनमें आत्म गौरव की भावना जगाने की चेष्टा की । स्वामी रामकृष्ण और विवेकानन्द जैसे महापुरुषों ने भी भारतीय संस्कृति के नवोत्थान के लिए प्रशंसनीय कार्य किये ।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की इस युग-प्रवृत्ति का प्रभाव हमें द्विवेदी युग के साहित्य में पूर्णरूपेण व्याप्त दिखाई पड़ता है । संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट काव्य ग्रंथों के अनुवाद इस युग में हुए । कालिदास के मेघदूत[1], कुमार संभव[2], रघुवंश[3], ऋतु संहार[4], माघ के शिशुपाल-वध[5] आदि श्रेष्ठतम प्रबन्धकाव्यों के अनुवाद प्रस्तुत हुए संस्कृत के प्राचीन साहित्य वर्ग का अध्ययन विदेशी विद्वानों ने बड़े चाव के साथ किया और वे उसके अद्भुत काव्य-सौन्दर्य पर मुग्ध हुए । विदेशी विद्वानों के संस्कृत साहित्य के प्रति इस अगाध-प्रेम को देखकर भारतीयों को भी अपने प्राचीन साहित्य का अनुशीलन करने की प्रेरणा मिली । उपर्युक्त उत्कृष्ट काव्य ग्रंथों के अनुवादों की

१- मेघदूत का अनुवाद लाला सीताराम बी०ए० तथा केशवप्रसाद मिश्र ने किया ।

२- कुमार संभव सार (महावीर प्रसाद द्विवेदी) ।

३- सरयूप्रसाद मिश्र कृत पद्यबद्ध भाषानुवाद (१९११ ई०), महावीरप्रसाद द्विवेदी का भी कुछ अंशों का अनुवाद ।

४- श्रीधर पाठक का ब्रजभाषा में किया हुआ अनुवाद ।

५- पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न (१९२८ ई०) हिन्दी माघ नाम से दो सर्गों का अनुवाद ।

प्रवृत्ति इसी प्रेरणा का परिणाम कही जा सकती है । कहना न होगा कि द्विवेदी युग के खण्डकाव्यों की "टैकनीक" इन्हीं संस्कृत के प्रबन्ध काव्यों के आदर्शों पर निर्मित हुई ।

सांस्कृतिक पराभव के इस युग में कवियों ने अतीत के वैभवपूर्ण चित्रों की झांकी प्रस्तुत की । पराजित और अविकसित राष्ट्र का प्राचीन इतिहास यदि गौरवपूर्ण होता है तो उसके स्मरण से ही जातीय जीवन को बल मिलता है । अपने पूर्वजों की विजय और उनके पराक्रम के गीत गाकर हमारा आत्माभिमान जागृत हो उठता है । हमें अपनी वर्तमान अधोगति पर क्षोभ उत्पन्न होता है और अपने अतीत के वैभव को वर्तमान में लौटा लाने की शक्ति प्राप्त होती है । आधुनिक काल के द्विवेदी युग में श्री मैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथ-वध, तथा उससे प्रेरणा प्राप्त "प्रणवीर प्रताप", आदि अन्य रचनाओं में कवियों का यही अतीत प्रेम साकार उठा है । मौर्य विजय भी इसी प्रकार की एक कृति है । इन रचनाओं में कवि कभी प्राचीन वीरों के नष्ट हो जाने पर क्षोभ प्रगट करता है तो कभी वर्तमान कालीन दुख-दैन्य पर आंसू बहाता है और कभी प्राचीन उदाहरणों से भविष्य को उज्ज्वल बनाने की प्रेरणा देता है । जयद्रथ वध की निम्नांकित पंक्तियां इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं-

सब लोग हिलमिलकर चलो, पारस्परिक ईर्ष्या तजो,
भारत न दुर्दिन देखता मचता महाभारत न जो,
हा, स्वप्न तुल्य सदैव को सब शौर्य साहस हो गया,
हा ! हा ! इसी समराग्नि में सर्वस्व स्वाहा हो गया[1]।

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन काल में भारतवर्ष में सुख समृद्धि का साम्राज्य था उस समय के देशवासी धीर, वीर और साहसी थे । मौर्य विजय का कवि आज के देशवासियों से उनकी तुलना करके उनमें आत्मगौरव का भाव जगाने की चेष्टा करता है-

---

1- जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग, पृष्ठ 1 ।

धीर, वीर उस समय सभी थे, भारतवासी,

थे अब के-से नहीं दीन, जड़, रुग्ण, विलासी,

आर्योचित ही कार्य सभी कोई करते थे ।

रणक्षेत्र में नहीं काल से भी डरते थे[1]।

आलस्य अनुद्यम आदि का पता न लगता था कहीं राष्ट्र की सुप्त शिराओं में नवीन रक्त का संचार करने वाली ये पंक्तियां भी देखिए-

साक्षी है इतिहास हमीं पहले जागे हैं ।

जागृत सब हो रहे हमारे ही आगे हैं ।

शत्रु हमारे कहां नहीं भय से भागे हैं ।

कायरता से जहां प्राण हमने त्यागे हैं?

हैं हमीं प्रकम्पित कर चुके सुरपति तक का भी हृदय,

फिर एक बार हे विश्व तुम गाओ भारत की विजय[2]।

अंगरेजी शिक्षा के परिणाम स्वरूप यहां के शिक्षित समुदाय के लोग प्रत्यक्ष या परोक्ष (बंगाली भाषा के माध्यम से) रूप से अंगरेजी साहित्य के सम्पर्क में भी आए । अंगरेजी साहित्य में राष्ट्रीयता की भावना का प्राधान्य रहा है । उसका प्रभाव भी अपने साहित्य में राष्ट्रीय भावनाओं के उदय में सहायक हुआ । अंगरेजी के कुछ ग्रंथों के अनुवाद भी प्रस्तुत किए गए । जिनमें पं० श्रीधर पाठक के गोल्ड स्मिथ के "दहर्मिट" "डेजर्टेड विलेज" और "ट्रावलर" के अनुवाद प्रमुख हैं ।

बंगला से माइकेल मधुसूदन दत्त के बृजांगना और"मेघनाद बध"का अनुवाद श्री मैथिलीशरण गुप्त ने प्रस्तुत किया । इन अनुवादों से हिन्दी प्रबन्ध-काव्य रचना को प्रेरणा मिली ।

आधुनिक युग में देश में यातायात के साधनों की वृद्धि के परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों के बीच सम्पर्क -साहचर्य का वातावरण उत्पन्न हुआ । इससे भी राष्ट्रीय एकता को बल मिला । प्रेस के आविष्कार से साहित्यिक ग्रंथ सर्व सुलभ हो गए । काव्य और साहित्य के केन्द्र अब रीति काल की भांति राजदरबारों में सीमित नहीं रह गए । सामान्य जन समुदाय काव्य का आलम्बन बन गया इस प्रकार

१- मौर्य विजय, प्रथम सर्ग, पृष्ठ ६ ।

२- " तृतीय सर्ग, पृष्ठ ६१ ।

काव्य के क्षेत्र में मानववादी दृष्टिकोण की प्रधानता हुई । वैज्ञानिक बुद्धिवाद की प्रवृत्ति का भी प्रभाव साहित्य पर पड़ा । इसके फलस्वरूप प्राचीन कथाओं में मिलने वाले अलौकिक और अति प्राकृति तत्वों की बुद्धि संगत व्याख्या करके उन्हें विश्वसनीय बनाने की चेष्टा की गयी ।

प्रबन्ध काव्य-रचना की प्रेरक शक्तियों में सामान्य बोलचाल की भाषा खड़ी बोली को काव्य भाषा के रूप में विकसित करने की इस युग की चेष्टा का भी बहुत महत्वपूर्ण भाग है । कोई भी भाषा जब काव्यात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम बनती है तो मनोगत सूक्ष्म और अमूर्त भावों को स्पष्टता के साथ प्रकट करने की क्षमता उसमें एकाएक नहीं आ जाती । भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का विकास धीरे धीरे होता है । प्रारम्भिक अवस्था में स्थूल इतिवृत्तात्मक रचनाएं ही इस नव-प्रयुक्त काव्य भाषा के माध्यम से सफलता के साथ निर्मित हो सकती थीं। अतः काव्य भाषा खड़ी बोली के शैशव काल में प्राचीन आख्यानों को आधार बनाकर खण्डकाव्यों की रचना में कवियों का प्रवृत्त होना स्वाभाविक ही था । आधुनिक युग के आरम्भिक खण्डकाव्यों की रचना ने खड़ी बोली के परिमार्जन और काव्योचित परिष्करण में पर्याप्त सहायता पहुंचाई । आगे चलकर छायावादी युग में जब भाषा स की शक्ति पूर्ण विकास पर पहुंची तो प्रबन्धकाव्यों में भी इतिवृत्तात्मकता और स्थूलता के स्थान पर गीतात्मकता का विकास हुआ। इस प्रकार आधुनिक युग में खण्डकाव्य रचना के अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी , यह स्पष्ट है ।

<u>भारतेन्दु युग (१८५० ई० १९०० ई० तक)</u>- आधुनिक युग का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है । किन्तु भारतेन्दु का योग हिन्दी गद्य के विकास के लिए जितना मूल्यवान् था, कविता के लिए उतना नहीं । भारतेन्दु युग की हिन्दी कविता प्रायः रीतिकालीन काव्यरूढ़ियों का ही अनुसरण करती रही । डा० श्रीकृष्णलाल ने अपना आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास नामक शोध ग्रंथ में लिखा है "उन्नीसवीं शताब्दी का पद्य -साहित्य शृंगारिक मुक्तक-काव्यों का एक वृहत् वनखंड था जिसमें प्रबन्ध और गीति-काव्यों के कुसुमों का अभाव सा दिखाई पड़ता है[१]।

१- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल, पृष्ठ १ ।

भारतेन्दु युग में हिन्दी कविता के क्षेत्र में एक ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ कि उसमें कविता धारा शृंगार की तंग नालियों से निकल विविध सामाजिक राष्ट्रीय धार्मिक, नैतिक व राजनैतिक विषयों के व्यापक क्षेत्र मे प्रवाहित होने लगी । किन्तु उसका बाह्य रूप बहुत कुछ वही बना रहा । प्रबन्ध-काव्य रचना की चेष्टा व इस युग में बिलकुल नहीं हुई । फुटकर विषयो पर लघु पद्य निबन्धों का प्रणयन अवश्य हुआ । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है" प्राचीन धारा में "मुक्तक" और "प्रबन्ध" की जो प्रणाली चली आती थी, उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा । पुरानी कविता में "प्रबन्ध" का रूप "कथात्मक और वस्तु वर्णनात्मक ही चला आता था । या तो पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर छोटे-बड़े आख्यान-काव्य रचे जाते थे, जैसे पद्मावत, रामचरितमानस, रामचंद्रिका, छत्र प्रकाश, सुदामाचरित, दानलीला, चीरहरन लीला, इत्यादि - अथवा विवाह, मृगया, झूला, हिंडोला, बिहार आदि को लेकर वस्तु-वर्णनात्मक प्रबन्ध । अनेक प्रकार के सामान्य विषयो पर जैसे बुढ़ापा, विधि विडंबना, जगत-सचाई-सार, गो-रक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत- कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूपों में छोटे छोटे प्रबन्धों या निबंधों की चाल न थी । इस प्रकार के विषय कुछ उक्ति वैचित्र्य के साथ ही पद्य में कहे जाते थे, अर्थात् वे मुक्तक की सूक्तियों के रूप में ही होते है वे । पर नवीन धारा के आरम्भ में छोटे छोटे पद्यात्मक निबन्धो की परंपरा भी चली जो प्रथम उत्थान काल के भीतर तो बहुत कुछ भाव प्रधान रही, पर आगे चल कर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (मैटर आफ फैक्ट) होने लगी[1]।

पद्य निबन्धों की रचना के द्वारा नवीन विषयों की ओर कविता की धारा मोड़ने का कार्य भी स्वयं भारतेन्दु के द्वारा उतना नहीं हुआ जितना पं० प्रताप नारायण मिश्र तथा उनके सहयोगियों के द्वारा हुआ । फिर भी प्राचीन परम्परा की कुछ प्रबन्धात्मक रचनाएं इस युग में अवश्य लिखी गयीं । ये रचनाएं अत्यन्त साधारण कोटि की है । इनमें कवित्व का अभाव है इसी कारण ये रचनाएं लोकप्रिय न हो सकी । विषय की मौलिकता या शिल्प की नवीनता इनमे नहीं दिखाई देती । इनमें से प्रायः पूर्ववर्ती परम्पराओं का जीर्ण-शीर्ण अवस्था का प्रतीक मात्र है । इनमे से कुछ प्रमुख रचनाओं का कालक्रमानुसार उल्लेख किया जा रहा है-

---

१- हिन्दी साहित्य का इतिहास- पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ०सं० ५८९ ।

१- - रुक्मिणी परिणय - रघुराज सिंह १८५० ई०

२- - रामस्वयंवर- वही १८५२ ई०

३- - नलदमयन्ती की कथा- अज्ञात १८५४ ई०

४- - प्रेम-पयोनिधि- मृगेन्द्र १८५५ ई०

५- - रुक्मिणी मंगल- शंभूराम १८६९ ई०

६- - शक्ति विनाश- गोकुलचन्द १८७० ई०

७- - ऊषा-चरित्र- सीताराम १८७१ ई०

८- - रुक्मिणी-मंगल- विष्णुदास १८७५ ई०

९- - सुदामा-चरित- वीर कवि १८८१ ई०

१०- - द्रौपदी-आख्यान- ईश्वरदास जगन्नाथ १८८४ ई०

११- रुक्मिणी - मंगल- हरिनारायण १८९३ ई०

१२- - सुलोचनाख्यान- रघुनाथ प्रसाद १८९० ई०

१३- हरिश्चन्द्र - जगन्नाथदास रत्नाकर १८९१ ई०

उपर्युक्त रचनाओं में पहली, पाँचवीं, आठवीं और ग्यारहवीं रचनाओं में रुक्मिणी के विवाह की पौराणिक कथा का वर्णन हुआ है। भक्तिकाल में इस विषय की प्रमुख कृतियों का अध्ययन किया जा चुका है। ये कृतियाँ प्रायः उन्हीं का अनुकरण मात्र हैं। केवल रघुराजसिंह के "रुक्मिणी परिणय" को महाकाव्यात्मक आकार दिया गया है। किन्तु इसमें प्रबन्ध सौष्ठव का अभाव है। इनकी दूसरी कृति "राम-स्वयंवर" भी एक बृहत् वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्य है। किन्तु उसमें भी प्रबन्ध सौष्ठव नहीं है। शक्ति-विनाश, सुदामा-चरित, द्रौपदी आख्यान और सुलोचनाख्यान कथात्मक ग्रंथ हैं। इनमें प्रबन्ध के तत्वों का अभाव है। विशुद्ध खण्डकाव्य की कोटि में इन्हें ग्रहण नहीं किया जा सकता। "नल दमयन्ती की कथा", "प्रेम-पयोनिधि", "ऊषा चरित्र", प्रेमाख्यानक रचनाएं हैं। इनमें प्रेमाख्यानक पद्धति की छाप पूर्णरूपेण विद्यमान है, अतः ये भी खण्डकाव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। बाबू जगन्नाथ दास "रत्नाकर" का "हरिश्चन्द्र" भी केवल प्राचीन पौराणिक कथा का नवीन छन्दों में रूपान्तर मात्र है। खण्डकाव्य के रूप में इसका भी विकास नहीं हुआ। इस प्रकार उपर्युक्त एक भी रचना खण्डकाव्य की कसौटी पर खरी नहीं उतरती इस प्रकार की कृष्ण, राम, शिव आदि से सम्बन्धित कुछ लीलाकाव्यों की रचना भी इस युग में हुई किन्तु ये रचनाएं प्रबन्ध कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं हैं। पं०

श्रीधर पाठक ने गोल्ड स्मिथ के "द हर्मिट" का अनुवाद एकान्तवासी योगी के नाम से सन् १८८६ ई० में प्रस्तुत किया ।

एकान्तवासी योगी- (सन् १८८६ ई०) में पं० श्रीधर पाठक ने "द हरमिट" का हिन्दी अनुवाद "एकान्तवासी योगी" के नाम से प्रस्तुत किया । इसे खड़ी बोली में लिखी हुई प्रथम प्रबन्ध कोटि की रचना होने का गौरव प्राप्त है । सात्विक प्रेम का जो भव्य रूप इस कृति में दिखाई पड़ा उसने रीतिकाल के वासनात्मक प्रेम के कुत्सित चित्रों के अभ्यस्त पाठकों को नवीन आलोक प्रदान किया । इस कृति में प्रेम को मानव की उच्च आंतरिक वृत्ति के रूप में ग्रहण किया गया । इसमें एक प्रेमिका प्रेमी की प्रेम-परीक्षा के लिए उसकी उपेक्षा करती है । उपेक्षित प्रेमी खिन्न और निराश होकर घर-बार छोड़ प्रकृति के निर्जन क्षेत्र में कुटी बनाकर रहने लगता है । इस एकान्त वासी योगी के पास एक दिन एक युवक उक्त उपेक्षित पुरुष की खोज करता हुआ आता है । योगी उसकी व्यथा के प्रति सहानुभूति पूर्ण होकर उसकी कष्ट कथा को सुनता है । सुनते-सुनते उसे अचानक विदित होता है कि वह युवक नहीं, युवती है और उसी की प्रेमिका है । इस प्रकार नियति के संकेत से दो चिरवियुक्त प्रेमियों का मिलन होता है । एकान्तवासी योगी एक विशुद्ध प्रेमाख्यान है । इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसमें कवि ने प्रकृति के सहज सुन्दर सुन्दर रूपों के प्रति अपनी अनुरागमयी अनुभूतियों को वाणी दी है । प्रकृति के रूपों के सौंदर्य को कवि ने अपनी स्वतंत्र पर्यवेक्षण शक्ति से पहचाना है और उसे अपने हृदय के रस में घोल कर प्रस्तुत किया है । रीतिकाल के कवियों की भांति केवल नायक-नायिका के भावों को उद्दीप्त करने के लिए प्रकृति का व्यवहार नहीं हुआ । इसकी तीसरी विशेषता यह है कि इसमें खड़ी बोली जैसी काव्य के क्षेत्र में नव प्रयुक्त भाषा में एक अभिनव माधुर्य उत्पन्न करने में कवि को सफलता मिली है । इसके लिए कवि ने लावनी के ढंग पर लयपूर्ण छन्द की योजना की है ।

एकान्तवासी योगी ने रीतिकालीन रूढ़िबद्धता के विरुद्ध स्वच्छन्दता का वातावरण उत्पन्न किया । भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से इसमें नूतन पथ को ग्रहण किया गया । "एकान्तवासी योगी" का अनुकरण कर हिन्दी में अनेक प्रेमाख्यान लिखे गए जिनमें बाबू जयशंकर प्रसाद का प्रेमपथिक, पं० रामचन्द्र शुक्ल का "शिशिर-पथिक", और पं० रामनरेश त्रिपाठी के मिलन, पथिक आदि प्रमुख हैं ।

मौलिक ग्रंथ न होने के कारण इसे हिन्दी साहित्य की स्वतंत्र कृति नहीं माना जा सकता है । हां इसने नूतन मार्ग का प्रदर्शन अवश्य किया और नयी परंपराओं को जन्म दिया, इसलिए काव्य के विकास में इसका योग अवश्य है । इसमें कथात्मकता का प्राधान्य है, काव्यत्व का नहीं । इसमें कौतूहल को जाग्रत रखने के लिए वस्तु स्थिति को अंत तक रहस्यपूर्ण रखा जाता है । प्रेमी और प्रेमिका परस्पर वार्तालाप करते हुए भी एक दूसरे को नहीं जान पाते और पाठक का कौतूहल उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है, रहस्य खुलते ही जिज्ञासा शान्त हो जाती है और कथा का अन्त होता है । कौतूहल उत्पन्न करना वस्तुतः कथा का तत्व है । प्रबन्धकाव्य में तो गोपन की आवश्यकता ही नहीं रहती उसके लिए तो ख्यात वृत्त अधिक उपयुक्त होता है । कथा यदि पाठक को पहले से ही ज्ञात रहे तो प्रबन्ध काव्य रचयिता का कार्य सरल हो जाता है । प्रबन्ध के अंत में घटित होने वाली घटनाओं की सूचना पाठकों को प्रायः पहले ही दे दी जाती है । इससे सिद्ध है कि प्रबन्ध काव्य में कथागत कौतूहल के लिए कोई स्थान नहीं । उसमें तो मार्मिक प्रसंगों के मनोवैज्ञानिक चित्रण और कवि की उत्कृष्ट वर्णन कल्पना के सौंदर्य पर मुग्ध होकर पाठक पग पग पर विश्राम करने और कवि के कवित्व का आस्वादन करने के लिए लालायित रहता है ।"आगे क्या हुआ " यह उत्कण्ठा प्रबन्ध काव्य के पाठक को नहीं रहती ।"एकान्तवासी योगी" काव्य रूप की दृष्टि से पद्यबद्ध प्रेम-कथा है, इसे खण्डकाव्य नहीं कह सकते । अंगरेजी साहित्य में प्रकथनात्मक काव्य (नैरेटिव पोयट्री) भारतीय (~~विशेष~~ विशुद्ध) प्रबन्ध काव्य की कोटि के काव्य नहीं हैं । उनमें कथा के तत्वों की रक्षा पर कवि की केन्द्रित दृष्टि प्रधान रूप से रहती है । जब कि ~~कथा~~ भारतीय प्रबन्ध काव्यों में कथा की अपेक्षा "काव्यतत्व" की प्रधानता रहती है ।

द्विवेदी युग (१९०० से १९२० ई० तक)- भारतेन्दु युग मे पं० श्रीधर पाठक ने अपने एकान्तवासी योगी के द्वारा जो प्रबन्ध परम्परा विकसित करने की चेष्टा की थी उसमें पश्चिमी काव्य-दृष्टि (अर्थात् कथात्मकता) का ही प्राधान्य था किन्तु पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी जहां नवीन विकास के इच्छुक थे वहां भारत की प्राचीन सांस्कृतिक निधियों और स्वस्थ परम्पराओं के पुनरुत्थान के भी कट्टर समर्थक थे । संस्कृत के कालिदास, माघ, भारवि आदि श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य रचयिताओं द्वारा प्रवर्तित स्वस्थ परम्पराओं का त्यागकर रीतिकाल के कवियों ने केवल वासनाओं को उत्तेजित करने वाली चमत्कारपूर्ण मुक्तक रचनाओं में ही अपनी प्रतिभा का अपव्यय किया था।

अलंकारादि साहित्य-रूपों के आचार्यों द्वारा निर्धारित लक्षणों का निर्वाह कर देना ही कवि-कर्तव्य की पूर्णता का द्योतक समझा जाता था । भारतेन्दु युग में भी रीतिकाल की परिपाटी बहुत कुछ उसी रूप में चलती रही । द्विवेदी जी ने इस स्थिति पर अपना क्षोभ सरस्वती के जून १९०१ ई० के अंक में इस प्रकार व्यक्त किया था-

सुरम्य रूपे रस-राशि-रंजिते ।
विचित्र वर्णाभरणे कहां गई ?
अलौकिकानन्द विधायिनी महा
कवीन्द्र -कान्ते । कविते । अहो कहां[1]?

उपर्युक्त पंक्तियों में द्विवेदी जी का संकेत संस्कृत के कालिदास, भारवि, माघ आदि श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य-रचयिताओं की परम्पराओं के अभाव की ओर ही था, इससे सिद्ध है कि काव्य के क्षेत्र में द्विवेदी जी प्राचीन संस्कृत साहित्य की परंपराओं के पुनरुत्थान के पक्षपाती थे । डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है"---द्विवेदी यदि गद्य में अंगरेजी साहित्य के अनुकरण पर जोर देते थे तो काव्य में ठेठ प्रतिवर्तन वादी (इ रिवाइवलिस्ट) थे । वे संस्कृत साहित्य के आदर्शों पर काव्य की व्यवस्था के पक्षपाती थे । उन्होंने स्वयं अपनी कविताओं में संस्कृत तत्सम शब्दों का व्यवहार किया, छंद भी अधिकांश वर्णिक लिखे और संस्कृत काव्य परंपरा का अनुमोदन किया कुमार संभव और किरातार्जुनीय के कुछ अंशों का पद्य-बद्ध अनुवाद करके उन्होंने युवक कवियों के लिए एक आदर्श उपस्थित किया । "सरस्वती" के अंकों में वे महाभारत और पौराणिक आख्यानों पर सुन्दर चित्र प्रकाशित करते थे और नवयुवक कवियों से उन पर चित्र कविता लिखवाते थे । कवि गण भी प्राचीन संस्कृत काव्यों का अध्ययन करके उन पर कविता लिखते थे । इस प्रकार द्विवेदी जी ने होनहार नवयुवक कवियों को प्रोत्साहन देकर प्रतिवर्तन वादी बनाया । जनता को भी पश्चिमी भावों और संस्कारों से कोई आकर्षण न था, उसने भी इन कविताओं का सहर्ष और सोत्साह स्वागत किया । क्रमशः कविता मे प्राचीन संस्कृत काव्य-परम्परा का अनुकरण होने लगा और कवि कविताओं के विषय भी पुराणों और महाभारत से

१- सरस्वती, जून १९०१ ई० ।

किए जाने लगे[1]।"

द्विवेदी जी छोटी छोटी कविताओं की अपेक्षा बड़े प्रबन्ध काव्यों की रचना के समर्थक थे। इसी अभ्यास के लिये उन्होंने अपने "कवि कर्तव्य" नामक लेख में लिखा था -"हमारी अल्प बुद्धि के अनुसार "रस-कुसुमाकर" और "जसवन्त जसो भूषण" के समान ग्रन्थों की इस समय आवश्यकता नहीं। इनके स्थान में कवि किसी आदर्श पुरुष के चरित्र का अवलम्बन करके एक अच्छा काव्य लिखता तो उससे हिन्दी साहित्य का अलभ्य लाभ होता[2]।"

द्विवेदी जी की प्रेरणा से अनेक कवियों ने संस्कृत साहित्य की प्रबन्ध परम्परा का अनुकरण कर अनेक छोटे बड़े प्रबन्ध काव्यों की रचनायें हिन्दी में प्रस्तुत की। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में प्रबन्ध काव्य रचना के विविध रूपों का विकास हुआ। इस काल में महाकाव्यों की अपेक्षा खण्डकाव्यों की रचना ही अधिक हुई। कवियों ने सर्वप्रथम छोटे छोटे पद्य प्रबन्धों की कला में अपने प्रयोग किए और उत्तरोत्तर वे बड़े प्रबन्धों की रचना की ओर अग्रसर हुए। पद्य-प्रबन्धों के अभ्यास से जब उनकी लेखनी मंज गयी तो उन्होंने खण्डकाव्यों के क्षेत्र में उसका प्रयोग किया और खण्डकाव्य कला में परिपक्वता आने पर उन्होंने महाकाव्य रचना के क्षेत्र मेंप्रयोग किये। इस प्रकार इस युग में प्रबन्ध काव्य कला के क्षेत्र में-क्रमबद्ध विकास के दर्शन हुए। भारतेन्दु युग में पद्य-प्रबन्धों की परम्परा विकसित हुई थी किन्तु उनमें आख्यान-तत्व का अभाव था। इस युग में आख्यानक पद्य-प्रबन्धों की रचना प्रारम्भ हुई। सरस्वती में राजा रविवर्मा के पौराणिक चित्रों का परिचय देने के लिए द्विवेदी जी छोटे छोटे पद्य-प्रबन्ध लिखवाया करते थे। मैथिलीशरण गुप्त सियारामशरण गुप्त आदि प्रमुख खण्डकाव्यकारों की लेखनी इन्हीं आख्यानक पद्य - प्रबन्धों की रचना से मंज गयी और आगे चल कर मौलिक कथा-प्रबन्धों और खण्ड-काव्यों की रचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। गुप्त जी के प्रथम खण्डकाव्य "जयद्रथ वध" की भूमिका तो जनवरी १९०८ ई० में "उत्तरा से अभिमन्यु की विदा" चित्र की परि-चयात्मक कविता लिखते समय हो चुकी थी। डा० सुधीन्द्र ने लिखा है "राजा रवि वर्मा और बृजभूषण राय चौधरी जैसे प्रसिद्ध चित्रकारों के पौराणिक चित्रों पर

१- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, डा० श्रीकृष्णलाल पृष्ठ सं० ३० ।

२- पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के कवि कर्तव्य नामक लेख से -

द्विवेदी जी के आदेशानुरोध या आग्रह-अनुग्रह से मैथिलीशरण जी ने जो लम्बी आख्यानक कविताएं लिखीं उनमें उनके सौन्दर्यात्मक आदर्श-प्रयत्नों का विकासाभ्यास था[1]।"

आगे चलकर स्वतंत्र रूप से भी कवियों ने आख्यानक पद्य-प्रबन्धों की रचना प्रारम्भ की । ये रचनाएं सरस्वती, इन्दु, मर्यादा आदि प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में छपा करती थीं । पंडित गिरिधर शर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्या सिंह, उपाध्याय हरिऔध, जयशंकर प्रसाद, कामता प्रसाद, रूप नारायण पाण्डेय आदि कवियों ने इस प्रकार के पद्य-प्रबन्धों की रचना पर्याप्त मात्रा में की ।

इस प्रकार आधुनिक युग में प्रबन्ध कला का विकास पद्य-निबन्धों से आख्यानक पद्य-निबन्धों फिर खण्डकाव्यों और तब महाकाव्यों की ओर हुआ। आधुनिक काल का प्रथम खण्ड काव्य जयद्रथ वध १९१० ई० लिखा गया और उसके बाद खण्ड-काव्य रचना का क्रम जारी रहा । और आधुनिक काल का प्रथम महाकाव्य प्रिय-प्रवास १९१४ ई० में लिखा गया और उसके १५ वर्ष बाद १९२९ ई० में द्वितीय महा-काव्य साकेत का निर्माण हुआ किन्तु इस अवधि में खण्डकाव्य रचना अबाध गति से होती रही । इससे स्पष्ट है कि आधुनिक युग की क्रमबद्ध खण्डकाव्य रचना ने महा-काव्यों के निर्माण के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का भी निर्माण किया ।

द्विवेदी युग में जयद्रथवध और मौर्य विजय दो प्रमुख खण्डकाव्यों की रचना हुई जिनका विस्तृत अध्ययन इस खण्ड के क्रमशः अध्याय ३ और ४ में किया गया है । जयद्रथ वध के अनुकरण पर अनेक खण्डकाव्यात्मक रचनाएं द्विवेदी युग के बाद तक प्रस्तु-त की जाती रहीं, किन्तु उनमें मौलिकता और कवित्व का अभाव रहा । फिर भी वे उस युग की खण्डकाव्य रचना की व्यापक प्रवृत्ति की सूचना अवश्य देती हैं । ऐसी सामान्य कोटि की रचनाओं का संक्षिप्त परिचय इस खण्ड के अध्याय २ में दिया गया है । किन्तु खण्डकाव्य के आकार-प्रकार की अनेक रचनाएं इस(द्विवेदी) युग में छायावाद युग तथा इसके बाद भी प्रस्तुत हुई जिनमें से कुछ आख्यानक गीति, गीति अथवा पद्यबद्ध कथा के ढंग की रचनाएं हैं । अधिकांश रचनाओं में ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं को ज्यों का त्यों छन्दोबद्ध करके प्रस्तुत कर दियागया है । ऐसी रचनाएं विशुद्ध खण्डकाव्य की कोटि में गृहीत नहीं हो सकती । इस प्रकार की प्रायः समस्त रचनाओं का संक्षिप्त विवेचन कालक्रमानुसार अगले अध्याय में प्रस्तुत किया गया है । इन रचनाओं के अतिरिक्त द्विवेदी युग में दो बड़े प्रबन्ध काव्यों की रचना

१- हिन्दी कविता में युगान्तर, पृ० सं० १७३ ।

भी हुई जिनमें से एक पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिऔध का प्रियप्रवास (१९१४ ई०) महाकाव्य के रूप में स्वीकृत हो चुका है और दूसरा है श्री रामचरित उपाध्याय का रामचरित-चिन्तामणि(१९२०ई०)। इस कृति में वाल्मीकि रामायण के आधार पर राम के चरित्र का चित्रण पच्चीस सर्गों में हुआ है। किन्तु इसमें प्रबन्ध गठन का अभाव है। कथा के विभिन्न अंग असंतुलित हैं चरित्रों का विकास भी महाकाव्य के अनुकूल नहीं हुआ। अतः महाकाव्यात्मक कथा और उसके अनुकूल आकार-प्रकार होते हुए भी यह कृति महाकाव्य की कोटि में गृहीत न हो सकी।

इस प्रकार द्विवेदी युग में महाकाव्य, खण्डकाव्य, तथा अन्य कथात्मक काव्यों की रचना प्रचुर परिमाण में हुई। आगे चलकर खण्डकाव्य, महाकाव्य आदि के क्षेत्र में कवियों ने कुछ स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिचय दिया। कलात्मकता का आग्रह भी परवर्ती युग में अधिक बढ़ा और खण्डकाव्यों में नवीन शिल्प का दर्शन होने लगा।

उत्तर-द्विवेदी युग(१९२०-१९५०)- उत्तर द्विवेदी युग में हिन्दी खण्डकाव्य साहित्य में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का विकास रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं के साथ होने लगता है किन्तु इसके साथ साथ प्राचीन परंपरा की रचनाओं का निर्माण भी पूर्णतया बन्द नहीं होता। बाबू जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर का गंगावतरण (१९२३) इस प्रकार का महत्वपूर्ण पौराणिक खण्डकाव्य है इसका विस्तृत अध्ययन इस खण्ड के अध्याय ७ में किया गया है। प्राचीन परंपरा की कुछ अन्य रचनाएं भी हैं जो विद्वानों के द्वारा भ्रान्तिवश खण्डकाव्य की संज्ञा पा गई हैं। उनका संक्षिप्त विवेचन इस खण्ड के अध्याय २ के अंतर्गत किया गया है।

स्वच्छन्दतावाद - यद्यपि पं० रामनरेश त्रिपाठी जी का पथिक, स्वप्न आदि रचनाओं में स्वच्छंद प्रवृत्ति का दर्शन हमें होता है, किन्तु फिर भी द्विवेदी युग की वर्णनात्मकता का प्रभाव उनकी रचनाओं में अवश्य दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपने खण्डकाव्यों के लिए ख्यात विषय न लेकर उत्पाद्य कथानकों का व्यवहार किया, मंगलाचरण की प्रवृत्ति को त्याग दिया, सुखान्त के स्थान पर पथिक के कथानक को दुःखान्त बनाया, कथा में नाटकीय तत्वों का समावेश किया, सामान्य जीवन के युवक युवतियों को नायक नायिका के पद पर सुशोभित किया और उनके चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया। उनके मिलन

(१९१७), पथिक (१९२०) और स्वप्न (१९२८) आदि काव्यों में राष्ट्रीयता का स्वर प्रधान है । इन कृतियों में से प्रथम कृति में काव्यत्वपूर्ण वर्णनों का स्थान गौण और कहानीपन की प्रधानता होने के कारण इसे खण्डकाव्य की अपेक्षा छन्दोबद्ध कहानी कहना ही अधिक उपयुक्त है । कृति के मुखपृष्ठ क पर इसे एक कहानी की संज्ञा भी दी गई है, जो उचित ही है । किन्तु त्रिपाठी जी के "पथिक" व "स्वप्न" खण्डकाव्यों के साथ इसे भीअनेक विद्वानों ने खण्डकाव्य कहा है । अतः इसका संक्षिप्त विवेचन अध्याय २ के अंतर्गत किया गया है। पथिक और स्वप्न का विस्तृत विवेचन क्रमशः इस खण्ड के अध्याय ५ और ९ में किया गया है । पं० सुमित्रानन्दन पंत की ग्रन्थि(१९२०) भी इसी स्वच्छंद परम्परा की द्योतक है । इसमें कथा का विभाजन सर्गों में न करके एकबार, एक प्रातः जैसे शीर्षकों में किया गया है । कथा का अंश इसमें बहुत थोड़ा है । अभिव्यंजना की प्रधानता है । कथा वर्णनात्मक शैली में न लिखी जाकर आत्म-चरित शैली में प्रस्तुत की गई है । इस रचना में छायावाद की सभी विशेषताएं भलीभांति उभरी हुई दिखाई पड़ती है ।मैथिलीशरण जी की पंचवटी(१९२५) में भी स्वच्छंद प्रवृत्ति का दर्शन होता है । इसमें सर्गों का विभाजन नहीं है, मंगलाचरण के स्थान पर पूर्वाभास की योजना हुई है, वर्णन स्थूल न होकर सूक्ष्म और संकेतात्मक है, चित्र प्रस्तुत करने की ओर कवि की रुचि अधिक हो गई है, नाटकीयता और रोचकता के तत्व प्रधान हो गए हैं, और प्राचीन कथा को बौद्धिक आवश्यकता के अनुकूल परिवर्तित कर लिया गया है । निराला का तुलसीदास(१९३८)भी स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिचायक है । निराला स्वभावतः ही रूढ़ियों के कट्टरशत्रु थे । उन्होंने "तुलसीदास" में कथा के स्थूल रूप को त्यागकर उसे सूक्ष्म और अंतर्मुखी बना दिया । भारतीय संस्कृति के त्राता महाकवि तुलसीदास के मानसिक उर्ध्वगमन को उन्होंने काव्य का विषय बनाया । छायावादी शैली में लिखा गया उनका यह मनोवैज्ञानिक खण्ड काव्य हिन्दी में अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है ।

<u>मानवतावाद</u>- वैसे तो मानव की प्रतिष्ठा की भावना पंचवटी(१९२५ ई०) में ही उभरी हुई दिखाई पड़ती है किन्तु मैथिलीशरण गुप्त के "नहुष"(१९४०ई०) खण्डकाव्य की रचना में मानव और मानवभूमि की श्रेष्ठता और इसके सामने स्वर्ग एवं देवताओं को भी हीन समझने की भावना अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त की गई । नहुष(१९४०) के बाद लिखे गये नकुल (१९४६) नामक खण्डकाव्य में "मानव

वाद" ही केन्द्रीय भावना है । मानव की प्रतिष्ठा को देवों से भी बढ़ा चढ़ा दिखाने के लिए इसमें कवि ने उसे (मानव को) देवताओं द्वारा भी नमस्कृत और पूज्य दिखाया है । श्री सोहनलाल द्विवेदी का खण्डकाव्य कुणाल(१९४२ई०) नायक "कुणाल" के आदर्श चरित्र का निर्माण करने के उद्देश्य से लिखा गया है। कुणाल में त्याग, कष्ट-सहिष्णुता और चारित्रिक पवित्रता की प्रतिष्ठा करके मानवता के उच्च आदर्शों की ही कल्पना की गई है । छायावादी प्रवृत्ति यद्यपि प्रबन्ध काव्य रचना के अधिक उपयुक्त नहीं पड़ती । फिर भी छायावाद ने काम- यनी जैसे महाकाव्य और ग्रन्थि व तुलसीदास जैसे खण्डकाव्य हमें दिए है । इनका परिचय ऊपर स्वच्छंदता वाद के अंतर्गत दिया जा चुका है । प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का प्रभाव हिन्दी खण्ड काव्य साहित्य (१९५० ई०-तक) पर नहीं के बराबर है ।

उत्तर द्विवेदी युग के प्रबन्ध काव्योंमें मैथिलीशरण गुप्त रचित साकेत(१९२९) जयशंकर प्रसाद रचित कामायनी(१९३५), गुरुभक्त सिंह रचित नूरजहाँ(१९३५), अनूपशर्मा रचित सिद्धार्थ(१९३७ ई०), अयोध्यासिंह उपाध्याय रचित वैदेही-वनवास (१९३९), द्वारिकाप्रसाद मिश्र रचित कृष्णायन(१९४३ई०), बल्देव प्रसाद मिश्र रचित साकेत-सन्त(१९४६ई०), हरदयालु सिंह रचित दैत्य-वंश (१९४०ई०), और आनन्द कुमार रचित अंगराज(१९५०ई०) महाकाव्य के रूप में स्वीकृत हो चुके है[1]। इनके अतिरिक्त श्री रामनाथ ज्योतिषी रचित १६ कलाओं का रामचन्द्रोदय काव्य(१९३७ ई०), श्यामनारायण पाण्डेय रचित १७ सर्गों का वीर-रस प्रधान काव्य हल्दी घाटी(१९३९ई०), श्री प्रद्युम्न दुगा रचित ७ काण्डों में विभक्त और रामायण के आदर्श पर निर्मित श्रीकृष्ण चरित मानस(१९४१ ई०), श्री मोहनलाल महतो वियोगी द्वारा ११ सर्गों में पृथ्वीराज और चंदकवि के जीवन से संबंधित अनेक घटनाओं को आधार बनाकर लिखा गया काव्य आर्यावर्त (१९४३ई०), श्याम नारायण पाण्डेय द्वारा २१ चिनगारियों में रचित जौहर(१९४५ई०), ठाकुरप्रसाद सिंह द्वारा १५ सर्गों में रचित महात्मा गाँधी के जीवन की कुछ घटनाओं पर आधारित काव्य "महामानव"(१९४६ ई०), गुरुभक्त सिंह कृत ४४ भागों में निर्मित "विक्रमादित्य"(१९४७ ई०) और रघुवीरशरण मित्र द्वारा ३१ सर्गों में

१- देखिए, हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, डा० गोविन्द राम शर्मा, भूमिका, पृष्ठ ९ ।

रचित काव्य "जननायक" सफल महाकाव्य न होते हुए भी महाकाव्य के दृष्टि-कोण से लिखे गये हैं । इनकी परिधि विस्तृत और आकार-प्रकार विशाल होने के कारण "खण्डकाव्य" की कोटि में इन्हें कदापि ग्रहण नहीं किया जा सकता । अतः इनका विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा से परे है ।

आधुनिक काल में लिखे गये कुछ अन्य प्रबन्ध काव्य भी है जिनका उल्लेख ऊपर भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग या उत्तर द्विवेदी युग के परिचय के अन्तर्गत नहीं हो सका है । ये प्रबन्ध काव्य न तो महाकाव्य के अंतर्गत आते हैं और न खण्ड-काव्य के । चूंकि इनका संक्षिप्त विवेचन आगामी अध्याय में किया जा रहा है अतः यहां उनकी सूची प्रस्तुत करना निरर्थक है ।

- - -

अध्याय २

अस्वीकृत रचनाएं

इस काल के प्रथम पचास वर्षों की प्रबन्धात्मक रचनाओं का उल्लेख गत अध्याय में भारतेन्दु युग के अंतर्गत हो चुका है । अतः इस अध्याय में केवल १९०० ई से १९५० ई० के बीच लिखी गयी प्रबन्धात्मक रचनाओं का ही उल्लेख किया जा रहा है । इनमें भी महाकाव्य के रूप में स्वीकृत अथवा महाकाव्य के दृष्टिकोण से लिखी गई रचनाओं का परिचय गत अध्याय में दिया जा चुका है, अतः उनकी पुनरावृत्ति नहीं की जा रही है । इस प्रकार नूरजहां (ख्वाजा अहमद), भाषा-प्रेमरस और प्रेम दर्पण (जो सूफी प्रेम कथाएं मात्र हैं) को छोड़कर इस अध्याय में विवेचित प्रायः सभी रचनाएं ऐसी हैं जो या तो स्वयं उनके लेखकों द्वारा खण्ड-काव्य कहीं गयी है या किसी न किसी अन्य समीक्षक के द्वारा, किन्तु प्रस्तुत लेखक के मत से या तो वे खण्डकाव्य नहीं है या साधारण स्तर की रचना होने के कारण विस्तृत अध्ययन के लिए अयोग्य समझी गयी हैं ।

नूरजहां (१९०५ ई०) - इसके रचयिता ख्वाजा अहमद थे । इसमें खुरशेद और नूरजहां की प्रेम कथा का सूफी पद्धति पर वर्णन हुआ है । प्रारम्भ में सृष्टि कर्ता का गुणगान और सृष्टि का वर्णन हुआ है । इसमें इन्होंने जायसी और कासिमशाह दरियाबादी का आदर्श अपनाया है । इसकी कथा का ढांचा अन्य प्रेमाख्यानों के समान ही है । अतः रूप की दृष्टि से यह कथा ग्रंथ है खण्डकाव्य नहीं है ।

रंग में भंग (१९०९ ई०)- इसके रचयिता श्री मैथिली शरण गुप्त हैं । इसकी कथा-वस्तु दो समान महत्वपूर्ण घटनाओं को समेटे हुए है । एक तो विवाहोपरान्त रंग में भंग होने की घटना और दूसरी नकली किले की रक्षा करते हुए हाड़ा कुंभ का वीरगति पाना । वस्तु संगठन की दृष्टि से यह त्रुटि पूर्ण है । खण्डकाव्य में एक ही प्रमुख घटना का सफलता के साथ निर्वाह हो सकता है । अतः खण्डकाव्य की कोटि में इसे ग्रहण नहीं किया जा सकता । रंग में भंग की वास्तविक घटना - विवाहोपरान्त युद्ध का समुचित कारण नहीं दिखाई देता । व्यक्तिगत मानापमान का प्रश्न विपक्षियों के विनाश का उत्साह सामान्य पाठक के हृदय में नहीं जगा

पाता । डा० श्रीकृष्णलाल ने इसे "आख्यानक गीति" कहा है[1]।

प्रेम पथिक (१९१३ ई०)- जयशंकर प्रसाद की यह कृति १९११ में पहले ब्रजभाषा में लिखी गयी थी किन्तु २ वर्ष पश्चात् उन्होंने इसे अतुकान्त छन्द में खड़ी बोली में प्रस्तुत किया । इसकी रचना पद्धति बहुत कुछ पं० श्रीधर पाठक के "एकान्तवासी योगी" से प्रभावित है । इसमें नायक किशोर अपनी बाल-सहचरी प्रेमिका "पुतली" का अन्य के साथ ग्रन्थि बन्धन हो जाने पर उसके प्रेम में योगी बनकर विचरण करने लगता है । प्रकृति के साहचर्य से उसके प्रेम में उदात्तता आती है । भटकते हुए वह एक तापसी की कुटिया में पहुंचता है । जो उसकी प्रेमिका पुतली ही थी । वह विधवा होकर और समाज से उत्पीड़ित होकर वन में अपने जीवन के दिन काट रही थी । इस कृति में प्रेम का आदर्श चित्रित करने और प्रकृति के सहज आकर्षक स्वरूप को उद्घाटित करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है । वस्तुतः यह एक प्रेम कहानी है । कहानी में कवि पाठक का कौतूहल बनाए रखने के लिए कथा के रहस्यों को छिपाए रखता है और क्रम-क्रम से उनका उद्घाटन करता है किन्तु प्रबन्ध-काव्यकार तो अपनी कथा के अंतिम परिणाम तक को प्रारम्भ में ही व्यक्त कर देता है । उसका लक्ष्य कौतूहल जगाना नहीं कोमल कल्पना और काव्य-सौंदर्य में पाठक को रमाना होता है । प्रेम-पथिक में पास बैठे हुए प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे को अपनी पूर्व कथा सुनाते हैं किन्तु वे एक दूसरे से अपरिचित रहते हैं । पाठक भी अंत तक इस रहस्य को नहीं जान पाता । इसकी कथा में नायक-नायिका का मिलन संयोग पर ही आधारित है, यह भी कहानी का ही तत्व है, कथा का नहीं । अतः प्रेम-पथिक की गणना खण्डकाव्य की कोटि में नहीं हो सकती । यह पद्यबद्ध प्रेम कहानी मात्र है ।

मेवाड़-गाथा (१९१४ ई०)- इसमें श्री लोचन प्रसाद पाण्डेय ने मेवाड़ के मध्ययुग के राजपूत वीरों के त्याग एवं शौर्य की गाथाएं प्रस्तुत की हैं । प्रारम्भिक छन्द में कृति की केन्द्रीय भावना का संकेत करते हुए देश-भक्ति का परिचय दिया गया है । इसकी शैली वीर-गीतों (बैलेड) की है । इसमें एक ही कथा

१- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृष्ठ संख्या ९८ ।

को पूर्वापर क्रम से प्रस्तुत नहीं किया गया है वरन् इसमें आत्म-त्याग, दुर्गोद्धार, आदर्श राज-भक्ति, प्रतापी प्रताप का प्रण, अलौकिक धैर्य, धैर्य परीक्षा, स्वामिभक्त मंत्री, कृष्णाकुमारी, राणा संग्राम सिंह, राणा सज्जनसिंह, बाबू हरिश्चन्द्र, प्रताप-स्तव नामक बारह खण्डों में अलग अलग आख्यानों को प्रस्तुत किया गया है । इसकी रचना मैकाले की "ले आफ द एन्शिएंट रोम" का प्रभाव पड़ा है[1]।

महाराणा का महत्व(१९१४ ई०)- इसके रचयिता बाबू जयशंकर प्रसाद थे । सर्व प्रथम यह ग्रंथ १९१४ ई० में "इन्दु" में छपा फिर चित्राधार (१९१८ई०) में संकलित हुआ और १९२८ ई० में स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुआ । डा० विमलकुमार जैन ने इसे खण्डकाव्य कहा है[2]। यद्यपि इसमें गृहीत ऐतिहासिक घटना खण्ड काव्य की कथा के उपयुक्त है किन्तु तो भी प्रबन्धकाव्य की आवश्यकता के अनुकूल इसका समुचित विकास नहीं हो सका है अतः इसे एक लघु कथा काव्य ही कहा जा सकता है । इसमें महाराणा प्रताप के चरित्र की पवित्रता की एक झांकी प्रस्तुत की गयी है ! नाटकीय शैली का इसमें प्राधान्य है । इसमें २१ मात्रा के अतुकान्त छंद (अरिल्ल) का प्रयोग किया गया है । इसके कथानक में सरसता लाने की चेष्टा की गयी है किन्तु उच्चकोटि के कवित्व का दर्शन इसमें नहीं होता । श्री रामनाथ सुमन ने लिखा है कि इसमें "सिवाइस के कवि ने एक नया मार्ग हिन्दी को दिखाया हो, न तो काव्य-कला की दृष्टि से और न तो मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक अवकन न विकास की ही दृष्टि से कोई उल्लेखनीय विशेषता है[3]।"

शकुन्तला(१९१४ ई०) इसके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त है । इसमें "अभिज्ञान शाकुन्तल" की कथा को ज्यों का त्यों पद्यबद्ध कर दिया गया है । अतः इसे मौलिक कृति नहीं कहा जा सकता । डा० कमलाकान्त पाठक ने लिखा है-"इस रचना में शकुन्तला की प्रेमकथा के विविध प्रसंगों को अन्वित किया गया है, उसकी सांगोपांग

१- देखिए, इंगलिश इन्फ्लुएंस आन हिन्दी लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर(डा० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), अप्रकाशित शोध प्रबन्ध पृ०सं० ११९-१२० ।

२- देखिए, हिन्दी के अर्वाचीन रत्न, प्रथम संस्करण पृष्ठ संख्या १७२ ।

३- कवि प्रसाद की काव्य -साधना, लेखक रामनाथ सुमन, पृ०सं० ३४ ।

वर्णना अथवा सुविन्यस्त कथानक की नियोजना का प्रयास नहीं हुआ है[1]। अतः इसे खण्डकाव्य नहीं कह सकते । डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने इसे "निरा पद्यात्मक प्रबन्ध" कहा है[2]।

प्रणवीर प्रताप(१९१५ ई०) - गोकुल चन्द शर्मा की यह प्रथम कृति है । इसका कथानक सर्गों में विभाजित नहीं है । इसमें २०२ हरगीतिका छंद है । "जयद्रथ-वध" की शैली का इसमें अनुकरण किया गया है । प्रथम छन्द इस प्रकार है-

> परमेश -प्रेम विशुद्ध वाचक वृन्द ! मन में लाइए,
> पुनि पितृ-पुरुषों के पवित्र अमर चरित्र भी पढ़ जाइए,
> पूर्व प्रभा इस भव्य भारतवर्ष की लख लीजिए,
> दे ध्यान, पुनरुत्थान जननी जन्मभू का कीजिए ।

इसकी भाषा अशक्त और असमर्थ है । छंद की तुक मिलाने के लिए शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा गया है । करुणा और स्वदेश प्रेम की व्यंजना इसमें हुई है । इसके कथानक या चरित्र -चित्रण मे कोई नई उद्भावना कवि ने नहीं की । केवल ऐतिहासिक कथा को छन्दोबद्ध कर दिया गया है । इसमें कथा का रस अवश्य मिलता है किन्तु कवित्व का अभाव है । बाह्य वर्णनों या प्रकृति चित्रों की ओर कवि की दृष्टि नहीं है । देश, काल, वातावरण और प्रकृति आदि के चित्र नहीं मिलते । केवल प्रताप के वीर-चरित्र के सहारे देश-भक्ति की भावना जगाने की चेष्टा कवि ने इसके द्वारा की है । यह अत्यन्त साधारण स्तर की रचना है ।

भाषा-प्रेम-रस(१९१५ ई०)- इसके रचयिता शेख रहीम ने भी ख्वाजा अहमद की भांति जायसी और कासिमशाह को अपना आदर्श माना है । इसकी कथा काल्पनिक है । इसमें राजकुमार प्रेमसेन और मंत्री की पुत्री चंद्रकला की प्रेम-कहानी का वर्णन किया गया है । इसमें सूफी सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है । कथा में अस्वाभाविक घटनाएं और चमत्कारिक अंशों का समावेश हुआ है । इसमे कथा या रोमांस के तत्वों का प्राधान्य है, अतः खण्डकाव्यों में इसकी गणना नहीं हो सकती ।

१- मैथिलीशरण गुप्तः व्यक्ति और काव्य, पृष्ठ १९७ ।

२- गुप्त जी के काव्यकी कारुण्य धारा, पृष्ठ १० ।

किसान (१९१६ ई०)- इसके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं ।
का नितान्त अभाव है । केवल पद्यबद्ध कथा का स्वरूप इसमें पाया जाता है ।
नायक किसान के बाल्यकाल से लेकर उसकी मृत्यु तक की कथा इसमें समाविष्ट हैं
उसके किसान, कुली, और सैनिक तीन पक्ष हैं । पुलिस, जमींदार, महाजन
आदि के द्वारा सताए हुए किसान की कष्ट कथा इसमें आत्म चरित्र के रूप में
वर्णित हुई है । यह एक करूणापूर्ण कहानी मात्र है जिसे छन्दोबद्ध रूप में
प्रस्तुत किया गया है । इसे खण्डकाव्य नहीं कह सकते ।

प्रेम-दर्पण (१९१७ ई०) - इसके रचयिता कवि नसीर थे । फिगार शायर के इश्क-
नामा में यूसुफ-जुलेखा की प्रेम-कहानी पढ़कर और उससे प्रेरणा ग्रहण कर
इन्होंने अपने इस ग्रन्थ की रचना की । "शेख निसार" ने इसी कथा को अपनाकर
रीतिकल में एक प्रेम कथा लिखी थी । इसमें कोई मौलिकता नहीं है । यह ग्रंथ
भी अन्य प्रेमाख्यान काव्यों की भांति खण्डकाव्य नहीं है ।

मिलन (१९१७ ई०) पं० रामनरेश त्रिपाठी की यह प्रथम कृति है । इसकी कथा पांच
सर्गों में विभक्त है । इसे भी "पथिक" और "स्वप्न" के साथ खण्डकाव्य माना
जाता रहा है किन्तु यह कृति खण्डकाव्य के रूप में विकसित नहीं हो सकी है ।
वस्तुतः इसे एक प्रेमकहानी कहना ही अधिक उपयुक्त है । प्रबन्ध काव्य का कवि
कथा के सहारे रस उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं करता । कथा तो उसका एक
माध्यम होती है जिसके सहारे वह मार्मिक स्थलों और कोमल स्थितियों तक पहुंचता
और विविध विषयों एवं वस्तुओं के वर्णन में प्रवृत्त होता है । वस्तुतः कवि की
प्रतिभा और रमणीय कल्पना का दर्शन ऐसे ही स्थलों पर होता है । इन्हीं
स्थलों के उच्च काव्य-सौंदर्य के बल पर सम्पूर्ण कृति जगमगा उठती है किन्तु कथा-
कार पग पग पर पाठक का कौतूहल जगाए रखने की चेष्टा करता है और इसी-
कारण वह कथा के प्रवाह को कभी मंद नहीं होने देता । कहना न होगा कि
"मिलन" की कथा में भी कौतूहल जगाए रखने की चेष्टा प्रारंभ से अंत तक नहीं
दिखाई देता है । इसके कथा का ढांचा श्रीधर पाठक के एकान्तवासी योगी के ढांचे
से प्रभावित है ।

मिलन में दाम्पत्य प्रेम और राष्ट्र-प्रेम का सामंजस्य सुन्दर है । विजया
का प्रणयोन्माद देशवासियों की वास्तविक कष्ट-कथा का परिचय पाकर लोक सेवा
की तीव्र भावना में परिवर्तित हो जाता है । इसी प्रकार आनन्द का प्रणय भाव

साण की प्रेरणा से देशोद्धार की तीव्र अभिलाषा में परिवर्तित होता है। इस कृति का आरंभ भी नायक नायिका के मिलन की स्थिति से होता है और अन्त भी मिलन में होता है। बीच की वियोगावस्था में वे दोनों मिलकर राष्ट्रोद्धार के महान् कार्य को सम्पन्न करते हैं। वस्तुतः इस कहानी के द्वारा राष्ट्र-सेवा के लिए व्यक्तिगत सुख के त्याग की शिक्षा दी गयी है। इस परिवार का स्वामी आनन्द का पिता पहले से ही परिवार के मोह को छोड़कर और अपनी संतान के सुख-दुख की चिन्ता से निर्लिप्त होकर मुनि वेश में राष्ट्र की निद्रा-भंग करने में प्रयत्नशील दिखाई पड़ता है। इस रचना में मुनि के चरित्र द्वारा त्याग का अद्भुत आदर्श प्रस्तुत किया गया है। असहयोग आन्दोलन के उस युग मे त्रिपाठी की इस रचना का नवयुवक और नवयुवतियों में देश-सेवा का भाव जाग्रत करने में महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा।

मिलन के कथा-विन्यास में संयोग तत्व की सहायता अधिक ली गयी है। तरी का डूबना, विजय और आनन्द दोनों का मुनि द्वारा बचाया जाना, मुनि का आनन्द का पिता ही होना, युद्ध में विजय, आनन्द और मुनि को ही नेतृत्व मिलना और अंत में सबका मिलना आदि प्रसंग संयोगों पर ही आश्रित है। इनमें कार्यकारण की योजना उतनी सुसम्बद्ध नहीं है। अतः प्रबन्धगत गठन की दृष्टि से यह रचना उत्कृष्ट नहीं कही जा सकती। वस्तुतः प्रेम का परिष्कृत रूप दिखाकर राष्ट्रीय भावना को पुष्ट करना ही इस कथा का मुख्य लक्ष्य है।

अनाथ- (१९१७ ई०)- इसके लेखक सियारामशरण गुप्त है। इसका कथानक ४ सर्गों में विभक्त है। यह एक काल्पनिक पद्यबद्ध कहानी मात्र है। इसमें मोहन और यमुना के दरिद्र परिवार की करुण कथा कही गयी है जो हृदय को पिघला देती है किन्तु इसमे कथा का ही आनंद मिलता है। कवित्व का इसमें अभाव है। इसे खण्डकाव्य नहीं कहा जा सकता।

देवदूत (१९१८ ई०)- इसके लेखक रामचरित उपाध्याय थे। इसकी कथा मेघदूत की भांति पूर्व भाग और उत्तर भाग दो खंडों में विभक्त है। यह साठ छन्दों की एक लघु रचना है। प्रारम्भ का छन्द इस प्रकार है -

कोई भारतीय श्रेयस्वी, देवलोक में पहुंच गया ।
उसने वैसा स्थान मनोहर, कभी न देखा रहा नया ।
जैसे तारागों में विधु है वैसे त्रिभुवन में वह लोक,
चकाचौंध दृग में होती है लख करके उसके आलोक ।

इसमें भारतभूमि के वियोग में जो कष्ट देवलोक में भारतीय को उठाने पड़े, उनका वर्णन है । पृथ्वी के सामने देवलोक को तुच्छ बताया गया है । मनुष्य और धरती की महत्ता देवता और स्वर्ग की अपेक्षा कहीं अधिक है । वस्तुतः यह मेघदूत "पैरोडी" है जिसका विषय दाम्पत्य प्रेम न होकर देश-प्रेम है । यह खण्डकाव्य नहीं कहा जा सकता ।

गांधी-गौरव (१९१९ ई०)- इसके रचयिता श्री गोकुलचंद शर्मा हैं । यह रचना दस सर्गों में विभक्त है । इसके नवीन संस्करण (१९५१ ई०) में मुखपृष्ठ पर इसे खण्डकाव्य की संज्ञा दी है किन्तु यह खण्डकाव्य न होकर जीवनी काव्य है । गांधी जी के बाल्यकाल, परदेश गमन, जेल-यात्रा आदि से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का विवरण इसमें मिलता है । इसके सर्गों के उपोदघात, पूर्व परिचय, बाल्यकाल, प्रदेश-प्रयाण, अफ्रीका-गमन, दिव्यांश दर्शन, साधन-संकलन, जेल-जीवन (पूर्वार्द्ध), जेल जीवन(उत्तरार्द्ध) और स्वदेश सेवा नाम ही इस तथ्य को व्यंजित करने के लिए पर्याप्त है । इसमें हरगीतिका छंद का आद्यन्त व्यवहार हुआ है जो उस समय (कदाचित् "जयद्रथ-वध" के बाद) विशेष लोक प्रिय हो गया था । इसमें कवित्व साधारण कोटि का है । किन्तु युग की राष्ट्रीय भावना मुखरित हुई है । इसके आरम्भ और अंत के छन्द इस प्रकार हैं-

कितने कुलीन कुली प्रवासी ताप-त्रासित उठ गये ।
कितने गले निर्दोष नर नारी जनों के घुट गये ! !
करूणानिधे ! यदि कष्ट है कुछ और भारत भाग में ,
बल दो, सहे सब, मर मिटे, हम देश के अनुराग में ।

+ + +

छाया स्वदेशी रंग है सर्वत्र भारतवर्ष में,
उमड़ी नवीन तरंग है उसके विचारोत्कर्ष में ।
यद्यपि सभी के विषय में है बहुत कुछ कहना अभी,
वाचक ! कहेंगे फिर उसे पाकर समय समुचित कभी ।

आत्मार्पण-(१९१९ ई०)- इसके लेखक श्री द्वारिकाप्रसाद गुप्त "रसिकेन्द्र" हैं। यह एक लघु रचना है। किन्तु फिर भी इसमें दो स्वतंत्र खण्डकाव्यों की सामग्री को एक साथ गूंथ दिया गया है। जिससे एक का भी पूर्ण विकास नहीं हो पाता और न ग्रन्थ का प्रभाव ही पाठक के हृदय पटल पर अंकित हो पाता है। "खण्डकाव्य" की मूल भूत विशेषता -(एक घटना के विकास)को विस्मृत कर देने के कारण इसे खण्डकाव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। कवित्व की दृष्टि से भी रचना साधारण कोटि की है।

कंस बध(१९२१ई०) इसके रचयिता श्यामलाल पाठक है। सात सर्गों की यह रचना २४८ छन्दों में समाप्त हुई है। इसमें कंस बध की परंपरागत पौराणिक कथा का वर्णन हुआ है। प्रभात-वर्णन के साथ ग्रन्थ प्रारम्भ हुआ है। किन्तु आगे चल कर प्रकृति के वर्णन नहीं मिलते केवल कथा का प्रवाह अंत तक अवि-च्छिन्नगति से चलता है। इसमें कवित्व का अभाव है। रचना अत्यन्त सामान्य कोटि की है। असत् की पराजय और सत् की विजय दिखाने की चेष्टा कवि ने अवश्य की है। कृष्ण के जन्म से लेकर उनकी अनेकानेक बाल-लीलाओं का निदर्शन कराते हुए उनके मथुरा जाने और कंस का बध करने तक की संपूर्ण कथा इसमें मिलती है। खण्डकाव्य के लिए नायक के जीवन का विस्तृत खण्ड ग्रहण नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से उसके प्रबन्ध का समुचित विकास करना कठिन हो जाता है। कंस बध भी इसी कारण खण्डकाव्य के रूप में विकसित नहीं हो सका है। अतः खण्डकाव्य की दृष्टि से यह रचना असफल है, यद्यपि लेखक ने इसे मुखपृष्ठ पर "खण्डकाव्य" की संज्ञा से अभिहित किया है।

कीचक-बध(१९२१ई०)- इसके लेखक बाबू शिवदास गुप्त "कुसुम" है। इसकी कथा पांच सर्गों में विभक्त है। मुखपृष्ठ पर इसे वीर रस पूर्ण खण्डकाव्य कहा गया है। किन्तु इसमें न वीर रस है और न यह खण्डकाव्य है। इसकी कथा महा-भारत पर आधारित है। अज्ञातवास के समय द्रौपदी सहित पांचों पाण्डव राजा विराट् के यहां प्रच्छन्न वेश में रहे। वहीं सैरन्ध्री (के रूप में द्रौपदी) के प्रति विराट् के साले कीचक ने अनुचित प्रस्ताव किया और अंत में भीम ने उसका बध किया। इसमें कथा का रस तो मिलता है, कवित्व का बिल्कुल नहीं। बीच बीच में उपदेशात्मकता का दर्शन होता है। कथा में कोई नवीनता नहीं

वीर हम्मीर (१९२२ ई०)- डा० रामकुमार वर्मा ने अपनी इस कृति को खण्डकाव्य कहा है । इसकी कथा का आधार है चन्द्रशेखर बाजपेयी का हम्मीर हठ और इसकी रचना की प्रेरणा कवि को गुप्त जी के भारत-भारती व रंग में भंग आदि काव्यों से मिली । कवि ने लिखा है "सन् १९२१ में जब मैंने असहयोग-आन्दोलन में भाग लेकर स्कूल छोड़ दिया, तो मुझे प्रभात -फेरियों के लिए नए-नए गीतों की रचना करनी पड़ती थी और देश-सेवा की उमंगों में जब मेरा हृदय तरंगित होता था तो मेरे लिए मैथिलीशरण गुप्त की "रंग में भंग" और "भारत-भारती" के अनेक स्थल काव्य की प्रेरणा देते हुए ज्ञात होते थे । उसी वर्ष मैंने एक खण्डकाव्य की रचना की । यद्यपि उसकी सामग्री "शेखर" के "हम्मीर-हठ" से ली गयी थी तथा इतिहास-ग्रन्थों से कथा का निर्माण हुआ था, तथापि उसकी शैली श्री मैथिलीशरण गुप्त की ही शैली थी । चूंकि मैंने उस काव्य में गीतिका-छन्द का प्रयोग किया था जो मैंने जयद्रथ-वध में पढ़ा था[१]।"

वर्मा जी मुख्य रूप से गीतकार कवि है किन्तु अपने काव्य-विकास की आरम्भिक अवस्था में उन्होंने तीन प्रबन्धात्मक रचनाएं भी प्रस्तुत की । वीर हम्मीर, चित्तौड़ की चिता और निशीथ । इनमे से प्रथम दो वर्णनात्मक और अंतिम भावात्मक कोटि की रचना है । वस्तुतः हम्मीर वर्मा जी की बाल्य कृति है । कवि के काव्य-विकास की एक कड़ी होने के कारण यह महत्वपूर्ण है किन्तु इसमें कवित्व अत्यन्त साधारण कोटि का है । कथानक में भी मौलिकता का अभाव है । अतः इसे एक साधारण रचना क ही कहा जा सकता है ।

सती सारन्धा(१९१४ई०) इसके लेखक द्वारिका प्रसाद गुप्त "रसिकेन्द्र" है । इसकी कथा सर्गों में विभाजित है । प्रस्तुत ग्रन्थ के मुखपृष्ठ पर इसे ऐतिहासिक "खण्ड-काव्य के नाम से अभिहित किया गया है किन्तु वस्तुत यह खण्डकाव्य न होकर चरित काव्य है । रानी सारन्धा के वीर चरित की द्योतक अनेक घटनाओं को इसमें गूंथने की चेष्टा की गयी है । विवाह के पूर्व वह युद्ध से विमुख भाई अनिरुद्ध

१- मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन ग्रंथ में प्रकाशित कवि का "हिन्दी काव्य के विकास के मार्ग निर्देशक" लेख, पृष्ठ सं० ३० ।

को उसके कर्तव्य की शिक्षा देती दिखाई पड़ती है । भाभी शीतला का शाप उसे मिलता है । चम्पतराय की सहधर्मिणी होने के बाद वह शाहजहाँ की जागीर छुड़वाकर उन्हें मुग़ल-प्रभाव से स्वतन्त्र करने में सफल होती है । उत्तराधिकार युद्ध में औरंगजेब की सहायता कर उसे शासक बनवाती है । किन्तु बहादुर खाँ को घोड़ा वापिस लौटाने के लिए वह विवश कर देती है और अपनी टेक को पूरा - करने में औरंगजेब की रूष्टता की भी परवाह नहीं करती । अंत में युद्ध के समय चम्पत के अस्वस्थ होने पर पुत्र का भी मोह छोड़कर वहाँ उसके साथ जाती है । खण्डकाव्य में एक ही महत्वपूर्ण घटना को आधार बनाकर उसे भलीभाँति विकसित किया जाता है । इस दृष्टि से सती सारन्धा खण्डकाव्य की सीमा में नहीं आती । इसमें कवित्व भी निम्नकोटि का है ।

सती पद्मिनी(१९२५ ई०)- इसके रचयिता श्रीनाथ सिंह हैं । इसके मुखपृष्ठ पर इसे ऐतिहासिक खण्डकाव्य की संज्ञा दी गयी है । इसका कथानक ६ सर्गों में विभक्त है । इसमें चित्तौड़ के राणा भीमसिंह की अपूर्व सुन्दरी पत्नी सती पद्मिनी की वीरता और पातिव्रत्य-पालन का आदर्श व्यक्त किया गया है । यह कथा भी लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध रही है तथा इसको आधार बनाकर अनेक लोक एवं साहित्य कला मर्मज्ञ कवियों ने अपनी वाणी को पवित्र बनाया है । यह रचना अत्यन्त सरल और भाषा में नायिका(प्रधान पात्री) के वीरता और प्रेम के आदर्श को व्यक्त करती है । इसकी शैली अत्यंत रोचक और लयपूर्ण है । झाँसी की रानी की छन्द-शैली का ही नहीं उसके शब्द-विन्यास आदि का भी अनुकरण इसमें किया गया है । एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

> "चमक उठी थी बिजली सी तमसावृत्त भारत के नभ में ।
> दिक् दिगन्त महमहा उठा था एक कली के सौरभ में ।
> अविचारों के तृण-समूह पर टूट पड़ी चिनगारी थी,
> भीमसिंह की प्यारी बन जब वह चित्तौर पधारी थी[1]।

झाँसी की रानी की "चमक उठी सन् सतावन में वह तलवार पुरानी थी" जैसी पंक्तियों से इसका साम्य स्पष्ट है । झाँसी की रानी की ही भाँति इसमें भी

१- सती पद्मिनी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या ३ छं० ११४ ।

उपर्युक्त आख्यानक गीति के तत्व (अर्थात् सरलता, लोकप्रियता, लयपूर्णता और प्रेम, घृणा, वीरता आदि जीवन के सामान्य भावों की तीव्र व्यंजना) प्रधानता से उभरे हैं अतः इस कृति को खण्डकाव्य न कहकर आख्यानक गीति कहना ही अधिक युक्ति युक्त है ।

प्रथम सर्ग में चित्तौड़ के राणा भीमसिंह की पत्नी पद्मिनी के अप्रतिभ रूप की प्रशंसा सुनकर दिल्ली सुलतान अलाउद्दीन चित्तौड़ पर आक्रमण करता है । द्वितीय सर्ग में पद्मिनी की एक सहेली बन में शत्रुओं के पांच सिपाहियों को अकेले ही पराजित कर उनमें से एक को बांध लाती है । तृतीय सर्ग में पराजित अलाउद्दीन कूटनीति से संधि प्रस्ताव भेजकर केवल पद्मिनी का दर्शन करके लौट जाने की अभिलाषा व्यक्त करता है । चतुर्थ सर्ग में सोना नामक वीर बाला की वीरता और उसके बलिदान का बखान हुआ है । पंचम सर्ग में अलाउद्दीन का छल पूर्वक भीमसिंह को बंदी बनाना और गोरा बादल की सहायता से पद्मिनी का उन्हें छुड़ाना वर्णित है । अंतिम सर्ग में अलाउद्दीन के आक्रमण से भीमसिंह की वीरगति और पद्मिनी का सती होना वर्णित है।

सुनाल(रचनाकाल १९२५ ई० प्रकाशन काल १९२९ ई०)- लेखक अनूप शर्मा की यह प्रथम कृति है । इसकी कथा का नायक अशोक पुत्र कुणाल है । कुणाल को ही इसमें सुनाल के नाम से उपस्थित किया गया है । कुणाल के उज्ज्वल चरित्र को देखते हुए कदाचित् "कुणाल" का "कु" कवि को रुचिकर प्रतीत न हुआ । इसी कथा को लेकर आगे श्री सोहनलाल द्विवेदी ने "कुणाल" की रचना की । जो प्रस्तुत कृति की अपेक्षा अधिक सफल और प्रसिद्ध रचना है अतः उसी का विस्तृत अध्ययन इस खण्ड के अध्याय १२ में किया गया है । इस कृति की प्रमुख विशेषताओं के उद्घाटन की चेष्टा यहां की जा रही है । सुनाल के अन्य ऐतिहासिक पात्रों के नाम भी परिवर्तित रूप में मिलते हैं। तिष्यरक्षिता के स्थान पर सुलोचना और कांचना के स्थान पर सरोजनी नामों का व्यवहार हुआ है । नामों के साथ साथ ऐतिहासिक तथ्यों में भी परिवर्तन किया गया है । इसमें सुलोचना कश्मीर नरेश को "सुनाल" की आंखे निकलवाने का आदेश पत्र भेजती है । जब कि "कुणाल" को तक्षशिला से निर्वासित किए जाने के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं[1] इसी प्रकार सुनाल का अशोक के साथ पुनर्मिलन

१- देखिए, इस खंड के अध्याय १२ में "कुणाल" का वस्तु-विवेचन ।

इसमें पाटलिपुत्र में न दिखाकर उज्जयिनी में दिखाया गया है ।

सुनाल की रचना सवैया छन्दों में हुई है । बीच बीच में दोहे रखे गये है । कुल मिलाकर इसमे १५३ छन्द है । इसकी घटनाएं प्रायः सोहनलाल द्विवेदी के "कुणाल" की घटनाओं से मिलती - जुलती है । कलिंग विजय की खुशी में खेले गये नाटक मे "सुनाल" भाग लेता है । सुलोचना सुनाल से प्रेम निवेदन करती है और असफल होने पर प्रतिशोध के भावों से उद्वेलित होती है । इसी बीच सुनाल काश्मीर के शासक बनकर जाता है । सुलोचना सुनाल की आंखे निकलवा लेने का आज्ञा-पत्र काश्मीर भेजती है । सुनाल अपनी पत्नी सरोजनी के साथ भिक्षुक बन-कर निकल पड़ता है । उज्जयिनी में शरदोत्सव के अवसर पर वे दोनों भिखारी अशोक की संगीत सभा में गाना सुनाते हैं । पुत्र का स्वर पहचानकर अशोक उन्हें गले लगाते हैं । भेद खुलने पर सुनाल की चेष्टा से सुलोचना को क्षमादान मिलता है । अशोक अंत में सुनाल का अभिषेक कर वन को जाते हैं ।

प्रस्तुत कृति में करुण एवं वात्सल्य रसों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है । कुणाल के चरित्र में आचरण की पवित्रता और पितृ भक्ति का आदर्श व्यंजित हुआ है । किन्तु इसमें कुछ स्थल खटकने वाले भी है । प्रारम्भ में अशोक अपने पुत्र कुणाल का परिचय अन्य राजाओं से कराते हैं । इसमें सम्राट् के गौरव की हानि होती है।

कला की मांग को पूरा करने के लिए कवि ने कुछ अवांछनीय प्रसंगों को केवल सूच्य ही रखा है । उनका विस्तार नहीं किया । जैसे सुलोचना का प्रणय निवेदन या उसके कुणाल के लिए भेजे गये आदेश का गोपन । किन्तु इतनी लम्बी अवधि के भीतर एक भी बार अशोक ने पुत्र की खबर न ली, यह अशोक जैसे वात्सल्य सिक्त पिता के लिए स्वाभाविक नहीं जान पड़ता ।

विद्वानों ने इसे खण्डकाव्य के रूप में स्वीकृत किया है[1]। किन्तु लेखक की प्रथम कृति होने के कारण इसमें उच्च कोटि के कवित्व पूर्ण स्थलो की योजना नहीं हो सकी है । अतः इसे सामान्य कोटि की रचनाओ के अंतर्गत ही स्थान देना उचित प्रतीत होता है ।

१- देखिए, हिन्दी साहित्य का इतिहास (लेखक पं० रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ संख्या ६६३ ।

दुर्योधन - बध (१९२६ ई०) - श्री जगदीश नारायण तिवारी रचित दुर्योधन बध (११५ हरिसन रोड, कलकत्ते से लेखक द्वारा स्वयं प्रकाशित) जयद्रथबध की इतिवृत्तात्मक शैली में लिखी गई एक साधारण कोटि की रचना है । सर्गों के स्थान पर यह रचना परिच्छेदों में विभक्त है जिनकी संख्या ४ है । इनके अतिरिक्त ग्रंथ के आदि में"प्रारम्भ"शीर्षक के अन्तर्गत १७ छन्द मिलते हैं जिनमें मंगलाचरण, वसुन्धरा के वीर-हीन हो जाने पर शोक, तथा अतीत से प्रेरणा लेकर आगे बढ़ने की कामना व्यक्त की गई है । संपूर्ण ग्रन्थ ९९ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । मुख्य कथा मय द्वारा युधिष्ठिर के सभागृह-निर्माण से आरम्भ होती है और दुर्योधन की मृत्यु तक चलती है । इस छोटे से ग्रन्थ में महाभारत युद्ध की प्रायः सभी प्रमुख घटनाएं ठूंसने की चेष्टा की गयी है । अतः ग्रन्थ विवरणात्मक हो गया है । किसी एक घटना को आधार बनाकर उसका खण्डकाव्य के रूप में समुचित विकास नहीं किया गया है । कवित्व तो इसमें है है नहीं । कवि ने जयद्रथ-बध के हरगीतिका छंद से प्रभावित होकर उसी में तुकबन्दी की है । कुछ स्थल अत्यन्त शिथिल है । इस ग्रंथ में न प्रबन्ध-सौष्ठव है और न चरित्र विकास की चेष्टा । केवल कथा की तीव्रता का दर्शन होता है । अतः इसे खण्डकाव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती ।

शक्ति (१९२७ ई०)- इसके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त है । डा० कमलाकांत ने लिखा है " "शक्ति" काव्य में गुप्त जी ने चौसठ षट्पदियों के अंतर्गत "दुर्गा सप्तशती" के आख्यान का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है । - - - मूल कथा का केवल सारांश निरूपित होने के कारण इस रचना में प्रबन्ध-संगठन और शील-निरूपण के गुणों का विन्यास न हो सका[1]।" पाठक जी का उपर्युक्त कथन तथ्य पूर्ण है । शक्ति में मौलिकता एवं प्रबन्ध योजना का अभाव है । अतः इसे खण्ड-काव्यों में स्थान नहीं दिया जा सकता ।

सैरन्ध्री-वक संहार-वन-वैभव(१९२७ ई०) - इनके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं, तीनों ही महाभारतीय कथानक पर आधारित कृतियां है । इनके कथानक में

१- मैथिलीशरण गुप्तः व्यक्ति और काव्य छं०सं० ३०१ ।

कोई परिवर्तन या संशोधन नहीं हुआ । ये अत्यन्त लघु रचनाएं है । खण्डकाव्योचित विस्तार एवं विविध-विषय-वर्णन का इनमें अभाव है । तीनों ही कृतियां "त्रिपथ-गा" नाम से एक ही साथ प्रकाशित हुई थीं बाद में इन्हें स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित किया गया । इन रचनाओं मे कवित्वपूर्ण स्थलों का अभाव है । केवल कथा का आनन्द इनमे मिलता है । इन्हें लघु कथा(या निबन्ध) काव्य कहना अधिक समीचीन है । इन्हें खण्डकाव्य का पद नहीं दिया जा सकता ।

विकट - भट _(१९८५)- इसमें खण्डकाव्योचित सुसम्बद्ध कथानक का अभाव है । केवल राजपूती आन को प्रगट करने के लिए सामंत देवीसिंह और उनके पुत्र सबलसिंह ने युद्ध में प्राण दिए । अंतिम उत्तराधिकारी द्वादशवर्षीय सवाईसिंह की वीरता पर जोधपुर के राजा विजय सिंह उसे अपना सामंत बनाते है । इस ऐतिहासिक आख्यान को डा॰ श्रीकृष्णलाल ने"आख्यान-गीति" कहा है[1]। डा॰ कमलाकान्त ने इसे अंगरेजी की विवरण प्रधान कविता (Narrative Poem) के ढंग की रचना कहा है[2]। व्यक्तिगत मानापमान का प्रश्न प्रबन्धकाव्य का विषय नहीं बन सकता । अतः इसे खण्डकाव्य नहीं कहा जा सकता ।

गुरुकुल(१९२९ ई०)- यह मैथिलीशरण गुप्त की कृति है । इसमें सिक्ख गुरुओं की जीवनी और उनके कृत्यों का विवरण प्रस्तुत किया गया है । काव्यत्व का इसमें अभाव है । डा॰ उमाकान्त ने लिखा है "बौद्धिकता के प्रधान्य के कारण सूक्तियां तो अनेक मिल जाती हैं, करुणोक्तियों एवं वीर घोषणाओं की भी कमी नहीं पर क्षीणता है रस की[3]।" वस्तुतः यह एक (विवरणात्मक) चरित्र काव्य है । खण्डकाव्य यह नहीं है ।

चित्तौड़ की चिता (१९२९ई॰)- डा॰ रामकुमार वर्मा का यह द्वितीय प्रबन्ध काव्य है जो चांद प्रेस, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था । इसमें चित्तौड़ के राना संग्रामसिंह की पत्नी महारानी करुणावती का चित्र प्रस्तुत किया गया है ।

शांति प्रिय द्विवेदी ने लिखा है"चित्तौड़ की चिता" का कथानक बड़ा ही विदग्धता पूर्ण है । महारानी करुणा की करुणा में समस्त कथावस्तु इस प्रकार विक-

---

१- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास-डा॰ श्रीकृष्णलाल पृष्ठ ९८ ।

२- मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य पृष्ठ १७९ ।

३- मैथिलीशरण गुप्तः कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृ०सं॰ ३१ ।

सित है जिस प्रकार ओस-राशि के बीच में कली । छोटे-छोटे छन्दों में भावावेश के तीव्र किन्तु संक्षिप्त भाव बड़ी सुन्दरता के साथ सने हुए हैं[1]।" किन्तु इसमें वस्तु एवं पात्रों द्वारा उद्वेलित आन्तरिक अनुभूतियों की ही प्रधानता है । बाह्य-वस्तु विषयों का चित्रण गौण । अतः विशुद्ध प्रबन्धकाव्य(जो प्रधानतः बाह्य वस्तु व्यंजनक होता है) की कोटि में उसे रखना युक्ति युक्त नहीं जान पड़ता ।

उद्धव शतक-(१९३१ ई०)- इसके रचयिता ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि बाबू जगन्नाथ-दास रत्नाकर थे । इसकी "शतक" संज्ञा इसके मुक्तक रूप का संकेत करती है । इसके कवित्त एक दूसरे से स्वतंत्र होकर भी पूर्ण अर्थ प्रकट करने में सक्षम है । अतः इसका स्वरूप स्पष्ट रूप से मुक्तक का है । फिर भी इसमें कथा का एक क्रम है । इसका विषय भागवत् की गोपी-उद्धव संवाद की कथा पर आधारित है । इस सुन्दर प्रसंग को लेकर हिन्दी में भक्ति-काल से लेकर आधुनिक काल तक अनेक भ्रमरगीतों की रचना हुई है किन्तु वे सभी ज्ञान और भक्ति के विवाद पर उद्धव और गोपियों के उत्तर-प्रत्युत्तर(या संवाद) मात्र हैं अतः उनमें प्रबन्धत्व का अभाव है । रत्नाकर जी ने अपनी इस कृति में इसी कथा को कुछ काल्पनिक प्रसंगों के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया है । अतः इसमें प्रबन्धत्व की मात्रा अन्य एतद् विषयक काव्यों से कुछ अधिक हो गई है । और इसी कारण विद्वानों ने इसे "खण्डकाव्य" की संज्ञा दे डाली है । वस्तुतः यह ग्रन्थ भी अन्य भ्रमर गीतों के समान संवाद प्रधान है । इसमें मार्मिकता और उच्चकोटि की कलात्मकता के दर्शन होते हैं । किन्तु जिस प्रकार भागवत की कथा पर आधारित होने पर भी "सूरसागर" को प्रबन्ध काव्य न कहकर गीति काव्य ही कहा जाता है, उसी प्रकार उद्धव के मथुरागमन के प्रसंग पर आधारित होने पर भी इसे हम मुक्तक काव्य ही कहेंगे । उद्धव शतक में प्रबन्धत्व उसी कोटि का है जिस कोटि का सूरसागर में । कवि का दृष्टिकोण इस निर्णय में और भी अधिक सहायक होता है । इसकी "शतक" संज्ञा इस बात की भी प्रमाण देती है कि कवि का दृष्टिकोण मुक्तक काव्य लिखने का रहा है प्रबन्धकाव्य का नहीं । श्री शान्ति प्रिय द्विवेदी ने इसकी प्रबन्धात्मकता के विपक्ष मे लिखा है "उद्धव शतक रत्नाकर जी का निबन्ध काव्य है । निबन्ध काव्य और प्रबन्ध काव्य में कुछ अन्तर है । निबन्ध काव्य में मुक्तक भावों की एक सुसंगत शृंखला रहती है,

---

१- कवि और काव्य- शान्ति प्रिय द्विवेदी, पृ०सं० ९२ ।

किंवा वह कथापरक ही नहीं भाव - परक भी हो सकता है । प्रबन्ध-काव्य प्रधानतः कथा-परक रहता है , उसमें किसी समाज और चरित्र की अवतारणा रहती है, यथा साकेत और प्रिय-प्रवास । निबन्ध-काव्य में जिस रस की सृष्टि करना कवि को भाव के आश्रय से अभीष्ट रहता है, उसे प्रबन्ध कवि कथा द्वारा अभिव्यक्त करता है[1]।"

तक्षशिला (१९३१ ई०) - इसके रचयिता श्री उदयशंकर भट्ट है ! इसकी रचना का उद्देश्य एशियाई तथा भारत की प्राचीन संस्कृति की महत्ता दिखाना है । इसकी रचना सात स्तरों में हुई है । प्रथम स्तर में नगर की भौगोलिक स्थिति और उसका वैभव वर्णित है । द्वितीय और तृतीय स्तर में महाराज बाहुबली और उनके छोटे भाई भरत चक्री के विरोध व द्वन्द्व युद्ध का वर्णन है । इसके पश्चात् तक्षशिला से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं-आम्भीक का राज्य, अलक्षेन्द्र का आक्रमण, और पौरुष के साथ उसका युद्ध, चन्द्रगुप्त का नंदवंश से निर्वासित होकर तक्षशिला की ओर प्रस्थान और आम्भीक को पददलित कर मौर्य्य साम्राज्य की स्थापना बिन्दुसार का राज्यारोहण और तक्षशिला में विप्लव, अशोक का शासन व राज्यविस्तार तथा कुणाल के के अंधे होकर निर्वासित किए जाने की घटनाओं का विस्तृत विवरण इसमें मिलता है । वास्तव में इस ग्रंथ के द्वारा कवि भारत के प्राचीन गौरव की ओर पाठकों का ध्यान दिलाने की चेष्टा करता है । इसका कथानक खण्डकाव्य के उपयुक्त नहीं है । इसमें अनेक खण्डकाव्यों के उपयुक्त सामग्री एक साथ जुटा दी गयी है । खण्डकाव्य में तो एक ही घटना को सुचारु रूप से विकसित किया जाता है । अतः इस कृति की गणना खण्डकाव्यों के अन्तर्गत नहीं हो सकती।

आत्मोत्सर्ग (१९३१ ई०) इसके रचयिता सियारामशरण गुप्त है । इसका कथानक तीन सर्गों में विभक्त है । इसमें अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के कानपुर के हिन्दू-मुस्लिम दंगों में आत्म-बलिदान की घटना का वर्णन हुआ है । सामयिक उत्तेजना का इसमें प्राधान्य है । प्रबन्ध की आवश्यकता के अनुकूल कथा का विकास इसमें नहीं मिलता । खण्डकाव्य का गाम्भीर्य इसमें नहीं दिखाई पड़ता । डा० नगेन्द्र ने इसे चरित्र काव्य कहा है[2]। इसमें उत्तेजनापूर्ण दृश्यों का रोचक वर्णन है किन्तु कवित्व की दृष्टि से यह रचना शिथिल है ।

१- सञ्चारिणी में"ब्रजभाषा के अंतिम प्रतिनिधि" नामक लेख, पृ०सं० ५४-५५ ।

२- कवि सियारामशरण गुप्त (डा०नगेन्द्र) पृष्ठ ६६ ।

निशीथ(१९३१ ई०)- डा० रामकुमार वर्मा की यह कृति छायावादी शैली में लिखी गयी है । पूर्व प्रबन्ध कृतियों की अपेक्षा यह रचना कला की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट है । निशीथ में एक छोटी-सी प्रेम कथा है । शान्तिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है- "वर्मा जी की वर्णनात्मक कविताओं में निशीथ की कविता सर्वश्रेष्ठ है इसमें स्थान स्थान पर उन्माद, वेदना, आशा-निराशा और सुख-दुख का बड़ा मार्मिक अनुभव होता है । उपमा, उत्प्रेक्षा अलंकारों की मधुर ध्वनि प्रायः प्रत्येक पंक्ति में मिलती है । कविता को पढ़कर ऐसा जान पड़ता है कि कवि के हृदय में कितनी मादकता और उन्मत्तता है[1]।" इसकी कथा १२ सर्गों में विभक्त है । किन्तु यह भाव प्रधान रचना है । भावों की शृंखला ही इसे कहानी का रूप देती है । भाव प्रधानता के कारण इसकी कहानी भली भांति उभर नहीं पाती । रसोद्रेक के लिए पर्याप्त सामग्री होते हुए भी इसमें कथा और चरित्र चित्रण पर कवि की दृष्टि नहीं है । अतः इसे खण्ड-काव्य की अपेक्षा गीतिकाव्य कहना ही अधिक उपयुक्त है ।

यशोधरा (१९३२ ई०)- इसके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त है । इसके खण्डकाव्य होने के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि यह गद्य-पद्य मिश्रित शैली मे लिखा गया है जब कि खण्डकाव्य विशुद्ध "पद्य-काव्य" कोटि की रचना है । इसके साथ -साथ इसमें नाटकीय शैली का प्राधान्य है । गीतिकाव्य के तत्व भी इसमें मिलते हैं । इस प्रकार गीति, नाट्य, कथा आदि के तत्वों से युक्त इस रचना को चंद्र शैली में प्रस्तुत किया गया है ।विद्वानों ने इसे "गीति-रूपक" की संज्ञा दी है, जो सत्य के अधिक निकट कही जा सकती है । "खण्डकाव्य" यह नहीं है यह असंदिग्ध है । वस्तुतः काव्य रूप के क्षेत्र में यह एक नवीन प्रयोग कहा जा सकता है ।

अभिमन्यु-वध(१९३२ ई०) पं० रामचन्द्र शुक्ल "सरस" की ब्रजभाषा में लिखी हुई इस रचना में मौलिकता का नितान्त अभाव है । युद्ध वर्णन में महाभारत के युद्ध वर्णन का पूरी छाप है । कहीं- कहीं जयद्रथ वध का प्रभाव भी पड़ा है । कृति किसी भी दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं है । भाषा में भी प्राचीन कवियों का आदर्श ग्रहण किया गया है । इसकी रचना कवित्तों में हुई है जो प्रबन्ध के अंग न होकर मुक्तक ही अधिक लगते है । यद्यपि लेखक ने स्वयं इसे "खण्डकाव्य" नाम से अभिहित किया है, किन्तु

१- कवि और काव्य, शान्तिप्रिय द्विवेदी, पृ०सं० ९३ ।

मौलिकता एवं उच्चकोटि के कवित्व के अभाव में इसे हम सफल खण्डकाव्य का पद नहीं दे सकते ।

सिद्धराज (१९३६ ई०) - इसके लेखक श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं । सिद्धराज जयसिंह के जीवन या राजत्वकाल की प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाकर कवि ने उसके चरित्र को विकसित करने की चेष्टा की है । इसके पांचों सर्ग परस्पर असंबद्ध से जान पड़ते हैं । इसमें सिद्धराज के जीवन के अनेक प्रसंगों, अनेक घटनाओं एवं अनेक पक्षों का समावेश इसमें हुआ है । अतः खण्डकाव्य की परिधि में यह गृहीत नहीं हो सकती । खण्डकाव्य में जीवन के एक प्रसंग, एक घटना अथवा एक ही पक्ष को ही विकसित किया जाता है । इसमें वर्णित विभिन्न घटनाएं परस्पर असंबद्ध सी है । नायक सिद्धराज से वे सभी सम्बन्धित हैं, यही उनकी एक सूत्रता है । प्रबन्ध -विन्यास की दृष्टि से यह रचना असफल कही जानी चाहिए। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे 'कार्य-काव्य कहा है'[1]।

शबरी (१९३६ ई०) इसके रचयिता कवि बचनेश है । ७६ पृष्ठों की यह एक लघु रचना है । प्रारंभ विनय प्रसाद और उपसंहार के अंशों को छोड़कर शेष कथा भाग पूर्वानुराग, परिचय, तिरस्कार, आपत्ति, विरहोन्माद, मिलन और माधुर्य इन सात शीर्षकों में विभक्त है । इसकी रचना के माध्यम से कवि ने प्रेम और अछूतोद्धार की व्यंजना की है । शबरी की कथा का आधार पौराणिक है। उसकी गणना भक्त-नारियों में होती है । उसको आश्रय बनाकर लिखी गयी इस रचना का स्वरूप भी एक - भक्त-चरित्र की ही है । कथा के सुसम्बद्ध विकास पर इसमें कवि की दृष्टि नहीं है । कथा का तत्व इस रचना में अत्यन्त क्षीण है । शबरी की राम-दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा और भक्ति-विह्वलता इसमें प्रधानता से व्यंजित हुई है । अतः इसे खण्डकाव्य की संज्ञा देना समीचीन नहीं जान पड़ता ।

रानी दुर्गावती(१९३८ ई०) इसके रचयिता देवीदयाल चतुर्वेदी "मस्त" हैं । "झांसी की रानी" की शैली इसमें अपनाई गई है यह सुगेय है । इसमें वीर-पूजा की भावना प्रधान है । इसकी कथा सहानुभूति पूर्ण शैली में कही गयी है । सरस वर्णन और प्रसंग भी मिल जाते हैं । किन्तु पूर्ववर्ती श्रेष्ठ कवियों की भाव भाषा को खुलकर अपनाया गया है । निम्नलिखित अवतरणों में महादेवी वर्मा के गीतों

१- देखिए, वाङ्मय-विमर्श, ~~पृष्ठ संख्या~~

का प्रभाव दृष्टव्य है-

प्रात समीरण तब आ कहता -
क्षण भंगुर है यह संसार ।
और बाल रवि भी हंस कहता ।
सदा न सुखमय यह संसार[१]।

\+ \+ \+

सूर्य रश्मि के चुंबन से जब शतदल पल्लव अति सोल्लास,
गद्गद होते करने लगते मलय - अनिल का अमित विलास ।
ले निज अंचल पर जब सरिता दिनकर का प्रतिबिंब ललाम ।
कल कल स्वर से गायन करती, बहती रहती है अविराम[२]।

कुल मिलाकर इसमें प्रबन्ध की गरिमा और औदात्य का अभाव है । कवि ने भूमिका में स्वयं कहा है "यद्यपि यह लम्बी काव्य गाथा खण्डकाव्य तो नहीं, क्यों कि खण्डकाव्य के कितने ही बंधनों से मैंने मुक्त रहना ही उचित समझा, फिर भी मुक्तक काव्य की भांति यदि हिन्दी संसार ने इसे अपनाया, तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा । स्वतंत्र काव्य-प्रतिभा के अभाव में लेखक की यह रचना उत्कृष्ट खण्डकाव्यों की कोटि में नहीं रखी जा सकती ।

काबा और कर्बला (१९४२ ई०)- इसके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं । काबा और कर्बला नामक ग्रंथ के उत्तरांश "कर्बला" को डा० कमलाकान्त ने खण्डकाव्य माना है । कर्बला में हुसेन के बलिदान की करुण कथा छन्दोबद्ध हुई है । किन्तु इस रचना में कवित्व का अभाव है । इसमें कथा कहना ही कवि का उद्देश्य ज्ञात होता है । काव्यत्वपूर्ण स्थलों का जो पाठक के चित्त को रमा सकें, इसमें अभाव है । इसे हम छन्दोबद्ध कथा से अधिक कुछ नहीं कह सकते । खण्डकाव्य के रूप में इसका विकास नहीं हुआ है ।

अर्जन और विसर्जन (१९४२ ई०) इसके रचयिता श्री मैथिलीशरण हैं । ये दो आख्यानक रचनाएं है इनमें सीरिया और अरब की ऐतिहासिक घटनाओं को आधार बनाया गया है । काव्योचित सरसता का इनमें अभाव है । कथा नीरस एवं इतिवृत्तात्मक

१- रानी दुर्गावती, पृ०सं० ८ ।

२- वही, पृ० सं० ९ ।

ढंग से कही गयी है। कवि का हृदय कथा के प्रसंगों के साथ बहता हुआ नहीं जान पड़ता। अतः काव्यत्व के अभाव में हम इन्हें छन्दोबद्ध कहानियां ही कह सकते हैं। खण्डकाव्य नहीं।

लक्ष्मण-शक्ति (१९४३ ई०)-इसके लेखक राजाराम श्रीवास्तव है। ८१ पृष्ठों की यह रचना चार सर्गों -युद्ध, हनुमान, रामविलाप और मोर - में विभक्त है। इस ग्रंथ को "खण्डकाव्य" की संज्ञा से लेखक ने अभिहित किया है। इसकी कथा भी खण्ड-काव्य की आवश्यकता के अनुकूल एक ही प्रसंग तक सीमित है और रामायण की कथा पर आधारित है। इसमें लेखक ने भगवान की अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य का प्रभाव अंकित करने की चेष्टा की है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में जहां मानव की प्रतिष्ठा अधिकाधिक बढ़ी है, वहां पौराणिक विश्वासों की पोषक रचनाओं को आदर मिलना कठिन है। यही कारण है कि यह रचना जनप्रिय न हो सकी। इसमें राम की अलौकिक शक्ति की पोषक ये पंक्तियां देखिए-

जिसके चितवन की करवट से
होता क्षण में युग परिवर्तन।
क्षण में हो जाता अग्निकांड
क्षण में हो जाता जलप्लावन[1]।

इसी प्रकार राम विलाप का करुण प्रसंग है जहां राम का लक्ष्मण के प्रति भ्रातृ-भाव और तज्जन्य शोक उभड़ना चाहिए वहां कवि जी राम के ऐश्वर्य गान में मस्त हैं। एक छन्द देखिए-

जो हैं अनादि, जो है अनन्त जो मध्यहीन जो है चिरायु।
क्षिति, जल पावक, आकाश मुक्त परिवर्द्धित कर सकती न वायु।
वह आज पंच भौतिक दैहिक सन्तापों से हैं सन्तापित।
वह सौख्य सिन्धु माया के वश हैं आज हो रहे शोकान्वित[2]।

इस प्रकार विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण गौण और भक्ति-भावना का प्राधान्य होने के कारण यह रचना साधारण स्तर की हो गयी है। चरित्र-चित्रण रस-परिपाक तथा भाषा-शैली आदि की दृष्टि से भी यह कृति निम्न कोटि की है।

१- लक्ष्मण शक्ति-राजाराम श्रीवास्तव पृ०सं० २।
२- वही, पृ०सं०   ।

निमाई(१९४३ ई०)- इसके रचयिता श्री अतुलकृष्ण गोस्वामी हैं और प्रकाशक प्रेम-सदन वृन्दावन । ग्रंथ के मुख पृष्ठ पर इसे "खण्डकाव्य" नाम से अभिहित किया गया है । ७७ पृष्ठों की इस रचना में ४४छंद है । इसमे केवल दो सर्गों में कथा का विभाजन हुआ है । "निमाई" "चैतन्य महाप्रभु" का नाम था । उन्हीं के पावन-चरित्र का वर्णन करने की चेष्टा उनके एक भक्त द्वारा इस ग्रंथ में की गयी है । इसमें चैतन्य महाप्रभु के जीवन की प्रसिद्ध लीलाओं का वर्णन किया गया है अतः इसमें सुसम्बद्ध कथा का अभाव है । पुनः एक घटना को आश्रय न बनाकर उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं को अंकित किया गया है । कवि ने स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ के "दोशब्द" में लिखा है "यथा साध्य प्रयत्न से भी दो सर्गों मे प्रथमांश लीलाओं का भी वर्णन नहीं हो सका है, जब कि केवल प्रमुख लीलाओं का इंगित मात्र किया गया है । अतः पांच सर्ग और लिखने की स्फूर्ति हुई है । यदि पाठकों का प्रोत्साहन मिला तो शीघ्र प्रकाशित कर निवेदन किए जायेंगे ।" कवि के इस कथन से स्पष्ट है कि उसका दृष्टिकोण केवल चरित गान का है । मुख पृष्ठ पर दी हुई "खण्डकाव्य" अभिधा लेखक के खण्डकाव्य के स्वरूप की अनभिज्ञता की परिचायक है । इस रचना का निर्माण शार्दूल-विक्रीड़ित, बसंत तिलक आदि वर्णिक वृत्तों में हुआ है । प्रियप्रवास की भाषा-शैली और छन्द योजना का इस पर प्रभाव है । इसमें कवित्व का अभाव है, पांडित्य-प्रदर्शन की चेष्टा अवश्य दिखाई पड़ती है । यह कृति विशुद्ध खण्डकाव्य की कोटि में ग्रहण नहीं की जा सकती ।

बनवास(१९४४ ई०)- "लक्ष्मण - शक्ति" के रचयिता राजाराम श्रीवास्तव की ही यह दूसरी रचना है । इसे भी मुख पृष्ठ पर खण्डकाव्य कहा गया है । इसमें राम-कथा का जो अंश ग्रहण किया गया है वह खण्डकाव्य के लिए उपयुक्त है । राम का बन गमन और चित्रकूट में भरत-मिलन राम -कथा में बड़े ही मार्मिक स्थल हैं और इस अंश को खण्डकाव्य की कथा का आधार बनाना कवि की उत्कृष्ट चयन-शक्ति का परिचायक है । किन्तु दुर्भाग्यवश कवि की भक्ति-भावना की तीव्रता इस कृति के काव्य-सौंदर्य के मार्ग में बाधक बन गई है ।

कथा के परंपरागत स्वरूप को इसमें ज्यों का त्यों रखा गया है । चरित्रों के युगानुकूल विकास की जो प्रवृत्ति आधुनिक काल की प्रबन्ध-रचनाओं में दिखाई पड़ती है उसका इसमें अभाव है । राम की भक्ति-पूर्ण महत्ता का प्रतिपादन यहां भी कवि का मुख्य लक्ष्य है । कुछ उदाहरण देखिए-

वरदान राम को विजन-भ्रमण चौदह वर्षों का निर्वासन
उनको सिंहासन-च्युत करना जिसका अणु अणु पर अनुशासन[1]।

\+ + +

उस सिंहासन की सत्ता शासित हैं सीमित काल देश
पर युग युग पर इसका शासन अनुशासित इससे ध्रुव प्रदेश[2]।

अजित (१९४६)- यह मैथिलीशरण गुप्त की रचना है । इसमें नायक के जीवन की अनेक घटनाओं का वर्णन हुआ है । इसके कथा-संगठन के बारे में कवि ने ग्रंथ के निवेदन में लिखा है "पुस्तक में वर्णित अनेक घटनाएं सच्ची हैं । उनके देश, काल और पात्र ही विभिन्न हैं । इन्हीं विशेषताओं को मैंने अपने शब्दों में एकत्र कर दिया है[3]।" यह खण्डकाव्य न होकर व्यक्ति-काव्य या पद्यबद्ध जीवन चरित है ।

तुमुल (१९४८ ई०)- इसके रचयिता श्री श्यामनारायण पांडे हैं । किन्तु यह उनकी नवीन रचना नहीं है । इसकी रचना उन्होंने "त्रेता के दो वीर" नाम से बहुत पहले की थी । इस दृष्टि से यह श्याम नारायण जी का प्रथम काव्य ग्रन्थ है । यद्यपि यह एक लघु काव्य है किन्तु नवीन रूप में इसे प्रकाशन-कला के बल पर अच्छा खासा आकार मिल गया है । इसका कथानक १९ भागों में विभक्त है, जो इसे महाकाव्य के स्तर तक पहुंचाता जान पड़ता है । किन्तु इसके ये विभाग सामान्यत १०-१२ छन्दों से अधिक बड़े नहीं है । ये विभाग कथा को एक क्रम से प्रस्तुत अवश्य करते हैं किन्तु परस्पर सुसम्बद्ध नहीं प्रतीत होते ।

इसमें लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध के कई प्रसंगों को कवि ने उठाया है । उसने मेघनाद के पक्ष में काव्य की भूमिका में पर्याप्त सहानुभूति दिखाई है[4] किन्तु वास्तविक चित्रण में कवि मेघनाद और लक्ष्मण दोनों की महत्ता को समान रूप से उद्घाटित करता जान पड़ता है । प्रबन्ध-काव्य में नायक और प्रतिनायक की

१- बनवास, पृ०सं० ७ ।

२- वही, पृ०सं० ९५ ।

३- अजित निवेदन ।

४- देखिए, तुमुल (प्रथम संस्करण), आरम्भिक वक्तव्य पृ०सं० ५ ।

जैसी कल्पना होती है उसका तुमुल में एकदम अभाव है । "तुमुल" का नायक कौन है? यह कहना अत्यन्त कठिन है । परंपरागत मान्यता और राम एवं लक्ष्मण के पक्ष की सदाशयता के प्रति भूमिका में तीव्र आशंका व्यक्त करते हुए भी कवि काव्य-प्रवाह के बीच उसका परिचय नहीं देता । इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस कृति में यह बहुत बड़ी त्रुटि है । नायक की कल्पना के अभाव में हम किसी प्रबन्ध काव्य की कल्पना नहीं कर सकते । इस दृष्टि से तुमुल के "प्रबन्धत्व" पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है ।

इसकी शैली भी प्रबन्धकाव्योपयुक्त गरिमा से रहित है । आख्यानक गीति की प्रधान विशेषता पुनरावृत्ति इसकी शैली में भी दिखाई पड़ती है जैसे-

अपने पिता के उच्चतम अभिमान रघुनंदन हुए

कुल-कंज-कानन के लिए भास्वान रघुनंदन हुए[१], आदि

भाषा में सरलता, शोक और वीरता के भावों का प्राधान्य भी आख्यानक गीति के तत्वों के अनुकूल हैं । इसमें हरगीतिका और संस्कृत के अनेक वर्णवृत्तों का प्रयोग हुआ है । जैसे जयद्रथ-बध और प्रियप्रवास की छंद शैलियों का सामंजस्य इसमें दिखाई पड़ता है । एक ही विभाग में एक से अधिक वृत्तों का व्यवहार हुआ है । छंद परिवर्तन बहुत जल्दी जल्दी होता है । न केवल छंद ही वरन् शब्दावली और पंक्तियों की पंक्तियां जयद्रथ बध और प्रियप्रवास से ज्यों की त्यों ले ली गई है । एक एक उदाहरण पर्याप्त होगा -

अरि वृन्द का उत्थान लखकर बैठ रहना व्यर्थ है ।

बदला न लेना राम से अतिशय अधर्म अनर्थ है[२]।

तुमुल की उपर्युक्त पंक्तियां जयद्रथ बध की निम्नांकित पंक्तियों से मिलाकर देखिए-

हो जानती बातें सभी कहना हमारा व्यर्थ है

बदला न लेना शत्रु से कैसा अधर्म अनर्थ है[३]।

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियां प्रिय प्रवास से प्रभावित हैं-

सकल निशाचरों का तेज है वृद्धि पाता

क्षण क्षण लड़ने की चाह होती उन्हें है[४]

१- देखिए, तुमुल, पृष्ठ ३ । २- वही, पृष्ठ २४ ।

३- जयद्रथ बध (३९वां संस्करण) पृ०सं० १० ।

४- तुमुल पृष्ठ ४५ ।

एक दो नहीं ऐसे उदाहरणों से यह कृति भरपूर है । इस प्रकार इस कृति मे मौलिकता का अभाव है । यह कृति उस समय लिखी गयी थी जब कवि कदाचित् कवि आठवीं कक्षा का विद्यार्थी था, अतः उस अवस्था में मौलिकता का न होना ही अधिक स्वाभाविक म कहा जा सकता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य सौन्दर्य,प्रबन्ध-विन्यास, चरित्र-चित्रण और शैली आदि सभी दृष्टियों से यह रचना निम्न स्तर की है । हां, इसमें ओज पूर्ण स्थलों का निर्वाह कवि ने अवश्य सफलता के साथ किया है । फिर भी खण्डकाव्य की दृष्टि की से यह रचना सफल नहीं है, यह स्पष्ट है ।

कुरुक्षेत्र(१९४७ ई०)- इसके रचयिता श्री रामधारी सिंह "दिनकर" हैं । इसमें महाभारत युद्ध के उपरान्त युधिष्ठिर और भीष्म के वार्त्तालाप के रूप में युद्ध की समस्या पर विचार प्रस्तुत किए गए हैं । कथानक का इसमें अभाव है । अतः इसे प्रबन्ध काव्य मानना ठीक नहीं है । डा० प्रतिपाल सिंह ने बीसवीं शती पूर्वार्द्ध के महाकाव्य में इसे सफल खण्डकाव्य कह दिया है[1]। किन्तु उन्होंने इसके महाकाव्य न होने के लिए जो तर्क दिए हैं, वे ही तर्क इसके खण्डकाव्य न होने के लिए भी दिए जा सकते हैं । खण्डकाव्य में भी कथा के सुसम्बद्ध विकास और रम्य वर्णनों की आवश्यकता होती है । डा० शम्भूनाथ पाण्डेय ने इस प्रगतिवादी विचार धारा का प्रतिनिधि महाकाव्य कहा है[2]। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अपने "दिनकर और उनकी काव्य कृतियां" नामक लेख में उसे एकार्थ काव्य की संज्ञा दी है[3]। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने कुरुक्षेत्र की प्रबन्धात्मकता पर परस्पर विरोधी विचार व्यक्त किए है । किन्तु तथ्य यह है कि कुरुक्षेत्र में प्रबन्धात्मकता का नितान्त अभाव है। स्वयं दिनकर ने कृति की भूमिका में लिखा है" कुरुक्षेत्र के प्रबन्ध की एकता उसमें वर्णित विचारों को लेकर है । दर असल इस पुस्तक में मैं प्रायःसोचता ही रहा हूं । भीष्म के सामने पहुंचकर कविता जैसे भूल सी गई हो[4]। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि

१- बीसवीं शती(पूर्वार्द्ध) के महाकाव्य-डा० प्रतिपाल सिंह पृष्ठ ५५,५६ ।

२- हिन्दी काव्य में निराशावाद- डा० शम्भूनाथ पाण्डेय, पृष्ठ ३८६ ।

३- दिनकर: दिनकर और उनकी काव्य कृतियां - सं० कपिल ।

४- कुरुक्षेत्र की भूमिका ।

लेखक ने इसे प्रबन्धकाव्य के रूप में नहीं लिखा, केवल विचारों की एकता ही इसमें निहित है । किन्तु जैसा कि डा॰ नगेन्द्र ने कहा है, कुरुक्षेत्र में विचारों की एकता का भी अभाव है । इसमें युद्ध के औचित्य एवं अनौचित्य को लेकर उठने वाली उस शंका की प्रधानता है जिसने उनके मन को अस्थिर कर दिया है । "इस काव्य में कुरुक्षेत्र युद्ध का प्रतीक है, युधिष्ठिर और भीष्म कवि के तर्क और वितर्क अर्थात् विचार के दोनों पक्षों के प्रतीक है, जिनपर आरूढ़ होकर उनके मन की दुविधा समाधान की ओर दौड़ती है । युधिष्ठिर अहिंसा के प्रतीक हैं जो युद्ध को किसी भी परिस्थिति में उचित नहीं मानते हैं और भीष्म न्याय भावना के प्रतीक है जो अन्याय के दमन के लिए युद्ध को उचित ही नहीं आवश्यक भी मानते है । इन तीनों प्रतीको को लेकर दिनकर ने युद्ध से विक्षुब्ध अपने हृदय और मस्तिष्क की संकुलता से मुक्ति पाने के प्रयत्न किए हैं[१]।" इस प्रकार इस रचना को चिन्ताप्रधान काव्य कहा जा सकता है । केवल सर्ग बद्ध होने से या पौराणिक नामों को ग्रहण करने मात्र से कोई काव्य प्रबन्ध काव्य नहीं बन सकता ।

सती हाड़ी रानी (१९४८ ई॰)- इसके रचयिता ठाकुर शुकदेव सिंह "सौरभ" हैं । इसकी रचना बीस सर्गों में समाप्त हुई है । इसमें प्रारम्भ में ब्रह्म एवं शारदा का स्तवन और आह्वाहन हुआ है । "पूर्वाभास" के रूप मे सीसोदिया वंश, मेवाड़, उदयपुर, पेशोला, अर्वली और हल्दीघाटी आदि को प्रशस्ति गाई गयी हैं जो कथा की पृष्ठ भूमिका निर्माण करती है । इसमें औरंगजेब की दुर्वासना से त्रस्त रूपनगर की चंचलकुमारी मेवाड़ नरेश को पत्र व टीका भेजती है । नारी की लाज और स्वदेश के मान की रक्षा के लिए हाड़ी रानी अपने पति का वीरत्व जगाने के उद्देश्य से अपना शीश-दान करती है । वीर चूड़ावत अपनी पत्नी के शीश की माला पहन कर युद्ध भूमि को जाता है और प्रलयंकारी युद्ध करके शत्रु को पराजित करता है । अंत में वह स्वयं अपनी समाधिस्थ हो जाता है । इस कृति में वीर और करुण रस का अद्भुत सामंजस्य हुआ है । कवित्व भी उच्च कोटि का है किन्तु यह कृति विस्तृत योजना के कारण खण्डकाव्य न होकर महाकाव्य के अधिक निकट है ।

१- कुरुक्षेत्र लेख (विचार और विश्लेषण, संपा॰ डा॰ नगेन्द्र) पृष्ठ १२८ ।

अशोक(१९५० ई०)- इसके लेखक श्री रामदयाल पाण्डेय हैं । ९५ पृष्ठों की यह छोटी रचना सात सर्गों में विभक्त है । इसमें एक ही सर्ग में भिन्न शीर्षकों के साथ छंद परिवर्तन किया गया है । लेखक ने कृति के मुख पृष्ठ पर इसे खण्डकाव्य की संज्ञा से अभिहित किया है किन्तु वस्तुतः इसका कथानक खण्डकाव्य के अनुकूल नहीं है । यह अशोक के जीवन की एक नहीं प्रायः समस्त घटनाओं को समेटे हुए हैं । इसमें अनेक घटनाओं का विवरण सा प्रस्तुत किया गया है, जो अशोक के माध्यम से एक सूत्र में बंधी हुई हैं ।

कलिंग युद्ध के अवसर पर अशोक के अन्तर्द्वन्द्व से लेकर अशोक के राजगृह के पास निवास करने या सन्यास ग्रहण करने तक की घटनाओं का इसमें समावेश हुआ है । इस बीच में अशोक के मानसिक परिवर्तन, प्रजा व धर्म-पालन के लिए उसके द्वारा किये गये अनेक प्रकार के उपाय व कार्य, देश-विदेश में शांति प्रचार असंघमित्रा की मृत्यु, अशोक का शोक व उसकी बीमारी, तिष्यरक्षिता का राज-महिषी बनना कुणाल का नेत्रदान आदि अनेक घटनाएं संघटित हुई हैं । लगता है जैसे अशोक के राजत्वकाल का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना कवि का लक्ष्य है । अतः इसको हम खण्डकाव्य मानने को प्रस्तुत नहीं हैं ।

- - -

अध्याय ३

जयद्रथ-बध(रचनाकाल १९१० ई०)

राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त रचित जयद्रथ-बध आधुनिक काल का पहला खण्डकाव्य है । इस काल के खण्डकाव्यों में जितनी अधिक प्रसिद्धि इस कृति को मिली उतनी अन्य किसी को नहीं । इसका कारण इसकी भाषा का सरल और सरस प्रवाह एवं इसमें प्रयुक्त हरगीतिका छन्द का लय-माधुर्य है । जयद्रथ-बध ने आधुनिक युग की खण्डकाव्य रचना का नूतन पद्धति पर प्रवर्तन किया । आधुनिक युग के पूर्व के खण्डकाव्यों पर संस्कृत-साहित्य-शास्त्र की अपेक्षा अपभ्रंश के कथा और चरित ग्रंथों की परम्परा का प्रभाव अधिक था । किन्तु आधुनिक युग के इस प्रबन्धकाव्यमें पहली बार संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के लक्षणों का विधिवत् अनुकरण करने की चेष्टा दिखाई पड़ी और इसके अनन्तर लिखे जाने वाले खण्डकाव्यों ने जयद्रथ-बध के आदर्शों का ही अनुकरण किया । द्विवेदी युग मे लिखे गए अनेक खण्डकाव्यों पर जयद्रथबध की छाप किसी न किसी रूप में दिखाई पड़ती है । अन्याय के प्रतिकार की भावना जगाने और भारत के प्राचीन गौरव के प्रति जन समाज का ध्यान आकर्षित कर नव-जागरण का संदेश देने मे इस कृति ने पूर्ण सफलता प्राप्त की । इस दृष्टि से कुछ लोगों ने इसे आधुनिक युग की गीता तक कह डाला है । राष्ट्रीयता के प्रसार और राष्ट्रीयकवियों को प्रेरणा देने में इस कृति ने महत्वपूर्ण कार्य किया है ।

रचना-शिल्प- जयद्रथबध में महाभारत युद्ध के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रसंग -जयद्रथ बध का अर्जुन के द्वारा बध-का वर्णन किया गया है । इस खण्डकाव्य की रचना शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार हुई है । महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षण आंशिक रूप में इसमें मिलते हैं । इसका कथानक सात सर्गों में विभक्त है । खण्डकाव्य में सर्गों का विभाजन अनिवार्य नहीं है किन्तु यदि सर्गों की योजना की जाय तो उनकी संख्या आठ से कम होनी चाहिए[1]। इस दृष्टि से जयद्रथ-बध के कथानक का सात सर्गों में विभाजन भी शास्त्र सम्मत है । इसके नायक अर्जुन सद्वंश क्षत्री और धीरोदात्त गुण संपन्न है । कथानक अत्यन्त प्रसिद्ध और महाभारत से गृहीत है । अति संक्षेप में अपने इष्टदेव राम की "जयकार" मनाने के पश्चात् कवि रचना का उद्देश्य बताता और वस्तु निर्देश

१- आचार्य विश्वनाथ ने महाभारत के लिए कम से कम आठ सर्ग आवश्यक माने हैं- "नाति स्वल्पा नति दीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह(साहित्य दर्पण ६।३२०)- इससे खण्डकाव्य में आठ से कम सर्ग होने की मान्यता स्पष्ट है ।

करता है । इस प्रकार मंगलाचरण और वस्तुनिर्देश की परिपाटी का निर्वाह भी उसने किया है । इसका प्रमुख रस वीर है करूणा और शान्त इसके पोषक हैं । विभिन्न वस्तुओं और विषयों के वर्णन इसमें मिलते है । प्रकृति के वर्णन भी कैलाश-यात्रा के प्रसंग में बीच-बीच में हुए हैं । नायक अर्जुन को कथा के फल -विजय श्री- की प्राप्ति होती होती है । प्रतिनायक जयद्रथ पर नायक अर्जुन की विजय उनके चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करती है । कथा में रोचकता लाने के लिए सुन्दर संवादों की योजना की गई है । आदि मध्य और अंत का समुचित निर्वाह कर कथा को पूर्ण बनाया गया है । अभिमन्यु वध का प्रसंग प्रथम सर्ग में दिखाकर मुख्य कार्य जयद्रथ-वध- को समुचित भूमिका प्रस्तुत की गई है । द्वितीय सर्ग का शोक पूर्ण वातावरण और निहत्थे पुत्र के अन्याय पूर्वक वध किये जाने की समाचार अर्जुन को तीसरे सर्ग में अन्यायी जयद्रथ के वध की प्रतिज्ञा के लिए प्रेरित करता है । चतुर्थ सर्ग में कार्य-पूर्ति के लिए प्रयत्न आरम्भ होता है और कृष्ण की सहायता से "पाशुपतास्त्र" की प्राप्ति होती है । पंचम और षष्ठ दो सर्ग युद्ध-वर्णन में नियोजित किए गए हैं । वस्तुतः मुख्य कथा की समाप्ति यहीं पर हो जाती है । सातवें सर्ग की योजना कवि की भक्ति-भावना के आग्रह का फल है । प्रबन्ध के दृष्टिकोण से यह आवश्यक प्रतीत होता है । वस्तु संशोधन व पुनर्निमाण की ओर कवि का ध्यान नहीं गया है । हां, प्राचीन युग के वातावरण की नवीन युग के वातावरण के साथ संगीत बैठाने की चेष्टा की गई है । मोह छोडकर निष्काम कर्म न करने का भगवद्‌गीता का संदेश दुहराकर कवि ने अन्याय के प्रति शोध की भावना जगाने की चेष्टा की है । अतीत-गौरव के सहारे वर्तमान को उत्कर्ष पूर्ण बनाने का आदर्श इसमें निहित है । छंद प्रारम्भ से अंत तक एक ही है । यह हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल है। अलंकारों की योजना भी यथावस्थान मिलती है । ग्रंथ का नामकरण नायक के नाम पर न कर प्रतिनायक के नाम पर किया गया है । इसके द्वारा कवि अन्यायी के विनाश की भावना को प्राधान्य देता जान पड़ता है । तात्पर्य यह है कि जयद्रथ-वध में कवि ने शास्त्रीय लक्षणों के विधिवत् निर्वाह की चेष्टा की है ।

जयद्रथ-वध मे इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य है । कवि ने विस्तार के साथ कथा कहने की पद्धति अपनायी है । कवि हर छोटी-छोटी बात को भी वर्णन प्रवस में बताता हुआ चलता है । इस कारण अधिकांश स्थल काव्यगुणों की दृष्टि से महत्वहीन हो गए हैं । वाचकों और पाठकों को संबोधित करके परिस्थिति की गंभीरता की ओर इंगित करने की द्विवेदी युगीन प्रवृत्ति की प्रधानता इस कृति में

दिखाई पड़ती है । इसीप्रकार हां, अहह, हा! हा ! जैसे हर्ष शोकादि व्यंजक शब्दों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है । किन्तु इन समस्तत्रुटियों के होते हुए भी जयद्रथबध में कथा का प्रवाह अबाधगति से चलता है । कथानक में पूर्वापर संबंध का निर्वाह भली भांति हुआ है । काव्य-भाषा खड़ी बोली के क शैशव काल में इतने सुन्दर प्रबन्धकाव्य की रचना कवि की विलक्षण प्रतिभा की द्योतक है ।

वस्तु-विवेचन- जयद्रथबध का कथानक महाभारत के द्रोण पर्व से लिया गया है । प्रथम सर्ग की कथा का आधार द्रोण पर्व के ३५ से ५२ तक के अध्याय है और शेष सर्गों की कथा का आधार ७१ से १४६ तक के अध्याय हैं । महाभारत द्रोण पर्व के ५३वें अध्याय से ७०वें अध्याय तक की कथा को अनावश्यक समझ कर छोड़ दिया गया है ।

जयद्रथ बध की कथा में कवि ने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है । और न कोई प्रासंगिक कथाएं ही जोड़ी है । महाभारत के कथा-प्रसंगों को इसमें ज्यों का त्यों ले लिया गया है । यही कारण है कि कथा में अलौकिक और अति प्राकृत तत्वो का प्राधान्य है । अर्जुन की स्वर्ग-यात्रा, कृष्ण के अलौकिक कार्य, जयद्रथ बध के पूर्व कृष्ण कृपा से सूर्यास्त होने के बाद पुनः सूर्य दिखाई पड़ना आदि ऐसे प्रसंग है जिन पर आधुनिक पाठक को विश्वास नहीं हो सकता । कथा के ऐसे तत्वों का बौद्धिक युग के अनुकूल परिमार्जन होना चाहिए था किन्तु कवि ने कथा के परंपरागत रूप में कोई परिवर्तन उपस्थित करने का साहस नहीं किया । किन्तु फिर भी जयद्रथ बध के वर्णनों में कवि की मौलिकता की छाप विद्यमान है । कौरवों के अन्याय पूर्ण कृत्यों के सहारे कवि ने अंग्रेजों के अन्यायपूर्ण शासन की व्यंजना की है । स्थान-स्थान पर इससे संबंधित स्पष्ट संकेत कवि ने किए हैं । शास्त्रीय दृष्टि से जयद्रथ बध की मौलिकता उसकी प्रबन्ध-वक्रता और प्रकरण-वक्रता में है । आचार्य कुन्तक के प्रबन्ध-वक्रता का प्रथम भेद"मूल" रस में परिवर्तन और द्वितीय समापन -वक्रता माना है[१]। महाभारत शान्तरस का महाकाव्य है । उसके अंश विशेष को लेकर जयद्रथबध में कवि ने वीर-रस के प्रबन्ध काव्य की रचना करके मूल रस का परिवर्तन किया है जो कवि की मौलिकता का परिचायक है । इसी प्रकार नायक के चरम उत्कर्ष पर पहुंचाने वाले भाग पर ही कथा का अंत कर देना द्वितीय कोटि की प्रबन्ध-वक्रता है जयद्रथ-बध की घटना से नायक अर्जुन का उत्कर्ष चरम सीमा पर पहुंच जाता है । अ अतः इस स्थल पर कथा को समाप्त करना दूसरी कोटि कीप्रबन्ध -वक्रता है । इस

१- देखिए "वक्रोक्ति जीवितम्" आचार्य कुन्तक ४।१६-१९ ।

विशिष्ट प्रकरणों की अतिरंजना करके भी प्रबन्ध काव्य मे चमत्कार लाने की चेष्टा की जाती है[1]। इस दृष्टि से जयद्रथवध में प्रकरण बक्रता के भी दर्शन होते है । इन सबसे बढ़कर युग की आवश्यकता के अनुकूल अभिमन्यु, और अर्जुन जैसे आदर्श पात्रों के चरित्रों के माध्यम से कवि ने वीरता और कर्मठता का जो संदेश प्रचारित किया, वह इस कृति की मौलिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है ।

चरित्र-चित्रण

जयद्रथ-बध वर्णन प्रधान खण्डकाव्य है । उसमें चरित्र और घटनाएं दोनों एक दूसरे की सहायता से विकसित होते है । अर्जुन, कृष्ण, युधिष्ठिर, अभिमन्यु, उत्तरा दुर्योधन, जयद्रथ आदि के चरित्र परम्परानुकूल चित्रित हुए हैं । असत् पर सत् की विजय का आदर्श इसमें निहित है । अतः पात्र भी सत् और असत् दो कोटियों के हैं ।

अर्जुन- जयद्रथ-बध के नायक है । शास्त्रीय मर्यादा के अनुकूल वे सद्वंश क्षत्री हैं किन्तु जयद्रथवध में कृष्ण के व्यक्तित्व के सामने उनका व्यक्तित्व उभर नहीं पाता । युद्ध क्षेत्र में उत्पत्ति, पालन और प्रलय के दृश्य उपस्थित कर वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों का कार्य अकेले ही करते दिखाए जाते है । वे बरुणास्त्र से पृथ्वी फोड़ कर जल प्रकट कर देते हैं । इनसे उनके चरित्र को असीम उत्कर्ष प्राप्त होता है । किन्तु यह सब कुछ भगवान की कृपा के फलस्वरूप ही संभव हुआ है -

"क्या कार्य्य कर सकता हरे ! मैं आप अपनी शक्ति से?
है सब तुम्हारी ही कृपा, हूं नाम का ही वीर मैं,
भूला नहीं अब तक तुम्हारा वह विराट शरीर मैं[2]।

अर्जुन "नरत्व" के आदर्श हैं । "ममत्व" और मोह से ग्रस्त रहने पर उनकी भावुकता का प्रवाह यथार्थ और मनोवैज्ञानिक है । पुत्र-मृत्यु के समाचार से वे निश्चेष्ट हो जाते है और उत्तरा के वैधव्य-दुख की कल्पना कर वे अधीर हो उठते हैं । अपने पुत्र के बध में कारण स्वरूप"जयद्रथ" पर उनका रोष और उनके बध की प्रतिज्ञा स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है । कृष्ण बार-बार ज्ञानोपदेश द्वारा उनके मोह को भंग करने की चेष्टा करते हैं । किन्तु जब अभिमन्यु या उत्तरा की स्मृति अर्जुन को जाग उठती है तो वे आत्म विस्मृत हो जाते हैं । स्वप्नावस्था में कैलाश जाते हुए

१- देखिए: "वक्रोक्ति जीवितम्" आचार्य कुन्तक ४।१

२- जयद्रथ बध सर्ग ७, पृ० सं० ९० ।

अलकापुरी को उत्तर दिशा की लक्ष्मी बताते हुए अर्जुन को उत्तर दिशा से "उत्तरा" की याद आ जाती है । और वे सहसा उदास हो जाते हैं । वे तत्वज्ञानी और विवेकशील हैं । फिर भी मोह से आच्छन्न होना तो नर का धर्म है ।

धर्माचरण और सत्यानुगमन सत्पुरुषों के जीवन का चरम लक्ष्य है । वे अपने आचरण से समाज के लिए एक आदर्श छोड़ जाते हैं । सत्य धर्मावलम्बी को कुछ काल तक भले ही कष्ट और आपदाओं से ग्रस्त रहना पड़े किन्तु इनसे विचलित न होकर धैर्यपूर्वक कर्त्तव्य पालन करते रहने से अन्त में उसकी सफलता निश्चित होती है । अर्जुन का चरित्र ऐसा ही आदर्श चरित्र है । धर्म और सत्यव्रत पालन से वे कभी विमुख नहीं होते । जयद्रथ को जब वे दूसरे दिन सूर्यास्त तक मारने में असफल रहते हैं तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुकूल स्वतः गांडीव त्याग कर चिता में जलने को प्रस्तुत होते है । इस अवस्था में भी वे अपने अपूर्ण प्रण को मृत्योपरान्त दूसरे जन्म में पूर्ण करने की कामना प्रगट करते हैं:-

है इष्ट मुझको भी यही यदि पुण्य मैंने हो किये,
तो जन्म पाऊं दूसरा मै वैर-शोधन के लिए ।।
कुछ कामना मुझको नहीं है इस दशा में स्वर्ग की,
इच्छा नहीं रखता अभी मैं अल्प भी अपवर्ग की ।
हा ! हा! कहांपूरी हुई मेरी अभी आराधना,
अभिमन्यु विषयक वैर की है शेष अब भी साधना[१]।

उच्च सामाजिक गुणों का भी उनमे अभाव नहीं है । भाई युधिष्ठिर के प्रति उनका प्रेम एवं आदर भाव अगाध है । पुत्र के लिए शोक का आधिक्य उनके वात्सल्य को व्यंजित करता है और पुत्रवधू की दीन दशा का स्मरण उनके हृदय की कोमलता और सहृदयता का परिचायक है । इस प्रकार अर्जुन एक अप्रतिम वीर, और सत्य, धर्मनिष्ठ महापुरुष होते हुए भी सामान्य मानवीय गुणों से युक्त आदर्श चरित्र है

जयद्रथ- जयद्रथ प्रतिनायक है । उसके वध की प्रतिज्ञा की पूर्ति ही इस कृति का मुख्य कार्य है । इसी कार्य को लक्ष्य करके पुस्तक का नामकरण किया गया है । किन्तु जयद्रथ की कथाभाग इसमें बहुत कम है । उसका चरित्र अधिक विस्तार से चित्रित होना चाहिए था तभी वह प्रतिनायक की कोटि का चरित्र बन पाता । नायक का उत्कर्ष

दिखाने के लिए सामान्यतः प्रतिनायक में भी वीरता, साहसिकता, पराक्रमशीलता आदि गुणों की प्रतिष्ठा की जाती है किन्तु जयद्रथ को इस कृति में कायर, रण से छिपने वाला और अपनी मृत्यु से भयभीत दिखाया गया है । युद्ध में एक भी स्थल पर वह शौर्य्य प्रदर्शित करता नहीं दिखाया जाता । हां, शिव-भक्ति से उसे अर्जुन को छोड़कर अन्य किसी द्वारा अजेय होने का वर अवश्य प्राप्त था[१]। इसी कारण उसे अर्जुन की टक्कर का प्रतिनायक भले ही स्वीकार कर लें । जयद्रथ ने अभिमन्यु का वध नहीं किया था । अर्जुन की प्रतिज्ञा का कारण यह था कि जयद्रथ ने अन्य पाण्डव योद्धाओं को अभिमन्यु की रक्षा के लिए व्यूह के अन्दर प्रविष्ट नहीं होने दिया था जयद्रथ के युधिष्ठिर भीमादि के साथ किए गए इस युद्ध को किंचित् विस्तार के साथ प्रस्तुत कर कवि जयद्रथ के बल-शौर्य्य आदि का परिचय दे सकता था, किन्तु ऐसा नहीं हुआ । उसकी सूचना मात्र युधिष्ठिर द्वारा अर्जुन को इस प्रकार दी गई है-

उद्योग हम सबने बहुत उसके बचाने का किया,
पर खल जयद्रथ ने हमें भीतर नहीं जाने दिया[२]।

सच पूछिए तो व्यूह के अन्दर भीमादि को न जाने देना कोई अन्याय नहीं है। द्वार की रक्षा करना उसका कर्तव्य था । अन्याय तो सामूहिक रूप से कौरव दल ने निःशस्त्र अभिमन्यु को मार कर किया । जयद्रथ तो उन मारने वाले सप्त महारथियों में भी सम्मिलित नहीं था । इस दृष्टि से जयद्रथ पर अर्जुन का क्रोध अकारण था । सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर कवि ने मृतक अभिमन्यु के सिर पर जयद्रथ द्वारा पैर रखने के प्रसंग की कल्पना कर उसके अमानवीय व्यवहार का परिचय दिया है[३]।

जयद्रथ का अर्जुन की प्रतिज्ञा से भयभीत होकर दुर्योधन के पास घबड़ाकर जाना उसकी कायरता का सूचक कहा जा सकता है -

कर्तव्य अपना इस समय होता न मुझको है ।
भय और चिन्ता-युक्त मेरा जल रहा सब गात है ।
अतएव मुझको अभय देकर आप रक्षित कीजिए,
या पार्थ-प्रण करने विफल अन्यत्र जाने दीजिए[४]।

१- जयद्रथ वध पृ० १३ सर्ग । २- वही, पृ० ३२, सर्ग २ ।
३- वही, पृ० ३२, सर्ग २ । ४- वही, पृ० ४१ सर्ग ३ ।

वह आसन्न मृत्यु से आतंकित है किन्तु फिर भी दुर्योधन की चापलूसी करने और उसका वरद हस्त पाने के लिए छल पूर्ण वचन कहता है-

मैं सत्य कहता हूं, नहीं है मृत्यु की शंका मुझे,
सब दीप्त जीवन-दीप बुझते हैं, बुझेंगे, हैं बुझे।
है किन्तु मुझको चित्त में चिन्ता प्रबल केवल यही,
अब देख पाऊंगा तुम्हारी मैं न निष्कण्टक मही[१]।।

कुरुराज के आश्वासन और उसकी मंत्रणा के अनुकूल वह दूसरे दिन कर्णादि योद्धाओं के पीछे छिपा रहता है किन्तु सूर्यास्त होने के बाद दुर्योधन के कहने से वह अर्जुन के समक्ष प्रगट होकर उनसे व्यंग्य-वचन कहता है, जो उसकी धृष्टता और निर्लज्जता के परिचायक हैं।

वह असत् पात्रों की कोटि मे आता है और अन्त में उसे अपने पापाचरण का परिणाम भोगना पड़ता है।

श्रीकृष्ण- श्रीकृष्ण महाभारत के सूत्रधार कहे जाते हैं। जयद्रथ-बध में उन्हें उसी रूप में चित्रित किया गया है। यद्यपि वे नायक अर्जुन के सारथी हैं किन्तु पाण्डवों की रणनीति के प्रवर्तक हैं। वे विष्णु के अवतार हैं। उनके लिए जनार्दन, श्रीवत्स ला-छन, विष्णु, अच्युत, माधव, हरि, भगवान, रमेश, स्वभू, मुकुन्द आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। पाण्डव पक्ष का प्रत्येक व्यक्ति (पुरुष या स्त्री) उनकी सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता और अलौकिक शक्ति में आस्था रखता है। द्रोण, भीष्म, आदि कौरव पक्ष के सेनापति भी कृष्ण के लिए ऐसे ही भाव रखते हैं। अर्जुन के तो वे एकमात्र अवलम्ब हैं ही। इस प्रकार सम्पूर्ण घटनाओं पर कृष्ण का व्यक्तित्व छाया हुआ है। गीता के निष्काम कर्म योग का संदेश कृष्ण इसमें भी सुनाते दिखाई देते है। अभिमन्यु की मृत्यु के बाद पाण्डव पक्ष में शोक का साम्राज्य छा जाता है। उत्तरा का विलाप-प्रलाप, युधिष्ठिर की अधीरता, सुभद्रा और द्रोपदी का चीत्कार पर्वतों को भी हिला देने वाला सिद्ध होता है[२]। उस शोक प्रवाह की गति को संयत करने उसकी दिशा परिवर्तित करने का श्रेय एकमात्र कृष्ण को है।

कृष्ण की शरणागत वत्सलता और भक्त को आपदाओं से मुक्त करने की

१-जयद्रथ बध, पृ० सं० ४१, सर्ग ३। २- वही, पृ० ३३, सर्ग २।

चिन्ता चतुर्थ सर्ग में दिखाई देती है जब कृष्ण अर्जुन की कठिन प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए व्यग्र होते हैं और अपनी अलौकिक शक्ति से योगमाया को जगाकर अर्जुन को पाशुपतास्त्र की प्राप्ति कराने के हेतु कैलाश पर ले जाते हैं[१]। अर्जुन विस्मय में पड़ कर किंकर्त्तव्य रह जाते हैं और कृष्ण इस प्रकार उनके मोह का नाश कर देते हैं। वे कहते हैं-

संसार में सब प्राणियों का देह तक सम्बन्ध है,
पड़-मोह -बंधन में मनुज बनता स्वयं ही अन्ध है।
तनुधारियों का बस यहां पर चार दिन का मेल है,
इस मेल के ही मोह से जाता बिगड़ सब खेल है।
सम्पूर्ण दुःखों का जगत में मोह ही बस मूल है।
भावी विषय पर व्यर्थ मन में शोक करना भूल है।
निज इष्ट साधन के लिए संसार-धारा में बहे,
पर नीर से नीरज सदृश उससे अलिप्त बना रहे[२]।

शिव के निकट पहुंच कर कृष्ण उनसे उचित सम्मान पाते हैं। इसी प्रकार सूर्यास्त के समय पश्चिम दिशा को मेघमंडित दिखाकर पुनः उसे घन -मुक्त कर अर्जुन की प्रतिज्ञा पूर्ति में सहायता पहुंचाना उनकी अलौकिक शक्ति का ही परिचायक है।

जयद्रथ बध का लक्ष्य असत् पर सत् की विजय दिखाना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में कृष्ण चरित्र का महत्वपूर्ण योग है। किन्तु उनके चरित्र के उपर्युक्त अलौकिक और अतिप्राकृत तत्व काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर बाधक ही अधिक सिद्ध हुए हैं। कृष्ण का अलौकिक चरित्र इस काव्य की संपूर्ण घटनाओं पर इस प्रकार छाया हुआ है कि उसके आवरण को हटाते ही कथा शक्ति हीन प्रतीत होने लगती है। नायक अर्जुन का स्वतंत्र व्यक्तित्व और शौर्य-पराक्रम भी कृष्ण के प्रभाव से उभर नहीं पाता। अतः कृति का कलात्मक सौन्दर्य फीका पड़ जाता है। आधुनिक बुद्धिवादी पाठक अलौकिक कृत्यों और असामान्य बातों पर विश्वास नहीं करता भले ही वे दैवी पुरुषों के आश्रय से क्यों न घटित हुई हों। ये अतिप्राकृत घटनाएं काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर उसके प्रभाव को कम करने वाली सिद्ध होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण के चरित्र निर्माण में गुप्त जी के कवि ने

१- जयद्रथ बध, पृ० सं० ५२, सर्ग ४। २- वही, पृ० सं० ५, सर्ग ।

कलात्मक दृष्टि की अवहेलना कर अपने आस्तिकतापूर्ण वैष्णव संस्कारों को ही प्रश्रय दिया है। हां, पाण्डवों की रणनीति के प्रवर्तक, अर्जुन के सारथी और पाण्डव परिवार के हित चिन्तक के रूप में उनका योग कथा विकास में सहायक सिद्ध हुआ है अभिमन्यु बध के उपरान्त शोक-सन्तप्त पाण्डव परिवार की निष्चेष्टता के अवसर पर कथा का प्रवाह एकाएक स्तब्ध सा हो जाता है। कृष्ण का सबल व्यक्तित्व ही उसे शोक-प्रवाह को उत्साहोन्मुख कर कथा की गति को अग्रसर करता है।

वर्णन

युद्ध- जयद्रथ बध में युद्ध का वर्णन दो बार हुआ है। प्रथम सर्ग में अभिमन्यु चक्रव्यूह भंग करने के लिए कौरव सेना के साथ युद्ध करता है और कौरव वीरों के हाथों अन्यायपूर्वक मारा जाता है। द्वितीय युद्ध अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए अर्जुन के द्वारा ह कौरव सेना के साथ छिड़ता है और जयद्रथ के बध के साथ समाप्त होता है। यह युद्ध पांचवे और छठे दो सर्गों तक चलता है। जिसमें दोनों पक्षों के अनेक योद्धा भाग लेते हैं।

गुप्त जी के युद्ध वर्णन की विशेषता यह है कि वे युद्ध के दृश्य-चित्रों के साथ-साथ योद्धाओं के आंतरिक भावों और उमंगों का भी परिचय देते चलते हैं। जब दो वीर योद्धा एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध करने के लिए सम्मुख होते हैं तो उनके प्रायः एक संक्षिप्त संवाद की योजना की जाती है। ये संवाद साभिप्राय और व्यंजक होते हैं साथ ही युद्ध की गति को तीव्रता भी प्रदान करते हैं।

युद्ध की भीषणता का प्रभाव अंकित करने के लिए कवि अनेक युक्तियों का आश्रय लेता है। कभी वह देवासुर संग्राम अथवा कार्तिकेय, इन्द्र, राम, परशुराम, शिव, हनूमान आदि देवताओं के द्वारा लड़े गए अतीत कालीन युद्धों से उन्हें उपमित करता है, कभी आलंकारिकता का आश्रय लेकर प्रचंड बाण वर्षा करने वाले वीर को कल्पान्त के प्रचंड सूर्य से उपमित कर उसकी बाण वर्षा को तीक्ष्ण किरण जाल की भांति संतप्त करने वाला बताता है[1]। कभी वह वाचकवृन्द को संबोधित कर अपनी ओर से शस्त्रों की भयंकरता या परिस्थिति की गंभीरता का विस्मयादि बोधक शब्दों या भावोच्छ्वासों द्वारा प्रतीति कराता चलता है और कभी रथ की तेजी या बाण चलाने की योद्धाओं की फुर्ती का बिम्ब ग्रहण कराने की चेष्टा

१- जयद्रथ-बध, पृ० सं० ११, सर्ग ।

करता है । इसी प्रकार कभी कभी आहत व्यक्तियों, रुण्ड-मुण्डों और योद्धाओं की युद्ध-क्रीड़ाओं की कौतुकपूर्ण छवियां अंकित करने का भी प्रयास करता है ।

पाण्डव योद्धाओं के युद्ध कौशल के चित्र देने में ही कवि की वृत्ति विशेष रमी है । युद्ध के उपकरणों में धनुष, बाण, रथ, सारथी, घोड़े, हाथी, कवच आदि प्रमुख हैं, कहीं-कहीं गदा, कृपाण, चक्र आदि का प्रयोग भी मिलता है । वरुणास्त्र, आग्नेयास्त्र, शक्ति, पाशुपतास्त्र, दिव्यास्त्र आदि के प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलते हैं । आक्रामक और सुरक्षात्मक दोनों प्रकार के युद्ध कौशल का वर्णन हुआ है । अभिमन्यु, अर्जुन आदि योद्धा अत्यन्त फुर्ती के साथ बाण छोड़ते हैं । उनके तरकस से तीर खींचने, प्रत्यंचा पर चढ़ाने और कान तक तानकर उसे छोड़ने की क्रियाएं अलग अलग नहीं देखी जा सकती, वे अपने बाणों की झड़ी लगाकर विरोधी को आच्छादित कर देते हैं । सुरक्षात्मक युद्ध में विरोधी के बाणों व अन्य अस्त्रों को मार्ग में ही बाण द्वारा खण्डित करने की क्रिया विशेष रूप से चित्रित हुई है ।

कहीं-कहीं पर दो विराट् योद्धाओं के परस्पर भिड़ने का दृश्य कवि विराट् उपमाओं के द्वारा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है । दुर्योधन जब अर्जुन से लड़ने जाता है तो लगता है जैसे साक्षात् विन्ध्याचल आकाशसे लड़ने को उद्यत हो[१]। इसी प्रकार भूरिश्रवा, सात्यकि के विशुद्ध ~~बक्क~~ बाहु टकराने या युद्ध को कवि ने दो सपक्ष पर्वतों के युद्ध से उपमित किया गया है[२]।

युद्ध करते हुए योद्धाओं की हास, क्रोध और उत्साहपूर्ण मुख मुद्राओं के विभिन्न चित्र इसमें मिलते हैं ।योद्धाओं के समक्ष आने वाली विभिन्न स्थितियों जैसे रथ का मार्ग अवरुद्ध हो जाना, सामने से मार्ग ने मिलने पर दायें या बायें पार्श्व से आगे बढ़ना, विरथ होने पर दूसरा रथ लेना, अपने पक्ष के योद्धा को पराजित होते देख सहायतार्थ उसके पास पहुंच जाना आदि अवस्थाओं के चित्र मिलते हैं । कभी कभी युद्ध के अत्यन्त रोमांचकारी दृश्य उपस्थित होते हैं । भीम द्रोण के रथ को गेंद की भांति आकाश में उछाल कर व्यूह के भीतर घुसते हैं । चारों ओर हाहाकार छा जाता है, द्रोण के उद्धार की आशा नहीं रहती । वृद्ध गुरु बीच में ही रथ से कूद कर दूसरे रथ पर चढ़ते हैं किन्तु पुनः भीम उन्हें अत्यन्त क्रोधित होकर उसी प्रकार फेंकते हैं[३]।

१-३: जयद्रथ-वध॰ पृ॰ सं॰७०, सर्ग ५, पृ॰ सं॰ ७७,सर्ग ६, पृ॰ सं॰ ७३-७४,सर्ग ५ ।

युद्ध मे योद्धा कभी-कभी अपने विरोधी शत्रु को वध करने का अवसर पाकर भी किसी दैवी वरदान या प्रतिज्ञा आदि का स्मरण कर नहीं मारते । युद्ध के नियमों का पालन प्रायः हुआ है । जहां नियम का उल्लंघन हुआ वहीं विरोधी पक्ष की ओर से उसका प्रत्याख्यान कराया गया है । कौरवों की सेना के भयभीत होकर भागने और आतंकग्रस्त होने का वर्णन भी कुछ स्थलों पर मिलता है । वस्तुतः जयद्रथ-बध का युद्ध-वर्णन महाभारत के युद्धवर्णन से प्रभावित है किन्तु बीच-बीच में पात्रों की वीरोक्तियां और गर्वोक्तियों मे कवि की मौलिकता दिखाई पड़ती है ।

प्रकृति-वर्णन

विराट् प्रकृति के आह्लादकारी चित्र जयद्रथ बध में कैलाश-गमन के प्रसंग में चित्रित हुए है । प्रकृति के इन रमणीय रूपों के आनन्द में मग्न होकर अर्जुन अपने शोक को भूल जाता है । सृष्टि के विराट् रूपों में उन्हें भगवान् का नित्य नूतन सौंदर्य दिखाई पड़ता है । वात्सल्य-मयी प्रकृति के प्रति कवि का सहज स्नेह नीचे की पंक्तियों में फूट पड़ा है-

आकाश में चलते हुए यों छबि दिखाई दे रही,
मानों जगत को गोद लेकर मोद देती है मही,
उन्नत हिमाचल से धवल यह सुरसरी यों टूटती,
मानों पयोधर से धरा के दुग्ध-धारा छूटती[१]।

उपर्युक्त पंक्तियों में उत्प्रेक्षा का आश्रय लेकर कवि विराट् प्रकृति का वात्सल्यमय रूप चित्रित करता है आगे प्रकृति के शान्त-स्निग्ध वातावरण में रजनी-बधू को सांग रूपक के सहारे श्वेताभिसारिका के रूप में चित्रित किया गया है[२]।

रजनी की निस्तब्धता का यथार्थ चित्र कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय देता है । यहां वृक्ष मन्द मारुत के द्वारा परस्पर सजगता की कथा कहते हैं, वे विश्व के प्रहरी जो हैं-

खग वृन्द सोता है अतः कलकल नहीं होता जहां,
बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है खोता जहां ।
इस भांति धीरे से परस्पर कह सजगता की कथा,
यो दीखते हैं वृक्ष ये हों विश्व के प्रहरी यथा[३]।

१- जयद्रथ बध, सर्ग ४, पृ० ४९ । २- वही, सर्ग ४, पृ० ४९ ।
३- वही, सर्ग ४, पृ० ५१ ।

इस प्रकार कैलाश-वर्णन के प्रसंग में आए हुए प्रकृति-चित्र इस कृति में अनूठे बन पड़े हैं ।

प्रभात- अर्जुन के कैलाश-यात्रा से शिविर में लौटते समय रात्रि बीत चुकी थी । इस अवसर पर कवि ने प्रभात का सवाक् चित्र प्रस्तुत किया है । प्राची दिशा का द्युतिपूर्ण होना, नूतन पवन के मिस प्रकृति का सांस लेना, श्यामा और कुक्कुट का स्वर, आकाश का मोती बिखेरना, राक्षस, उलूकादि का छिपना, तारागणों का विलीन होना, सूर्योदय के पूर्व ही अंधकार का नाश होना आदि उपकरणों के सहारे चित्र को पूर्णता प्रदान की गयी है । यह वर्णन ध्वनिपूर्ण है जिससे पाण्डवों के भाग्योदय और दुष्काम के नाश की व्यंजना हुई है[1]।

अलकापुरी के मणिमय मंदिरों से उठती हुई मधुर गंध व अपनी प्रियाओं के सहित रसमग्न होकर गाते हुए यक्षों के दृश्य हृदयस्पर्शी हैं । कवि उसे उत्तर की लक्ष्मी बताकर अर्जुन के मन में पुनः उत्तरा की स्मृति को जगा देता है । वस्तुतः वर्णनों के साथ कथा का सामंजस्य स्थापित करने की कला में कवि निपुण है ।

बैकुण्ठ-वर्णन- बैकुण्ठ को कवि ने दिव्य आभा से सम्पन्न दिखाया है । उसमें आधुनिक युग के आदर्श नगर की भांकी ही कवि ने प्रस्तुत की है किन्तु उसमें कुछ विलक्षणता अवश्य दिखाई पड़ती है । एक उदाहरणदेखिए-

सब लोग अजरामर वहां के रूपवान विशेष थे,
बलवान, शिष्ट-वरिष्ट, जिनके दृग सदा अनिमेष थे ।
सब अंग सुगठित श्रेष्ठ सबके, स्वर्ण वर्ण अशेष थे,
वर्णन किये जाते नहीं, वैसे मनोहर वेष थे[2]।

बैकुण्ठ की कल्पना यहां परम्परागत विश्वासों के अनुकूल ही की गई है किंतु वह धरती के आदर्श स्वरूप से भिन्न नहीं है । बैकुण्ठ विष्णु का वास स्थान है । अतः भक्त के हृदय में उसके लिएक एक दिव्य-कल्पना का होना स्वाभाविक ही है । लक्ष्मी सहित विष्णु के रत्नजटित सिंहासन पर विराजमान होने का चित्र अत्यन्त वैभवपूर्ण है[3]।

रस और भाव-व्यंजना

जयद्रथ-वध का प्रमुख रस वीर है जिसकी अभिव्यक्ति अभिमन्यु और अर्जुन के युद्ध-वर्णन के प्रसंगों में हुई है । दोनों ही वीर रस के आश्रय हैं और आलम्बन है

१- जयद्रथ-वध, पृ०सं०५७-५८ । २-वही, पृ०सं०५१, सर्ग४ ।
३- वही, पृ० सं० ५३, सर्ग ४ ।

विपक्षी दल या कौरव सेना।अभिमन्यु के प्रसंग में चक्रव्यूह रचना, पाण्डव दल के योद्धाओं का उसको भंग करने में असफल रहना, तथा पाण्डवों की चिन्ता आदि उद्दीपन हैं मति, धृति, गर्व आदि संचारी भाव हैं। गर्वोक्तियां अनुभाव हैं। इन सभी अंगों से पुष्ट होकर अभिमन्यु का स्थायी उत्साह वीर रस में निष्पन्न होता है। अर्जुन का वीरत्व करुणा प्रेरित है। पुत्र अभिमन्यु का शत्रुओं द्वारा अन्याय पूर्वक वध उनके उत्साह भाव को उद्दीप्त करता है। शत्रु आलम्बन है तथा शोक-संतप्त परिवार का विलाप-प्रलाप व कृष्ण का ज्ञानोपदेश आदि उद्दीपन हैं। जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा, तथा गर्वोक्तियां अनुभाव हैं। धृति,मति,गर्व,हर्ष आदि संचारी भाव हैं। अर्जुन के प्रसंग में अनेक स्थलों पर उनके क्रोध की व्यंजना हुई है। जैसे निम्नांकित पंक्तियों में-

उस काल मारे क्रोध के तनु कांपने उनका लगा,
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।
मुख बाल-रवि-सम लाल होकर ज्वाला-सा बोधित हुआ,
प्रलयार्थ उनके मिस वहां क्या काल ही क्रोधित हुआ[1]।

किन्तु वीर और रौद्र दो भिन्न प्रकृति के रस हैं। वीर उत्तम प्रकृति का है। उत्तम प्रकृति वाले नायक में क्रोध आदि हीन भावों की अवस्थिति शास्त्रीय दृष्टि से संभव नहीं है। अतः उपर्युक्त क्रोध को स्थायी न मानकर तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में ही माना जा सकता है। अर्जुन का स्थायी भाव उत्साह है जो अन्यायी कौरवों के विनाश क्रिया में व्यंजित हुआ है। अर्जुन की निम्नांकित गर्वोक्ति में वीर रस की सुन्दर व्यंजना हुई है-

उस खल जयद्रथ को जगत में मृत्यु ही अब सार है,
उन्मुक्त बस उसके लिए रौरव नरक का द्वार है।।
तज धार्तराष्ट्रों को सवेरे दीन होकर जो कहीं,
श्रीकृष्ण और अजातरिपु के शरण वह होगा नहीं,
तो काल भी चाहे स्वयं हो जाय उसके पक्ष में,
तो भी उसे मैं वध करूंगा प्राप्त कर शर-लक्ष में।।
सुर, नर, असुर, गन्धर्व, किन्नर आदि कोई भी कहीं,
कल शाम तक मुझसे जयद्रथ को बचा सकते नहीं[2]।

१- जयद्रथ-वध(३१वां संस्करण) सर्ग १, पृष्ठ सं० १६।
२- वही, सर्ग १, पृ० ३८।

वीर रस की पृष्ठ भूमि में करुण की योजना हुई है । करुण प्रधान रस नहीं है किन्तु दूसरे और तीसरे सर्ग मे उसका विस्तृत वर्णन मिलता है । शास्त्रीय दृष्टि से अप्रधान रस को विस्तार देने मे भले ही रस-दोष माना जाय किन्तु अर्जुन के वीरत्व को उद्बुद्ध करने की परिस्थिति की सुन्दर योजना इसके द्वारा हुई है । करुण रस चित्रण कवि का प्रिय विषय है अतः ऐसे स्थलों का निर्वाह कवि ने सफलता के साथ किया है । अभिमन्यु के कौरवों द्वारा अन्यायपूर्वक बध से समस्त पाण्डव -परिवार शोक सागर में निमग्न हो जाता है । युधिष्ठिर, अर्जुन, सुभद्रा, द्रौपदी आदि सभी पर बज्रपात होता है किन्तु उत्तरा का करुण क्रन्दन कठोर से कठोर पाठक को भी विचलित कर देता है । कृष्ण भी इस करुण प्रवाह से द्रवित हो उठते हैं ।

उत्तरा -विलाप में उत्तरा के साथ पाठक का तादात्म्य होता, है । उसका शोक इष्ट नाश(पति की मृत्यु) जनित है । अभिमन्यु का व्रण-पूर्ण, निष्प्रभ एवं शोनित पंक से आच्छादित शव विभाव, अश्रुपात, भूमि पर गिरना, सिर और छाती पीटना, एवं विलाप-प्रलाप आदि अनुभाव हैं । दैन्य, आवेग, स्मृति, आदि संचारी हैं । संचारियों के द्वारा करुण रस की व्यंजना निम्नांकित छन्दों में देखिए-

हे प्राण ! फिर अब किसलिए ठहरे हुए हो तुम अहो !
सुख छोड़ रहना चाहता है कौन जन दुख में कहो?
अपराध सौ सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे,
हंसकर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे[1]। (आवेग-स्मृति)

पति के साथ जल मरने का औत्सुक्य शोक के संचारी के रूप मे आया है-

तज दो भले ही तुम मुझे, मैं तज नहीं सकती तुम्हें,
वह थल कहां पर है जहां मैं भज नहीं सकती तुम्हें?
है विदित मुझको वह्नि -पथ, त्रैलोक्य में तुम हो कहीं,
हम नारियों को पति-बिना गति दूसरी होती नहीं[2]।।
चित्रस्थ-सी, निर्जीव मानो, रह गई हत उत्तरा[3]। (मरण)

\+ \+ \+

संज्ञा रहित तत्काल ही फिर वह धरा पर गिर पड़ी[4]।(अपस्मार)

१- जयद्रथ बध, द्वितीय सर्ग, पृ० १९ । २-वही, पृ० २२-२३ ।
३- वही, पृ०२१, सर्ग २ । ४-वही, पृ० २१, सर्ग २ ।

जो साथिनी होकर तुम्हारी थी अतीव सनाथिनी,

है अब उसी मुझ-सी जगत में और कौन अनाथिनी[1]।

वैधव्य के दैन्य को विरोधाभास अलंकार के सहारे कवि सफलता से व्यंजित करता है-

हा ! नेत्र-युत भी अन्ध हूं, वैभव सहित भी दीन हूं,

वाणी-विहित भी मूक हूं, पद-युक्त भी गतिहीन हूं[2]।

सुभद्रा, द्रौपदी आदि के आहत वात्सल्य के चित्र भी अत्यन्त मार्मिक है। सुभद्रा की अवस्था मृतक वत्सा गऊ के समान है बताकर कवि ने चित्र-सा खड़ा कर दिया है[3]? वह अभिमन्यु की सर्वगुण सम्पन्नता और अपनी भाग्यहीनता पर रोती है कृष्ण के प्रति उसके मार्मिक उपालम्भ हृदय विदीर्ण करने वाले हैं-

भैया, तुम्हें क्या विश्व मेंमुझको दिखाना था यही?

हा ! जल गया यह हत हृदय, दृग-ज्योति सब जाती रही !

तव काल गति के मार्ग में अभिमन्यु ही था क्या अहो?

करुणानिधे, करुणा तुम्हारी हाय यह ! कैसी कहो[4]?

विरदुःखिनी द्रौपदी की अधीरता और शोकाकुलता का एक चित्र देखिए-

अभिमन्यु को मृत देखकर भी हाय ! मैं जीती रही,

हा । क्यों न मुझ हतभागिनी के अर्थ फट जाती मही ।

दुख भोगने के ही लिए क्या जन्म है मेरा हुआ ।

हा ! कब रहा जीवन न मेरा शोक से घेरा हुआ[5]?

वह पाण्डवों की शूरवीरता और शस्त्र-धारण क्रिया को भी धिक्कारने लगती है । उसकी यह झुंझलाहट स्वाभाविक ही है ।

युधिष्ठिर का पश्चाताप उन्हें अधीर कर देता है वे उस सुकुमार बालक को युद्ध में भेजकर जो भूल करते हैं उसी का फल उन्हें इस रूप में मिला है- यह सोचकर वे विचलित हो जाते हैं । वे समस्त परिवार के दुःख का कारण बने-विशेषकर उत्तरा का सर्वस्व उन्होंने लूट लिया अतः उनका हृदय रह-रहकर पश्चाताप से भर न्हि उठता है[6]।

१- जयद्रथ-वध, पृ०सं०२४ । २-वही, पृ०सं०२६ ।३-वही, पृ०सं०४३ ।
४-वही, पृ०सं०४३ । ५-वही, पृ० सं०४५ । ६-वही, पृ०सं०२८ ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जयद्रथ वध में कवि ने विभिन्न रसों के निर्वाह में शास्त्रीय पद्धति का सहारा लिया है और उसमें उसे पूर्ण सफलता भी मिली है। किन्तु द्वितीय और तृतीय दो सर्गों तक चलने वाला करुण प्रसंग अंगीरस को अप्रधान करके स्वयं प्रधान हो चुका है। अतः इसमें "अंगिनो नुसंधानमनंगस्य च कीर्तिनम्[1]" का दोष उत्पन्न हो गया है।

भक्ति और दर्शन

कवि की वैष्णव भक्ति-भावना अनेक स्थलों पर प्रस्फुटित हुई है। इस भक्ति के आलम्बन है भगवान् कृष्ण जिन्हें परब्रह्म का अवतार माना गया है और आश्रय हैं प्रधान तथा अर्जुन तथा सामान्यतः युधिष्ठिर, अभिमन्यु, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा आदि पाण्डव पक्ष के अन्य पात्र।

कवि के मतानुसार चराचर सृष्टि उसी परब्रह्म का विकसित रूप है। वह सर्वशक्तिमान और विश्व के रंग-मंच का सूत्रधार है। सांसारिक जीव-मनुष्य की शक्ति अत्यन्त सीमित है। वह विधाता के हाथ की कठपुतली है। मनुष्य का कर्तव्य है अहं भाव का त्याग कर अपने आपको भगवान के चरणों में न्यौछावर कर दे- और फलकी आकांक्षा त्याग कर कर्म करें। वस्तुतः जयद्रथ वध में भगवद्गीता के उपदेश का निचोड़ कवि ने उठाकर रख दिया है। यह कृति मोह का नाश कर कर्म की प्रेरणा देने में श्रीमद्भगवद्गीता के समान ही महत्वपूर्ण है। पं० गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश ने लिखा है- "साकेत को छोड़कर "जयद्रथ वध" ही एक ऐसा काव्य है जिसमें गुप्त जी ने गीता के दार्शनिक तत्वों को कला की सम्पत्ति बनाने में सफलता प्राप्त की है[2]।" कृष्ण के द्वारा कही हुई ये पंक्तियां देखिए-

संसार में सब प्राणियों का देह तक सम्बन्ध है,
पड़ मोह-बन्धन में मनुज बनता स्वयं ही अन्ध है,
तनुधारियों का बस यहां पर चार दिन का मेल है,
इस मेल के ही मोह से जाता बिगड़ सब खेल है।।

सम्पूर्ण दुःखों का जगत में मोह ही बस मूल है,
भावी विषय पर व्यर्थ मन में शोक करना भूल है।
निज इष्ट साधन के लिए संसार-धारा में बहे,
पर नीर से नीरज सदृश उससे अलिप्त बना रहे[3]।

1- देखिए साहित्य दर्पण, आचार्य विश्वनाथ । 2-गुप्त जी की काव्यधारा, पृ० 157-158 ।
3- जयद्रथ वध सर्ग 4, पृ० 55 ।

संसार में रहते हुए भी सुख दुख से निर्लिप्त रहना और कर्म में तत्पर रहना ही तो आदर्श जीवन है-

होता जहां पर सौख्य है दुख भी वहां अनिवार्य है,
करती प्रकृति अविराम अपना नियम पूर्वक कार्य है ।
सुख-दुख-विचार-विहीन तुमको कर्म का अधिकार है,
संसार में रहना नहीं, पाना अचल उद्धार है[१]।

भगवान भक्त वत्सल हैं अपने भक्त को संकट में पड़ा देखवे स्वयं विह्वल हो जाते हैं । भक्त के कल्याण के लिए वे सदैव तत्पर रहते हैं । अर्जुन की रक्षा का, उनकी विजय का, उनके प्रण पालन का उद्योग स्वयं कृष्ण ही करते हैं । किन्तु भक्त के लिए उनकी क्रियाएं सदैव रहस्यमयी रहती हैं[२]।

अंतिम सर्ग का उत्तरार्द्ध अर्जुन युधिष्ठिर के भक्ति-विह्वल उद्गारों से ओत-प्रोत है । वस्तुतः कवि की भक्ति-भावना ही उसमें मुखरित हुई है ।

राष्ट्रीयता

प्रस्तुत कृति की रचना का उद्देश्य मृत प्राय भारतराष्ट्र को अतीत गौरव की संजीवनी पिलाकर नवजीवन प्रदान करना और उसके शक्ति पौरुष को जगाकर कर्तव्य के कठोर पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देना है । विदेशी शासक के आतंक ने जब हमारी वाणी पर ह भी नियंत्रण लगा दिया था, उस समय राष्ट्र-स्वतंत्र्य की पुकार तो एक बहुत बड़ा अपराध था । उस पराधीनता की बेड़ियां पहने हुए राष्ट्र में नवचेतना ,साहस और शौर्य का संचार करने मेंकृष्ण, अभिमन्यु और कवि द्वारा तटस्थ रूप से कही गयी अनेकानेक उक्तियां कितनी उपयोगी है ।

कौरवों की भांति ही ब्रिटिश शासन अन्याय की नींव पर खड़ा था । जिसकी जड़ों का समूल उच्छेद करना भारत के नागरिकों का कर्तव्य था । अभिमन्यु और अर्जुन की गौरवपूर्ण कथाओं के द्वारा कवि युगधर्म की शिक्षा ही देता दिखाई पड़ता है इस तथ्य की ओर कवि संकेत मात्र करता, प्रत्यक्ष कथन नहीं-

यह अति अपूर्व कथा हमारे ध्यान देने योग्य है,
जिस विषय से सम्बन्ध हो वह जान लेने योग्य है ।

१- जयद्रथ वध, सर्ग ४, पृ० ५६ ।
२- वही, सर्ग ४, पृ० ५९ और ६० ।

अतएव कुछ आभास इसका है दिया जाता यहां,

अनुमान थोड़े से बहुत का है किया जाता यहां[१]।

भारतवासी अपनी स्वतंत्रता और अपने अधिकारों को खोकर भी सुख की नींद सो रहे थे । पूर्व काल में जहां अन्याय के प्रतिशोध और अधिकारों की रक्षा के लिए "महाभारत" जैसे युद्धों का आयोजन हुआ, उसी देश के निवासी आज जड़वत् होकर अन्याय का सहन करते हैं कवि स्पष्ट घोषित करता है-

अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है,

न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है[२]।

किन्तु राष्ट्रीय शत्रुओं से लोहा लेना, तब तक संभव नहीं है जब तक हममें पारस्परिक ऐक्य नहीं है । "एकता" इसके लिए आवश्यक है कवि का सन्देश है "सब लोग हिल मिल कर चलो, पारस्परिक ईर्ष्या तजो[३]" अभिमन्यु की निम्नांकित पंक्तियां भारत के विदेशी अन्यायी शासकों के विरुद्ध युद्ध करने की प्रेरणा देने में कितनी सशक्त है-

बदला न लेना शत्रु से कैसा अधर्म अनर्थ है ?

+ + +

निज शत्रु का साहस कभी बढ़ने न देना चाहिए,

बदला समर में बैरियों से शीघ्र लेना चाहिए ।

पापी जनों को दण्ड देना चाहिए समुचित सदा,

वर वीर क्षत्रिय-वंश का कर्तव्य है यह सर्वदा[४]।

कृष्ण की क्षात्र-धर्म का आख्यान करने वाली उक्तियां वीरों को युद्धभूमि में हंसते-हंसते मर मिटने के लिए तत्पर करने में कैसी सहायक हैं । संसार में सभी मरणशील हैं, फिर युद्ध भूमि में वीरगति पाकर स्वर्ग का सुख क्यों न अर्जित किया जाय ।

रण में मरण क्षत्रिय जनों को स्वर्ग देता है सदा,

है कौन ऐसा विश्व में जीता रहे जो सर्वदा[५]?

देशवासियों की आत्म-विस्मृति की ओर इंगित कर कवि उन्हें प्रबुद्ध करने की चेष्टा करता है-

तुम कौन हो, क्या कर रहे हो, क्या तुम्हारा कर्म है?

कैसा समय, कैसी दशा, कैसा तुम्हारा धर्म है[६]?

१-४: जयद्रथ वध- पृ० सं० ६, ९, ९, १० ।

५- वही, सर्ग ३, पृ० ३५ । ६- वही, सर्ग ३ पृष्ठ ३५ ।

इस प्रकार समयोचित सन्देश देकर और अर्जुन, अभिमन्यु आदि के आदर्श वीर चरित्रों का आख्यान कर कवि ने राष्ट्रीय-स्वातंत्र्य आन्दोलन की प्रेरणा दी है। राष्ट्रीय भावना के उत्थान में इस कृति ने कितनी सफलता प्राप्त की है, इसका प्रमाण इस ग्रंथ की लोकप्रियता है।

भाषा-शैली

जयद्रथ वध के कवि को काव्य-भाषा परम्परा से प्राप्त नहीं हुई। उसने स्वयं काव्य-भाषा का निर्माण किया है। जयद्रथ-वध खड़ी बोली का प्रथम प्रबन्ध काव्य है अतः उसकी भाषा में इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य होना स्वाभाविक है। फिर भी इस कृति में प्रयुक्त भावों को प्रकाशित करने में पूर्ण सक्षम है। काव्यभाषा खड़ी बोली के आरम्भिक काल की रचना होते हुए भी इसकी भाषा में प्रवाह और संगीत विद्यमान है। इसकी भाषा सरल,प्रसाद गुण युक्त है। इसमें तत्सम और तद्भव शब्दों का उचित सामंजस्य दिखाई पड़ता है जिससे वह संस्कृत निष्ठ होते हुए भी खड़ी बोली की स्वाभाविक प्रकृति की रक्षा करने मे समर्थ हुई है। कहीं-कहीं पर भावावेश में कवि ने संस्कृत में कुछ क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग अवश्य किया है जिससे उन स्थलों में कुछ दुरूहता आ गयी है। भाषा की वेगिनी शक्ति का विकास तो वस्तुतः कवि के तद्भव प्रयोगो के सहारे ही हुआ है। एक दो प्रयोग देखिए-

उस ओर प्रमुदित शत्रुओं के हाथ मूंछों पर पड़े[1]।

+ + +

गुण पर न रीझे वह मनुज है, तो भला पशु कौन है[2]?

उपर्युक्त पंक्तियों में "मूंछों" और "रीझे" शब्दों ने भाषा को शक्ति प्रदान की है। विदेशी शब्दों का इस कृति मे प्रायः अभाव है। मुहावरों का प्रयोग भी कम नहीं है। जहां भी वे आए हैं वहां भाषा में चमत्कार उत्पन्न हो गया है। "मूंछों पर हाथ पड़ना" का प्रयोग उपर्युक्त पंक्ति में ऐसा ही है। एक-दो उदाहरण और लीजिये-

हिल जाय पत्ता तो कहीं सत्ता बिना इस मूर्त्ति की[3]।

+ + +

नूतन पवन के मिस प्रकृति ने सांस ली जी खोल के[4]।

१-४: जयद्रथ वध- पृ० ८१, ६८, ९०, ५७।

"देखो भयंकर भेड़िये भी आज आंसू डालते"[1] जैसी अनेक सूक्तियां इसमें मिलती हैं जो भाषा की शक्ति को बढ़ाने में लोकोक्तियों के समान ही सहायक हैं। तुक की रक्षा के लिए कहीं कहीं पर उनअशुद्ध प्रयोग भी कवि ने किए हैं -जैसे नीचे के उदाहरण में "आन के" का प्रयोग-

उस समय ही जो पार्श्व से छोड़ा गया था तान के,
उस कर्ण-शर ने चाप उसका काट डाला आन के[2]।

क्रियाओं के रूप कई स्थलों पर क्षेत्रीय बोलचाल की भाषा से ग्रहण किये गए हैं- यथा-

छोड़ियो[3], भोड़ियो[4], दीजो[5], धारियो[6], बिसारियो[7], भूलियो[8], लगाइयो[9], भगाइयो[10], कीजियो[11], दीजियो[12], करियो[13], जानियो[14] आदि। एक स्थान पर आगे के लिए "अगाड़ी" और सावधान करने के लिए "जताने" शब्द का प्रयोग हुआ है-

बढ़ने अगाड़ी ही लगे वे शीघ्र तिरछी चाल से[15]।
तुम हो हमारे बन्धु इससे हम जताते हैं तुम्हें[16]।

वाक्य -रचना -व्याकरण सम्मत और शुद्ध है। वह गद्य के अधिक निकट है। डा० सत्येन्द्र ने लिखा है-"गुप्त जी ने भाषा को सबसे बड़ी देन यह दी कि उसका ठीक ठीक रूप रख दिया। खड़ी बोली को अपने पैरों पर खड़ा कर दिया। उसकी अनिश्चितता दूर कर दी, उसमें व्यवस्था ला दी।----उनके "जयद्रथ" ने ब्रजभाषा के मोह का "वध" कर दिया और "भारत-भारती" ने तो जैसे सुनिश्चित भारतीय - भाषा का सतेज रूप ही खड़ा कर दिया[17]।

अलंकार

जयद्रथ-वध में अलंकारों का प्रयोग अधिक नहीं मिलता। जहां भी अलंकारों की योजना हुई है, वहां वह भावोत्कर्ष में सहायक है। अलंकार कवि का साध्य कहीं भी नहीं बना, साधन रूप में ही उसका उपयोग हुआ है। दृश्य एवं मुद्राओं

१- जयद्रथ वध, पृ० ७८। २- वही, पृ० सं० १८।
३-७- वही, पृ० ८३। ८-१० वही, पृ० सं० ५९।
११- वही, पृ० ५७। १२-१३- वही, पृ० ८४।
१४- वही, पृ० १४। १५-वही, पृ० ७५। १६- वही, पृ० ११।
१७- कवि गुप्त जी की कला पृ० ६-७।

का चित्र खड़ा करने में कवि ने अत्यन्त सुन्दर उपमा, उत्प्रेक्षा, आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना की है। युद्ध के प्रभाव को बढ़ाने में उसके द्वारा प्रयुक्त सादृश्य मूलक अलंकार अत्यधिक सहायक हुए है-

अभिमन्यु के अभिमान पूर्ण वचन सुनकर दुर्योधनात्मज लक्ष्मण ने क्रोधित होकर अभिमन्यु पर शक्ति छोड़ी उस शक्ति की भयंकरता की प्रतीति उपमा अलंकार के सहारे किस कौशल से कवि ने की है-

उस वीर को सुनकर वचन ये लग गई बस आग सी,
हो क्रुद्ध उसने शक्ति छोड़ी एक निष्ठुर नाग सी[1]।

उपरोक्त उपमा रूप-गुण साम्य ही नहीं प्रभाव साम्य पर भी आधारित है। "नाग" तो वैसे ही साक्षात् कालरूप है और फिर निष्ठुर नाग का जो विनाशकारी प्रभाव मस्तिष्क पर पड़ता है शक्ति की संहारकारी क्षमता उससे सिद्ध हो जाती है। करालता या निष्ठुरता का गुण दोनों में ही समान है। नाग और शक्ति के आकार व शरीर में घाव करने की विधि में भी साम्य है। हंसते हुए कृष्ण की मुद्रा का चित्र उत्प्रेक्षा के सहारे कवि ने बड़े कौशल से एक पंक्ति में उद्घाटित किया है-

सुनकर जयद्रथ का कथन हरि को हंसी कुछ आ गई,
गम्भीर श्यामल मेघ में विद्युच्छटा -सी छा गई[2]।

जयद्रथ वध में प्रयुक्त प्रमुख अलंकारों के कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं, ये कवि के अलंकार वैशिष्ट्य को प्रगट करने में सहायक होंगे- निम्नांकित उपमा में राजा युधिष्ठिर की हर्ष शोक मिश्रित अवस्था को सूचित करने के लिए कवि ने संध्याकालीन कुमुद का उपमान ढूंढ़ा है-

उपमा- पूरी हुई होगी प्रतिज्ञा पार्थ की इससे सुखी,
पर चिन्ह पाकर कुछ न उसके व्यग्र चिन्तायुत दुखी,
राजा युधिष्ठिर उस समय दोनों तरफ क्षोभित हुए,
प्रमुदित न विमुदित उस समय के कुमुद-सम शोभित हुए[3]।

रजनी के रूप में कवि की विराट कल्पना के दर्शन होते हैं-चंद्र उसका मुख है नक्षत्र आभूषण और नीलाआकाश निर्मल वस्त्र।

१- जयद्रथ वध पृ० सं० । २-वही, पृ० सं० ८४ ।
३- वही, पृ० सं० ८१ ।

भूषण सदेश उडुगण हुए, मुख-चन्द्र -शोभा छा रही,

विमलाम्बरा रजनी-वधू अभिसारिका-सी जा रही ।।

खग वृन्द सोता है अतः कलकल नहीं होता जहाँ,

बस मन्द मारुत का गमन ही मौन है खोता जहाँ[1]।

निम्नांकित उत्प्रेक्षा में पति की मृत्यु से भी हृत उत्तरा और उसकी गोद में रखे हुए अभिमन्यु के मृत शरीर की मुद्रा को प्रकृति के विशिष्ट दृश्य खण्ड से स्पष्ट किया गया है-

शोभित हुई इस भांति वह निर्जीव पति के देह से-

मानो निदाघारम्भ में सन्तप्त आतप जाल से,

छादित हुई विपिनस्थली नव-पतित किंशुक-शाल से[2]।

प्रकृति के विराट् रूपों को कवि ने उत्प्रेक्षा अलंकार की सहायता से बड़े कौशल से दृष्टिगोचर कराया है-

आकाश में चलते हुए यों छवि दिखाई दे रही,

मानों जगत को गोद लेकर मोद देती है मही ।

उन्नत हिमाचल से धवल यह सुरसरी यों टूटती,

मानों पयोधर से धरा के दुग्ध -धारा छूटती[3]।

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त उदाहरण[4], अर्थान्तर-न्यास[5], विशेषोक्ति[6-7] अतिशयोक्ति[8] आदि अलंकारों के भी सुन्दर, प्रयोग जयद्रथ वध में मिलते हैं । विस्तार भय से यहाँ प्रस्तुत नहीं किया जा सकता ।

छन्द-योजना

जयद्रथ-वध में प्रयुक्त हरि-गीतिका छंद लय-तारत्य और प्रवाह की दृष्टि से अप्रतिम है ।इसीलिए कवि की प्रस्तुत कृति गत अर्द्ध शताब्दि से लोगों के कण्ठ में बसी हुई है । कवि की छंद योजना पर विचार करते हुए डा० कमलाकान्त पाठक ने लिखा है-"छंद का मूल तत्व या आधार लय है । छंद में वह नियमित होती है और साहित्य में संगीत के तत्व का सन्निवेश करती है । लय बद्ध रचना मुक्त वृत्त में भी रची जा सकती है और रची जाती है, पर वहाँ वह प्रतिबंधित नहीं होती ।छंद में

१-२: जयद्रथ वध पृ० सं० ४९, ९२ ।

३-८: वही, ४९, ५०, ६०, ७०, २६, ८६ ।

वर्णों या मात्राओं के सुनिश्चित क्रम की व्यवस्था होती है । उसकी गति को आयत्त कर लेने पर कवि को पद्य रचना करने में सुविधा होने लगती है और श्रोताओं तथा पाठकों को भी वह सुपरिचित रहती है । ऐसे पद्य सरलता पूर्वक याद हो जाते हैं। पदावली का संगीत लय-बद्ध अथवा छंदो बद्ध रचना में ही प्रस्फुटित होता है । गुप्त जी ने ही खड़ी बोली के संगीत को सर्व प्रथम हरिगीतिका छंद में नियोजित किया था । मनोगतियों का छंदों की लयों के साथ घनिष्ट संबंध स्थापित हो जाता है[१]।

जयद्रथ बध में गीति-भंग आदि दोषों का पूर्णतया अभाव है । कहीं कहीं पर तुक मिलाने के लिए शब्दों के अप्रचलित या अशुद्ध प्रयोग अवश्य मिलते है ।

हरिगीतिका छंद करुणा आदि कोमल रसों के वर्णन के लिए प्रायः उपयुक्त होता है । गुप्त जी ने इसके द्वारा करुण रस की धारा बहाई है । साथ ही वीर आदि के ओजपूर्ण वर्णनों में भी उन्होंने इस छंद को पूर्ण सफलता के साथ प्रयुक्त किया है ।

- - -

१- मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य पृ० ६९३ ।

अध्याय ४

मौर्य-विजय (रचनाकाल १९१४ ई०)

इसके रचयिता श्री सियाराम शरण गुप्त हैं । इसमें भारत के गौरव पूर्ण अतीत की उज्ज्वल झांकी प्रस्तुत की गई है । पतनोन्मुख निर्बल राष्ट्र की मोह-निद्रा भंग करने में उसके स्वर्णिम अतीत की वीरोल्लासपूर्ण गाथाओं का गुणगान अत्यधिक सहायता पहुँचाता है । मौर्य सम्राट्-चन्द्रगुप्त के पराक्रम से अवतंकित होकर ग्रीक विजेताओं ने भारत की ओर कदम बढ़ाने का साहस सदा के लिए त्याग दिया ऐसे ही राष्ट्र-रक्षक वीरों की आवश्यकता कृति के रचनाकाल के समय भारत राष्ट्र को थी । मौर्य विजय इस दृष्टि से भारत की राष्ट्रीयता का पोषक खण्डकाव्य है ।

रचना-शिल्प - प्रस्तुत कृति में मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के बीच हुए युद्ध की घटना को खण्डकाव्य के रूप में विकसित किया गया है । जीवन के विविध पक्ष के व्यापक वर्णनों और प्रासंगिक कथाओं आदि की योजना से इसे महाकाव्योचित विस्तार देने की चेष्टा नहीं की गयी है । इसकी कथा शैली, सरल और सर्गों में विभाजित है । इसमें बीच-बीच में गीतों, प्रकृति-चित्रों और पात्रों के भाव -चेष्टादि के काव्यत्वपूर्ण वर्णनों की योजना हुई है ।

खण्डकाव्य के सभी शास्त्रीय लक्षण इसमें उपलब्ध हैं । परम्परानुकूल ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण है जिसमें कवि अपने आराध्य राम के शत्रुनाशक रूप का ध्यान करता है[1]। रावण जैसे प्रबल शत्रु पर विजय पाने वाले रघुवंश शिरोमणि राम का ध्यान कर कवि कथानायक चन्द्रगुप्त के वीरत्व का ही संकेत करता है । इसप्रकार इस ग्रंथ का मंगलाचरण आशीर्वादात्मक होने के साथ-साथ वस्तु निर्देशात्मक भी है । इसकी कथा ऐतिहासिक है । इसके नायक चन्द्रगुप्त सद्वंश क्षत्री होने के साथ-साथ धीरोदात्त भी हैं । उनमें खण्डकाव्य के नायक के लिए आवश्यक सभी गुण विद्यमान हैं । इसका प्रमुख रस वीर है शृंगारादि रस गौण हैं । नायक को मुख्य फल के साथ साथ अतिरिक्त फल की प्राप्ति भी होती है । शत्रु को पराजित कर मातृ-भूमि की रक्षा करने का श्रेय-विजय श्री के रूप में उसे मिलता है । किन्तु शत्रु की सुन्दरी कन्या "एथेना" की प्राप्ति एक अतिरिक्त फल है । आचार्य कुन्तक ने इसे

१-"रावणारि रघुवंश -रवि, विश्वेश्वर, कल्याणमय"-मौर्य-विजय पृ०सं० १ ।

प्रबन्ध वक्रता का चतुर्थ भेद माना है[1]। चतुर्थ वर्ग फल मे से काम[2] की प्राप्ति कथा के अन्त में नायक को (विजय श्री एवं कन्या-प्राप्ति के रूप मे) होती है इसमें प्रारम्भ से अब तक एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है । यह अलंकृत भी है ।

प्राचीन लक्षणों के निर्वाह साथ-साथ मौर्य्य विजय में कुछ विशिष्टताएं भी देखने को मिलती हैं । कथानक में रोचकता लाने के लिए कवि ने कई स्थानों पर नाटकीय -आकस्मिकता, लाने की चेष्टा की है । ऐथेना ग्रीक शिविर मे बैठी हुई भावों मे डूबी है कवि उसके मने मे उठती हुई भाव-तरंगों का परिचय दे रहा है, इस दृश्य के बाद कवि दूसरे दृश्य पर पहुंचने के लिए आकस्मिक परिवर्तन और नाटकीय तीव्रता का आश्रय लेता है-

इन भावों में उलझ रही थी जब वह बाला
बहु शब्दों ने उसे अचानक चौंका डाला
त्वरित खड़ी हो गई दौड़ कर बाहर आई,
कोलाहल की ओर दृष्टि उसने दौड़ाई[3]।

अनेक स्थलों पर अहा, हाय, छी, छी आदि हर्ष, शोक, घृणा आदि भावों को व्यंजित करने वाले शब्दों की योजना की गई है ।

कथा की शृंखला जोड़ने के लिए नीरस इतिवृत्तात्मक अंशों की योजना अनेक स्थलों पर एक ही ढंग की दिखाई पड़ती है । कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे-

क- चन्द्रगुप्त की ओर चलो अब हे वाचक वर[4]।

ख- कोई कोई सैनिक यहां इस प्रकार है गा रहा[5]।

ग- जाकर तदनन्तर सेज पर वे सुख से सोने लगे[5]।
पाकर सुशान्ति हृदाम में स्वान्ति सभी सोने लगे[6]।

घ- उस घटना को हुए, कई दिन आज हो गये[7]।

ङ०-अब सुनों ध्यान देकर जरा जो कुछ है वह कह रहा[8]।

प्रत्येक सर्ग में सेना के गाने के लिए गीतों की सृष्टि हुई है जो वातावरण का निर्माण करते व उनके देश-प्रेम का परिचय देते हैं । छंद वही हैं किन्तु उद्धरण

१- वक्रोक्ति जीवितम् ४।११-१३ ।
२- "काम"यहां पर संकीर्ण अर्थ में न लेकर विस्तृत"लोक -वैभव की प्राप्ति"-के अर्थ में लेना चाहिए ।
३- मौर्य्य विजय, पृ० सं० २४ । ४-५- वही पृ० सं० १० । ६-वही,पृ०सं०१९ ।
७-८- वही, पृ० सं० २८ ।

चिन्ह देकर वे उत्तम पुरुष में लिखे गए है । वस्तुतः कथा के बीच-बीच गीतों की योजना प्राचीन काल नाटकों में होती आ रही थी । आधुनिक युग में इस नाटकीय पद्धति का प्रबन्ध -काव्यों मे प्रयोग होने लगा है । विषय की दृष्टि से इन गीतों में भावातिरेक और वीरोल्लास की ही व्यंजना हुई है । कथा गत कार्य-व्यापार का वर्णन इनमे नहीं मिलता ।

वस्तु-विवेचन- मौर्य विजय का कथानक ऐतिहासिक है । इसकी प्रमुख घटना सिल्यूकस के साथ भारत-सम्राट् चन्द्रगुप्त का युद्ध है जिसमें विजय के साथ-साथ सिल्यूकस की सुन्दरी कन्या ऐथेना की प्राप्ति भी नायक चन्द्रगुप्त को होती है ।

प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त के शासन काल में भारत वर्ष की राजनैतिक, सामाजिक समृद्धि का वर्णन किया गया है । उस समय प्रजा सुखी, संपन्न सच्चरित्र, वीर और कर्तव्यपरायण थी । इसी समय ग्रीक विजेता सम्राट् सिल्यूकस विजय-मद में भूला हुआ भारत पर विजय पाने का स्वप्न लिए देश की सीमा में घुस आता है । सिन्धु के पश्चिम के दो-तीन दुर्ग वह हस्तगत कर लेता है । सिन्धु के पार उतर कर वह अपने डेरे डाल देता है ।

ग्रीक आक्रमण का सामना करने के लिए सम्राट्-चन्द्रगुप्त तक्षशिला में अपने शिविर में मंत्रियों से मंत्रणा करते हैं । उनकी सुशिक्षित सेना अस्त्र-शस्त्र से सज्जित होकर युद्ध के लिए प्रस्तुत होती है । देश-भक्त सैनिक वीरोल्लास से भरकर देशभक्ति के गीत गा उठते हैं । भयंकर युद्ध होता है । अन्त में ग्रीक सेना पराजित होकर शिविरों कों लौट जाती है ।

ग्रीक शिविर में ऐथेना भारत की रत्नभूमि का सौन्दर्य देखकर मुग्ध होती है। वह कोमल भावों से भरकर पिता से युद्ध बंद करने का प्रस्ताव करने का विचार मन ही मन करती है । जब पराजित सिल्यूकस प्रतिशोध के भाव लिए शिविर में लौटता है तो ऐथेना अपना प्रस्ताव उसके सामने रख देती है । इधर उसका सचिव ग्रीक में उपद्रव होने की सूचना देकर उसके ग्रीक लौटने की तथा भारत सम्राट् से सुलह करने की सलाह देता है ।

इसी समय चन्द्रगुप्त कुछ सैनिकों के साथ नाटकीय ढंग से सिल्यूकस के शिविर में आते हैं जिसे देखते ही सिल्यूकस उत्तेजित होकर अपनी तलवार लेकर खड़ा हो जाता है । चन्द्रगुप्त हंसते हुए एक झटके से उसकी तलवार छीनकर उसे बंदी बनाते हैं, इसी समय ऐथेना पर उनकी दृष्टि पड़ती है । इस अवसर पर सम्राट् चन्द्रगुप्त को अभय दान को ठुकराकर सिल्यूकस वीरोचित उत्तर देता है किन्तु चंद्रगुप्त भी अपने औदार्य

का परिचय देता हुआ उसे मुक्त कर देते हैं और ऐथेना को देखते हुए वे शिविर से विदा होते हैं । ऐथेना भी चन्द्रगुप्त के जाने पर दीर्घ निश्वास लेती है । अन्त में सिल्यूकस चन्द्रगुप्त को अपनी कन्या के योग्य वर समझ कर उसका विवाह चन्द्रगुप्त के साथ कर देता है । कन्धार, हिरातादिक प्रदेश क भी वह उपहार स्वरूप चंद्रगुप्त को भेंट कर स्वेदेश वापिस लौट जाता है ।

ऐतिहासिकता- श्री जयशंकर प्रसाद ने अपने चंद्रगुप्त नाटक की भूमिका में सिल्यूकस के भारत आक्रमण का विवरण विस्तार से दिया है । उनका यह विवरण ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है । अतः मौर्य-विजय की ऐतिहासिकता की परीक्षा करने के लिए उसके कुछ अंश यहां उद्धृत किए जा रहे हैं ।

चंद्रगुप्त के "प्रादेशिक शासक जो कि उत्तर पश्चिम प्रान्त के थे बराबर सिल्यूकस की गतिरोध करने के लिए प्रस्तुत रहते थे, पर अनेक उद्योग करने पर भी कपिशा आदि दुर्ग सिल्यूकस के हस्तगत हो ही गए । चन्द्रगुप्त जो कि सतलज के समीप से उसी ओर बराबर बढ़ रहा था, सिल्यूकस की क्षुद्र विजयों से घबड़ाकर बहुत शीघ्रता से तक्षशिला की ओर चल पड़ा । चंद्रगुप्त के बहुत थोड़े पहले ही सिल्यूकस सिन्धु के इस पार उतर आया और तक्षशिला के दुर्ग पर चढ़ाई करने के उद्योग में था । तक्षशिला की सूबेदारी बहुत बड़ी थी, उसे विजय कर लेना सहज कार्य न था । सिल्यूकस अपनी रक्षा के लिए मिट्टी की खाई बनवाने लगा । चंद्रगुप्त अपनी विजयिनी सेना लेकर तक्षशिला में पहुंचा और मौर्य पताका तक्षशिला दुर्ग पर फहराकर महाराज चंद्रगुप्त के आगमन की सूचना देने लगा । मौर्य्य सेना ने आक्रमण करके ग्रीकों की मिट्टी का परिखा और उनका व्यूह नष्ट भ्रष्ट कर डाला मौर्यों का वह भयानक आक्रमण उन लोगों ने बड़ी वीरता से सहन किया, ग्रीकों का कृत्रिम दुर्ग उनकी रक्षा कर रहा था, पर कब तक, चारो ओर से असंख्य मौर्य सेना उस दुर्ग को घेरे थी । आपाततः उन्हें कृत्रिम दुर्ग छोड़ना पड़ा । इस बार भयानक लड़ाई आरम्भ हुई । मौर्य सेना का चन्द्रगुप्त स्वयं नायक था । असीम उत्साह से मौर्यों ने आक्रमण करके ग्रीक सेना को छिन्न भिन्न कर दिया । लौटने की राह में बड़ी बाधास्वरूप सिन्धु नदी थी, इसलिए अपनी टूटी हुई सेना को एक जगह उन्हें एकत्र करना पड़ा । इसी समय ग्रीक जनरलों में फिर खलबली मची हुई थी । इस कारण सिल्यूकस को शीघ्र उस ओर लौटना था, किसी ऐतिहासिक

का मत है कि दूसरे इसी से सिल्यूकस शीघ्र ही संधि कर लेने पर बाध्य हुआ । इस सन्धि में ग्रीक लोगों को चंद्रगुप्त और चाणक्य से सब ओर से दबना पड़ा ।

------" सन्धि में चन्द्रगुप्त भारतीय प्रदेशों के स्वामी हुए । अफगानिस्तान और मकराना भी चन्द्रगुप्त को मिला और उसके साथ ही साथ कुल पंजाब और सौराष्ट्र पर चन्द्रगुप्त का अधिकार हो गया ।------" पाटल आदि भी चन्द्रगुप्त के अधीन हुए तथा काबुल में सिल्यूकस की ओर से एक राजदूत का रहना स्थिर हुआ । मेगस्थनीज़ ही प्रथम राजदूत नियुक्त हुआ । यह तो सब हुआ, पर नीति-चतुर सिल्यूकस ने एक और बुद्धिमानी का कार्य यह किया कि चन्द्रगुप्त से अपनी सुन्दरी कन्या का पाणिग्रहण करा दिया जिसे चन्द्रगुप्त ने स्वीकार कर लिया और दोनों रक्त राज्य एक संबंध सूत्र में बंध गये[१]।"

उपर्युक्त विवरण से पता लगता है कि "मौर्य-विजय" में ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करने का कवि ने पूर्ण प्रयास किया है, किन्तु ऐतिहासिक विवरणों को विस्तार से प्रस्तुत करना उसका लक्ष्य नहीं है ।

१- सिल्यूकस की पूर्व विजयों का सामान्य संकेत मात्र कवि ने किया है-

यूनानी सम्राट् वीरवर सिल्यूकस था
अर्द्ध एशिया -खण्ड हो चुका उसके वश था[२]।

+ + +

जीत दुर्ग दोतीन लिए ही उसने[३]।

२- इसी प्रकार हाथी घोड़ों से सैनिकों शिक्षित सेना लेकर चन्द्रगुप्त का तक्षशिला में आना तथा चाणक्य से मंत्रणा लेना[४] भी ऐतिहासिक तथ्यों के अनुकूल हैं

३- तक्षशिला से प्रथम आक्रमण चन्द्रगुप्त की सेना ही करती है किन्तु मौर्यों के कृत्रिम दुर्ग या मिट्टी के परिखे आदि का, विवरण कवि ने छोड़ दिया ।

४- सिल्यूकस की पराजय, संधि और ऐथेना के विवाह की घटनाएं भी ऐतिहासिक हैं ।

इस मूल ऐतिहासिक ढांचे में अपनी कल्पना का रंग भी भर कवि ने इसे विशुद्ध काव्य का रूप प्रदान किया है । चन्द्रगुप्त, सिल्यूकस, ऐथेना आदि के मनोविज्ञान का परिचय व उनके चरित्रों का विकास कवि ने अपनी रुचि के अनुकूल किया है ।

१- चंद्रगुप्त(जयशंकर प्रसाद) भूमिका पृ० ३४-३७ ।
२-३- मौर्य विजय, पृ० ७ । ४- वही, पृ० ११-१२ ।

सैनिकों के देश-प्रेम भरे उद्गार कवि की मौलिकता के परिचायक हैं ।

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत रचना में चन्द्रगुप्त, सिल्यूकस और एथेना तीन ही प्रमुख पात्र हैं । चरित्र-प्रधान काव्य में पात्र प्रमुख होते हैं ह और उनके चरित्र की विशेषताओं के अनुकूल ही घटनाएं निर्मित होती हैं किन्तु घटना-प्रधान काव्य मे घटना प्रमुख होती है और पात्र घटना या परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार करते हैं । मौर्य-विजय में ऐतिहासिक घटना के सहारे नायक चन्द्रगुप्त के वीरता, साहसिकता, उदारता आदि का परिचय दिया गया है । इसमें घटना और चरित्र एक दूसरे की सहायता से विकसित होते हैं । इस कृति में वस्तुतः प्रतिनायक ही घटना का निर्माण करता है और उसकी प्रतिक्रिया के द्वारा नायक का चरित्र उद्घाटित करने का अवसर कवि को मिल जाता है । चरित्र चित्रण की अभिनयात्मक और विश्लेषणात्मक दोनों प्रणालियों का अनुसरण इसमें किया गया है-

चन्द्रगुप्त- चंद्रगुप्त इस काव्य का नायक है । एक धीरोदात्त नायक के सभी गुण उसमें विद्यमान हैं । उसमें शौर्य, वीरता, निर्भीकता, कष्ट सहिष्णुता, दूरदर्शिता और अदम्य साहसिकता के दर्शन होते हैं । वह एक सुयोग्य सेनापति, प्रजावत्सल राजा, कर्तव्यनिष्ठ देशभक्त और स्वाभिमानी आर्य वीर है । प्रारम्भ में ही कवि उसके गुणों का परिचय देता है-

भारत भूपति चंद्रगुप्त थे तेजो धारी,
शासन उनका प्रजा वर्ग को था सुखकारी ।
थे वे सद्गुणशील और बल-विक्रम वाले ।
पद-मर्दित सब शत्रु उन्होंने थे कर डाले ।
उनकी सु-राजधानी विदित पाटलि पुत्र मनोज्ञ थी ।
जिसकी उपमा के अर्थ बस अमरपुरी ही योग्य थी[१]।

चन्द्रगुप्त के कार्य और उसके वचन उसकी जाति गत विशेषताओं के परिचायक हैं । अपने शिविर मे मंत्रियों से मंत्रणा करते समय वह दृढ़ आत्म-विश्वास का परिचय देता है-

बोले नृप-"गुरु देव, जय भी हम पावेंगे,
विफल मनेरथ शत्रु शीघ्र ही हो जावेंगे ।

१- मौर्य-विजय पृ० सं० ५ ।

समझे जाते यदपि ग्रीक भी हैं बल धारी ।
पर आर्यों की आत्म-शक्ति अब भी है भारी ।
यद्यपि भीष्मार्जुन के सदृश वीर यहां अब हैं नहीं ।
पर उनके सन्तान क्या विश्रुत हम सब हैं नहीं[1]।

सैनिकों का हृदय जीतने का गुण एक सेनापति में होना चाहिए । चन्द्रगुप्त में इस गुण की कमी नहीं है । अपने सैनिकों को वह राष्ट्र के गौरव और धर्म की रक्षा का ध्यान दिला कर उत्तेजित करता है[2]। चंद्रगुप्त की शत्रु-सेना पर विजय उसके बल पराक्रम की परिचायक है । युद्ध के लिए वह पूरी तैयारी करता है । और संयमी मंत्रियों एवं वृद्ध गुरु चाणक्य के बुद्धि-बल से यथोचित लाभ उठाता है । युद्धान्त में सिल्यूकस के शिविर में थोड़े से सैनिकों के साथ उसका जाना उसकी निर्भीकता का सूचक है । और उसके युद्ध के लिए उद्यत होने पर हंसते हंसते उसकी तलवार छीन लेना चंद्रगुप्त की पैनी दृष्टि और उसके युद्ध कौशल का द्योतक है[3]। सिल्यूकस के वीरोचित उत्तर को सुनकर उसके प्रति उदारतापूर्ण व्यवहार न केवल चन्द्रगुप्त की महानता का सूचक है वरन् उसके द्वारा उसने आर्यवीरों की परंपरा का भी निर्वाह किया है । वह सिल्यूकस से कहता है-

"तेजस्वी हैं आप, वीर भी हैं निश्चय ही,
करते हैं हम मुक्त आपको इसी समय ही ।
भारतवासी होते नहीं औरों जैसे क्रूर हैं,
सम्मान पराजित शत्रु का करते हम भरपूर हैं[4]।

इस वीरता और साहसिकता के साथ-साथ चन्द्रगुप्त में मानवोचित कोमल व मधुर हृदय भी है, जो सुन्दरी एथेना को देखते ही चंचल हो जाता है-किन्तु वह असंयत नहीं -

"उस बाला का आलोकमय अनुपम रूप निहारे के,
वे मुग्ध हो गए चित्त में अपनी दशा बिसार के[5]।

+ + +

नृपवर ने दो एक बार उसको अवलोका,
किन्तु संभलकर शीघ्र उन्होंने मन को रोका[6]।

१-मौर्य विजय, पृ०सं० १२ । २- वही, पृ०सं० १७ । ३-वही, पृ०सं० ३।१४ ।
४- वही, पृ०सं० ३।१७। ५-६- वही, पृ० सं० ३।१४-१५ ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कवि ने अपने आर्य-गौरव के प्रति श्रद्धा के भाव को चंद्रगुप्त के चरित्र के माध्यम से व्यक्त किया है। नायक चंद्रगुप्त आर्य-संस्कृति और आर्य-गौरव का प्रतिनिधि है। कवि के निजी आदर्श भी चंद्रगुप्त की वाणी में साकार हुए हैं।

सिल्यूकस- एक महत्वाकांक्षी वीर है। वह अपने बाहुबल से मध्य एशिया के अनेक देशों पर अधिकार कर लेता है। भारत-विजय की उसकी लालसा अत्यन्त वेगवती है वह भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश के दो-एक दुर्गों पर अधिकार भी कर लेता है। सिल्यूकस में एक विजेता के समस्त गुण विद्यमान हैं। वह महान् सिकन्दर का उत्तराधिकारी है अतः उसके गुणों को अर्जित कर लेना उसके लिए स्वाभाविक ही है। एक सेनापति का उत्साह, साहस, एवं बाधाओं और विपत्तियों से जूझने की क्षमता उसके चरित्र में हमें देखने को मिलती है। अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति और भारत पर ग्रीस-ध्वज फहराने की धुन उसे चिन्तनशील बनाए रखती है-

सिल्यूकस इस समय हृदय में चिन्ता धारे,
धीरे धीरे घूम रहा है सिन्धु किनारे।
सुन पड़ता है नहीं उसे जल का वह कलकल,
है उसका मन ध्यानमग्न, एकाग्र, अचंचल।
उसकी विशाल सेना वहीं डेरा डाले है पड़ी।
बस गई वहाँ सहसा नई वीर-पुरी मानो बड़ी[1]।

सिल्यूकस प्रतिनायक है। अतः उसे भी नायक के ही टक्कर का वीर और पराक्रमी चित्रित किया गया है। नीचे की पंक्तियों में सिल्यूकस को प्रभंजन और "राहु" के समान बताकर उसके बल-विक्रम की व्यंजना की गयी है। किन्तु उसके साथ साथ चन्द्रगुप्त को "शैलवर" और "चन्द्र" बताकर प्रतिनायक पर नायक का उत्कर्ष दिखाया गया है।-

क्या प्रबल पवन के वेग को सह सकते हैं तरु निकर ?
उसके सहने की शक्ति तो रखता है बस शैलवर।
जब चन्द्र-तुल्य नृप चन्द्र ने यहाँ गुणों की वृष्टि की,
तब सिल्यूकस ने राहु-सम उन पर अपनी दृष्टि की[2]।

१- मौर्य विजय- पृ० सं० ७।
२- वही, पृ० सं० ७।

सिल्यूकस के युद्ध आदि बाह्य-क्रिया-कलापों का ही वर्णन न कर कवि उसके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण में भी प्रवृत्त हुआ है-

सिल्यूकस की विजय-पिपासा उसे भारत खींच लाती है किन्तु यहां भारतीयों की धीरता-वीरता का दर्शन कर वह सोच मे पड़ जाता है । अपनी विजय में उसे विश्वास नहीं होता- उसके मन की आशा-निराशा का चित्र देखिए-

या तो आते नहीं', यहां आये तो जीतें,
कहीं हमारे ये अमूल्य दिन व्यर्थ न बीतें?
यद्यपि शिक्षित सुदृढ़ सैन्य है पास हमारे-
जिसके सम्मुख सभी शत्रु अब तक हैं हारे-
फिर भी अति दुष्कर कार्य है जय करना इस देश का,
यदि जय पावें तो फिर हमे शोच नहीं कुछ क्लेश का[1]।

भारतीयों वीरों की भीषण मार से क्षत होकर जब ग्रीक सेना तितर-बितर हो जाती है तो सिल्यूकस धीरज नहीं खोता वह सच्चे वीर की भांति ग्रीक सेना के पूर्वार्जित यश, और उनके जातीय शौर्य का स्मरण दिलाकर उनसे युद्ध भूमि में मर मिटने का साहस उत्पन्न करता है-

रिपुओं का वीरत्व देखकर मत घबराओ,
ग्रीक जाति के अतुल वीर्य पर ध्यान लगाओ ।
किसे नहीं है ज्ञात अलौकिक शक्ति तुम्हारी ?
तुम ही तो कर चुके प्रकम्पित पृथ्वी सारी
हारो ही अथवा क्यों न तुम किन्तु याद रखना सदा-
है वीरों की अविजय उचित मरने पर ही सर्वदा[2]।

भारतीय सेना से पराजित होने के बाद वह प्रतिशोध की आग में जलने लगता है, यह उस जैसे चिर विजयी योद्धा के अनुकूल ही था । उसका वीरत्व उसे पराजय स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं होने देता, इसीलिए युद्ध के बाद चन्द्रगुप्त को शिविर मे आया देख वह तुरन्त हाथ में तलवार लेकर खड़ा हो जाता है[3]। सिल्यूकस की सच्ची वीरता का परिचय हमें तब मिलता है जब बन्दी होने पर भी वह चंद्रगुप्त के क्षमादान को ठुकरा देता है-

---

१- मौर्य्य विजय- पृ० सं० ९ ।
२- वही, पृ० सं० १९ । ३- वही, पृ० सं० २६ ।

मैं ग्रीक वीर हूं, क्या मुझे मृत्यु डरा सकती कहीं ?

कर लो जो कुछ तुम कर सको, दया चाहता मैं नहीं[1]।

सिल्यूकस में प्राणों का मोह नहीं और न वह दूसरों की दया का पात्र बनने का इच्छुक है । इस दृष्टि से उसका चरित्र अन्य यवन आक्रान्ताओं से बहुत ऊपर उठा हुआ है । वह आक्रमणकारी होते हुए भी हमारी घृणा का पात्र नहीं बनता । उसके चरित्र में गुरुता और गम्भीरता के दर्शन होते हैं । समयानुकूल कार्य करने का विवेक उसमें है- पराजय के बाद क्षणिक आवेश तो मानव-प्रकृति के अनुकूल आना स्वाभाविक ही है किन्तु एथेना और चन्द्रगुप्त के प्रणयभाव से लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त से मैत्री कायम करना और अपने देश में फैली हुई क्रान्ति को दबाने के लिए वापिस जाना उसकी दूरदर्शिता का प्रतीक है । संकट में भी उसका विवेक नष्ट नहीं होता- यह उसकी विशेषता है ।

सिल्यूकस का एक अन्य पक्ष उसका वात्सल्य भी है । किन्तु वह भली भांति विकसित नहीं हुआ है । "एथेना" की कोमल वाणी उसे विपत्ति में शान्ति देती है । "एथेना" के मनोभावों को पहचान कर तथा चन्द्रगुप्त को उसके योग्य वर समझ कर ही वह चन्द्रगुप्त के साथ उसका विवाह करता है ।

एथेना- कवि ने एथेना को एक मोहक व्यक्तित्व प्रदान किया है । भारतभूमि के प्रति उसे सहज अनुराग है । इसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसका ममत्व जाग उठता है । ग्रीक देश जैसी शोभा उसे यदि कहीं देखने को मिली तो यहीं पर । यहां का सुख - शान्तिमय वातावरण उसे आंतरिक आह्लाद से भर देता है[2]। ऐसी सुन्दर भूमि को अपने पिता द्वारा रक्त रंजित करते देख उसका आत्मा विक्षुब्ध हो उठती है ।

वह जितनी सुन्दर है उतनी ही भावुक भी । रणक्षेत्र में मारे जाने वाले असंख्य नर-रत्नों के प्रति उसके मन में करुणा जागृत हो जाती है असंख्य नारियों के असहाय हो जाने की चिन्ता से उसका मन द्रवित हो जाता है । अतः अपने पिता के लौटने पर वह उन्हें युद्ध से विरत करने का निश्चय कर लेती है? अपने पिता के कार्यों के प्रति अनास्था का भाव उसमें जागृत हो जाता है-

क्या ऐसी भीषण काण्ड भी हो सकता सत्कर्म है?

इस घोर युद्ध का रोकना निश्चय मेरा धर्म है[3]।

१- मौर्य विजय

२- मौर्य विजय, पृ०सं० २१ । ३-वही, पृ०सं० २४ ।

किन्तु वह दुर्विनीत नहीं होती । उसे विश्वास है कि उसका वात्सल्यपूर्ण पिता उसके भावों की उपेक्षा नहीं सकता । किन्तु एथेना के पिता-पिता कहने पर भी जब (युद्ध से निराश होकर लौटा हुआ सिल्यूकस) उसे तिरस्कारपूर्ण देखता है, तो वह सहम जाती है और उसकी आंखें सजल हो उठती हैं[1]। पिता का वात्सल्य उमड़ पड़ता है और उसकी अन्य चिन्ताएं कुछ क्षणों के लिए दूर हो जाती हैं । तभी वह युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव निस्संकोच रख देती है ।

चन्द्रगुप्त का बल-पराक्रम और उसकी तेजस्विता एथेना के नारीत्व को उद्दीप्त कर देती है वह चन्द्रगुप्त के प्रति आकृष्ट हो जाती है-

देखा की मूर्ति--समान सब एथेना व्यापार यह
ले एक दीर्घ निश्वास फिर संभली किसी प्रकार वह[2]।

संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि एथेना कोमलता और भावुकता की सजीव प्रतिम है । नारी सुलभ प्रेम, दया और सहानुभूति के गुण उसमें विद्यमान हैं । उसके भोले सौंदर्य और भारत भूमि के प्रति उसके सहज अनुराग ने उसको आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान किया है ।

प्रकृति- प्रकृति के रमणीय चित्र पृष्ठभूमि निर्मित करने के लिए उपस्थित किए गए हैं पात्रों की मानसिक स्थिति के साथ उनका पूरा सामंजस्य है । प्रथम सर्ग में सिल्यूकस सिन्धु किनारे घूमता हुआ चिन्ताग्रस्त है । उसकी पीठिका के रूप में चन्द्रिका स्नान निशागम का शान्त स्निग्ध वातावरण उपयुक्त और आकर्षक है- भारत केवैभव के लोभी सिल्यूकस की लालसा को उद्दीप्त करने मे भी यह सहायक है । स्वतंत्र दृष्टि से भी प्रकृति के इन चित्रों का महत्व कम नहीं है । कवि के तत्सम्बन्धी स्नेह के परिचायक हैं । संध्या, चांदनी और पर्वत श्रेणी आदि सिन्धु तट की ये छवियां हमारी समस्त इन्द्रियों को तृप्त करती हैं -

पूर्ण चन्द्र है उदित सुनीलनभो मण्डल में,
चारू चन्द्रिका छिटक रही है वसुधा तल मे ।
विहग-गणों का बन्द हुआ है आना-जाना,
नहीं रूका है किन्तु पिकों का मधुबरसाना ।
चलकर सुरभित शीतल पवन है सबका मन हर रही ।
देकर सुगन्धि सुख दायिनी, मन को मोहित कर रही[3]।

१- मौर्य विजय, पृ० सं० २ ।२- वही, पृ० सं० २५ ।
३- वही, पृ० सं० ८ ।

प्रकृति के गतिशील चित्र भी कवि ने उतनी ही सफलता के साथ खींचा है जितनी सफलता के साथ स्थिर चित्र । इन दृश्यों से न केवल हमारे नेत्र तृप्त होते हैं वरन् हमारी कर्णेन्द्रिय को भी तृप्ति मिलती है-

कल कल करता हुआ सिन्धु नद बहता जाता ।
रजत कान्तिमय विमल सलिल मन को ललचाता ।
जिनमें निज प्रतिबिम्ब व्याज से आकर तारे-
क्रीड़ा सी कर रहे, विपुल सुन्दरता धारे ।
बालू फैली तट प्रान्त में जो दृग्गति-पर्यन्त है ।
वह विधु-किरणों से चमक कर हुई रुचिर अत्यन्त है-(स्पर्श)[१]

सिल्यूकस की इस "सोने के देश"[२] की कल्पना को कवि ने प्राकृतिक वैभव की व्यंजना द्वारा सार्थक करने की चेष्टा की है । द्वितीय सर्ग में चन्द्रगुप्त के उत्साह और पराक्रम को प्रदर्शित करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में कवि प्रभात का चित्र प्रस्तुत करता है जो युद्ध प्रारम्भ करने की दृष्टि से अवसरोपयुक्त होने के साथ-साथ नायक चन्द्रगुप्त के तेज और प्रताप का व्यंजक भी है-

ऊषा का आगमन हो रहा था सुखकारी,
था बह रहा सुगन्ध मन्द मारुत श्रमहारी ।
एक एक कर लुप्त हो चुके थे सब तारे,
पाते प्रभुता तिमिर मध्य ही लघुजन सारे,
कोकिल मीरादिक विहग-वर सु-स्वर से थे गा उठे,
अथवा सबको करके सजग वण गुण बरसा उठे[३]।

उपर्युक्त छन्द में प्रकृति के सहारे कवि तथ्यों की व्यंजना भी करता है । तारों को रात्रि में ही प्रभुता मिलती है दिन में नहीं- इससे पता लगता है कि लघुजन अंधकार में ही प्रभुत्व प्राप्त करते हैं । तृतीय सर्ग में सिल्यूकस की पराजय के पश्चात् ग्रीक-शिविर में उसकी चिन्ता के लिए कवि ने रात्रि के घने अंधकार की पृष्ठभूमि निर्मित की है । वहाँ की रम्य वनस्थली और आकाशस्थ तारे उस समय बड़े भयंकर मालुम होते हैं[४]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पात्रों की मनोदशाओं एवं वृत्तियों के अनुकूल प्रकृति के आह्लादकारी व भयंकर चित्र कवि ने खींचे हैं और उनके माध्यम से तथ्यों को व्यंजित करने की चेष्टा की है । व्यापकता की दृष्टि से सिन्धु, पर्वत, प्रभात, सन्ध्या, रजनी,

---

१-४: मौर्य विजय- पृ०सं० ८, ९ पंक्ति १, पृ० १३, पृ० १८ ।

चन्द्रिका, तारे, पवन, वन, कोकिल, कीट, विहंग आदि विषयों के वर्णन किए गए हैं, यद्यपि खण्डकाव्य की आवश्यकता के अनुकूल संक्षिप्त किन्तु सरस और प्रसंगानुकूल है ।

रस और भाव-व्यंजना

मौर्य्य -विजय का प्रधान रस वीर है । नायक चन्द्रगुप्त और भारतीय वीर आश्रय है जिसके साथ पाठक का तादात्म्य होता है । सिल्यूकस तथा उसकी सेना आलम्बन है । सिल्यूकस का विजय-गौरव और उसकी सेना का भारत की सीमा में प्रवेश कर दो-तीन दुर्ग हस्तगत कर लेना उद्दीपन है । प्रतिनायक सिल्यूकस के पराक्रम का वर्णन इसी उद्दीपन के अंतर्गत आता है - मातृ-भूमि के प्रति भक्ति और प्रेम भी युद्धोत्साह को उद्दीप्त करते हैं । चन्द्रगुप्त की गर्वोक्तियां अनुभाव हैं, गर्व, मति, धृति, हर्ष आदि संचारी भाव हैं । इन सभी से चन्द्रगुप्त का स्थायी भाव "उत्साह" परिपुष्ट होकर वीररस की व्यंजना करता है । भारतीय सैनिकों की वीरोक्तियोंमें वीर रस की व्यंजना सफलता के साथ हुई है-

बोल उठे सब शूर वीर यों उच्च स्वर से
छोड़ेंगे हम नहीं धर्म प्राणों के डर से,
ग्रीकों का बल गर्व छुड़ा देंगे हम सारा,
भारत के हम और हमारा भारत प्यारा,
फिर सैनिक गण आगे बढ़े नृप निर्देश से शीघ्र ही,
तब कम्पित सी होने लगी, उन सबकी गति से मही[1]।

नायक चन्द्रगुप्त के निम्नांकित कथन में गर्व, धृति, तर्क आदि संचारियों का स्वरूप दिखाई पड़ता है-

बोले नृप- "गुरुदेव, जय श्री हम पावेंगे,
विफल मनोरथ शत्रु शीघ्र ही हो जावेंगे,
समझे जाते यदपि ग्रीक भी है बलधारी ।
पर आर्यों की आत्म-शक्ति अब भी है भारी
यद्यपि भीष्मार्जुन के सदृश वीर यहां अब हैं नहीं?
पर उनके ही सन्तान क्या विश्रुत हम सब हैं नहीं[2]?

१- मौर्य विजय- पृ० सं० १६, द्वितीय सर्ग ।
२- वही, पृ० १९, सर्ग प्रथम ।

वीर-रस का यथार्थ वातावरण द्वितीय सर्ग में युद्ध-वर्णन में मिलता है । यह वर्णन इसमें अधिक विस्तृत नहीं है । युद्ध संबंधी जिन विषयों का लम्बा चौड़ा विस्तार चारण रचित ग्रंथों में मिलता है उनका संकेत मात्र एक दो छंदों में यहां किया गया है । शस्त्रों की झंकार, वीरों का रणभूमि में कौशल दिखाना, आकाश का धूल से ढक जाना अस्त्र-शस्त्रों की बौछार और उनका टूटना, रूण्डों मुंडों आदि का गिरना यहां सांकेतिक रूप में ही वर्णित हुआ है । मौर्य विजय के युद्ध दृश्य का एक चित्र देखिए-

शस्त्र चमकने लगे भयंकर समर स्थल में ।
मरने लगे अनेक वीर गिरकर पल पल में ।
उड़ उड़ कर बहु धूल व्योम मंडल में छाई-
इस प्रकार हो उठी वहां पर घोर लड़ाई ।
वीरों के हृदयों में विपुल बिजली सी भरने लगी,
जो उन्हें शत्रु संहार हित उत्तेजित करने लगी[1] ।

-। + +

कहीं किसी की टूक टूक हो गई सिरोही,
खो बैठे निज अश्व अनेकों अश्वारोही ।
हाथ पैर भी छिन्न हो गए कितनों ही के ।
शीश धड़ों से भिन्न हो गए कितनों ही के ।
बस, हत-आहत ही वीर थे आते दृष्टि जहां तहां,
थी ताण्डव सी करने लगी भीषण मृत्यु स्वयं वहां[2] ।

उपर्युक्त छप्पयों में युद्ध की त्वरा का अभाव है । युद्ध वर्णन के लिए ओजपूर्ण शैली नितान्त आवश्यक है । युद्ध संबंधी छंदों को पढ़ते पढ़ते ही पाठक की शिराओं मे रक्त का प्रवाह तीव्र हो उठता है । उसके शब्दों से ही युद्ध का नाद ध्वनित होने लगता है । मौर्य विजय मे ऐसे सजीव वर्णनों का अभाव है । सियाराम शरण जी की शैली युद्ध वर्णन के लिए अधिक उपयुक्त नहीं कही जा सकती । हां, योद्धाओं के उत्साह को व्यंजित करने में कवि को अवश्य

१- मौर्य विजय पृ० सं० २१ ।
२- वही पृ० सं० ११ ।

सफलता मिली है । "उत्साह" भाव के चित्र राष्ट्र-गौरव, जाति गौरव और अतीत-गौरव की मूल भावना पर केन्द्रित हैं । चन्द्रगुप्त की सेना के उत्साह वर्द्धक गीतों में चन्द्रगुप्त के उत्तेजना वर्द्धक सन्देशों में और शत्रुओं के प्रति सैनिकों की ललकारों में व्यापक राष्ट्रीयता का निखरा हुआ रूप दिखाई पड़ता है-

भरा हमीं में भीम और अर्जुन का बल है,
कम्पित हमसे कहाँ नहीं होता रिपु दल है?
वीर-प्रण सब काल हमारा अचल अटल है,
राम-कृष्ण का अभय दान हम पर निश्चल है ।
ये यवन हमारे सामने टिक सकते हैं क्या कभी?
निज भारतीय बल-वीर्य का आओ परिचय दें अभी[1] ।

पराजित होती हुई सेना के भय व आतंक ग्रस्त होने का वर्णन भी शुष्क इतिवृत्तात्मक सा लगता है। भयभीत सेना के मनोविज्ञान के परिचायक प्रभावशाली चित्र नहीं मिलते-

ज़रा देर में हुई शत्रु-सेना शिथिलित सी,
पीछे वह हट चली युद्ध से हो विचलित सी ।
घबराहट सब ओर पड़ गई उसमें भारी,
तितर बितर तत्काल वहाँ वह गई निहारी ।
आर्यों को काल समान ही देखा उसने भीति से,
आतंकपूर्ण वह हो गई भारतीय रण-रीति से[2] ।

युद्ध वर्णन में चमत्कार लाने या उसकी प्रभाव वृद्धि के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है । अतिशयोक्ति का प्रयोग युद्ध वर्णन का प्रभाव अंकित करने में बड़ा सहायक होता है, किन्तु इस कृति में उसका प्रयोग नहीं हुआ है । सैनिकों को अवनीतल का इन्द्र बताकर अत्युक्ति का सहारा एक आध स्थल पर लिया गया है । उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, विरोधाभास आदि के उदाहरण ढूंढने पर ही मिलेंगे ।

चन्द्रगुप्त के क्षमादान में "दयावीरत्व" झलकता है किन्तु दया के आलम्बन

१-२ मौर्य विजय- पृ० सं० १४, १८ ।

"सेल्यूकस " में "दैन्य" का अभाव होने के कारण "दयावीरत्व" पुष्ट नहीं हो पाता।

शृंगार - युद्ध के कठोर वातावरण में शृंगार की कोमल योजना अत्यन्त हृदय-स्पर्श है । एक ओर लाशों से युद्ध स्थल पट गया है और हिन्दू सेना जय भेरी बजाकर शत्रुओं का पीछा करती है तो दूसरी ओर-

> ग्रीक शिविर के बीच एक सुन्दरी अकेली
> बैठी थी निज गण्डदेश पर दिये हथेली
> चन्द्रकला के सदृश वहां पर किये उजाला
> छवि को ही कर रही विलज्जित थी वह बाला[1]

ग्रीक शिविर में अकेली बैठी हुई सुन्दरी बाला "रति" भाव का आलंबन है । उसकी भावुकता, भारत देश के सौंदर्य के प्रति उसका मोह, पिता को युद्ध से विरत करने की उसकी अभिलाषा उसके रागसिक्त हृदय का परिचय देते हैं । एथेना के रूप की प्रथम झलक पाते ही नृप चन्द्रगुप्त उस पर मुग्ध होकर आत्म-विस्मृत हो जाते हैं-

> देव सुन्दरी-सदृश लिये शोभा मन भाई,
> एथेना भी उन्हें उसी क्षण दी दिखलाई ।
> उस बाला का आलोकमय अनुपम रूप निहार के,
> वे मुग्ध हो गये चित्त में अपनी दशा बिसार के ।
> नृपवर ने दो एक बार उसको अवलोका
> किन्तु संभलकर शीघ्र उन्होंने मन को टोका[2]।

यहां एथेना चंद्रगुप्त के "रति" भाव का आलम्बन है । एथेना का सौन्दर्य उद्दीपन है जड़ता अपहित्था आदि संचारी तथा मुग्ध होना, दृष्टि निक्षेप आदि अनुभाव हैं । इस प्रकार शृंगार रस में इस कृति का पर्यवसान होता है ।

राष्ट्रीय-भावना

मौर्य विजय की राष्ट्रीय भावना का आधार अतीत गौरव है । अतीत वैभव की स्मृति जगाकर उसके सहारे कवि राष्ट्र की आत्म-शक्ति जाग्रत करने की चेष्टा करता है । कवि मौर्य युग के वैभव से आज के पतन की तुलना कर हममें आत्म-

---

१-२ मौर्य-विजय पृ० सं० २३,२६-२७ ।

ग्लानि का भाव जाग्रत करता है । उसे वर्तमान पर क्षोभ है-

धीर वीर उस समय सभी थे भारतवासी,
थे अब के से नही दीन, जड़, रुग्ण, विलासी ।
आर्योचित ही कार्य सभी कोई करते थे,
रणक्षेत्र में नहीं काल से भी डरते थे,
आलस्य, अनुद्यम आदि का पता न लगता था कहीं,
था देश समुन्नत विश्व में ऐसा कोई भी नहीं[१]

कवि के राष्ट्र प्रेम का दूसरा पक्ष देश की धरती और प्रकृति के असीम अनुराग- जो मौर्य विजय में सैनिक के गीतों में फूट पड़ा है ।

पुण्यभूमि यह हमें सर्वदा है सुखकारी,
माता के सम मातृभूमि है यही हमारी ।
हमको ही क्या, सभी जगत को है यह प्यारी,
इतनी गुरुता और कहीं क्या गई निहारी?
यह वसुधा सर्वोत्कृष्ट है क्यों न कहे फिर हम यही
जय जय भारतवासी कृती, जय जय जय भारत मही[२]।

विदेशी भी इस देश के सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं[३] । सैनिकों के प्रति चन्द्रगुप्त के स्फूर्ति दायक वचनों के माध्यम से कवि आर्य-गौरव का अभिमान जगाकर देशवासियों को राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य निभाने की प्रेरणा देता है-

देखो, तुम हो आर्य वीर, यह भुला न देना,
अपनी सारी कीर्ति सदा को सुला न देना,
आर्यों की सन्तान श्रेष्ठ हैं हम बलधारी,
जान जाय यह बात आज यह पृथ्वी सारी ।
जो कार्य तुम्हारे योग्य है करके दिखला दो अभी,
ये म्लेच्छ भूल कर भी इधर मन न करें जिसमें कभी[४] ।

भारत सबसे पहले सभ्य और सुसंस्कृत बना और उसी ने अपने शौर्य्य, वीर्य, औदार्य्य आदि महान गुणों का परिचय विश्व को दिया । आत्म-गौरव की यह भावना कवि ने सैनिकों के गीतों के माध्यम से जगाने की चेष्टा की है-

---

१-४ मौर्य विजय पृ० सं० ६, १०,१३,१७

साक्षी है इतिहास, हमीं पहले जागे हैं,

जागृत सबहो रहे हमारे ही आगे हैं[1]।

इस प्रकार मौर्य विजय में राष्ट्रीय भावना के पोषक सन्देश अनेक स्थलों पर व्यक्त हुए हैं।

भाषा-शैली

मौर्य विजय की भाषा सरल और प्रवाह पूर्ण है। उसमें कृत्रिमता और आडम्बर का सर्वथा अभाव है। बोलचाल की भाषा की स्वच्छता का दर्शन उसमें होता है। वाक्य विन्यास सीधा और व्याकरण सम्मत है। फिर भी भावों को प्रगट करने में वह असमर्थ कहीं भी नहीं दिखाई देती। वीर-रस के लिए कर्कश और कर्णकटु भाषा अधिक उपयुक्त समझी जाती है, किन्तु सियाराम शरण जी सामान्य शैली में वीर-रस का निर्वाह करने की चेष्टा की है।

मौर्य विजय की भाषा में तत्सम शब्दावली का प्राधान्य है। शब्दों के पूर्व उपसर्ग जोड़ने की जो प्रवृत्ति आगे चलकर छायावादी कवियों मे विकसित हुई उसका आभास इस कृति की भाषा में मिलने लगता है। सुराजधानी[2], सुप्रसन्न[3], समुन्नत[4], सु-स्वर[5], प्रकम्पित[6], विलज्जित[7], आदि शब्द इसके उदाहरण है। दृग्गति[8], विपज्जाल[9], जगद्राज्य[10], उल्लासच्छत[11] आदि, जैसे दुरूह सन्धिज पद भी प्रयुक्त हुए हैं। छन्द की आवश्यकता की पूर्ति के लिए कुछ अशुद्ध प्रयोगों के उदाहरण भी मौर्य विजय में मिल जाते है-

थीं विजय तेज की ज्योतियां जिनके मुख पर जग रहीं[12]

करके मन में संकल्प रिपु-संहारण के लिए[12]

+ + +

थी विशाल अत्यन्त सुदृढ़तर उनकी छाती[13]।

जरा देर में हुई शत्रु-सेना शिथिलित सी[14]।

विहग गणों का बन्द हुआ है आना-जानों[15]।

वाक्य-विन्यास में कुछ स्थलों पर शिथिलता के दर्शन होते हैं।

१- मौर्य विजय, पृ० ३१।

२-७: वही, पृ० सं० ५, ६, ६, १३, १९, २३।

८-११: वही, पृ० सं० ८, १७, २४, २८।

१२-१३-१५: वही, पृ० सं० १२, १५, १५, १८, ८।

अलंकार-योजना

मौर्य्य विजय में अलंकारों का प्रयोग बहुत कम हुआ है । श्री दिनकर ने लिखा है "सियाराम शरण जी में कला की आराधना कम और विचारों का सेवन अधिक है । उनका उद्देश्य सौन्दर्य-सृष्टि नहीं, प्रत्युत कविता के माध्यम से सत्य का प्रतिपादन है[१]।" वस्तुतः मौर्य-विजय मे काव्य के कलापक्ष की उत्कृष्टता नहीं दिखाई पड़ती । फिर भी कई स्थलों पर साम्य मूलक अलंकारों के उदाहरण मिलते हैं जो भाव-व्यंजना में सहायक सिद्ध हुए हैं । विरोध मूलक अलंकार के उदाहरण भी ढूंढ़ने पर मिल जाते हैं- शब्दालंकारों का प्रयोग सहज-स्वाभाविक रूप मे हुआ है-किन्तु उनका आतिशय्य नहीं है- निम्नांकित शब्दालंकार भाषा के संगीत के साथ भावों के उत्कर्ष को भी बढ़ाने में सहायक हैं-

अनुप्रास- (क) चारु चन्द्रिका छिटक रही है वसुधा तल में[२]।

(ख) था बहु रहा सुगन्ध मन्द मारुत श्रमहारी[३]।

(ग) रावणारि रघुवंश-रवि, विश्वेश्वर, कल्याणमय[४]।

यमक- (क) यद्यपि वे चंद्रगुप्त जग में कहलाये,
प्रकट चन्द्र से किन्तु उन्होंने गुण थे पाये[५]।

वीप्सा- नीले नीले दूर दीख पड़ते जो भूधर[६]।

अर्थालंकारों में पार्थिव वस्तुओं के सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए प्रायः अपार्थिव या अलौकिक वस्तुओं का अप्रस्तुत रूप में लाया गया है । पाटलिपुत्र को अमरपुरी[७] मातृभूमि भारत को स्वर्गपुरी[८] और राजा चन्द्रगुप्त को इन्द्र[९] से उपमित कर क्रमशः उपमा प्रतीप और उत्प्रेक्षा अलंकारों की योजना हुई है ।

नये नये उपमानों को जुटाने में कवि की कल्पना बहुत कम प्रवृत्त हुई है । परंपरागत रूढ़ उपमानों मे भी चन्द्र, कमल, चकोर आदि गिने चुने उपमानों तक ही कवि की दृष्टि गई है । नायक चन्द्रगुप्त को चन्द्रमा के तुल्य सुख-शान्ति देने वाला और वैभव सम्पन्न दिखाकर कुछ अलंकार जुटाए गए हैं जिनमें प्रजा को चकोर, या कुमुद और सिल्यूकस को राहु बताया गया है-

---

१- कवि सियाराम शरण गुप्त -संपादक डा० नगेन्द्र पृ० ७८ ।

२-६: मौर्य विजय पृ० सं० ८, १२, ५, ६, ८ ।

७-९: वही , पृ० सं० ५,११, ८ ।

रूपक- सज्जण-सूप चकोर-समूहों को सुखदायी
उनकी उज्ज्वल कीर्ति चन्द्रिका सी थी छाई[१]।

दृष्टान्त- निज रुचिर गुणों से वे सुधी सबको प्रिय थे सर्वथा ।
होता है प्यारा कुमुदपति कुमुद-समूहों को यथा[२]।

उपमा- जब चन्द्र तुल्य नृप चन्द ने यहां सुधा की वृष्टि की ।
तब सिल्यूकस ने राहु सम उन पर अपनी दृष्टि की[३]।

एथेना के सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए कवि ने "प्रतीप" अलंकार का सहारा लिया है । यहां छबि स्वयं उपमान बन गई है । -

चन्द्रकला के सदृश वहां पर किये उजाला ।
छबि को ही कर रही विलज्जित थी वह बाला[४]।

पृथ्वी को चन्द्रिका का वस्त्र और तारों के आभूषण पहने हुए दिखाकर कवि ने एक विराट् रूप को उत्प्रेक्षा का विषय बनाया है- जो सुन्दर बन पड़ा है-

पृथ्वी मानों बसन चन्द्रिका का है पहने ।
तारा गण ही बने हुए हैं उसके गहने[५]।

उपर्युक्त साम्य मूलक अलंकारों के अतिरिक्त विरोधाभास और विशेषोक्ति के निम्नांकित सुन्दर प्रयोग इस कृति में उपलब्ध हैं जो कवि की भावाभिव्यक्ति में सहायक हुए है-

हमें मृत्यु के बाद हमारे गीत जिलाते[६]।
(विरोधाभास)

यद्यपि मंद सुगन्ध पवन से शीतल वन है ।
चिन्तानल से किन्तु जल रहा उसका मन है[७]।
(विशेषोक्ति)

छन्द-योजना

छप्पय छंद का प्रयोग हिन्दी में बहुत प्राचीन है । महाकवि चन्द बरदायी ने सर्वाधिक प्रयोग इस छन्द का किया है । यह छंद वीर-रस के उपयुक्त होता है ।

१-३: मौर्य-विजय, पृ० सं०६, ६, ७ ।
४-७: वही, पृ० सं०२३, ८, १४, २८ ।

किन्तु इस छन्द में लय-प्रवाह नहीं होता । डा० श्रीकृष्णलाल ने लिखा है, ------" उसमें (मौर्य विजय में) प्रयुक्त छप्पय छंद में अबाध गति का एकान्त अभाव है । यदि कवि ने कोई दूसरा गति पूर्ण छन्द चुना होता तो शायद मौर्य विजय भी "जयद्रथ-वध" जैसा ही प्रचार पा सकता था[१]।" वीररसोपयुक्त छंद का चुनाव करने पर भी कवि को वीर-रस का वातावरण प्रस्तुत करने में सफलता नहीं मिली है । अतः छंद योजना इस कृति के काव्योत्कर्ष में विशेष सहायता नहीं पहुंचाती जान पड़ती ।

- - - -

---

१ - डा० श्रीकृष्णलालः आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास, पृ० १०३ ।

अध्याय ५

पथिक (रचनाकाल १९२० ई०)

पंडित रामनरेश त्रिपाठी की यह रचना उसी वर्ष प्रकाशित हुई जिस वर्ष महात्मा गांधी ने अपना असहयोग आन्दोलन छेड़ा था। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति का पूर्ण प्रतिबिम्ब पथिक में देखा जा सकता है। एक ओर अंग्रेजों के अन्याय पूर्ण शासन, उनकी दमन-नीति तथा जनता पर छाये हुए भय व आंतक आदि की व्यंजना इसमें हुई है तो दूसरी ओर अहिंसा, असहयोग आदि राष्ट्रोद्धार में सहायक अस्त्रों की शक्ति, व स्वरूप आदि का परिचय दिया गया है। राजनैतिक समस्याओं को आधार बनाकर सफल प्रबन्धकाव्य की रचना करना कठिन कार्य है, किन्तु पथिक में राजनैतिक समस्याओं को कला के साँचे में ढालकर जिस मर्म वेधी कथानक की सृष्टि कवि ने की है वह उसके काव्य-नैपुण्य की द्योतक है। पथिक के चरित्र में उन्होंने गांधी के ही समानान्तर एक सत्यव्रत, धार्मिक और आत्मनिष्ठ राष्ट्रनायक की अवतारणा की है। त्रिपाठी जी स्वयं राजनीति में रुचि रखने वाले व्यक्ति थे और गांधी दर्शन से पूरी तरह प्रभावित थे। गांधी जी ने धर्म (व्यापक अर्थ में) और राजनीति के समन्वय की चेष्टा की थी। त्रिपाठी जी के पथिक में भी धर्म (या अध्यात्म) से अनुशासित राजनीति का स्वर प्रमुख है। नायक पथिक को कर्तव्य पथ पर आरूढ़ करने वाले तपस्वी साधु धर्म या अध्यात्म के ही प्रतीक हैं। इन सबसे बढ़कर पथिक का एक कलाकृति के रूप में भी कम महत्व नहीं है। "पथिक" जैसे आदर्श चरित्र की सृष्टि प्रकृति के रम्य रूपों में रमाने वाली सुन्दर झाँकियाँ एवं पत्थरों के भी हृदय को पिघला देने वाली करुणापूर्ण परिस्थितियाँ इसके कलात्मक वैभव की प्रतीक है।

रचना-शिल्प - पथिक का कथानक प्रख्यात न होकर उत्पाद्य है। इसमें "पथिक" काल्पनिक नायक है। समाज एवं राष्ट्र की सेवा करना उसका व्रत है। ऐसे आदर्श व्यक्ति को खण्डकाव्य का नायक बनाना उपयुक्त नहीं कहा जायगा। महाकाव्योंतक के लिए उत्पाद्य कथानक की व्यवस्था लक्षण ग्रंथों में मिलती है। इस दृष्टि से पथिक में शास्त्रीयता का विरोध नहीं हुआ है। यद्यपि इतिहास-पुराणादि पर आधारित कथाओं को खण्ड काव्य के रूप में विकसित करने की परंपरा का पालन कवि ने नहीं किया है।

पथिक में कवि की स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं । ग्रन्थ का प्रारंभ मंगलाचरण से न होकर प्रकृति-वर्णन से होता है । सम्पूर्ण कथानक को पांच सर्गों में विभाजित किया गया है । प्रारंभ से अंत तक एक ही छंद का प्रयोग हुआ है । केवल एक गीत पथिक प्रिया की वेदना व्यक्त करने के हेतु प्रथम सर्ग में रखा गया है । कथा की शृंखला सुव्यवस्थित है । प्रकृति तथा अन्य वस्तुओं के विस्तृत वर्णन होने पर भी कथा के सूत्र बड़ी सतर्कता से जोड़े गए हैं । आगामी सर्ग की घटना का संकेत भी पूर्ववर्ती सर्ग में मिल जाता है । शास्त्रीयदृष्टि से खण्डकाव्य में आद्यन्त एकरस का प्राधान्य होना चाहिए किन्तु पथिक में नायक का प्रकृति व मातृभूमि विषयक रति भाव ही प्रधानता से व्यंजित हुआ है + जो शास्त्रीय दृष्टि से रसकोटि तक नहीं पहुंचता । पथिक- प्रिया का विषपान, उसके पुत्र की निर्मम हत्या तथा पथिक का नृशंसता पूर्वक व पाठक की करूणा को तीव्रता के साथ उभाड़ते हैं । इसी प्रकार वियोग-शृंगार के कुछ चित्र पथिक प्रिया के आश्रय से प्रस्फुटित हुए हैं । शास्त्रीय आवश्यकता के अनुकूल विविध विषयों के वर्णन इसमें उपलब्ध हैं । प्रकृति के चित्र मुग्धकारी हैं । पथिक का कथानक करूणान्त है । भारतीय आदर्शों की दृष्टि से नायक की मृत्यु उचित नहीं प्रतीत होती, किन्तु पश्चिमी प्रबन्ध काव्यों में यह स्वाभाविक समझा जाता है कि यथार्थवादी दृष्टि से यह अनुचित नहीं कहा जा सकता । पथिक के चरित्र की महत्ता उसके आत्म-बलिदान में निहित है । न केवल अपने को वरन् अपने समस्त परिवार को वह राष्ट्र की भलाई के लिए ~~सहर्ष~~ सहर्ष न्यौछावर कर देता है । पथिक की मृत्यु के बाद भी एक सर्ग की योजना हुई है जिसमें पथिक के बलिदान का फल स्वतंत्रता के रूप में मिला है । निरंकुश राजा के अन्यायपूर्ण शासन के अंत और प्रजातंत्र की स्थापना से सर्वत्र आनंद की लहरें दौड़ जाती हैं । इसके द्वारा दुखान्त होती हुई कथा को कवि ने सुखान्त बनाने की चेष्टा की है ।

<u>वस्तु-विवेचन</u>- पथिक का कथानक पांच सर्गों में विभाजित है । प्रथम सर्ग में नायक पथिक भावुकता के प्रवाह में घर-बार त्याग कर निर्जन समुद्र तट पर प्राकृतिक सौंदर्य में लीन दिखाया गया है वह अपनी पतिव्रता-पत्नी की वियोग-कातर दशा पर भी नहीं पसीजता । द्वितीय सर्ग में एक तपस्वी साधु पथिक को ईश्वर की सृष्टि का रहस्य और मनुष्य जीवन में कर्म की महत्ता का संदेश देता है । उससे प्रेरणा पाकर पथिक की भाव धारा बदलती है । तृतीय सर्ग में वह समस्त देश में घूम-घूम कर समाज और देश की अवस्था का अध्ययन करता है और इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि देश

की दुख-दरिद्रता का मूल कारण निरंकुश राजा का अन्यायपूर्ण शासन है ।राजा से मिलकर और उससे अनुनय-विनय कर पथिक शासन मे सुधार के लिए प्रयत्नशील होता है और असफल होने पर वह राजा से असहयोग करने का मंत्र जनता में फूंक देता है । चतुर्थ सर्ग में कारागार के सामने लौह-शृंखला में बंधे हुए पथिक को उपस्थित जन-समूह के सामने विष पिलाकर प्राण-दण्ड देने की व्यवस्था होती है किन्तु इसी बीच नाटकीय-ढंग से भीड़ को चीरती हुई पथिका-पत्नी आती है और विष का कटोरा उठाकर पी लेती है । राजा का रोषानल भभक उठता है और पथिक के समक्ष ही निर्ममता पूर्वकउसके पुत्र का वध किया जाता है जनता को उत्तेजित होते देख पथिक उसे शान्त रहने और अपनी मृत्यु का बदला न लेने का संदेश देकर स्वयं मृत्यु का आ-लिंगन करता है । अंतिम सर्ग में जनता के असंतोष के भड़क उठने के फलस्वरूप अहिं-सात्मक ढंग से राजा का निर्वासन और प्रजातंत्र की स्थापना होती है ।

पथिक की वस्तु यद्यपि काल्पनिक है किन्तु उस युग की राजनैतिक हलचल का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा इसमें की गई है । कथा में वर्णनात्मकता का प्राधान्य है किन्तु बीच-बीच में नाटकीय तत्वों का समावेश किए जाने के कारण रोचकता की वृद्धि हुई है । वर्णनों के कारण कथा -प्रवाह में कहीं भी बाधा नहीं पड़ती । आदि, मध्य और अंत का निर्वाह भली-भांति हुआ है । वस्तु विन्यास की दृष्टि से यह रचना सफल है ।

चरित्र-चित्रण

पथिक एक चरित्र प्रधान रचना है । घटनाओं का वर्णन इसमें कम है । उन्हें प्रायः सूक्ष्म रखा गया है । पथिक का नृशंसतापूर्वक वध सूक्ष्म है । राजा का सपरिवार निर्वासन भी सूक्ष्म है । "पथिक" में वर्ग-पात्रों की योजना हुई है । नायक पथिक राष्ट्र-नेता का आदर्श है तो पथिक-प्रिया पातिव्रत्य का ।

पथिक- "पथिक" इस कृति का नायक है । नायक का यह नाम सार्थक है । नायक के जीवन का जो काल इस कृति के कथानक में लिया गया है उस काल में वह पथिक बन कर विचरण करता रहता है । पथिक एक गतिशील पात्र है । उसके चरित्र का विकास मनोवैज्ञानिक पद्धति पर हुआ है । प्रारम्भ में उसकी अवस्था उस भावुक युवक की है जो जीवन की कठिनाइयों से ऊबकर प्रकृति की सुख-शान्तिमयी गोद में विश्रा-म पाने का इच्छुक रहता है । उसकी इस भावुक प्रकृति का दर्शन प्रथम सर्ग में उसकी

प्रकृति-प्रेम सम्बन्धी उक्तियों में मिलता है[1]। ऐसे भावुक व्यक्ति के जीवन की दिशा सरलता से बदली जा सकती है । तपस्वी साधु अपनी पैनी दृष्टि और गंभीर अनुभव के बल पर उसकी मानसिक स्थिति को सहज ही समझ लेता है और उसकी छूछी भावुकता को देशानुराग में परिवर्तन कर देने की सफल चेष्टा करता है । इस प्रकार पथिक का प्रेमोन्माद पहले दाम्पत्य (जो सूक्ष्म है) फिर प्रकृति-सौंदर्य और अंततः देशोद्धार से प्रेरित होता है ।

देशोद्धारक नेता के रूप में पथिक में उच्चकोटि के गुणों का विकास होता है उसमें आत्मबल की मात्रा इतनी अधिक है कि वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी अपने लक्ष्य पर दृढ़ता के साथ स्थिररहने में सफल होता है । अपने पत्नी की करूण-मृत्यु और अबोध पुत्र की नृशंसता पूर्वक वध वह अपनी आंखों से देखता है[2] किन्तु राजा के क्षमा मांगने के प्रस्ताव को वह ठुकरा देता है।वह अन्याय के सामने झुकता नहीं । राजा के पत्थरों को भी दहला देने वाले अत्याचारो से जनसमूह उत्तेजित हो उठता है किन्तु पथिक को बदले की भावना या क्रोध का भाव छू भी नहीं जाता । वह उत्तेजित भीड़ को शान्त रहने का संदेश देता है[3]।

पथिक अहिंसा के पथ का पथिक है । "अन्यायी"के प्रति भी दया और उदारता का परिचय देना उसका आदर्श है । आध्यात्मि और नैतिक मूल्यों में उसकी पूर्ण आस्था है । कष्टों और विपत्तियो को हंसते-हंसते झेल लेने का अदम्य साहस उसमें विद्यमा न है । अन्याय और अत्याचार का दृढ़ता पूर्वक विरोध करते हुए भी विनम्र और सहिष्णु बने रहने का उच्च गुण उसमें पूर्णता के साथ विकसित हुआ है । पथिक सचमुच गांधीवादी दर्शन के व्यावहारिक पक्ष का जीता जागता आदर्श है ।

पथिक में अभिमान का लेश भी नहीं दिखाई देता । वह तपस्वी साधु का अंत तक कृतज्ञ रहता है क्योंकि उनकी कृपा से पथिक को उचित दृष्टि मिली[4]। मृत्यु-दण्ड पाने के पूर्ण पथिक को गुरू-दर्शन की लालसा जगती है और गुरू स्वयं वहां उपस्थित होते हैं । गुरू के प्रति कहे हुए वचनों मे पथिक का ईश्वर में अगाध विश्वास और दीन-दुखियों की सेवा में अटूट निष्ठा का परिचय मिलता है ।

पथिक त्याग की सजीव प्रतिमा है । उसने अपने व्यक्ति को समष्टि के लिए न्यौछावर कर दिया । अपना तन, मन, धन, पुत्र, परिवार सभी कुछ राष्ट्र के लिए होम कर दिया । उसकी निस्पृहवृत्ति और निस्वार्थक सेवा-भावना समाज के लिए एक

१-४: देखिए: पथिक- छं०सं० १।१४-२२, ४।२५-३६, ४।५०-६०, ४।६५-७६ ।

भव्य आदर्श प्रस्तुत करती है ।

पथिक-प्रिया- पतिव्रता नारी है । नीचे की पंक्तियों में उसकी पति - भक्ति देखिए-

हे भगवान ! घास मैं होती प्रिय उस पर पग धरते ।
अति कृतज्ञ होती, प्रिय -पद की धूलि मुझे तुम करते !!
प्राणों का आराम वही, आनन्द वही है मन का
आत्मा की है शान्ति वही जीवन है इस जीवन का[१]।

पहले वह प्रेमगर्विता थी । उसके इस रूप का संकेत इन पंक्तियों में मिल जाता है-

देखदेख निशिवासर मेरी नींद भरी सुन्दरता
फूले नहीं समाते थे तुम, हे मेरे दुख-हर्ता !
मैं समझे थी, पृथ्वी तल पर केवल हैं हम दो ही ।
सो तुम हाय ! हो गये ऐसे निठुर और निर्मोही[२]।

किन्तु प्रियतम के विरक्त हो जाने पर वह विरह का दीप जलाए रखती है-

कामना और नहीं कुछ मेरी ।
बहने दो प्रभु ! इन आंखों से जल की अविरल धार ।
सदा सींचने दो जीवन के ताप तप्त सब द्वार[३]।

और जब प्रियतम का मार्ग बुहार बुहार कर वह थक जाती है और वह नहीं आता तो पथिक-प्रिया विरह-वेदना से छटपटा उठती है-

घायल सी मैं तड़प रही हूं किसको व्यथा सुनाऊं
किससे पूछ कहूं संदेशा पाती कहां पठाऊं
हाय ! बटोही भी अब कोई इधर नहीं आते हैं
देख दूर से मुझ दुखिया का घर फिर कर जाते हैं[४] ।

फिर तो प्रियतम का दर्शन ही उसके जीवन का एकमात्र संबल रह जाता है[५]। पति को राजा द्वारा दिए गए मृत्यु-दण्ड का समाचार सुनकर वह फूली नहीं समाती । क्योंकि उसे प्रियतम के दर्शन का एक अवसर और मिलेगा । वह अपना कर्तव्य निश्चित करने में देर नहीं लगाती और घटना स्थल पर पहुंचकर अपनी अभिलाषा पूरी करती है-

इतने ही में भीड़ चीरकर वायु-वेग से आ के।
पथिक प्रिया ने शीघ्र पी लिया विष का पात्र उठा के[६]।

१-६: पथिक- छं० सं० ४।१०, १।२९, १।११, ४।१, ४।१, ४।१५ ।

पति की मृत्यु के पूर्व उसने अपने आपको न्यौछावर कर दिया । यहाँ वह वीर पत्नी के रूप में प्रगट होती है- विषपान के बाद उसकी उक्ति देखिए-

कहा-प्राणधन ! प्राणेश्वर । हे दिव्य ज्योति जीवन की ।
मेरी आज कामना सारी सफल हो गई मन की ।
बड़े भाग्य से यह शुभ अवसर आज अचानक आया ।
इस अनन्त सुख की सुधि करती आज तरंगी काया[1]।

पति के साथ ही बलिदान होकर वह सच्चे अर्थों में पति की अर्द्धांगिनी बन गयी और राष्ट्र ने उसे माता कहकर पुकारा । वस्तुतः उसने राष्ट्र के लिए अपने पति को और पति के लिए अपने आपको बलिदान कर दिया । उसका वात्सल्य भी उसे मार्ग से विचलित न कर सका ।

पथिका प्रिया में पातिव्रत्य मूर्तिमान हो उठा है और पथिक में स्वदेश प्रेम दोनों ही अपने आदर्श का निर्वाह करने के लिए अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देते हैं ।

रस और भाव-व्यंजना

नायक पथिक के रति-भाव का उन्नयन इस कृति में हुआ है । इसमें दाम्पत्य रति भाव देश-विषयक रति भाव की ओर उन्मुख होता है और इसका अंत करूण में होता है । रस दृष्टि से चतुर्थ सर्ग के अंत में ही पथिक की कथा समाप्त हो जानी चाहिए क्योंकि नायक की मृत्यु के बाद कथा किसके आश्रित चलेगी ? पथिक में नायक का तपस्या का फल (स्वतंत्रता) उसकी मृत्यु के बाद भारतीय जनता को मिलता है । उसके आत्म बलिदान से सम्पूर्ण राष्ट्र को सुख समृद्धि और गौरव की प्राप्ति होती है । यद्यपि प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण से नायक का वध खण्डकाव्य-महाकाव्य मे नहीं होना चाहिए तथापि नवीन युग मेंप्राचीन मानदण्ड बदल चुके हैं । प्राचीन काल में राजा-महाराजाओं और दैवी पात्रों को ही काव्यों का विषय बनाया जाता था, किन्तु आज तो सामान्य मानव काव्य के नायकत्व का अधिकारी हो गया है । अतः उसके जीवन के उत्कर्षापकर्ष का यथार्थ स्वरूप काव्यों में अवतरित होना ही स्वाभाविक है । पथिक मेंराजा गौण स्थान देकर प्रजा के प्रतिनिधि को ही प्रधान स्थान दिया गया है । अतः बदली हुई युग-परिस्थितियों के अनुकूल हमें प्राचीन मापदण्डों में भी परिवर्तन करना होगा । राष्ट्रीयता के इस युग में राष्ट्र के लिए सब नायक

१- पथिक- छं० सं० ४।१७ ।

का आत्म-बलिदान उसके उत्कर्ष का ही व्यंजक है । समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए व्यक्ति का बलिदान आज के युग का नहीं युग-युग का सत्य है । उसी सत्य को उद्घाटित करने वाले इस काव्य को अनौचित्य पूर्ण नहीं कह सकते ।

विप्रयोग- पथिक में दाम्पत्य-रति के वियोग पक्ष का चित्रण मार्मिक हुआ है । पथिक-प्रिया की वियोगावस्था के चित्रण में कवि ने विरहिणी की अंतर्व्यथा और उसकी विभिन्न मुद्राओं का परिचय दिया है । विरहिणी की प्रतीक्षारत मुद्रा और अभिलाषा का चित्र देखिए-

रही उड़ीक द्वार पर मैं हूं अन्त घड़ी जीवन की
पूर्ण करो हे नाथ ! शेष है एक साध दर्शन की
एक बार आओ आंखों में मूंद तुम्हें मै लूंगी
देखूंगी मैं फिर न और को तुम्हें न दिखने दूंगी[1]।

और प्रतीक्षा की कठिन घड़ियां बिताते हुए अंतिम दिन आ पहुंचता है किन्तु प्राणाधार नहीं आते । हां स्वप्न मे उसे प्रिय-दर्शन मिलता है किंतु वह सुख भी अपूर्ण रहता है क्योंकि वह ज्योंही स्वप्न में प्रियतम से मिलने को उठती है । त्यों ही उसकी आंखें भी उठ जाती है[2] । इस समय उसका हृदय असह्य वेदना से छटपटाता है । उसकी विवशता विषादपूर्ण हो उठती है-

असहनीय उस समय हृदय मे विरह-वेदना होती ।
सोकर खोती है दुनियां मैं हाय ! जागकर खोती ।
आते पास आंख लगते ही खुलते ही छिप जाते ।
भूलभुलैया खेल नाथ ! क्यो हाय ! मुझे तरसाते[3]।

वियोग वर्णन की रूढ़ियों का निर्वाह पथिक में नहीं हुआ है । फिर भी आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट वियोग की एकादश अवस्थाओं मे से कुछ अवस्थाएं पथिक प्रिया के वियोग मे चित्रित हुई है उपर्युक्त प्रतीक्षा के चित्र में अभिलाषा की अवस्था दिखाई पड़ती है । चिन्ता का स्वरूप इन पंक्तियों में देखिए-

रिमझिम बरस रहे सावन घन उमड़ घुमड़ अलबेले ।
तरू-तल कहीं भीगते होंगे मेरे पथिक अकेले[4]।

उन्माद, प्रलाप, व्याधि आदि अवस्थाओं का एक ही छन्द में उल्लेख मिलता है-

---

१-४: पथिक ४।२, ४।४, ४।५, ४।१९ ।

उन्मादिनी विरहिणी यों ही नित प्रलाप करती थी
रोती कभी, कभी हंसती थी, कभी आह भरती थी
नाम मात्र थी देह, त्वचावृत निरावस्थि पंजर था
शक्तिहीन निर्बल नितान्त तन विरह-व्याधि का घर था[1]।

इनके अतिरिक्त कवि ने अपनी स्वतंत्र अनुभूति के बल पर वियोग की नयी-नयी स्थितियों और अवस्थाओं का परिचय दिया है । इन चित्रों में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता अधिक है-

देता है सूचना पपीहा हवा किवाड़ बजाती
तुमको आया समझ द्वार पर तुरत दौड़ मैं जाती
किन्तु विफल हो हाय ! हृदय को थाम लौट आती हूं ।
यों ही अगणित बार रात दिन मैं धोखा खाती हूं[2]।

पथिक के वियोग-चित्रण में नायिका का नायक की खोज में पथ-पथ पर भटकना, उसको पाने के लिए कठोर व्यथा सहना, प्रिय के न मिलने की अवस्था मे प्राण-त्याग का संकल्प करना आदि बातें प्रेम की विशुद्धता एवं तीव्रता की द्योतक हैं । यद्यपि परंपरागत वियोग-चित्रों में इस प्रकार के विषय उपलब्ध होते हैं किन्तु पथिक के इस प्रकार के वर्णन अधिक स्वाभाविक, नवकल्पना से युक्त और गति(चपलता) दिखाई देती है, उसके रोने, भटकने, मृत्यु का आलिंगन करने में भी उत्साह का दर्शन होता है । विरहिणी प्रियतम पथिक को समुद्रतट पर पाकर उससे घर लौटने के लिए कहती है और अपनी विरहावस्था का वर्णन स्वयं करती हुई कहती है-

कहने लगी-"विषम पीड़ा सह प्रभु ! तव विरहानल में
आई थी मैं आज शरण लेने को सागर तल मे
यदि यह मूर्छित नाथ ! तरणी सी तट पर दृष्टि न आती
तो इस विरह-विदग्ध देह से आज मुक्ति मिल जाती[3]।

हर ऋतु की पीड़ा को, ऋतु-वर्णन या बारहमासे के सहारे प्रस्तुत करने की पद्धति प्राचीन रचनाओं में मिलती है किन्तु पथिक का कवि अनावश्यक विस्तार न देकर एक ही छंद में उसका प्रभाव अंकित कर देता है-

---

१-२: पथिक - छं० सं० ४।१३, ४।६ ।
३- वही, छं० सं० १।३९ ।

गर्मी, बर्षा, सरद, शीत ने इतना घेर सताया ।

आंखों के बल पर फिरती है यह अति जर्जर काया ।

विकसित हुआ बसन्त, लद गई नूतन दल से शाखें ।

बन-शोभा वे लगीं निरखने खोल फूल सी आंखें[1]।

इस प्रकार पथिक के वियोग-वर्णन में अपना एक निजी सौन्दर्य है । इसमें प्राचीन और नवीन का सामंजस्य हुआ है ।

संयोग- संयोगावस्था के चित्र इस कृति में केवल स्मृति के रूप मे मिलते हैं । वास्तविक कथाचक्र के अंतर्गत नायक-नायिका के पारस्परिक रति-व्यापार की व्यंजना नहीं हुई । नायिकाप्रारम्भ से ही वियुक्ता है । वह अपने खोए हुए प्रियपति को बहुत खोज के बाद समुद्र तट पर पाने में सफल होती है किन्तु उस स्थिति में नायक में दाम्पत्य भाव की अवस्थिति नहीं रहती । वह नायिका की ओर से विरक्त हो जाता है । अतः रति की एक पक्षीय व्यंजना संयोग शृंगार को निष्पन्न नहीं होने देती । गृह त्याग के पूर्व नायक- नायिका में रत था । नायिका उन क्षणों की याद दिलाकर नायक का पूर्ण प्रेम पाने की चेष्टा करती है । इसी चेष्टा में संयोग के कुछ चित्र इस कृति में आ गए हैं[2]।

शृंगार के अतिरिक्त करूण रस का परिपाक चतुर्थ सर्ग में मिलता है । पथिक-प्रिया के विषपान, पथिक-पुत्र के नृशंसतापूर्वक वध तथा स्वयं पथिककी निर्मम हत्या से सम्पूर्ण वातावरण शोकमग्न हो जाता है । समस्त प्रजा इस इष्टनाश जन्य शोक का आश्रय है और उसी के साथ पाठक का भी तादात्म्य होता है । प्रिय नेता पथिक,पथिक-प्रिया व पथिक पुत्र की मृत्यु आलम्बन है । ऐसे प्रिय नेता के नेतृत्व से वंचित होना शोक को उद्दीप्त करता है । अश्रु, उच्छ्वास, रूदन, मूर्च्छा, सिहरना, आदि अनुभाव हैं दैन्य, आवेग, स्मृति, विषाद, आदि संचारी भाव है । इन सबसे पुष्ट होकर शोक का भाव करूण रस में परिपक्व होता है । करूण रस का व्यंजक पथिक पुत्र के वध के अवसर का यह उदाहरण लीजिए-

हा, हा, करते रहे लोग सब किन्तु वधिक ने कर में ।

ले कराल करवाल बाल की हत्या की पल भर में ।

कोमल हृदया दया मूर्ति देवियां गिरी मूर्च्छित हो ।

सिहर उठे नर-क्रूर कर्म यह देख व्याकुल चित हो[3]।

एक और उदाहरण पथिक के वध के समय का यहां देना अनुपयुक्त न होगा-

---

१-३: पथिक छं०सं० १।४३, १।२८-२९, ४।४६ ।

ज्ञान शून्य हो क्रोध और अनुरोध-विवश नर नारी ।
रह न सके उस ठौर खड़े वे सह न सके दुख भारी ।
करते हाहाकार कलपते गिरते-पड़ते दुख से ।
चले गये उस प्राण-घातिनी पीड़ा के सम्मुख से[१] ।

स्फुट रूप से अन्य रसों के उदाहरण भी पथिक मे उपलब्ध हो जाते हैं । शान्त-रस का व्यंजक एक छन्द लीजिए । इसमें सृष्टि की नश्वरता का प्रसंग निर्वेद भाव को जागृत करता है-

रहा कौन नर सदा जगत मे रंक भूप अभिमानी ।
ज्ञानी मूढ़ असाधु साधु की केवल रही कहानी ।
कहाँ गए? क्या पता किसी का कुछ संदेशन आया ।
कैसा है वह देश, किसी ने आकर नहीं बताया[२] ।

राजा के आश्रय से क्रोध भाव की व्यंजना सुन्दर हुई है । इसमें अनुभावों की सहायता से चित्र अधिक व्यंजक हो गया है-

"पथिक नाक की सुधि आते ही परम क्रोध बढ़ आया
दृग विस्फारित नाक प्रश्वसित हुई प्रकम्पित काया[३] ।

+ + +

अक्षर लगे निकलने मुख से मानों ज्वलित अंगारे ।
देखे प्रजा पापिनी क्रोधानल की भभक हमारे[४] ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि पथिक में विविध रसों और भावों की व्यंजना सफलता के साथ हुई है ।

<u>रूप-वर्णन-</u> पुरुष के रूप-वर्णन की प्राचीन नख-शिख प्रणाली नहीं मिलती । पथिक के पात्र सामान्य जीवन के स्त्री पुरुष ही हैं उनसे हम सभी भली भाँति परिचित हैं अतः उनके रूप वर्णन को अनावश्यक समझकर कवि ने छोड़ दिया है । पात्रों के भावों और चेष्टाओं आदि को ही कवि ने अपने वर्णन का विषय बनाया है । केवल तपस्वी साधु की आकृति-वेष-भूषा आदि का संक्षिप्त वर्णन कवि ने किया है जो उसके व्यक्तित्व के उद्घाटन में सहायक हुआ है-

---

१-४ पथिक छं० सं० ४।५६, ३।८, ५।१, ५।१९-११ ।

कुश मेखला विशुद्ध अजिन-कौपीन कसे कृश कटि से
आये वहाँ तपोधन सत्तम एक साधु मृदु गति से
भस्मावृत निर्धूम अग्नि सा श्मश्रुयुक्त मुख उनका
द्योतक था महा-महिमामय तप, विराग, सद्गुन का
या मुख के सब ओर झलकती विशद प्रभा थी उर की
या सद्वृत्ति प्रभाव से मिटी थी श्यामता चिकुरों की[1]।

<u>प्रकृति-वर्णन</u>- पथिक में प्रकृति पात्रों के जीवन का अंग बन गई है। प्रबन्ध काव्यों में सामान्यतः कथा प्रसंगों के बीच-बीच कवि प्राकृतिक विषयों और वस्तुओं का वर्णन करता है किन्तु पथिक में पात्रों के मुख से प्रकृति के सौंदर्य का उद्घाटन हुआ है। घटना के स्थान और काल का निर्देश करने के लिए कवि ने प्रथम तीन सर्गों के आरम्भ में क्रमशः समुद्रतटवर्ती प्रातः मध्य-निशा और चाँदनी रात के चित्र प्रस्तुत किए है। पर शेष प्रकृति वर्णन पात्रों के माध्यम से व्यक्त हुआ है। प्रथम सर्ग में नायक पथिक प्रकृति के रमणीय छवि खण्डों मे अपने हृदय की चित्तवृत्तियों को पूरी तरह रमाए हुए उसके प्रेम-प्रवाह में निमग्न हो जाता है। द्वितीय सर्ग में तपस्वी साधु प्रकृति की नियमबद्धता और जड़ता का रहस्य पथिक को समझाने के लिए उसे कार्य-रत दिखाता है। तृतीय सर्ग में स्वदेश की प्राकृतिक छटा के विविध चित्र नायक पथिक के कण्ठ से व्यक्त हुए है। चतुर्थ सर्ग में प्रकृति नायिका की विरह-व्यंजना का अंग होकर प्रस्तुत हुई है। इस प्रकार प्रकृति-चित्रण के विभिन्न पक्ष पथिक में दिखाई पड़ते हैं। पथिक में दक्षिण भारत के प्राकृतिक सौंदर्य की छाप विद्यमान है। अपनी रामेश्वरम् यात्रा के समय कवि ने इस कृति की रचना प्रारंभ की थी। समुद्रतट का हर्षोल्लास मय वातावरण इन पंक्तियों में कितना आकर्षक है-

रेणु- स्वर्ण-कण-सदृश देखकर तट पर ललचाती है।
बड़ी दूर से चलकर लहरें मोद भरी आती है।
चूम चूम निज देश-चरण वह नाच नाच गाती हैं।
यह शोभा! यह हर्ष! कहीं आँखें जग मे पाती हैं[2]।

विराट्-प्रकृति के रूप-सौंदर्य में पथिक लय हो जाना चाहता है-

१-२: पथिक २।५-६, १।५४।

प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिदमाला
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर ह नील गगन है
घन पर बैठ बीच में विचरूं यही चाहता मन है[1]।

प्रकृति के सभी पदार्थ अपने अपने कर्तव्य -पालन में रत है जो मानव को उसका कर्तव्य बोध कराते और कर्म का सन्देश देते है । प्रकृति यहां प्रेरक या उपदेशक के रूप में चित्रित हुई है-

जग में सचर अचर जितने है सारे कर्म निरत है ।
धुन है एक न एक सभी को सब के निश्चित व्रत है ।
जीवन भर आतप सह वसुधा पर छाया करता है ।
तुच्छ पत्र की भी स्वकर्म में कैसी तत्परता है[2]।

द्विवेदी युग के कुछ कवियों ने भारतीय ग्राम्य जीवन की स्वर्ग से तुलना कर उसकी प्रशस्तियां गायी थीं किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्राम्य जीवन के अभावों की ओर कवि स्पष्ट संकेत करता है -

छूता हुआ गांव की सीमा अति निर्मल जल वाला
बहता है अविराम निरन्तर कलकल स्वर से नाला
अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि माला
किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द उजाला[3]।

वन-वाटिका, लता-कुंज , पशु-पक्षी आदि सभी में कवि की दृष्टि गई है । कहीं-कहीं पुष्पों और वृक्षों की सूचियां दी गई है । किन्तु इन सूची गिनाने वाले छंदों में भी कुछ काव्योत्कर्ष की वृद्धि करते हैं । छायादार वृक्षों की सूची छाया की सुख शीतलता का तीव्रता से अनुभव कराती है:-

निम्ब कदम्ब अम्ब इमली की श्याम निरातप छाया
सेवन कर फिर शोक शोक की याद न रखती काया[4]

उपर्युक्त पंक्तियों मे एक श्याम शब्द से छाया की गहनता और शीतलता को मूर्त रूप दे दिया गया है । चित्रों को पूर्णता प्रदान करने के लिए कवि अनेक उपकरणों का सहारा लेता है । ऊबड़-खाबड़ भूमि, सुनसान बीहड़ भी क्षण विशेष

१-४- पथिक- १।१५,   , १।९, ३।१५ ।

में कितना मोहक बन जाता है । कवि ने सांझ की बेला में इस स्थल को आकर्षक को शब्दों में बांधने की चेष्टा की है -

नालों का संयोग, सांझ का समय, घना जंगल है ।
ऊंचे नीचे खोह कगारे निर्जन बीहड़ थल है ।
रह रहकर सौरभ समीर में हैं बन-पुष्प उड़ाते ।
ताप-तप्त जन यहां क्यों न आकर क्षण एक जुड़ाते[1]।

देश के विभिन्न प्रान्तों की प्राकृतिक विशेषताओं की झलक कवि ने प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । राजस्थानी प्रकृति का स्वरूप देखिए-

मधुर मतीरे जहां कलेजे की हैं तपन मिटाते ।
गाधि पुत्र की याद जहां हैं ऊंट मरूट दिलाते । ।
मृगतृष्णा के दृश्य जहां पर नित्य देख पड़ते है ।
इके गिने सावन भादों में वारि बुन्द झड़ते हैं[2]।

प्रेम-तत्व

पथिक में दाम्पत्य प्रेम के वासनापूर्ण पक्ष का नहीं प्रेम के विशुद्ध स्वरूप का उद्घाटन हुआ है । "प्रेम" हृदय को अत्यन्त पवित्र वृत्ति है और इस वृत्ति का विकास कर मनुष्य केवल दाम्पत्य जीवन में ही सफलता नहीं पाता वरन् उसके सहारे वह सत्य और ईश्वर को भी प्राप्त कर सकता है । पथिक में नारी-सौंदर्य के सहारे कवि विश्व-सौन्दर्य और उसके सृष्टा की खोज में प्रवृत्त होता है-

देख अतुल सौन्दर्य तुम्हारा मुग्ध हुआ मन मेरा ।
जिसने तुम्हें रचा वह कैसा होगा चारु चितेरा ।
उसे देखने की दृढ़-इच्छा प्रबल हो उठी मन में ।
फिरा खोज में रूप-राशि की मैं निशिदिन बन बन में[3]।

हृदयस्थ प्रेम-भाव को राष्ट्र, प्रकृति, ईश्वर आदि के प्रति उन्मुख कर इसे व्यापक बनाया जा सकता है । यह भाव जितने ही विराट् लक्ष्य की ओर गतिशील होगा, उतना ही भव्य समझा जायगा, साथ ही दाम्पत्य-भाव के संयोग पक्ष के प्रति उतनी ही अरूचि जाग्रत होगी । प्रेम की यह व्यापकता वस्तुतः विरह-

---

१-३- पथिक ३।१०, ३।१८, १।३५ ।

काल में ही दिखाई देती है, संयोग में उसका स्वरूप प्रच्छन्न रहता है । निम्न पंक्तियों में वियोग की महत्ता बड़े कौशल से व्यंजित हुई है -

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है ।
विरह प्रेम की जागृत गति है और सुषुप्ति मिलन है[१]।

प्रेम में आत्म-समर्पण की भावना मुख्य है । प्रेमी अपने आपको अपनी प्रियवस्तु में लय कर देने व उसके लिए निज को उत्सर्ग कर देने को सदैव प्रस्तुत रहता है । इस कृति मे पथिकप्रिया पथिक के लिए बलिदान होती है और पथिक राष्ट्र के लिए ।

पथिक को विश्व-प्रकृति एक सुन्दर प्रेम कहानी मालूम होती है-
कैसी मधुर मनोहर उज्ज्वल है यह प्रेम-कहानी ।
जी में है अक्षर बन इसके बनूं विश्व की बानी ।
स्थिर, पवित्र आनन्द प्रवाहित सदा शांत सुखकर है ।
अहा ! प्रेम का राज्य परम सुन्दर, अतिशय सुन्दर है[२]।
इस प्रकार प्रेम का उच्चतम स्वरूप पथिक में उद्घाटित हुआ है ।

भाषा-शैली

पथिक की भाषा सरल व प्रसाद गुण सम्पन्न है । इसमें अद्भुत प्रवाह है । भाषा भावानुकूल परिवर्तित होती है । शृंगारादि कोमल रसों की व्यंजना में कोमलकान्त पदावली का व्यवहार हुआ है । ऐसे स्थलों पर भाषा में माधुर्य गुण उत्पन्न हो गया है । उग्र भावों के प्रकाशक स्थलों में ओज गुण का दर्शन होता है । संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार प्रधानता के साथ हुआ है, किन्तु वह खड़ी बोली के प्रकृत सौन्दर्य को नष्ट नहीं कर पाता । तद्भव एवं देशज शब्दो का प्रयोग भी कम नहीं है किन्तु कहीं कहीं पर देशज शब्दों का प्रयोग भाषा के सौंदर्य को क्षति पहुंचाता है । उदाहरण के लिए निम्नांकित पंक्तियों के "पाती पठाना", बांचना आदि प्रयोगों को लिया जा सकता है-

अ- किससे पूंछूं कहूं संदेशा पाती कहां पठाऊं[३]।

आ- ऊंचे स्वर में हुक्म निरंकुश उसने बांच सुनाया[४]।

हौसला[५], गुल[६], बुलबुल[७], हुक्म[८] जैसे प्रचलित विदेशी शब्दों के प्रयोग भी इसमें मिलते हैं । मुहावरों के प्रयोग ने भाषा के सौंदर्य की वृद्धि की है । बहां

१-८- पथिक १।१२, १।७, ४।२, ४।३५, १।१६, ५८, ५८, ४।३५ ।

पर सरल भाषा का प्रयोग हुआ है वहां मुहावरों ने उसे चमत्कारपूर्ण बनाइ दिया है । कुछ उदाहरण यहां पर्याप्त होंगे -

अ- फूले नहीं समाते थे तुम, हे मेरे दुख हर्ता[1]।

आ- हीरा सा जीवन ले क्यो कौड़ी के मोल बिकाऊं[2]।

इ- सुनकर पथिक प्रतीक्षक की, दूत कली खिल उठी जी की[3]।

ई- कुछ हैं वाह-वाह के प्रेमी निर्मय गाल बजाते[4]।

उ- हुल्लड़ का हुरदंग मचाते जी की जलन मिटाते[5]।

ऊ- तो यह इसका पुत्र गंग के घाट अभी उतरेगा[6]।

अंग्रेजी साहित्य में प्रयुक्त कुछ पदों को ज्यों का त्यों ले लिया गया है । जैसे नींद भरी सुन्दरता[7] अंग्रेजी के "स्लीपिंग ब्यूटी" का अनुवाद है ।

अलंकार-योजना

"पथिक" यद्यपि द्विवेदी युग की रचना है किन्तु इसकी अप्रस्तुत योजना में आगे आने वाले छायावादी-युग के संकेत मिलने लगते हैं । पथिक की अलंकार योजना की सबसे बड़ी विशेषता है नवीन उपमानो का प्रयोग । ये उपमान रूप-साम्य पर आधारित न होकर प्रभाव साम्य पर आधारित हैं । कहीं-कहीं पर एक साथ ही अनेक उपमानों की झड़ी कवि ने लगा दी है । उपमा का एक उदाहरण लीजिए-

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरन सी बामा ।
कवि के स्वप्न समान विश्व के विस्मय सी अभिरामा ।
सिंधु गोद में लय से पहले तरंगिता सरिता सी ।
आकर चकित हुई तट पर प्रियतम-दर्शन की प्यासी[8]।

यहां "बामा" के लिए स्वर्गीय किरण "विश्व का विस्मय" सिन्धु में लय होने वाली तरंगित नदी आदि उपमान प्रस्तुत किए गए हैं । ये सभी उपमान नवीन और कवि की कल्पना की उपज हैं । इनसे भाषा की चित्र-विधायिनी-शक्ति का विकास हुआ है । सिन्धु तट पर बैठे हुए पथिक की मुख-मुद्रा शान्त है किन्तु उसका हृदय अशान्त है इसकी व्यंजना कवि ने फूल में घुसे हुए कीट का सादृश्य

१-८- पथिक १।२९,४९, २।४, ३।४४, ३।४४, ४।४१, १।२९, १।४ ।

विधान खड़ा करके बड़ी सफलता के साथ की है-

घुसा विषाद-कीट था कोई उसके हृदय-सुमन मे
मुख ऊपर दुख की छाया थी संध्या सी उपवन में[१](उपमा)

निम्नांकित उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे ललनाओं के शोकाधिक्य की व्यंजना करने में कवि सफल हुआ है-

बार-बार दृग पोंछ रही थीं, ललनाएं आचंल से
अँचल भी मानों रोते थे, भीग-भीग दृग - जल से[२]।

रूपक एवं उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि ने उन पर मानवीय क्रिया -व्यापारों का आरोप किया है-

था निर्भय कर्तव्य परायण वीर-प्रभावित स्वर से,
सिन्धु सन्तरी गरज रहा था अगणित ऊर्मि अधर से ।
चंचल वीचि मरीचि-वसन से सजकर नीले तन को ।
होड़ लगी सी उछल रही थी चारु-चन्द्र-चुम्बन को[३]।

अनेक स्थलों पर कवि ने अमूर्त उपमानों की योजना कर छायावादी शैली का पूर्वाभास दिया है- कुछ उदाहरण यहां प्रस्तुत हैं-

सुन्दर सर है लहर मनोरथ सी उठ कर मिट जाती[४]

+ + +

सर्वोपरि उन्नत मन की सी लक्षित अचल ऊंचाई ।
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई[५]।

अमूर्त के लिए मूर्त उपमानों के प्रयोग के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं-

हुई निविड़ तम में प्रभात-बेला-सी जागृत आशा
देख पुण्य का उदय हुई बलवती उच्च अभिलाषा[६]।

छायावादी कवियों के प्रिय अलंकार मानवीकरण का भी प्रयोग इसमें मिलता है-

कुमुद-बन्धु की मुदित कौमुदी भूपर उतर गगन से ।
सोई थी सिकता-समूह पर परम अचिन्तित मन से[७]।

+ + +

१-७: पथिक- १।५, ४।३०, २।२, ३।१८, ३।११, ३।६०, ३।१ ।

छिटक रही थी स्निग्ध चांदनी पवन तान भरता था ।
ज्योत्स्ना में पत्ते हिलते थे जल छप छप करता था[१]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अलंकार-योजना की दृष्टि से पथिक एक युग प्रवर्तक रचना है । आगे के कवियों में "पथिक" की अलंकार-शैली का अनुगमन विशेष रूप से हुआ है

छन्द- पथिक के सार-छंद का प्रयोग आदि से अंत तक हुआ है । यह छंद लय-प्रवाह की दृष्टि जयद्रथ -बध मे प्रयुक्त हरिगीति का छंद के समान है । छंदो मे मात्रा-संबंधी दोष नहीं मिलते ।

- - -

१- पथिक, छं० सं०, २।५४ ।

अध्याय ६

ग्रंथि (रचनाकाल १९२० ई०)

इसके रचयिता छायावाद के प्रमुख कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत हैं। यह एक वियोगान्त प्रेम-कथा है जिसे अतुकान्त छन्द में प्रस्तुत किया गया है। द्विवेदी युग की रचना होते हुए भी यह एक विशुद्ध छायावादी कृति है। इसे छायावादी शैली का प्रथम खण्डकाव्य कहा जा सकता है। आकार में लघु होने पर भी काव्य-सौन्दर्य की प्रधानता होने के कारण इसकी गणना उत्कृष्ट खण्डकाव्यों में होनी चाहिए।

रचना-शिल्प- ग्रंथि में नायक के जीवन की एक ही घटना को खण्डकाव्य के रूप में विकसित किया गया है। नायक-नायिका के प्रणय पक्ष का उद्घाटन ही कवि का लक्ष्य है। नौका डूबने की घटना से संबंधित अन्य विस्तारों को वह अनावश्यक समझकर छोड़ देता है। इसी प्रकार नायिका के अन्य व्यक्ति के साथ विवाहित होने के संबंध में भी कवि कोई विस्तार नहीं देता। नौका डूबने की घटना घटित होने के समय से लेकर नायिका के अन्य व्यक्ति के साथ परिणीत होने के बीच अनेक व्यक्ति संपर्क में आए होंगे और अनेक अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां उत्पन्न हुई होंगी किन्तु उन सबको विस्तार न देकर कवि उस घटना का अपने अपनी प्रेयसी के जीवन पर प्रभाव दिखाकर अपने प्रणय की असफलता मात्र का दिग्दर्शन कराता है। इतिवृत्तात्मक स्थल इस ग्रंथ में बहुत कम हैं। जो कुछ हैं भी उन्हें अत्यन्त कला-त्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। सम्पूर्ण कृति मार्मिक प्रसंगों और सुकुमार भावों के चित्रों से परिपूर्ण है। चरित्र-चित्रण का प्रयास इसमें नहीं किया गया -वियोग की नाना अंतर्वृत्तियों और संचारी भावों की मूर्त व्यंजना इसमें हुई है। प्रेम और सौंदर्य के मोहक चित्रों की इसमें कमी नहीं है। यह एक दुखान्त रचना है। भारत के प्राचीन साहित्य में दुखान्त काव्यों की रचना नहीं होती थी। प्राचीन आचार्यों के अनुसार चतुर्वर्ग फल में से एक की प्राप्ति नायक को होनी चाहिए, किन्तु यह सिद्धान्त आधुनिक काल में मान्य नहीं है। आधुनिक काव्यों की परीक्षा हम इस कसौटी पर नहीं कर सकते। काव्य का कोई न कोई उद्देश्य होना चाहिए-समाज की निष्ठुरता और व्यक्ति के जीवन पर उसका दुष्परिणाम दिखाना एक सामाजिक लक्ष्य ही है -"समाजहित" की कामना प्रच्छन्न रूप से इसमें विद्यमान है,

अतः वियोगान्त होने पर भी यह रचना "फल"प्राप्ति के लक्ष्य की उपेक्षा करती नहीं प्रतीत होती ।

अलंकार और रस की सुन्दर योजना संयोग-वियोग की नाना-दशाओं का अंकन प्रकृति और मानवी सौंदर्य के विविध रूपों का वर्णन सम्बद्ध कथानक तथा सामाजिक रूढ़ियों और नैतिक बंधनों के प्रति व्यंग्य और विद्रोह का निश्चित लक्ष्य आदि तत्व ग्रंथि को एक सफल खण्डकाव्य का स्वरूप प्रदान करते हैं । बाह्य रूप-रेखा सम्बन्धी लक्षण परिवर्तन शील होते हैं और युग की स्थिति के अनुकूल परिवर्तित होते चलते हैं । किन्तु काव्यरूप के मूलतत्वो मे परिवर्तन संभव नहीं हो सकता । ग्रंथि में खण्डकाव्य के मूलतत्व सुरक्षित हैं केवल बाह्य रूपरेखा बदली हुई है । एक घटना या जीवन के एक पक्ष में सिमटा हुआ विविध काव्योपयुक्त वर्णनों से युक्त काव्य होने के कारण ग्रंथि अवश्य ही एक उत्कृष्ट खण्डकाव्य है । डा॰ नगेन्द्र ने इसे खण्डकाव्य न मानकर गीतिकाव्य मानना ही उपयुक्त समझा है[1] किन्तु इसके विरुद्ध तर्क नहीं दिए हैं । मेरे विचार से गीतिकाव्य यदि सुसंबद्ध कथा का आश्रय लेकर चलता है तो वह खण्डकाव्य या महाकाव्य स्वरूप धारण कर लेता है । संस्कृत में लिखा गया मेघदूत भी इसी प्रकार गीतिकाव्य है किन्तु कथा के आश्रय में लिखित होने के कारण वह "खण्डकाव्य" का उत्कृष्ट उदाहरण माना गया है ।

खण्डकाव्य के वाह्य रूपरेखा-सम्बन्धी लक्षणों के निर्वाह की चेष्टा इस कृति में नहीं हुई । मंगलाचरण की विधि का पालन नहीं हुआ । कल्पना के आ-वाहन से ग्रंथ को प्रारम्भ किया गया है । सर्ग विभाजन की प्रकृति कुछ परिवर्तित रूप मे मिलती है । कथा के मोड़ो को इंगित करने वाले शीर्षकों एक बार, एक प्रातः, अब इधर, प्रेमवंचित- में इसे विभाजित किया गया है । सर्वत्र एक ही अतु-कान्त छंद का प्रयोग किया हुआ है ।

"प्रेमवंचित" नामक अंतिम खण्ड प्रबन्ध-गठन की दृष्टि से शिथिल है । उसमें वियोग के विभिन्न उपकरणों की व्याख्या की गई है जो स्वतंत्र चिन्तन का विषय है ।

वस्तु-विवेचन-इसकी रचना आत्मकथात्मक शैली में हुई है । कवि स्वयं इसका पात्र है । नायक के जीवन की महत्वपूर्ण घटना उसकी प्रेयसी के अन्य के साथ परिणीत

१- देखिए "सुमित्रानंदन पंत" लेखक डा॰ नगेन्द्र पृ॰ सं॰ ।-

हो जाने की) - को खण्डकाव्य के रूप में विकसित किया है । अतः वह स्वयं कथा का नायक है । बसन्त की एक शान्त-सन्ध्या में जल विहार करते हुए नायक की नाव तालाब के गहन-जल में डूब जाती है उसी के साथ कुछ क्षणों के लिए उसके जीवन की लहरें भी सो जाती हैं[१]। मूर्च्छा भंग होने पर वह अपने को चन्द्रकला के समान सुंदरी युवती की कोमल जंघा पर सिर रखे हुए और उसे पुनर्जीवन देने की चेष्टा में व्यथित होकर अपनी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि डालते हुए पाता है । दोनों की दृष्टि के मिलते ही उनमें प्रणय सम्बन्ध स्थापित हो जाता है । नायक कृतज्ञ होकर जीवन-दान देने वाली इस युवती से प्रणय-भिक्षा की प्रार्थना करता है । नायिकाका स्वीकृति सूचक संबोधन "नाथ" सुनकर नायक के हृदय में आशा का संचार हो जाता है । उसका हृदय नायिका के सौंदर्य का उपभोग करने के लिए लालायित हो उठता है । द्वितीय खण्ड में नायिका तथा उनकी सहेलियों के परस्पर हास-परिहास और व्यंग्य विनोद का मधुर वातावरण उपस्थित किया गया है जो नायिका के राग के विकसित होने का सूचक है ।

तृतीय खण्ड का में नायक अपने चिर-तृषित प्रेमी रूप का परिचय देता है । उसके जीवन में प्रेम का अभाव बाल्यकाल से ही रहा - शैशवावस्था में वह मातृ-सुख से वंचित हो चुका था । पन्द्रह वर्ष की अवस्था मे पिता भी स्वर्गगामी हुए अतः निराश्रित होकर नायक अपने मामा की शरण मे था तभी उसके जीवनमे कृपण के दान सी यह प्रेमिका आती है जिसे वह दैवी-वरदान समझकर संतुष्ट होता है । उसका हृदय नव-आशा और नवीन-जीवन के आह्लाद से रंगीन हो जाता है किन्तु दुर्भाग्यवश यह नवोदित प्रेम मृगमरीचिका ही सिद्ध होता है । उसकी प्रणयिनी का ग्रंथि-बंधन उसके देखते-देखते अन्य के साथ हो जाता है- उसकी आशाओं पर वज्रपात हो जाता है[२]। उसके हृदय में वेदना की तड़प उठती है जिसमें समाज के प्रति व्यंग और सौन्दर्य की निष्ठुरता के प्रति उपालम्भ का भाव छिपा है । अंत में निर्वेद-वेदना, सौंदर्य, प्रेम, स्मृति , आशा, उन्माद, आह, अश्रु, विरह आदि वियोग के विविध अंगों का स्वरूप

१- तरणि के ही संग तरल-तरंग से तरणि डूबी थी हमारी ताल में,
सान्ध्य-निःस्वन-से गहन जल-गर्भ में था हमारा विश्व तन्मय हो गया ।
-ग्रंथि पृ० सं० ३ ।

२- हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का ग्रंथि-बन्धन हो गया, वह नव-कमल
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी अन्य मानस का विभूषण हो गया ।-ग्रंथि पृ०सं०५०

स्पष्ट किया गया है ।

ग्रंथि की कथा यद्यपि संकुचित है फिर भी उसका विकास क्रमबद्ध रूप में हुआ है । आरम्भ मध्य और अंत की योजना स्वाभाविक पद्धति पर हुई है । पूर्वा पर क्रम का निर्वाह भली भांति हुई है । नाव डूबने की घटना से कथा आरम्भ होती है और अन्य के साथ नायिका के परिणय में समाप्त होती है । नायक-नायिका के मन में नूतन आशा के संचार और प्रेम के विकास की स्थितियां मध्य की अवस्था की सूचक हैं । इस मध्य की अवस्था को यथोचित विस्तार देने के लिए दो खण्डों की योजना हुई है । एक में नायक की मानसिक अवस्था और ब दूसरे में नायिका की मानसिक अवस्था का दिग्दर्शन कराया गया है- सखियों के हास-परिहास की भावुकतामयी कथाओं की योजना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है । नायक की मानसिक अवस्था के विश्लेषण में उसके माता-पिता के लाड़-दुलार से वंचित रहने की पृष्ठभूमि विशेष सहायक है और जो पाठक की संवेदना को जगाने में समर्थ है । स्थान-स्थान पर परिस्थिति की कोमलता की प्रतीति कराने के लिए बाचकों और पाठकों को संबोधन करने की द्विवेदी युगीन पद्धति का सहारा भी लिया गया है । सौंदर्य-विधान में, भावों के प्रकाशन में, रति के उद्दीपन में, सुख-दुख के सहायक के रूप में, तथा नायक-नायिकाओं के मानस-बिम्ब प्रस्तुत करने में प्रकृति का सहारा लिया गया है । प्रकृति के बिना कवि आगे नहीं बढ़ता । प्रकृति उसके काव्य का अनिवार्य उपादान है ।

रस और भाव-व्यंजना

ग्रंथि में आद्यन्त शृंगार रस की व्यंजना हुई है । शृंगार के वियोग व संयोग दोनों पक्ष इसमें चित्रित हुए हैं । ग्रंथि मे नायक का पूर्वराग नायिका के प्रति प्रगाढ़-प्रेम में विकसित हो जाता है किन्तु उसकी प्रेयसी अन्य व्यक्ति की जीवन संगिनी बन जाती है । नायक के हृदय की दुनियां उजड़ जाती है उसके चिर-तृषित प्रेमी जीवन की अंतिम आशा पर भी वज्रपात हो जाता है । उसकी व्यथा उसके अंतर में नहीं समाती, आंसू और उच्छ्वास में फूट पड़ती है । वह अपनी विवशता पर छटपटाता है और उद्भ्रान्त होकर संतुलन खो देता है । निराशा और समाज एवं विश्व के प्रति विरक्ति का भाव उसमें उत्पन्न होता है । उसकी पराजय और निराशा का स्वर इन पंक्तियों में सुनाई देता है-

निर्वेद- शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन-वीणा बजा !
पर, हृदय ! सब भांति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन- विपिन में बैठ कर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न -भावी को डुबा दे आंख - सी[1]।

संसार की निष्ठुरता पर नायक का हृदय रो उठता है । दर्शन, ज्ञान, अनुभव आदि के उपदेश उसे नीरस और विक्षुब्ध कर देते हैं- रोना संसार का नियम है इसलिए उसे भी रोना चाहिए-

देख रोता है चकोर इधर वहां, तरसता है तृषित-चातक वारि को,
वह,मधुप बिंध कर तड़पता है,यही नियम है संसार का, रो हृदय,रो।
शिथिल-दर्शन! ज्ञान-जृम्भा के अलस! वृद्ध-अनुभव की सिकोड़ ।वृथा मुझे
सान्त्वना मत दो, विरस-उपदेश के उपल मत मारो, नबहलाओ हृदय[2]।

उपर्युक्त पंक्तियों मे चकोर,चातक, मधुप आदि निराश प्रेम के परंपरागत प्रतीकों को एक साथ प्रस्तुत कर कवि ने अभिनव प्रभाव उत्पन्न कर दिया है। व्यथित हृदय प्राणी को दर्शन और ज्ञान के उपदेश सुनकर कितनी झुंझलाहट होती है उसको उपदेशक के शब्द पत्थर की तरह चोट करते हैं । दर्शन,ज्ञान और वृद्ध अनुभव का विकर्षण भी (शरीर की) शिथिलता, अलसता और झुर्रियों के आरोप से व्यंजित किया गया है । विरहावस्था के सूक्ष्म भावों और नाना अंतवृत्तियों को प्रकृति के अनेकानेक कोमल-कठोर रूपों की सहायता से इन्द्रिय-गोचर मूर्त एक रूप देने में कवि को अद्भुत सफलता मिली है- एक उदाहरण देखिए-

स्मृति ! यदपि तुम प्रणय की पद-चिन्ह हो,
पर निरी हो बालिका- तुम हृदय को
गुदगुदाती हो, तरल जल-बिम्ब - सी
तैरती हो, बाल-क्रीड़ा कर सदा[3]।

१-३: ग्रंथि- पृ०सं० ३१, ३२, ३४ ।

कवि भावी के निष्ठुर स्वरूप पर हावी हो जाता है। नीचे की पंक्तियों से उसकी खीज, व्यंग्य और व्यथा की गंभीरता की भी व्यंजना होती है-

हा ! अभय-भवितव्यते ! किस प्रलय के घोर-तम से जन्म तेरा है हुआ !
वात, उल्का, बज्र औ भूकम्प को कूट, क्या तेरा हृदय विधि ने गढ़ा[१]?

+ + +

स्वर्ण-मृग तेरा पिशाचिनि ! हर चुका इष्ट कितनों के हृदय का है अहा !
भटकते कितने नहीं हैं मुग्ध हो देख रजत-मरीचिका तेरी सदा[२]।

उसे सम्पूर्ण विश्व वेदना में ही डूबा दिखाई देने लगता है कवि की वेदना को व्यापक एवं विराट् रूप देता है-

वेदना ! -कैसा करुण-उद्गार है। वेदना ही है अखिल -ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में, उपल में, लहर में, तारकों में, व्योम में है वेदना[३]।

वेदना ही जब उसकी सहचरी हो जाती है तो उसकी पीड़ा का शमन हो जाता है वही वियोगी को प्रिय लगने लगती है- वेदना सुख सम्पन्नता लाती है-

आज मैं सब भांति सुख-सम्पन्न हूं वेदना के इस मनोरम-विपिन में,
विजन-छाया में द्रुमों की, योग-सी, विचरती है आज मेरी वेदना[४]।

वेदना के अन्य अनेक उपकरणों-अश्रु, स्मृति, आह, प्रेम, स्पृहा, सौंदर्य, स्वप्न, तिमिर आदि -की भावुक छवियां चित्रित कर कवि ने करुण वातावरण की सृष्टि की है और विरह-दग्ध हृदय की व्यथा को मूर्त रूप दिया है।

संयोग- ग्रंथि में यद्यपि नायक-नायिका का प्रणय परिणय में परिवर्तित नहीं होता तथापि पूर्वराग विकसित होकर संयोग के स्तर तक पहुंच जाता है। संयोग के स्थूल किन्तु संयत चित्र ग्रंथि में दिखाई पड़ते हैं। नायक-नायिका के हृदयस्थ संचारियों के नाना चित्र ग्रंथि में अंकित किए गए हैं जो रति भाव के पोषक एवं परिचायक हैं। व्रीड़ा, औत्सुक्य, चपलता, हर्ष, तर्क, आवेग आदि की सुन्दर झांकी ग्रंथि में देखने को मिलती है। निम्नांकित उदाहरण में व्रीड़ा संचारी के द्वारा नायिका के रति भाव की व्यंजना हुई है-

"नाथ" कह, अतिशय मधुरता से दबे सरस -स्वर में, सुमुखि थी सकुचा गई,
उस अनूठे-सूत्र ही में हृदय के भाव सारे भर दिए, तावीज-से[५]।

१-४: ग्रंथि पृ० २९, ३७, ४३,

५- वही, पृ०सं० ९(इण्डि० प्रेस से प्रकाशित १९२९ का संस्करण)।

प्रेमी और प्रेमिका के हृदय के हर्ष और औत्सुक्य का प्रतिबिम्ब प्रकृति के पदार्थों में दिखाई पड़ता है-

इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में, अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल सुमन की स्मिति में, लता के अधर में[१]।

प्रेमी और प्रेमिका के दृष्टि मिलने से उनके रति भाव को दृढ़ता प्राप्त होती है। चपलता संचारी यहां "रति" का पोषक है-

एक पल, मेरे प्रिया के दृग-पलक से थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता ने इस विकम्पित-पुलक से दृढ़ किया मानो प्रणय-संबंध था[२]।

इसी प्रकार निम्नांकित मद[३], हर्ष[४], तर्क[५] आदि संचारियों के द्वारा संयोग शृंगार की व्यंजना करने में कवि को सफलता मिली है -

रूप-वर्णन

ग्रंथि के वर्णनों में भावुकता, काल्पनिकता, और दार्शनिकता को सुंदर सामंजस्य दिखाई पड़ता है। विषयों और पदार्थों का स्थूल वर्णन इसमें नहीं मिलता। उनके भावुकता में रंगे हुए सूक्ष्म चित्र ही प्रस्तुत किए गए हैं। जड़ वस्तुओं के बाह्य रूप पर कवि की दृष्टि ठहरती नहीं जान पड़ती। उनका स्पर्श करते ही कवि उनके अंतरमें प्रवेश करने लगता है। जड़-वस्तुओं में भी सुख-दुख, उत्सुकता-विकलता, प्रफुल्लता - खिन्नता आदि की शोध करने लगता है। जड़ पदार्थ ही चेतन की भांति व्यवहार नहीं करते है वनर् हृदयस्थ भाव भी मानव की भांति चेतन रूप धारण कर लेते हैं। नारी-सौंदर्य का चित्र प्रस्तुत करते समय कवि की दृष्टि प्रकृति की सदृश छवि पर दौड़ जाती है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत के समानान्तर बिम्ब चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि की सुकुमार कल्पना का मोहक रूप देखने को मिलता है। बाह्य रूप का साक्षात्कार कराते हुए कवि हृदयस्थ भावों से उनका सम्बन्ध जोड़ देता है-

इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर, साथ ही थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे, -पूर्व को पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था!
बाल-रजनी सी अलक थी डोलती भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में,
अचल, रेखांकित कभी थी कर रही प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में[६]।

१-२: ग्रंथि, पृ०सं०९, ६। ३-४: ग्रंथि, पृ०सं०२७(बाल्य की विस्मय---), १२(बैठ बाता०-
५-वही, पृ०४१(रसिक वाचक---)। ६- वही, पृ० ५।

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्तुत विषय नायिका के मुख पर डोलती हुई अलक की शोभा है। कवि की दृष्टि नायिका के चन्द्र-मुख के साथ ही आकाशस्थ चन्द्र पर भी जाती है जिसके ऊपर बाल रजनी (संध्या बाला) की अलकें डोलती हैं। नायिका के हृदय में (नायक की दृष्टि पड़ते हैं) लज्जा के उदय से उसके मुख का रक्तिम हो जाना भी उदयकालीन चन्द्र की लालिमा से सादृश्य रखता है। साथ ही मुख के सौन्दर्य का हृदयस्थ लज्जा भाव से संबंध भी स्थापित किया गया है। अलकों के द्वारा मुख-छ छबि को रेखांकित करवा कर उसकी प्रमुखता को व्यंजित करने की कल्पना आकर्षक और कवि की अन्तर्दृष्टि की सूक्ष्मता की परिचायक है। चित्र भावोद्रेक में सहायक हैं। जड़ बनी हुई नायिका की लज्जावनत मुद्रा का एक और चित्र देखिए- इसमें प्राकृतिक प्रतीक का सहारा लेकर कवि सौन्दर्य का साक्षात्कार कराता है। नायक का प्रेम-याचना को मौन स्वीकृत देती हुई लज्जावनत नायिका अपने पैरों के नखों से धरती खोद रही है इस मनोवैज्ञानिक क्रिया की कवि भावुकतामयी काल्पनिक व्याख्या प्रस्तुत करता है नायिका का वाह्य सौन्दर्य उसकी आन्तरिक सरसता का भी द्योतक है-

सुभग लगता है गुलाब सहज सदा, क्या उषामय का पुनः कहना भला
लालिमा ही से नहीं क्या टपकती सेब की चिर-सरसता, सुकुमारता?
पद-नखों को गिन, समय के भार को जो घटाती थी भुलाकर, अवनितल
खुरच कर, वह जड़-पलों की धृष्टता थी वहां मानो छिपाना चाहती[1]।

गालों पर गुलाब की छलकती हुई सौन्दर्य की बाढ़ का सांग रूपक देखिए इसमें कवि के यौवन सुलभ भावुक हृदय की पहचान सहज ही हो सकती है-

लाज की मादक-सुरासी लालिमा फैल गालों में, नवीन गुलाब से,
छलकती थी बाढ़-सी सौन्दर्य की अधखुले सस्मित-गढ़ों से, सीप-से।
इन गढ़ों में- रूप के आवर्त-से-घूम-फिर कर, नाव-से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर, भार से दब कर तरुण-सौन्दर्य के[2]।

ग्रन्थि का कवि नायिका के नख-शिख-वर्णन में प्रवृत्त नहीं होता। अंग-प्रत्यंग की शोभा को परम्परागत शैली में दुहराता नहीं। उसकी सौन्दर्य-दृष्टि नवीन है, अपनी है, अपनी रुचि और अनुभव पर आधारित है। उसकी दृष्टि

१-२ ग्रन्थि पृ० सं० १०, ६।

नारी शरीर के उन्हीं बिन्दुओं और केन्द्रों पर अटकती है जो सौंदर्य के स्रोत हैं- नायिका का "इन्दु-मुख" उसपर लटकती हुई अलकें चपल पलक खंजन, मीन और भ्रमर के मिश्रित गुणसम्पन्न नयन, रूप के आवर्त लालिमायुक्त कपोल, सस्मित अधर और तिल चिबुक आदि सौंदर्यपूर्ण अंगों का वर्णन ही प्रमुख है । नायिका की शृंगारोद्दीपक चेष्टाओं के अंतर्गत स्नेह-दृष्टि, पलकों की चपलता, अधरों का कम्पन, पदनखों से अवनितल खुरचना, मन्द मुसकान -संचालन आदि का वर्णन हुआ है । विकसित यौवन और तरुणाई की चंचल लहरों की मानसिक अनुभूति रति को उद्दीप्त करने में विशेष सहायक हुई है । इस प्रकार रति प्रेरक अंगों और चेष्टाओं का चयन ग्रन्थि के नारी सौन्दर्य वर्णन की एक अन्य विशेषता है ।

नेत्रों पर यौवन-विकास का प्रभाव कितने सूक्ष्म मार्मिक रूप में निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत है- उनमें चपलता और अस्थिरता का विकास देखिए-

प्रथम, भय से मीन के लघु-बाल जो थे छिपे रहते गहन-जल में, तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें लालसा अब है विकल करने लगी ।
कमल पर जो चारु दो खंजन, प्रथम पंख फड़काना नहीं थे जानते,
चपल चोखी चोट कर अब पंख की वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को[१]।

प्रकृति-वर्णन

ग्रन्थि में प्रकृति के विराट्-क्षेत्र से काव्य-सामग्री ग्रहण की गई है । वही उसके कवित्व का साधन है । उपमानों प्रतीकों व अलंकारों के रूप में उसका ग्रहण तो प्रायः हर पंक्ति में मिलता है किन्तु उसे चेतन मानवी रूप में, सुख दुख की सहचरी के रूप में और प्रेरक शक्ति के रूप में भी अनेक स्थलों पर चित्रित किया गया है । पृष्ठ भूमि के रूप में प्रकृति के सुन्दर चित्रों का स्वतंत्र रूप से उदघाटन भी हुआ है, यद्यपि वे चित्र भाव के उद्दीपन में भी सहायक होते हैं । नाव डूबने की घटना के पूर्व बसन्त ऋतु का मोहक चित्र वातावरण का निर्माण करता है और आगे आने वाले प्रणय क प्रसंग की पृष्ठभूमि निर्मित कर रति-भाव को भी उद्दीप्त करता है-

---

१- ग्रन्थि पृष्ठ सं० १४ ।

वह मधुर मधु-मास था, जब गन्ध से मुग्ध होकर झूमते थे मधुप-दल,
रसिक-पिक से सरस तरुण-रसाल थे अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिग्ध से ।
जानकर ऋतुराज का नव-आगमन अखिल कोमल-कामनाएं अवनि की
खिल उठी थीं मृदुल-सुमनों में कई सुफल होने को अवनि के ईश से[1]।

यहाँ मधुमास, गन्ध से मत्त झूमते हुए मधुपदल, कोयल का सरस संगीत, मंजरीयुक्त (तरुण) रसाल और खिले फूलों को एक साथ ध्वन्यात्मक शब्दावली में संजोकर कवि बसन्त का रूप-रस-गंध युक्त सजीव चित्र पाठकों के समक्ष खड़ा कर देता है ।

संध्या के एक अन्य चित्र में प्रकृति के विराट रूप में मानवीय प्रेम-व्यापारों और चेष्टाओं का आरोप किया गया है-

रुचिरतर निज कनक-किरणों को तपन चरम-गिरि को खींचता था कृपण-सा,
अरुण-आभा में रंगा था वह पतन रज-कणों सी वासनाओं से विपुल ।
अचिरता से सहज आभूषित हुई कीर्ति कितनी है नहीं छिपती अहा ।
सान्ध्य-महिषी-सी, प्रभा-अवसान से, वाम-वर्द्धित अलसता में, तिमिर में[2] ।

प्रेमी की आशा समाज की निष्ठुरता के कारण पूरी नहीं होने पाती । इस तथ्य की व्यंजना, भृंग, बसन्ती, कालिन आदि प्राकृतिक प्रतीकों के सहारे हुई है-

भींग मालिक की तरल-जलधार से एक मधुकर मूल में गिर कर, सजल
भग्न-आशा से छंदों को पोंछ कर पुनः उड़ने को विकल था हो रहा ।
मन्द-मारुत से बसन्ती झूम कर झुक रही थी तरल तिरछी पांति में,
ललित लोल-उमंग-सी लावण्य की, मानिनी-सी, पीन-यौवन-भार से[3]

नवविकसित यौवन का मादक सौन्दर्य नेत्रों को सुख न देकर विह्वलता प्रदान करता है-प्रकृति के माध्यम से इसकी व्यंजना देखिए-

संकुचित थीं प्रात जो नव-क्यारियां दुपहरी की, वे अरुण की ज्योति में
फूलने अब हैं लगीं, उन्मत्त कर लोचनों को निज सुरा-सी कान्ति से[4]

१-४ ग्रन्थि पृ० सं० २,३,१२,१५ ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस कृति में प्रकृति कवि की भावाभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनी है। विशेषकर कवि हृदय की दमित इच्छाओं और शृंगारिक प्रवृत्तियों को उससे वाणी मिली है।

प्रेमतत्व

<u>ग्रन्थि</u>- ग्रंथि में रूप जन्य (स्वच्छन्द) प्रेम ही कवि का आदर्श रहा है। नारी-सौंदर्य के प्रति कवि में अनुचित ~~ऐसे~~ मोह है। चूंकि जीवन भर नायक जो कि कदाचित् कवि के अतिरिक्त अन्य नहीं हो सकता क्योंकि कवि के जीवन की वास्तविक परिस्थितियां भी कथानक की परिस्थितियों के समान ही रही हैं। नायक को प्रेम का अभाव खटकता रहा- बाल्यावस्था में मां, पन्द्रहवर्ष की अवस्था में पिता चल बसे और अपनी अभिलषित प्रयसी को भी वह पत्नी रूप में न पा सका- अतः नारी सौन्दर्य के प्रति रहस्यापूर्ण आकर्षण होना स्वाभाविक ही है। प्रेम की तृषा और प्रणय की असफलता ने कवि को अंतर्मुखी बना दिया। उसकी कुंठित वासनाएं उसके काव्य के माध्यम से अभिव्यक्ति का मार्ग ढूढ़ने लगीं- नारी के शारीरित्र रूप का उपभो करने की लालसा कवि में तीव्र है। प्रेम की जिस अनोखी रीति का वर्णन कवि नीचे की पंक्तियों में करता है वह भी नारी- के शारीरिक उपभोग की भावना से ही अनुप्राणित है- क्योंकि वह भ्रकुटि कटाक्ष से प्रेरित है परिचय से नहीं- ~~कह~~

> यह अनोखी-रीति है क्या प्रेम की, जो अपांगों से अधिक है देखता,
> दूर होकर और बढ़ता है, तथा वारि पीकर पूछता है घर सदा[1]?

नारी के उपभोग का स्वरूप भी कवि कहीं कहीं एवं स्थूल रूप में कह डालता है- उसका चिर-विरही हृदय नारी के ऐसे व्यवहार का भूखा है जो मत्तगज से पुरुष को ~~वि~~ दृष्टि के कृश-सूत्र में बांध ले-

> मत्त गज से पुरुष को जिसने नहीं बांध डाला दृष्टि के कृश-सूत्र से,
> बस, बिना सोचे, अचानक, प्रेम को हृदय जिसने हो न अर्पण कर सका,
> प्रेम ही का नाम जप, जिसने नहीं रात्रि के पल हों गिने, प्रतिशब्द से
> चौंक कर, उत्सुक-नयन जिसने उधर हो ने देखा- प्यार क्या उसने किया[2]?

१-२ ग्रन्थि पृ० सं० ९, १३।

प्रेम में सोच-विचार की गुंजाइश नहीं, प्रेम-पात्र से पूर्व परिचित होना भी आवश्यक नहीं । प्रेम हृदय का ऐसा भाव है जो अनजाने और अपरिचित के प्रति ही सहसा उमड़ पड़ता है । ग्रन्थि में प्रेम के स्वरूप की मार्मिक व्यंजना भी हुई है । पंत जी के प्रेम का मानवी करण किया है । प्रेम अत्यन्त भोला है तभी तो वह सौन्दर्य के रूप-जाल में मृग की भांति भटकता फिरता है किन्तु उसकी तृषा कहीं शान्त नहीं होती, वेदना और छटपटाहट ही उसको प्राप्त होती है । वेदना के व्याकुल हाथों से ही संभवतः उसका रूप निर्मित होता है । इसी कारण जहां प्रेम है वहां आह, उन्माद, ज्वाला भी है । उसमें चंचलता है किन्तु बुद्धि नहीं-भविष्य के परिणाम को समझने का विवेक नहीं । वह हृदय को अनजान हाथों में सौंप देता है[१] ।

सच्चा प्रेम कभी पूर्ण नहीं होता वह सदैव अपूर्ण और अतृप्त रहता है-

पूर्णता स्मृति-हीन है, सत्प्रेम की मूक-वाणी एक अनुभव है सही,
बिम्ब भी मिलता नहीं सौन्दर्य का घाव भी पर हाय मिटता है नहीं[२]।

भाषा-शैली

ग्रन्थि की भाषा में छायावादी शैली की सभी विशेषताएं लक्षित होती हैं । द्विवेदी युग के कवियों ने खड़ी बोली को काव्य-भाषा का पद अवश्य दिला दिया था किन्तु ब्रजभाषा के माधुर्य के अभ्यस्त कान उसकी इतिवृत्तात्मकता और रूक्षता के कारण तृप्त न हो सके । वस्तुतः पंत जी ने खड़ी बोली को काव्योचित सौंदर्य, सुकुमारता और मधुरता प्रदान कर उसकी अभिव्यंजना शक्ति की वृद्धि की । ग्रन्थि की भाषा में जो चित्रमयता, व्यंजकता और कोमलता है । उसका आधार उसका शब्द-चयन और उनकी लाक्षणिक-शक्ति है । पंत जी ने कविता की भाषा का लक्षण बताते हुए लिखा है " उसके शब्द सस्वर होने चाहिए जो बोलते हों । -- जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि से आंखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झंकार में चित्र - चित्र में झंकार हों[३]"। इस सस्वर शब्दावली से युक्त अनेक चित्र ग्रन्थि में देखने को मिलते हैं । एक चित्र देखिए-

रुचिरतर निज कनक-किरणों को तपन चरम-गिरि को खींचता था कृपण-सा
अरुण-आभा में रंगा था वह पतन रज-कणों सी वासनाओं से विपुल[४] ।

१-२ ग्रन्थि पृ० सं० ३४,१७ ।
३- पल्लव प्रवेश, पृ० १७ । ४- ग्रन्थि पृ० ३ ।

शब्दों के प्रयोग के प्रति पंत जी अत्यंत सजग रहे हैं । वे शब्दों के हृदय में प्रवेश कर उनकी शक्ति की थाह पाने की चेष्टा करते हैं । ऐसा करते समय कोई तद्भव, देशज या विदेशी शब्द उन्हें प्रिय लगता है तो उसे ग्रहण करने में उन्हें संकोच नहीं होता । समान्यतः संस्कृत के कोमल तत्सम शब्दों का बाहुल्य ग्रन्थि में है । "ता" युक्त भाववाचक संज्ञा शब्दों का प्रचुरता के साथ प्रयोग ग्रन्थि में हुआ है । इससे भाषा में नूतनता और कोमलता आ गई है । मधुरता, सरलता, तरुणता, अचिरता, प्रमुखता, चपलता, मूकता, दीनता, अल्पता, विकलता, चतुरता आदि इसके उदाहरण हैं । इसी प्रकार मृदुल, पुलकित, भ्रमित, रेखांकित, विकंपित आदि कोमल वर्ण वाले विशेषण शब्दों का बाहुल्य है । शब्दों के पूर्व निरर्थक उपसर्गों को जोड़कर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति छायावादी रचनाओं में विशेष पायी जाती है । ग्रंथि में भी ऐसे प्रयोग प्रचुरता से मिलते हैं । विमूर्छित, समव्यथित, विकंपित, समुत्सुक, समुद, सुपरिचिति, सुछवि, सुसस्मित, विनीरव, प्रतनु आदि शब्द इसके उदाहरण हैं ।

वाक्य-रचना की दृष्टि से ग्रन्थि में द्विवेदी युगीन प्रवृत्ति का दर्शन होता है । वाक्य पूर्ण रूप में प्रस्तुत किए गए हैं । संयुक्त क्रियाओं और सहायक क्रियाओं का प्रयोग इसमें धड़िल्ले के साथ हुआ है "है" जैसे दो सींगों वाले हरिण को आश्रम-मृग समझकर"२पंत जी ने यहां उस पर दया अवश्य दिखलाई है, पल्लव के बाद संभव है उन्होंने ऐसा न किया हो[१] । ग्रंथि का एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की जो अपागों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा वारि पीकर पूछता है घर सदा[२] ।

लिंग-भेद- की स्वच्छंदता के दो उदाहरण ग्रन्थि में मिलते हैं । विहंग शब्द हिन्दी में उभयलिंग का घोतक माना जाता है किन्तु ग्रंथि मे इसे पुल्लिंग मानकर इसका स्त्रीलिंग रूप विहंगिनी[३] प्रयुक्त हुआ है । इसी प्रकार "बुलबुल" का प्रयोग हिन्दी में स्त्री लिंग के रूप में होता है किन्तु पंत जी ने सरल उड़ते बुलबुलों को पकड़कर[४] में इसे पुल्लिंग के रूप में व्यवहृत किया है ।

१- पल्लव के प्रवेश में पंत जी ने द्विवेदी युगीन भाषा की आलोचना करते हुए लिखा था- "है को तो जहां तक हो सके निकाल देना चाहिए । इसका प्रयोग प्रायः व्यर्थ ही होता है । इस दो सींगों वाले हरिण को "आश्रम मृग" समझ इस पर दया दिखलाना ठीक नहीं, यह कनक-मृग है, इसे कविता की पंचवटी के पास फटकने न देना ही अच्छा है ।" पल्लव, प्रवेश, पृष्ठ ३८ ।

मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग बहुत काम हुआ है किन्तु कुछ प्रयोग सुन्दर है नीचे के उदाहरण में लोकोक्ति का प्रयोग भावोत्कर्ष में सहायक हुआ है-

यह अनोखी-रीति है क्या प्रेम की जो अपागों से अधिक है देखता,

दूर होकर और बढ़ता है, तथा वारि पीकर पूछता है वर सदा[1]?

इसी प्रकार अंग्रेजी के मुहावरे का सहारा लेकर नीचे के छन्द में सुन्दर व्यंजना हुई है । "रेखांकित" अंग्रेजी "अण्डर लाइण्ड" का ही अनुवाद है-

बाल-रजनी-सी अलक थी डोलती भ्रमित हो शशि के बदन के बीच में,

अचल, रेखांकित कभी थी कर रही प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में[2]।

शब्दालंकारों के सुन्दर प्रयोग ग्रंथि की भाषा में मधुर संगीत उत्पन्न हो गया है । इस प्रकार पंत जी की भाषा-शैली नवीन, चित्ताकर्षक और सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को व्यक्त करने में पूर्ण सक्षम है । प्रतीकों और लाक्षणिक प्रयोगों ने उसमें अभिनव सौंदर्य की सृष्टि की है ।

अलंकार

उपमाओं के एक से एक नवीन रूप यहां देखने को मिलते हैं । ग्रंथि की अप्रस्तुत योजना का आधार मुख्यतः बाह्य-प्रकृति है । प्रकृति के सहारे ही कवि सूक्ष्म भावों को मूर्त रूप देने में सफल हुआ है । कहीं-कहीं अलंकारों के प्रयोग से कवि की कल्पना में दुरूहता आ गई है, जो काव्योत्कर्ष में सहायक न होकर बाधक बन गई है । अनावश्यक उपमानों की झड़ी लगाकर भी कवि ने कहीं-कहीं भाव के सौंदर्य को क्षति पहुंचाई है । किन्तु अधिकांश स्थलों पर कवि के द्वारा प्रयुक्त प्राचीन और नवीन अलंकारों ने काव्य-सौंदर्य की वृद्धि की है । उपमा के निम्नांकित दो उदाहरण चित्रों को पूर्णता प्रदान करते हैं-

सान्ध्य-निःस्वन-से गहन जल-गर्भ में था हमारा विश्व तन्मय हो गया[3]।

जैसे सन्ध्या कालीन कोलाहल थोड़े समय में ही स्तब्ध हो जाता है उसी प्रकार गहन जलगर्भ में नायक के जीवन की हलचल लय हो चुकी थी-(जल गर्भ की रूप-रेखा को सान्ध्य-निःस्वन की उपमा से स्पष्ट हो गयी है और उसकी गहनता मुखरित हो उठी है) इसी प्रकार निम्नांकित उदाहरण में तरुणी के चौंकने का कोमल चित्र है । पहले वायु विलोड़ित लहर का चित्र मस्तिष्क में खड़ा होता है और पुनः साम्य के आधार पर तरुणी के चौंककर उठने का -

---

१-२: ग्रंथि-पृ० ९, ५ । ३- वही,(सं० १९९९) पृ० सं० ३ ।

अर्ध-चुम्बन छोड़, मैं झट चौंक कर जग पड़ी हूं अनिल-पीड़ित लहर-सी[1]।

कुछ उपमाएं भावों की व्यंजना में सहायक हैं किन्तु भावों में विस्मयता नहीं लातीं-

उन दिनों मैं था, कृपण से दान-सी, दैव से जब प्रेमिका मुझको मिली[2]।

(भाग्य हीन नायक को दैव से प्रेमिका की प्राप्ति ठीक ऐसी ही थी वैसी कृपण को दान-प्राप्ति) । इसी प्रकार की कुछ उपमाएं भाव-व्यंजना में एक विशिष्ट प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करती हैं-जैसे-

अवनि के सुख बढ़ रहे थे दिवस से[3]।

-------सजनि ! उस दृश्य की

बाल-चर्चा ने हमारा प्रिय-समय हर लिया उस हंसिनी के हृदय-सा[4]। आदि

व्यंजना को अधिक तीव्र बनाने के लिए कवि कभी कभी उपमाओं की झड़ी लगा देता है-

"जब अचानक, अनिल की छवि में पला एक जल-कण, जलद -शिशु-सा पलक पर आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा, चाह-सा, सुधि-सा-, सगुन-सा, स्वप्न-सा[5]

व्यतिरेक अलंकार नीचे की पंक्तियों में ध्वनित है । यह अलंकार ध्वनि का उदाहरण है-

इन्दु पर, उस इन्दु-मुख पर, साथ ही थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से, लाज से रक्तिम हुए थे,-पूर्व को पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था[6]।

कुछ स्थलों पर एक साथ अनेक अलंकारों की योजना कवि ने की है नीचे की पंक्तियों में सहोक्ति, यथासंख्य, श्लेष, उपमा आदि अलंकारों की संसृष्टि देखिए-

निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा एक पल, निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप-सी[7]।

(सहोक्ति), (यथासंख्य),(श्लेष), (उपमा) ।

विषम,विरोधाभास जैसे विरोधमूलक अलंकारों का सफल प्रयोग भी कवि ने किया है-

---

१-६: ग्रंथि, पृ० सं० ११, २६, २, १७, १९, ५, ।

७- वही, पृ० सं०९ ।

"यह अनोखी-रीति है, क्या प्रेम की, जो अपांगों से अधिक है देखता,

दूर होकर और बढ़ता है, तथा वारि पीकर पूछता है घर सदा[१]।

मानवीकरण-विशेषताएं विपर्यय जैसे अंग्रेजी साहित्य में प्रयुक्त अलंकारों का भी एक ही छन्द में उक्त दोनों अलंकारों का सौंदर्य देखिए-

दीनता के ही विकम्पित-पात्र में दान बढ़कर छलकता है प्रीति से[२]।

उपर्युक्त उदाहरण में दीनता का मानवीकरण हुआ है और "विकम्पित पात्र"में विशेषण विपर्यय है। पात्र विकम्पित नहीं होता, दीन विकंपित होता है।"पात्र" में श्लेष भी मिलता है।

छन्द-योजना

ग्रंथि मे प्रयुक्त छन्द -योजना पीयूष वर्ष छन्द है। पंत जी ने इ प्राचीन छन्द का प्रयोग नवीन पद्धति पर किया है। एक तो उनके द्वारा प्रयुक्त यह छन्द अतुकान्त है। दूसरी विशेषता यह पदान्तर प्रवाही है अर्थात् वाक्य एक में पूर्ण न होकर अन्य चरणों तक प्रवाहित होता रहता है। यह अंग्रेजी छंद योजना का प्रभाव कहा जा सकता है। यह छंद शृंगार और करूणा के लिए विशेष उपयोगी होती है। ग्रंथि के भावों को हृदय संवेद्य बनाने मे इस छंद से बड़ी सहायता मिली है। इसकी लय भी बड़ी मधुर होती है।

- - -

१-२: ग्रंथि पृ० सं० ९, ८।

गंगावतरण (रचनाकाल १९२३ ई०)

इसके रचयिता बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" आधुनिक युग के ब्रजभाषा कवियों में सर्वश्रेष्ठ थे । ब्रजभाषा-काव्य-परंपरा के वे अंतिम प्रतिनिधि माने जाते हैं ब्रजभाषा में लिखी जाने पर भी इस कृति को आधुनिक काल के खण्डकाव्यों में महत्व-पूर्ण स्थान है । नव जागरण के इस युग में पौराणिक कथा को ज्यों का त्यों ग्रहण करके सफल खण्ड काव्य की रचना करना- और वह भी रूढ़ि की पोषक समझी जाने वाली प्राचीन काव्यभाषा में एक दुस्साध्य कार्य था । किन्तु इस कृति के रचयिता की उच्च कोटि की काव्य-प्रतिभा और प्रबन्ध क्षमता ने नवीनता प्रेमी विद्वानों को भी इस कृति की महत्ता स्वीकृत करने पर विवश कर दिया । अपने काव्य गुणों के कारण ही इसे इतनी लोक प्रियता प्राप्त हुई ।

प्रबन्धात्मकता- गंगावतरण के संस्करण में लेखक ने निर्देश किया है कि इस ग्रन्थ की रचना पहले १९२१ में महारानी अयोध्या की प्रेरणा से हरिद्वार में हुई थी । उस समय इसमें भागीरथ की तपस्या से लेकर गंगा के हरिद्वारा आने तक की कथा का ही वर्णन लगभग सवासौ छन्दों में किया गया था । उसमें जह्नु की कथा भी सम्मिलित न थी । पीछे दो वर्ष बाद १९२३ ई० में कवि ने कथा को अपने मित्रों के आग्रह तथा महारानी की आज्ञा से पूर्ण किया जिसमें आदि और अंत दोनों में ही कवि ने परिवर्द्धन कर क इसे वर्तमान रूप दिया । इस परिवर्द्धन में गंगा की पौराणिक कथा को पूर्ण बनाने और गंगा की महत्ता को उभारने की चेष्टा ही विशेष रही है । प्रबन्ध के सुसंबद्ध विकास एवं अनुपात पर कवि की दृष्टि उतनी नही रही है । कदाचित् अपने प्रारंभिक (१९२१ में लिखे गए) रूप में वह प्रबंध-गठन की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण रही होगी ।

इसका कथानक १३ सर्गों में विभक्त है । इसमें गंगा के पृथ्वी पर आने की एक ही घटना को विस्तार के साथ विकसित किया गया है । प्रथम आठ सर्गों में इतिवृत्त और वर्णनों का सुन्दर सामंजस्य हुआ है । कथा के बीच बीच में प्रसंगा-नुसार विविध विषयों के मोहक वर्णन सुनियोजित हैं जो अवधपुरी और वृन्दाबन के वर्णन वैभव संपन्न है । नवें, दसवें और ग्यारहवें सर्गों में कथा का सूत्र क्षीण हो गया है उनमें वर्णनात्मकता का प्राधान्य है, किन्तु ये वर्णन असंबद्ध नहीं हैं । इनमें

इनमें भी कथा का क्षीण तंतु बराबर चलता रहता है। गंगा हिमश्रृंगों से उतरकर गंगोत्तरी होती हुई, टिहरी, देवप्रयाग, हृषीकेश और हरिद्वार से निकलकर प्रयाग, वाराणसी आदि मैदानी भागों में होती हुई गंगासागर की ओर बढ़ती है। गंगा की इन स्थानों की शोभा तथा गंगातटवर्ती नागरिक स्त्री-पुरुषों के आनंदोत्साह-जल क्रीड़ा आदि का वर्णन भी प्रबन्ध के क्षीण तंतु से मंडित है। चूंकि गंगा का स्वर्ग से पृथ्वी पर आना ही कथा का मुख्य कार्य है अतः पृथ्वी पर उनके विस्तार-प्रसार का विस्तृत वर्णन स्वाभाविक ही है। फिर भी एक प्रकार के छवि-चित्रों की पुनरावृत्ति के कारण ये विस्तृत वर्णन कहीं कहीं अरुचिकर हो गए हैं।

गंगा के मार्ग में पड़ने वाले विभिन्न स्थलों का निर्देश गंगावतरण में हुआ है जो स्वभावतः कालिदास के मेघ के अलका तक जाने के मार्ग में पड़ने वाले स्थानों के वर्णन की स्मृति जगा देता है। देश-वर्णन एवं पवित्र तीर्थ स्थानों का वर्णन कवि के भौगोलिक ज्ञान का ही परिचय नहीं देता उसके व्यापक देश-प्रेम और प्रकृति-प्रेम का उद्घाटन भी करता है। गंगावतरण के उत्तरवर्ती सर्गों में प्रबन्ध के मोटे सूत्र भले ही न मिलते हों किन्तु इन स्थलों पर ही कवि की मौलिक प्रतिभा और कवित्व-शक्ति का दर्शन होता है। पूर्ववर्ती सर्गों में मौलिकता का अभाव है।

विस्तृत देश वर्णन, आकाश और पाताल के बीच इसकी घटनाओं का फैलाव, तथा अनेक पीढ़ियों के पात्रों का विस्तृत देशकाल इस ग्रन्थ को एक विराट् सौन्दर्य प्रदान करता है और इसे हिन्दी के अन्य खण्ड काव्यों से विशिष्ट एक महत्व-पूर्ण कोटि का भागीदार बनाता है। इन वर्णनों को पढ़कर क्रमशः मेघदूत और रघुवंश के कथा क्रमों का स्मरण हो जाना स्वाभाविक ही है।

प्रबन्ध में कार्य की एकता का होना अनिवार्य है। अर्थात् प्रबन्धान्तर्गत आए हुए समस्त प्रसंग एवं घटना-व्यापार एक ही मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होने चाहिए। इस दृष्टि से गंगावतरण का प्रबन्ध उत्कृष्ट कोटि का कहा जा सकता है। कोई भी घटना ऐसी नहीं है जो गंगा के स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने के मुख्य उद्देश्य की पूर्ति में सहायक न हो। गंगा के आगमन के पश्चात् समस्त प्रयत्नों और उद्योगों का शमन हो जाताकिन्तु है।

किन्तु यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि गंगा को पृथ्वी पर लाना कथा का मुख्य कार्य है अथवा सगर सुतों का उद्धार ? क्योंकि गंगा के पृथ्वी पर आ

जाने के साथ कथा समाप्त नहीं होती द्वादश सर्ग में गंगा रसातल में पहुंचकर सगर सुतों की भस्म को अंक में धारण करती है[1] । पुनः अंतिम सर्ग में राजा भागीरथ आनन्दित होकर अयोध्यापुरी को लौटते हैं, जहां उनका भव्य स्वागत होता है ।

कवि के प्रतिपादन के क्रम से ऐसा ज्ञात होता कि कथा का मुख्य कार्य गंगावतरण ही है सगर सुतों का उद्धार उसी का एक पक्ष है । गंगा के पृथ्वी पर आने के बाद जो व्यापक हर्षोल्लास का वातावरण चार सर्गों में चित्रित किया गया है, वह वस्तुतः कथा के महान् कार्य सम्पन्न होने के अवसर अपार आनन्द की ही व्यंजना है । सृष्टि के पापों का नाश करने वाली गंगा का पृथ्वी पर आना समस्त लोक के कल्याण का व्यापक कार्य है । सगर सुतों को मोक्ष देने के लिए ही उनका अवतरण नहीं हुआ । सगर सुतों का उद्धार कथा का कार्य मानने से उसमें दृष्टिकोण सीमित हो जाना । कवि का दृष्टिकोण लोक-कल्याण का व्यापक दृष्टिकोण है । इसीलिए ब्रह्मा के आग्रह पर भागीरथ द्वादश सर्ग में भारत पर कृपादृष्टि रखने और इसे धन-धान्य समृद्ध बनाये रखने का वरदान मांगते हैं[2]। इससे भी कवि की व्यापक लोकदृष्टि का आभास मिलता है । कृति का नामकरण भी "गंगावतरण" को ही कृति का मुख्य कार्य व्यंजित करता है । मूर्ति का दर्शन करने आते हैं । गंगा का प्रादुर्भाव होता है । किन्तु यह प्रासंगिक कथा गंगा की पवित्रता और महत्ता को व्यक्त कर मुख्य कार्य को उत्कर्ष प्रदान करती है ।

शास्त्रीय दृष्टि से कथा के फल की प्राप्ति नायक को होती है । गंगावतरण में भागीरथ को गंगा के रूप में फल की प्राप्ति होती है । अतः गंगावतरण के नायक निस्संदेह अंशुमान-दिलीप-भागीरथ कुल है । खण्डकाव्य की दृष्टि से इतना कथा विस्तार त्रुटि पूर्ण कहा जा सकता है किन्तु उसका मुख्य कथा के साथ कार्यकरण संबंध होने के कारण वह असंगत नहीं प्रतीत होता ।

"गंगावतरण" का अंत अवश्य प्रबन्ध कला की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट नहीं है । प्रबन्ध काव्य के कवि को अपनी आवश्यकता के अनुकूल घटना व्यापार का चयन करना पड़ता है और अनावश्यक सामग्री का त्याग अपेक्षित होता है । गंगावतरण तथा सगर सुतों के उद्धार का मुख्य कार्य संपन्न हो जाने के बाद सामान्यतः कथा का अंत हो जाना चाहिये । किन्तु उसके बाद देवमण्डली का, राजा भागीरथ

१- गंगावतरण, सर्ग १२, छं० ६ ।
२- वही, सर्ग १२, छं० ३७-३८ ।

के निकट पहुंचकर उनकी विविध प्रकार से सराहना करना, ब्रह्मा का प्रसन्न होकर भागीरथ को बर मांगने के लिए कहना तथा अंतिम सर्ग में राजा भागीरथ की गंगा-स्तुति व उनका मार्ग व नगर में स्वागत्-सत्कार आदि प्रबन्ध की भी आवश्यकता के अनुकूल नहीं प्रतीत होते । किन्तु यह पौराणिक शैली का प्रभाव है । पौराणिक महाकाव्यों में भी इतर प्रसंगों की योजना प्रबन्ध की आवश्यकता के विपरीत कवियों ने की है । तुलसीदास के रामचरित मानस में बालकाण्ड के आदि और उत्तरकाण्ड के प्रसंगों में कवि प्रबन्ध का ध्यान बिलकुल छोड़ बैठता है । गंगावतरण में भी मानस की उसी परम्परा का दर्शन होता है । किन्तु एक बात अवश्य कही जा सकती है कि महाकाव्यों की व्यापक परिधि में अवांछित प्रसंगों की अवतारणा उसके "महाकाव्यात्मक"स्वरूप को नष्ट नहीं करती किन्तु "खण्डकाव्य" के कवि को प्रबन्ध-निर्माण में अधिक सजग रहना पड़ता है । उसकी संकुचित परिधि में अनावश्यक विस्तार से प्रबन्ध का सौष्ठव नष्ट हो जाता है ।

गंगावतरण में शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह सम्यक् रूप से हुआ है । प्रारम्भ में गंगा, सरस्वती और गणेश की बंदना की गयी है । इसकी कथा पौराणिक है और नायक एक ही वंश में उत्पन्न सगर, भागीरथ आदि राजा हैं जो धीरोदात्त गुण सम्पन्न हैं । इसमें वीर रस की प्रधानता है अन्य रस भी अंग रूप में प्रयुक्त हुए हैं । चतुर्वर्ग फल में से मोक्षदायिनी गंगा के रूप में मोक्ष की प्राप्ति होती है । सम्पूर्ण कथा को ११ सर्गों में विभक्त किया गया है, यद्यपि आचार्य विश्वनाथ के अनुसार ८ से अधिक सर्ग होने पर कृति महाकाव्य की कोटि में आ जाती है[1], किन्तु यह बाह्यलक्षण है, अतः यह खण्डकाव्य, महाकाव्य के निर्णय की कसौटी नहीं बन सकता । इसमें आद्यन्त एक ही रोला छन्द का प्रयोग हुआ है । प्रत्येक सर्ग के अन्त में एक "उल्लाला" रखकर कवि ने सर्गान्त में छंद-परिवर्तन के नियम का पालन किया है । ग्रंथ का नामकरण मुख्य वृत्त के आधार पर हुआ है ।

<u>वस्तु-विवेचन</u>- गंगावतरण की कथा का आधार बाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के ३८वें से ४४वें सर्ग तक की कथा है । किन्तु बाल्मीकि रामायण की कथा के साथ कवि ने गंगा के जन्म की कथा को ब्रह्मवैवर्त एवं देवी भागवत आदि पुराणों से लेकर गंगावतरण के चतुर्थ सर्ग में संग्रथित कर दिया है । चौथे सर्ग की कथा को छोड़कर शेष कथा का आधार बाल्मीकि रामायण है । इसमें कवि ने कोई मौलिक परिवर्तन

१- नाति स्वल्पा नाति दीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह- सा०द० ६।३२० ।

नहीं किए हैं किन्तु फिर भी गंगावतरण की कथा बाल्मीकि रामायण की कथा का अविकल अनुवाद नहीं है । बाल्मीकि रामायण और गंगावतरण की कथा का मिलान करने पर निम्नलिखित स्थलों पर उनमें पार्थक्य है-

बाल्मीकि रामायण में अश्व की रक्षा के लिए अंशुमान को नियुक्त किया गया है और इन्द्र ने वहां राक्षस का रूप धारण करके घोड़े का हरण किया है । किन्तु गंगावतरण में घोड़े की रक्षा के लिए सगर के साठ हजार पुत्र ही नियुक्त किए गए हैं और इन्द्र उनके आतंक से अदृश्य रहते हुए घोड़े का हरण करता है । बाल्मीकि रामायण में गंगावतरण की भांति राजा सगर के क्रोधित होकर यज्ञ-सरणि के बाहर जाने को उद्यत होने और गुरु के द्वारा समझाए जाने का प्रसंग नहीं मिलता । वहां वे उस अवसर पर अपने ६०००० पुत्रों को घोड़े का पता लगाने के लिए भेजते हैं । बाल्मीकि रामायण में गंगावतरण की भांति ज्योतिषियों द्वार घोड़े के पाताल में होने का रहस्य उद्घाटित नहीं होता वहां तो राक्षसों के द्वारा विघ्न पहुंचाए जाने का प्रसंग स्पष्ट रहता है । गंगावतरण की भांति बाल्मीकि रामायण में कपिल के आश्रम में पहुंचने के पूर्व सगर सुतों को अपशकुन नहीं होते हैं[१] और न पुत्रों के लौटने में अतिविलम्ब होने पर राजा सगर को ही अपशकुन होते हैं । बाल्मीकि रामायण में अंशुमान गरूड़ से वार्तालाप के पूर्व अपने पितरों की राख के ढेर और यज्ञ के घोड़े का चरता हुआ देख लेता है किन्तु गंगावतरण में गरूड़ द्वारा इंगित किए जाने पर अंशुमान को यह ज्ञात होता है ।

गंगावतरण में गंगा के जन्म की कथा का अंश देवी भागवत एवं ब्रह्म वैवर्त पुराणों के आधार पर जोड़ दिए जाने के कारण गरूड़ अंशुमान का वार्तालाप अत्यन्त विस्तृत हो गया है किन्तु बाल्मीकि रामायण में वह अति संक्षिप्त है । बाल्मीकि रामायण में गंगा के जाह्नवी नाम पड़ने तथा पृथ्वीतल पर आने की तिथियाँ गंगावतरण की भांति नहीं बतायी गयी हैं ।

कथा के उपर्युक्त परिवर्तनों के साथ-साथ कथा के विस्तारों में दोनों ग्रंथों में पार्थक्य है । गंगावतरण के पंचम सर्ग में ५१ छन्द हैं जिनका आधार बाल्मीकि रामायण के कुवल १६ छन्द है । इसी प्रकार गंगावतरण के ९ से १३ तक के सर्गों का आधार बाल्मीकि रामायण का केवल एक श्लोक है-

---

१- गंगावतरण ११।१ ।

जगाम च पुनर्गंगा भागीरथ रथानुगा
सागरं चापि संप्राप्ता सा सरित्प्रवरा तदा[१]।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि गंगावतरण के उत्तरवर्ती (६ से १३ तक) सर्गों में जो वर्णन विस्तार मिलता है वह पूर्णतया मौलिक है। बाल्मीकि रामायण पर आधारित प्रसंगों में अनेक स्थल अनुवाद मात्र हैं किन्तु फिर भी कथा को प्रस्तुत करने का ढंग व कवि का अपना है। गंगावतरण के कथात्मक अंश कुछ अधिक विस्तृत और अधिक प्रभावशाली है।

गंगावतरण के चतुर्थ सर्ग में आयी हुई गंगा के कृष्ण के विग्रह से उत्पन्न होने की कथा देवी भागवत के नवम् स्कन्ध के बारहवें अध्याय में मिलती है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में शिव के संगीत से देवताओं के द्रवी भूत होने से गंगा की उत्पत्ति की कथा कही गयी है[२]। इस सर्ग में सं० ३१ से ३४ तक के श्लोक उसी पर आधारित हैं किन्तु वर्णन विस्तार में पर्याप्त मौलिकता है।

गंगावतरण की मौलिकता के पक्ष में श्री विशम्भरनाथ भट्ट ने लिखा है- "किसी प्रसिद्ध कथा को कहते समय भौगोलिक स्थलों, व्यक्तिवाचक नामों अथवा अन्य महत्वपूर्ण बातों की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पौराणिक कथाओं में तो इन बातों की अवहेलना से उनकी पौराणिकता नष्ट हो जाती है। रत्नाकर जी ने गंगावतरण में आख्यान का रंग प्रद्युतित रखने के लिए ही बाल्मीकि रामायण से कथानक के स्थूल रूप को ग्रहण किया है, परन्तु कथा की अभिव्यंजना में उन्होंने अपनी ही भावुकता का आश्रय लिया है[३]।"

चरित्र-चित्रण

गंगावतरण घटना प्रधान वर्णनात्मक खण्डकाव्य है। चरित्र-चित्रण इसका लक्ष्य नहीं है। फिर भी विभिन्न कोटियों के पात्रों की अवतारणा इसमें हुई हैं। उनके शील स्वभावादि का परिचय कवि ने दिया है, किन्तु वह उन पात्रों का परंपरागत वैशिष्ट्य है। कवि ने अपनी ओर से चरित्रों की रूप-रेखा में कोई परिवर्तन नहीं किया है। उनके परंपरागत स्वरूप को अक्षुण्ण रखने पर भी इसमें पात्रों की सृष्टि महत्वपूर्ण एवं आकर्षक है।

१- बाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ४८। श्लोक सं०- ।
२- देखिए: ब्रह्मवैवर्त पुराण पूर्वार्ध अध्याय ३४।श्लोक ७-१३।
३- रत्नाकर उनकी प्रतिभा और कला पृ० १७५(?)

इसकी पहली विशेषता मानवी एवं दैवी पात्रों को मिली-जुली योजना है। इन दोनों कोटि के पात्रों में कुछ सद्वृत्ति वाले उत्तम कोटि के पात्र हैं और कुछ असद्तवृत्ति वाले निम्न कोटि के। दैवी पात्रों में ब्रह्मा, शिव आदि सद्वृत्ति युक्त कहे जा सकते हैं + और "इन्द्र" असद्वृत्ति युक्त(ईर्ष्यालु) कहा जा सकता है। इसी प्रकार मानवी पात्रों में सगर, अंशुमान, दिलीप, भागीरथ आदि सत्पात्र हैं और असमंज तथा सुमति के साठसहस्त्र पुत्र उद्धत प्रकृति वाले असत्पात्र हैं। एक तीसरा वर्ग ऋषि-मुनियों का है जिनमें भृगु, वशिष्ठ, कपिल और जह्नु प्रमुख हैं। इनमें भी प्रथम दो के औदार्य का परिचय मिलता है तो अन्तिम दो के क्रोध का। स्त्री पात्रों में सुमति, केशनी, गंगा और राधा का वर्णन आया है। प्रथम दो का कथा में कोई महत्व नहीं है। गंगा का "बाला" के रूप में अनुभूत घनीभूत होना दिवाकर के प्रति उनका अनुराग व्यंजित किया गया है किन्तु राधा मुद्रा से संशकित हो वे कृष्णा के अंगों में विलीन हो गयीं। शेष स्थलों पर उनको ब्रह्मदेव के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है - उस रूप में भी उनके "कान्त" भाव की झलक शिव के प्रसंग में दिखाई गई है। गरूड़ मानवेतर कोटि के पात्र पक्षीराज हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में गंगावतरण क चरित्र-वैविध्य की एक सूक्ष्म रूपरेखा प्रस्तुत की गयी है। खण्डकाव्य की सीमा में विविध कोटियों के भिन्न प्रकृति वाले चरित्रों की योजना सफलता के साथ करना संभव नहीं है। तथापि गंगावतरण में चरित्र-विकास पर दृष्टि न होने के कारण उनकी योजना में कोई कठिनाई नहीं हुई है।

भागीरथ का चरित्र इसमें अधिक महत्वपूर्ण है उस पर विस्तार से विचार किया जा रहा है। अन्य चरित्रों मेंकोई वैशिष्ट्य नहीं है अतः अलग से उनका विस्तृत विवेचन अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया है।

भागीरथ

गंगावतरण के नायक हैं, गंगा की फलरूप में प्राप्ति उन्हीं को होती है। उनमें संकल्प की दृढ़ता, पूर्वजों के प्रति श्रद्धा, कष्ट सहिष्णुता, अदम्य साहस और अनुपम त्याग आदि गुणों के दर्शन होते हैं, किन्तु ये सभी गुण उनकी अजस्र तपस्या और लक्ष्य की दृढ़ता के ही पोषक हैं। उनके चरित्र का यही सर्वोत्तम गुण सम्पूर्ण कृति में व्याप्त है। इसी गुण के कारण उनका नाम गंगा के साथ सदैव के लिए जुड़ गया। भागीरथ साहसपूर्ण सत्प्रयत्नों के प्रतीक हो गए। ब्रह्मा, शिव,

गंगा, जह्नु सभी उनकी घोर तपस्या से विह्वल होकर उनके पास आते और उन्हें मनोवांछित फल देते हैं ।

इस दृढ़ता के साथ उनकी कोमलता और उदारता का परिचय भी मिलता है । वे ककेवल अपने पूर्वजों का उद्धार करने के लिए ही नहीं, संसार के कल्याण की भावना से प्रेरित थे । स्वदेश और स्वजाति को उन्नत बनाने की और उसके दुख-दारिद्र्य को मिटाने की अभिलाषा भी उनमे थी गंगा के प्रसन्न होने पर वे गंगा से यह वरदान मांगते हैंः-

पापी पतित स्वजाति-त्यक्त सौ सौ पीढ़िनि के ।
धर्म विरोधी कर्म-भ्रष्ट च्युत श्रुति-सीढ़िनि के ।
तुव जल श्रद्धा सहित न्हाइ हरि नाम उचारत ।
ह्वै सब तन मन सुद्ध होहिं भारत के भारत[1]।

द्वादश सर्ग में वे ब्रह्मा से भी ऐसा ही वरदान मांगते हैंः-

भारत पर निज कृपादृष्टि राखहु नित स्वामी[2]।

भगीरथ जैसे पाचीन पौराणिक पात्र में भी कवि ने भारत देश के प्रति ममत्व एवं श्रद्धा के भाव की अवतारणा या उनमें राष्ट्रीय भावना की प्रतिष्ठा की है । कवि अपने युग की मांगों से असंपृक्त नहीं रह सकता । इस ग्रंथ का रचनाकाल भारत में राष्ट्रीय भावना के विकास का काल है । अतः गंगावतरण जैसे विशुद्ध पौराणिक ग्रंथ के नायक में भी राष्ट्रीयता का भाव विद्यमान है । भगीरथ के चरित्र में यह विकास कवि की मौलिकता का द्योतक है ।

रस और भाव-व्यंजना

गंगावतरण के प्रबन्ध निर्माण में कवि ने देशकाल की विस्तृत पृष्ठभूमि का सहारा लिया है । अतः देश-काल-चरित्र आदि की स्तर्नें भांति रस-वैविध्य भी इसमें दृष्टव्य है । प्रायः सभी रसों की अवतारणा इसमें हुई है जिनमें वीर, करुण, शृंगार आदि प्रमुख हैं । नायक भगीरथ को आश्रय और गंगा को आलम्बन मानकर इस काव्य में भक्ति-भाव की प्रधानता मानी जा सकती है किन्तु भक्त वत्सलता के स्थान पर गंगा में उग्रता अधिक दिखाई देती है । श्री कृपाशंकर शुक्ल ने लिखा है-

---

१-२: गंगावतरण, १२।१९, १२।३७ ।

"किसी भी देवता में भक्ति का आलम्बन होने के लिए कुछ आकर्षण चाहिए । इष्ट की ओर से भक्तों को ढ़ाढ़स बंधाने योग्य कुछ आश्वासन अवश्य मिलना चाहिए । पर गंगा इस विषय में पूर्ण उदासीन हैं । उन्हें भक्तों के प्रति कोई अनुराग नहीं । आकाश से उतरते समय के उनके उग्र रूप को देखकर भक्तों को भय ही लगेगा[1]।" फिर भी तेरहवें (अंतिम) सर्ग में गंगा में भक्त-वत्सलता का दर्शन होता है । भगीरथ की स्तुति से प्रसन्न होकर उनके हृदय में कृपा की फुरहरी उठ जाती है-

"नृप अस्तुति सुनि उठी गंग-उर कृपा फुरहरी ।
जल-तल पर लहरान लगी आनन्द की लहरी ।
यह धुनि मंजुल मधुर धार-कल कल तैं आई ।
धन्य भगीरथ भूप धन्य तव पुन्य कमाई[2]।"

किन्तु यहां पर भी उनकी कृपा अपर्याप्त है । "इस समय यदि गंगा प्रकट हो जातीं तो अधिक उचित हुआ होता । उनको गुप्त ही रखकर कवि ने उन्हें भक्तों से कुछ दूर ही रहने दिया[3]।" इस प्रकार भक्ति को गंगावतरण की मूल-भावना के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

उत्साह इस काव्य का मुख्य भाव है जो परिपुष्ट होकर वीर रस में परिपक्व होता है । इस दृष्टि से भगीरथ कर्मवीर हैं । गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए कठोर तपस्या करने में उनका उत्साह प्रकट होता है । उनका लक्ष्य भारत भूमि के कल्मषों को मिटा कर उसे निर्मल, पवित्र एवंसमृद्ध बनाना है और इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए वे कठोर तपस्या के कष्टों एवं मार्ग की अनेक रुकावटों को दूर करने में अथक उत्साह प्रदर्शित करते हैं - निम्नलिखित पंक्तियों मे हर्ष, संचारी भगीरथ के उत्साह को ही ध्वनित करता है-

जाइ गोकरन -धाम नृपति अति आनंद पायौ
मनु गज तोरि अलान उमगि कदली-बन आयौ ।
सिद्धि पीठ सुभ देखि नेत्र तहं ललकि लुभाए ।
मनहुं सोधि मनि-खानि-सोध सोधी हुलसाए[4]।

१- कविवर रत्नाकर-कृष्णाशंकर शुक्ल(द्वि०सं०)पृ० १८६ ।
२- गंगावतरण १३।१९ ।
३- कविवर रत्नाकर-कृष्णाशंकर शुक्ल(द्वि०सं०)पृ०सं० १८६ ।
४- गंगावतरण- ६।१ ।

वीर-रस की व्यंजना के अनेक सुन्दर स्थल गंगावतरण में उपलब्ध है। सगर के मुत्र साठ हजार पुत्र अश्व की रक्षा के लिए उसके पीछे पीछे जाते हैं। निश्शंक आचरण, व चाल-ढाल आदि से उनके उत्साह का जीता जागता स्वरूप खड़ा हो जाता है-

परम साहसी साठसहस नृप-सुत अरि-बाही।
दृढ़-दीरघ-बल-बलित-काय अतिसमय उतसाही।
गर्जत, तर्जत चले संग सब अंग उमैठत।
जिनकौ लखि आतंक बंक अरि-उर भय पैठत[1]।

अनुभावों के सहारे सगर सुतों के उत्साह भाव को नीचे की पंक्तियों में मूर्त रूप दिया गया है-

पितु आयसु सुनि सकल सुमति नंदन मन भाषे।
तमकि, तौ लि भुजदण्ड बंड विक्रम अभिलाषे।
चले नाइ पद माथ हाथ मोछनि पर फेरत
सिंहनाद बिकराल लाल लोचन करि हेरत[2]।

यहां तक तमक कर भुजदंडों को तौलना, मूछों पर हाथ फेरना, सिंहनाद करना, नेत्रों को लाल करके देखना आदि पात्र के आंतरिक उत्साह को सहज ही प्रकट कर देते हैं।

गंगा की निम्नांकित गर्वोक्ति वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है-

गंग कह्यो उरभरि उमंग तौ गंग सही मैं।
निज तरंग-बल जौ हर-गिरि-हर-संग मही मैं।
लै सबेग-विक्रम पताल-पुरि तुरत सिधाऊं।
ब्रह्मलोक कौं बहुरि पलटि कंदुक इव आऊं[3]।

रौद्र-रस

गंगा की चुनौती को स्वीकार कर शिव के सन्नद्ध होने की भाव-मुद्रा को अंकित करने में कवि ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति और गहरी अनुभूति का परिचय दिया है। पांच छंदों में दिया हुआ यह चित्र अद्वितीय है। इसमें कवि की दृष्टि शिव की एक एक क्रिया, चेष्टा और मुद्रा, वेश-भूषा पर गई है जैसे कोई पहलवान

१-३: गंगावतरण: १।१९, ?, ७।८।

चुनौती भरी मुद्रा में त्यौरियां चढ़ाकर प्रतिद्वन्दी के सामने आता है उसी प्रकार शिव भी गंगा का गर्व-चूर करने को उद्यत हैं-

सिव सुजान यह जानि तानि भौंहनि मन माख्यो ।
बाढ़ी गंग-उमंग-भंग पर उर अभिलाखै ।
भए संभरि सन्नद्ध भंग के रंग रंगाए ।
अति दृढ़ दीरघ सृंग दच्छि तापर चलि आए[1] ।

सगर के आश्रय से भी क्रोध की व्यंजना हुई है किन्तु वह स्थायी नहीं बन पाता, क्षणिक रहता है अतः रौद्र रस के रूप में उसका परिपाक नहीं हो पाता-

सुनि अति अनहित बैन भए नृप-नैन रिसौंहैं ।
फरकि उठे भुजदंड तने तेवर तर जौंहैं ।
कह्यौ सारथी टेरि त्रिपथ गामी रथ नाध्यौ ।
महाचाप सायक अमोघ माथनि भरि बांध्यौ[2] ।

सेनप होहिं सनद्ध सकल जगजीतन हारे ।
हम चलि देखैं आप कौन कौं प्रानन प्यारे ।
काको सिर धर त्यागि धरा पर परन चहत है ।
को जम गाल कराल भाल निज भरन चहत है[3] ।

करुणा- करुण रस की व्यंजना सगर सुतों के भस्म होने के कारण अंशुमान व सगर के शोकाभिभूत होने के अवसर पर होती है- अंशुमान के प्रसंग में पितरों की क्षार आलम्बन है । पितरों के प्रगाढ़ प्रेम का अभाव उद्दीपन है । स्मृति, चिन्ता, आदि संचारी है तथा विलाप करना, पछाड़ खाना आदि अनुभाव हैं[4]। किन्तु इस शोक में पाठक की करुणा को जगाने की शक्ति नहीं है । कु० शं० शुक्ल लिखते हैं "सगर के हम इतने पास नहीं पहुंच पाते कि उनके दुःख से अधिक प्रभावित हो सकें[5] ।

शोक के प्रसंगों में कवि की वाणी मूक हो जाती है उसका मूक होना भी एक कला है । मौन रहकर ही वह सब कुछ कह डालता है ।-

---

१- गंगावतरण ७।९
२-३ वही ३।३९-३३
४- वही ३।१६-१८
५- कविवर रत्नाकर पृ० सं० १०९ ।

भयौ भूप जड़ रूप अंग के रंग सिटा से ।
बज्राघात सहस्र साठ सगहिं सिर आए ।
कढ़यौ कंठ नहिं बैन न नैननि आंसु प्रकास्यौ ।
आनन भाव-बिहीन गांव ऊजड़ लौ भास्यौ[1] ।

उपर्युक्त छंद में राजा सगर के शोक भाव को स्तंभ, स्वरभंग, अश्रु, वैवर्ण्य आदि सात्विक अनुभावों की सहायता से व्यक्त किया गया है । नीचे लिखे छन्द में रानियों के पछाड़ खाने धाड़ मार कर रोने आदि कायिक अनुभावो की योजना हुई है ।

लगे सकल सिर धुनन काढ करूना कौ माच्यौ ।
मनु बनाइ बहु बपुष बरून तिहिं मंडप नाच्यौ ।
लागीं खान पछाड़ धाड़ मारन सब रानी,
मानहुं माजा मंजि तलफि सफरी अकुलानी[1] ।

भयानक - गंगा के ब्रह्मा के कमंडल से छूटने पर जो धमाका हुआ उससे त्रैलोक्य प्रकंपित हो गए जड़ चेतन, लघु-विराट् सभी में भय व्याप्त हो गया । पशु-पक्षी और जड़ पदार्थों में भय का आतंक बड़े ही कौशल से दिखाया गया है -

भरके भानु तुरंग चमकि चलि मग सौं सरके ।
हरके वाहन रूकत नैंकु नहिं विधि हरि हर के ।
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय थरके ।
धुनि प्रति धुनि सौं धमकि, धराधर के उर धर के[3] ।

उपर्युक्त पंक्तियों में घोड़ो का भय के कारण चमकना और हाथियों का चिग्घाड़ कर नैन फेरना अत्यंत स्वाभाविक है । कवि पशुओं के मनोविज्ञान का भी उत्तम जानकार है । आश्रय के भावो की पहचान उसके अंगों, बाह्य चेष्टाओं आदि को देखकर ही कर ली जाती है । निम्नलिखित छन्द में स्त्रियों के हृदय में व्याप्त भय को उनके अंगों की चेष्टा और मुद्रा से सफलता के साथ व्यक्त किया बगया है ।

१-गंगावतरण ५।१३, ५।१४, ७।१७ ।

सुर-सुन्दरी ससंक बंक दीरघ दृग कीने ।
लगीं मनावन सुकृत हाथ कानन पर दीने[1] ।

सुन्दरियों का शंका भरी टेढ़ी दृष्टि से आंख फैलाकर देखना कानों पर हाथ रख लेना और अपने पहले किए हुए पुण्यों का स्मरण करने लगना भय की अवस्था में अत्यन्त स्वाभाविक है । समस्त प्रकृति के भय से आतंकित होने के चित्र भी सुन्दर बन पड़े हैं -

विन्ध्य-हिमाचल मलय मेरु मंदर हिय हहरे
ढहरे जदपि पखान मकि तउ ठामहिं ठहरे ।
थहरे गहरे सिंधु पर्व बिनहूं लुटि लहरे ।
पै उठि लहर-समूह नैंकु इत-उत नहिं ढहरे[2] ।

शृंगार- शृंगार के स्थल गंगावतरण में अनेक हैं । गंगा स्वयं रति भाव की आश्रय हैं चतुर्थ सर्ग में गंगा का बाला के रूप में जन्म होता है और उनके अनुभावों से कृष्ण के प्रति उनके रतिभाव की व्यंजना हुई है-

लागी ललकि लुभाइ स्याम सुंदर -मुख जोहन ।
निज जोहन कैं भाय विस्व-मोहन-मन मोहन ।
ताको रूप अनूप अकथ गुण भाव सवों है ।
लखि सोइ सुख सरसाइ भए रस-बस सबवों है[3]।

इसी प्रकार स्वर्ग से उतरने के बाद शिव के रूप को देखकर गंगा के हृदय में राग उत्पन्न हो जाता है और वे उग्र भाव को निसार कर (दाम्पत्य) रति भाव से उन्हें अपनाती हैं -

भई थकित छबि छकित हेरि हर रूप मनोहर ।
ह्वै आनहि के प्रान रहे तन धरे धरोहर ।
भयौ कोप को लोप चोप औरै उमगाई ।
चित चिकनाई चढ़ी कढ़ी सब रोष रुखाई[4] ।

देव बालाओं एवं सुन्दरी स्त्रियों की जल क्रीड़ा के प्रसंग में शृंगार के स्थूल चित्र मिलते हैं । जिनमें से कुछ तो अश्लीलता की सीमा तक पहुँचे हुए जान

१-४ गंगावतरण ७।८, ७।७, ४।४२, १०।१०

पड़ते हैं । किन्तु यथार्थ पर आधारित होने के कारण वे अश्लील नहीं कहे जा सकते ।

कोउ अन्हाति सकुचाति गात पट-ओट दुराए ।
कोउ जल-बाहर कढ़ति सु-उर कर-करनि कर लाए ।
कोउ ऐंड़ति इतराति उच्च कुच कोर उचावति
लचकावति कोउ लंक बंक भृकुटी मचकावति [१]।

<u>हास्य-</u> हास्य रस की योजना भी कुछ स्थलों पर हुई है । एक तो शिव जी के रौद्ररूप धारण करने और गंगा की चुनौती को स्वीकार करने के लिए उद्यत होने में पूर्ण भंग के रंग में डूबना हास्य की सृष्टि करता है-

सिव सुजान यह जानि तायौं हनि मन माखे ।
बाढ़ी गंग उमंग भंग पर उर अभिलाखे ।
भए संभरि सन्नद्ध भंग कैरग रंगाए ।
अति दृढ़ दीरघ सृंग देखि तापर चलि आए [२] ।

इसी तरह भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर वे आतुरतावश चल पड़ते हैं और भंग नहीं छानते- "आतुर चले उमंग-भरे, भंगहु नहिं छानी" [३] ।

भगीरथ ब्रह्मा से गंगा को छोड़ने के लिए न कहकर चुल्लू भर पानी के लिए कहते हैं । यह प्रयोग उक्त संदर्भ में हास्य की सृष्टि करता है- हम लघु जाचक चह्त चुल्लू भर पानी [४] ।

<u>अद्भुत रस-</u> गंगा का पृथ्वी पर आगमन ही आश्चर्यजनक घटना है । देवगण भी इस दुस्तर कार्य को असाध्य मानते हैं । भगीरथ ने उसे पूरा किया । देवताओं के साथ पाठक का भी तादात्म्य यहां होता है और अद्भुत रस की व्यंजना होती है-

मृत्यु लोक में धर्यो आनि सुभ स्रोत अमी कौ ।
दै महिमा महि कियो साकृथक नाम मही कौ
यह अति दुस्तर काज आज लौ अपर न साध्यौ ।
जद्यपि सहि बहु कष्ट दृष्ट देवनि आराध्यौ [५] ।

उपर्युक्त रस-विषयक विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विभिन्न रसों के सफल चित्रण में कवि सिद्धहस्त है । एक खण्डकाव्य में समस्त

१-५ गंगावतरण १२।१४, ७।९, ६।११, ६।१८, १२।२६ ।

काव्य-रसों का सफलता के समाहार कर देना कवि की प्रबन्ध पटुता भी व्यक्त करता है । सबसे अधिक कौशल कवि की अनुभाव-योजना में दिखाई पड़ता है । न केवल मनुष्य की अंग-चेष्टाओं का वरन् पशुओं की भी बाह्य चेष्टाओं का परिचय देने में कवि प्रवीण है ।

वर्णन

वर्णनों की दृष्टि से गंगावतरण अत्यन्त समृद्ध कृति है । गंगावतरण में प्राकृतिक विषय-वस्तुओं के संश्लिष्ट चित्र कवि ने प्रस्तुत किए हैं । हिन्दी के ब्रजभाषा कवियों ने प्रायः प्रकृति को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है । नायक-नायिकाओं के रूप भाव चेष्टादि के चित्रण में ही उनकी वृत्तियां अधिक रमी है किन्तु गंगावतरण में प्रकृति के विराट् रूपों के सटीक चित्रों को देखकर कवि की अदभुत चित्रण शक्ति का परिचय मिलता है । इन वर्णनों मे रत्नाकर जी अपने पूर्व कवियों के भाव-भाषादि से प्रभावित हुए हैं । बिहारी, ग्वाल, पद्माकर तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की उक्तियां का प्रभाव विभिन्न स्थलों पर लक्षित होता है किन्तु ऐसे स्थल अधिक नहीं है । अधिकांश वर्णन कवि की निजी कल्पना और सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति पर आधारित हैं । वर्णनों को सजीव एवं प्रभावोत्पादक बनाने के लिए कवि ने ध्वन्यात्मक शब्द योजना, प्रसादगुण संपन्न भाषा और वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार का भरसक प्रयोग किया है ।

अवधपुरी-वर्णन- अवधपुरी की शोभा का वर्णन प्राचीन पद्धति पर ही हुआ है । मंगलाचरण के पश्चात् अवधपुरी के वर्णन से ही काव्य का आरंभ होता है । सूर्यवंशी राजाओं की राजधानी अवधपुरी का बाह्य चमक दमक और भौतिक समृद्धि पर कवि की दृष्टि उतनी नहीं है, जितनी उसकी पवित्रता, धार्मिकता, और सात्विक रमणीयता पर है । इस नगरी में एक नैसर्गिक आकर्षण है इसी कारण तीनों लोकों मे श्रेष्ठ भगवान् राम ने भी इसे पसन्द किया[१] । पवित्र सरयू नदी के तट पर बसी हुई यह नगरी मेदिनी रूपी मुद्रिका की मणि के समान है[२]। वेद-इतिहासादि में इसे भोग और मोक्ष की खान बताया गया है । बड़े पुण्य के फल स्वरूप इस नगरी में वास करने का सौभाग्य प्राप्त होता है । यहां चारो वर्णों के लोग

१-२ गंगावतरण १।३, १।१ ।

रहते है । जो धनी, गुणी और धार्मिक प्रवृत्ति वाले हैं[१]। इसकी महत्ता इतनी है कि सातों पुरियों में यह श्रेष्ठ समझी जाती है । यहाँ के भवन, मार्ग, बाजार, उद्यान तथा कूप-सरोवर आदि सभी सुरुचि पूर्ण हैं । आगे आने वाली गंगावतरण की पवित्र कथा के उपर्युक्त पवित्र घटनास्थल का निर्माण इससे हुआ है ।

राधा-कृष्ण की युगल छवि-

गोलोक में राधाकृष्ण की सिंहासनस्थ युगल छवि का वर्णन गंगा के जन्म के प्रसंग में बहुत ही प्रभावशाली है । हिन्दी साहित्य में इस प्रकार के वर्णन कदाचित् नहीं मिलते । इस दिव्य सौन्दर्य को अंकित करने के लिए कवि को दिव्य कल्पना को आश्रय लेना पड़ा है । अक्षयवट के माणिक्यजटित छत्र और "कोटि-चंद-द्युति" सम्पन्न मंडप के नीचे सहस्र-दल, षोडस-दल और अष्टदल कमलों के ऊपर रत्न-सिंहासन की शोभा के वर्णन मे एक भव्यता और शालीनता है । सिंहासन के आधार स्थल की रंगीनी और अलंकरण का वर्णन करने के लिए कवि ने अलंकृत भाषा का उपयोग किया है-

> कंचन-मय किंजलक-दलक-द्युति झलमल झलकति ।
> मर्कत-मनि-कृत-कलित-कर्निका-छवि छुटि तक तिछ[२]।

रत्न सिंहासन की अलौकिक ज्योति इतनी प्रखर है कि करोड़ो नवग्रह भी उस पर चकित हैं[३] । वस्तूत्प्रेक्षा की सहायता से कवि ने इन चित्रों को अभिनव उत्कर्ष प्रदान किया है-

> इक इक बाहिं उभाहि किए गलबाहिं बिराजैं ।
> इक इक कर बड़भाग कनज बंसी कल भ्राजैं ।
> मनु तमाल पर सोनजुही की लसै माल पर ।
> स्याम-तामरस-दाम प्रफुल्लित सोनजुही पर[४] ।

इसमें दिव्य शृंगार की झलक है जो वासना को नहीं भक्ति की भावना को उभाड़ती है । राधा-कृष्ण के इस चित्र को कवि रंग भर कर पूर्ण कर देता है, उसकी रंग योजना अद्भुत है-

---

१-४ गंगावतरण ११५, ४११७, ४११९, ४१२१ ।

नील, पीत, अभिराम बसन द्युति धाम धराए ।
मनहु एक कौ रंग एक निज अंग अँगाए
निज निज रुचि अनुहार धरे दोउ दिव्य विभूषन,
जोतन द्युति की दमक पाइ चमकत ज्यौं पूषन[1] ।

युगल मूर्ति के परस्पर प्रेमाकर्षण, सुख-विलास, एवं कृपापूर्ण मुस्कान पर भक्त न्योछावर हो जाता है

सगर सुतों का पाताल प्रवेश- इसका वर्णन श्रीमद्वाल्मीकि कि रामायण के अनुरूप हुआ है । इसमें कवि की निजी कल्पना बहुत कम है फिर भी सृष्टि को उलट पलट कर डालने की इस अद्भुत घटना से उत्पन्न होने वाली हलचल और चराचर में व्याप्त भय की व्यंजना करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है । बाल्मीकि रामायण के तत्संबंधी वर्णन से गंगावतरण के वर्णन अधिक प्रभावशाली और ओज-पूर्ण है ।

जोजन जोजन बाँटि खोदि खोजन महि लागे ।
सूल-कुदाल,गदाल घात रव सब जग जागे ।
मनहु खाइ हिय धाइ मेदिनी मर्म-बिहारी-
टेरति उच्च विषाद-नाद सौं हरि दुख-हारी[2] ।

विराट् सृष्टि में प्रलयागम के रोमांचकारी दृश्य, जिसमें पवन, पर्वत, समुद्र भी थर्रा उठे है जिनके घर्षण से शेषनाथ की फूत्कार की भांति चिनगारिय छूट रही है कितने प्रभावशाली है-

प्रबल प्रशारनि पौन चपल बाजी लौं चमकत ।
हलवल होत समुद्र भद्र-अद्री-उर धमकत ।
उड़त फुलिंग असेस सेस मानौ फुफकारत ।
सुरपति हूँ पछतात प्रलय आगम निरधारत[3] ।

पृथ्वी के इस विशाल परिवार की पीड़ा इन पंक्तियों में मुखरित हो उठी हैं-

गैंड़ा सिंह गयंद रीछ आदिक बनचारी ।
राकस-असुर-समाज उरग महि-उदर बिहारी ।
बिहलित होत सगोत बिकल बिललात बिसूरत ।
हाहाकार मचाइ दिसनि करुना सौं पूरत[4] ।

१-४ - गंगावतरण ४।२९, २।१३, २।१४, २।१५ ।

संत्रस्त होकर देवता, राक्षस, नाग और गंधर्व ब्रह्मा के पास जाकर पुकार करते हैं[1] ।

भगीरथ की तपस्या

गंगावतरण के छठें सर्ग में भगीरथ की तपस्या का वर्णन हुआ है । रत्नाकर जी के वर्णनों की विशेषता यह है कि वे वर्ण्य विषय को पूर्णता के साथ प्रतिपादित करते हैं । अथवा दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि वर्णनीय विषय के साथ साथ उसके वातावरण के निर्माण में भी वे अत्यन्त पटु हैं । तपस्या के कष्टों आदि का निर्देश करने के पूर्व वे तपस्या स्थल के शान्त एवं पवित्र वातावरण का चित्र प्रस्तुत करते हैं । वह स्थान ही मानों सिद्धि का क्षेत्र है । वहां की प्रकृति और वहां के पदार्थ सब इसी तथ्य का संकेत करते जान पड़ते हैं[2]।

एसे शुभ क्षेत्र का दर्शन कर भगीरथ की तप की लालसा तीव्र हो गयी । मुनियों से आज्ञा लेकर उन्होंने कठिन तप आरंभ कर दिया । धीरे धीरे उनका आहार सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता गया । उनके तप से कृश शरीर का वर्णन छायावादी शैली में किया गया है -

> रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ ।
> अस्ति नास्ति के बीच गनित-कल्पित रेखा सौ[3] ।

शरीर क्षीण हुआ किन्तु उमंगे तीव्रतर होती गईं । सिर पर हिमातप और वर्षा सहते हुए जब अनेक वर्ष बीत गए तब उनकी तपस्या के तेज से महि-मंडल तपने लगा । ब्रह्माण्ड उफन उठा और संपूर्ण सृष्टि व्याकुल हो गई[4]। भगीरथ के तप का चराचर जगत पर जो प्रभाव पड़ा उसका विशद वर्णन कवि ने किया है । इस वर्णन में कोई नवीनता नहीं है । गतानुगतिक पद्धति पर तपस्या की कठिनाई का वर्णन है किन्तु हृदयस्थ भावों को अनुभावों और सात्विकों के माध्यम से व्यक्त करने की शैली की झलक जिन छंदों में मिलती है वे अत्यन्त भावोद्बोधक हो उठे हैं ।

गंगा की गति और शोभा

गंगा की ओजपूर्ण वर्णन अत्यन्त विस्तृत और अनेक सर्ग व्यापी है । इसमें कवि ने व्यास शैली के सहारे संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किए हैं । सप्तम सर्ग में

१-४ गंगावतरण ५।१८, ६।१-२, ६।७, ६।९-१० ।

ब्रह्मा के कमंडल से निकलकर गंगा की धारा आकाश मार्ग से पृथ्वी की ओर आती है । उस समय जो घोर शब्द होता है उससे समस्त ब्रह्माण्ड थर्रा उठता है । विराट् सृष्टि में व्याप्त इस भय का बड़ा ही सजीव चित्र कवि ने खींचा है ।

रत्नाकर जी न केवल मानव के वरन् पशु-पक्षियों यहां तक कि प्रकृति के जड़ पदार्थों के मनोविज्ञान की भी गहरी परख रखते हैं, इसी ज्ञान के फल स्वरूप उनके वर्णनों में हर जगह स्वाभाविकता का दर्शन होता है ।

गंगा के आकाश से पृथ्वी पर उतरने का एक चित्र देखिए-

निज दरेर सौं पौन-पटल फारति फहरावति ।
सुर-पुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति ।
चली धार धुधकारि धरा-दिसि काटति कावा ।
सगर -सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा ।
विपुल वेग सौं कबहुं उमगि आगे कौं धावति ।
सौ सौ जोजन लौं सुढार ढरतिहि चलि आवति ।
फटिक सिला के बर बिसाल मन विस्मय बोहत ।
मनहु बिसद छद अनाधार अंबर मैं सोहत[1] ।

यही नहीं कवि की दृष्टि ऊपर से गिरती हुई जलधार के बीच मीन-मकर और जलव्यालों को भी बिजली की भांति चिलकता हुआ देख लेती है[2] । जल-धार का हवा से लहराना, सघन घटाओं पर छहराना, अनेक धाराओं में विभक्त होकर पुनः एक में मिलता, जल से जल काट कराना, नन्हीं फुहारों का पर्वत पर छिटकना, आदि अनेक छवियो का मार्मिक वर्णन कवि ने वस्तूत्प्रेक्षा के सहारे उपयुक्त ध्वनि उत्पन्न करते हुए अत्यंत सफलता के साथ किया है । गंगा की विविध भंगिमाओं उनके फैलने, सिमटने, घूमने, तीव्रता से आगे बढ़ने, रूकने और रूककर पुनः बलपूर्वक आगे बढ़ने आदि के दृश्य यथार्थ अनुभूतियों पर आधारित होने के कारण हमारे हृदय को छू लेते हैं ।

शिव की जटाओं से निकलने के बाद गंगा हिमाच्छादित श्रृंगों पर अद्भुत शोभा की सृष्टि करती हुई ढरक कर धारा के रूप में परिवर्तित होती है[3]। कभी वे बर्फ के ऊपर प्रवाहित होती हैं और कभी बर्फ के भीतर से प्रविष्ट होकर रंध्र जालों के मार्ग से बाहर आती हैं । हिमखंडों से आगे आकर उनका प्रवाह तीव्र

१-३ गंगावतरण ७।१९-२०, ७।११, ८।२० ।

लगता है और पर्वत के मार्गों को फांदती, चट्टानों को ढहाती, वृक्षादिक को उखाड़ती हुई वे अपना मार्ग बनाती चलती हैं। कभी समतल स्थानों को पाकर वे फैल जाती हैं तो कभी घाटी में फंसकर संकुचित हो जाती हैं। हरहरा कर घाटी से निकलते हुए घोर शब्द करती हैं। गंगा की इस कवि ने पार्वतीय यात्रा का विशद वर्णन किया है। ध्वन्यात्मक शब्द चित्रों की योजना कवि ने इस स्थल पर बड़ी कुशलता के साथ की है। अंग्रेजी कवि पोप के शब्द चित्र संबंधी सिद्धान्त का अनुगमन कवि ने इस स्थल पर भली भांति किया है[१]।

गंगा की पतित पावनी शक्ति

गंगा की पापनाशक शक्ति का परिचय अनेक रूपों में दिया गया है। पहाड़ो और गड्ढों में पड़े हुए हाड़ गंगा का जल स्पर्श करते ही वपुष धारणकर विमानों में बैठ कर स्वर्ग को जाते हैं[२]। यहां मोक्ष पाने वाले इतनें हैं कि उन्हें स्वर्ग में पहुंचाने के लिए विमान पूरे नहीं पड़ते। सगर पुत्रों के उद्धार का दृश्य भी अद्भुत है-

> कढ़ि कढ़ि सगर कुमार छार-रासिनि सौं बढ़ि बढ़ि
> मढ़ि मढ़ि दमकति दिव्य देह विश्व भायति चढ़ि चढ़ि।
> चमकत दमकत चले चपल मंडल नभ मण्डल।
> गंगागम मैं मची मनहुं पावक-क्रीड़ा कल[३]।

गंगा की मोक्ष दायिनी शक्ति को कवि ने यहां अधिक विकसित नहीं किया। पद्माकर की गंगालहरी और स्वयं कवि रत्नाकर की गंगालहरी में इस विषय को विस्तार मिला है। गंगावतरण में भी दसवें सर्ग में गंगा के दूतों का यम के दूतों को पटक कर मारना और मृतकों का उद्धार करना गंगा की इसी शक्ति के द्योतक है[४]।

नारी चित्र - गंगा में स्नान करती हुई सुन्दरी स्त्रियों की शोभा का वर्णन कवि का एक प्रिय विषय ज्ञात होता है। नवें, दसवे, ग्यारहवें और बारहवें सर्गों में कवि ने इस विषय का जी खोलकर वर्णन किया है। इस वर्णन के लिए कवि को कहीं देव बालाओं के जल विहार का अवसर मिल गया है, तो कहीं सामान्य सुंदरियों, ग्रामबालाओं, पनिहारिनों, बनदेवियों, नागकन्याओं आदि का। किन्तु एक ही विषय को दोहराने के कारण भावों में पुनरावृत्ति हुई है। जो कभी

१-४- गंगावतरण ८।१४-१८, ९।५, १०।२२-२४, ९।९

कभी अरुचिकर लगने लगती है । इन अंशों को पढ़कर भारतेन्दु के गंगा-वर्णन का स्मरण हो आता है । मुग्धकारी छवि चित्रों का निर्माण कवि ने अलंकारों की सहायता से किया है-

सुमुखि - वृंद सानंद सुवर तन रतन सजाए ।
बिहरत बलित बिनोद ललित लहरत जल भाए ।
तारनि सहित अमंद-चंद प्रतिबिम्ब मनोहर ।
मनु बहु बपु धरि फबत फलक-जुत फटिक सिला पर[1]।

स्त्रियां गंगा के जल की क्रीड़ा में सुख के समक्ष काम-सुख को भी न्योछावर कर देती है[2]। जल-क्रीड़ा के समय उनकी अंग चेष्टाओं आदि के भी यथार्थ चित्र कवि ने अंकित किये हैं जो शृंगारोद्दीप्त है-

जहं तहं करत कलोल लोल-लोचनि ललना-गन
सुन्दर सुघर सुजान रूप-गुन भाव मुदित मन
कोउ ऐंठति तन तोरि छोरि अंगिया कोउ बैठति
कोऊ उमैठति भौंह सौंह करि कोउ जल पैठति[3]।

स्नानोपरान्त सुंदरियों के वस्त्र बदलने आदि की प्रक्रिया को कवि अंकित करना नहीं भूलता । इन चित्रों की स्वाभाविकता, सरसता, और मार्मिकता दर्शनीय है:-

कोउ ऊरनि बिच दाबि बसन गीले गहि गारति ।
उसरत पट कटि उरसि संक-जुत बंक निहारति ।
कोउ लंकहि लचकाइ लचकि कचभार निचोरति ।
मरकत-बल्लिनि भीड़ि मंजु, मुकता फल भोरति[4]।

स्नान के पश्चात् श्रद्धा समेत उनका गंगा-पूजन, जल ढारना, आरती करना, भेंट देना, झुक कर प्रणाम करना आदि क्रियाओं के अत्यन्त परिचित दृश्य हमारे हृदय को भाव-विभोर कर देते है ।

<u>पशुओं की जल-क्रीड़ा-</u> पशुओं की जलक्रीड़ा के इतने सुन्दर चित्र कदाचित् हिन्दी

१-४: गंगावतरण: छं० सं० ९।१७(?), १०।३९, ११।१५, ११।१९।

साहित्य में उपलब्ध न हों । हाथियों अथवा बनचरों की जलक्रीड़ा के स्फुट चित्र तो इधर-उधर अनेक स्थलों पर मिल सकते हैं किन्तु अनेक पशु-पक्षियों की समवेत जलक्रीड़ा का ऐसा चित्र मेरे देखने में नहीं आया-

लखत कनखियन चखत नीर मृग बाघ परस्पर ।
भाजत, झपटत बनत पैन तजि नीर सुखद बर ।
नाचत मुदित मयूर मंजु मद-चूर अघाए ।
अहि जुड़ात तिन पास पाइ सुखत्रास भुलाए ।

\+ \+ \+

कहुं क्रीड़ति करि-निकर तरगनि मैं सुख सरसत ।
मनु कलिंद के सिखर वृंद घित घन बिच दरसत ।
कहुं कपि लटकत नीर अटकि तट बिलुलित डारनि ।
बाल खिल्य मनु लहत, सु तप संचित-सुखसारनि ।

\+ \+ \+

कहुं जल बीचिनि बीच बढ़े महिषाकर अरने ।
जम बाहन ह्वै व्यर्थ परे मनु-सुर धुनि -धरने ।
सिमिटि ससा कहुं तीर नीर छकि अधर हलावत ।
ससि मंडलहिं अखंड रखन की बिनय सुनावत[१]।

प्रकृति के कोमल चित्र- गंगा की कैलाश से गंगासागर तक की सम्पूर्ण यात्रा हिम-खण्डों, शिलाओं, बन-उपबनों और मैदानों में ही सम्पन्न होती है । गंगा की जलधारा के प्रवाह के साथ उन स्थानों की नैसर्गिक छटक का उद्घाटन भी होता गया है । पहाड़ी भागों में वर्णन तो प्रायः ओजपूर्ण है किन्तु मैदानी भागों में गंगा के मार्ग में कुछ कोमल एवं मधुर प्राकृतिक दृश्यों की योजना हुई है । गंगा के स्वागत के लिए बनराज ने ससमाज बसन्त को आमंत्रित किया है, अतः बनस्थली की शोभा के सामने नंदन बन का सौन्दर्य भी फीका हो गया है । सुकुमार शब्द योजना के सहारे बसन्त का नादात्मक वातावरण कवि ने बड़ी सफलता के साथ चित्रित किया है । कवि के द्वारा प्रयुक्त आनुनासिक ध्वनियों में भौरों की गूंज मुखरित हो उठी है-

---

१- गंगावतरणः छं० सं० १०।७-९ ।

बर बल्लिनि के कुंज-पुंज कुसुमित कहुं सोहैं ।
गुंजत मत्त मलिन्द-बृंद तिन पर मन मोहैं ।
मनौ सुहागिनि सजे अंग बहुरंग दुकूलनि ।
गावति मंगल मोद-भरीं छाजे सिर फूलनि[१]।

पक्षियों के मधुर संगीत को कितने उपयुक्त और अनुकूल शब्दों में(चटकावत, गुटकावत आदि) कवि ने बांध दिया है-

नाचत मंजुल मोर भौंर बाजत सारंगी ।
करति कोकिला गान तान तानति बहुरंगी ।
स्यामा सीटी-देति चटक चुटकी चटकावति ।
घूमि झूमि झुकि कल कपोत तबलागुटकावत[२]।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम सरलता से कह सकते हैं कि बाह्य वस्तु वर्णन में कवि की लेखनी सिद्धहस्त है । वस्तु की गहराई में पैठकर उसके आंतरिक सौन्दर्य को देखने की चेष्टा कवि ने नहीं की किन्तु उसके बाहरी क्रिया,व्यापार, स्वभाव, रूप, रंग आदि का यथार्थ अनुभूति कराने में उसे पूर्ण सफलता मिली है ।

भाषा-शैली
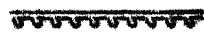
गंगावतरण की भाषा प्राचीन साहित्यिक बृजभाषा है । इस पर रत्नाकर जी का असामान्य अधिकार है । "भाषा उनकी चेरी है और उनके इशारे पर नृत्य करती है[३]।" वह भावानुकूल परिवर्तित होती है । ओजपूर्ण वर्णनों में परुष एवं महाप्राण वर्णों के प्रयोग द्वारा अनुकूल प्रभाव उत्पन्न किया गया है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

कहुं ढोके ढोकनि ढुकाइ निज गति अवरोधति
पुनि ढकेलि ढुरकाइ तिन्हैं पकर्‌यौ मग सोधति[४]।

कहीं पर वीप्सा अलंकार का आश्रय लेकर कवि ने सामान्य प्रसाद मयी भाषा में ही ओज उत्पन्न कर दिया है-

---

१-२: गंगावतरणः छं० सं० १०।११, १०।१४ ।

३- मदनलाल चतुर्वेदीः "रत्नाकर जी और उनका गंगावतरण": विशाल भारत, जुलाई १९३८, पृ० १११ ।

४- गंगावतरण, ८।१५।

कढ़ी परति करबाल कोस सों चमकि चमकि कै ।

निकसे आवत बान तून सौं तमकि तमकि कै ।

उठि उठि कर रहि जात कसकि तिनके बाहन कौं ।

पैन लगत अरि खोज ओज सौं उत्साहन कौं[1]।

सामान्यतः गंगावतरण की भाषा, सरल, सुबोध और प्रसाद गुण संपन्न है । प्रसाद गुण का उदाहरण भी लीजिए:-

जाकूं पूत सपूत होहिं तुमसे बलसाली ।

ताको हय हरि लेहि हाय कोउ कूर कुचाली ।

देव दनुज थहरात देखि दलवाततिहारी ।

कहा बापुरी चपल चोर आगे-जिम वारी[2]।

शब्द-योजना- गंगावतरण की शब्द योजना का सबसे बड़ा गुण उसका नाद-सौंदर्य है । शब्द प्रतिपाद्य विषय को अपनी ध्वनि से प्रत्यक्ष कराते चलते हैं । ब्रजभाषा की दीर्घ काल से मंजी हुई परिष्कृत शब्दावली का प्रयोग इसमें हुआ है जिससे भाषा में एक मिठास आ गया है । कवि ने इसमें पूर्ववर्ती कवियों की शब्दावली को भी कुछ स्थलों पर ग्रहण किया है । "कहलाने, सुन किरवा, अंगोटि, ठिक, दीरघ दाघ निदाघ, चुमकी" आदि बिहारी के द्वारा बहु प्रयुक्त शब्दों का व्यवहार इसमें मिलता है ।

मुहावरों का प्रयोग भी कवि ने यथा स्थान पर्याप्त मात्रा मे किया है । कहीं-कहीं एक ही पंक्ति में अनेक मुहावरे भी कवि ने रख दिए हैं किन्तु भाषा का सौंदर्य भी नष्ट नहीं हुआ है-

"नौ द्वै ग्यारह होत तीन पांचहिं बिसरावत[3]"

"होम करत कर जर्‌यौ पर्‌यौ विधि बाम हमारौ[4]।"

गंगावतरण की भाषा सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं गूढ़ से गूढ़ भावों के प्रकाशन में समर्थ है । उसमें सप्राणता और गति अनुप्रासों की योजना पग-पग पर मिलती है । कहीं भी अशक्तता या भाषा के रूप को विकृत करने की चेष्टा इसमें नहीं दिखाई पड़ती ।

१-४: गंगावतरण:छं० सं० २।३, २।८, १०।१४, ३।१६ ।

अलंकार

रत्नाकर जी अलंकार वादी कवि नहीं हैं । अलंकारों की योजना उनकी रचनाओं में कम नहीं है किन्तु उनकी अनावश्यक भरमार नहीं है । उनके वर्णन-प्रवाह में अलंकार स्वयं ही आ जाते हैं । वैसे तो उपमा, रूपक, प्रतीप, दृष्टान्त आदि अनेक सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रयोग गंगावतरण में मिलता है । किन्तु वस्तूत्प्रेक्षा का प्रयोग गंगावतरण में सर्वाधिक है इसकी सहायता से कवि ने वस्तुओं और व्यापारों के यथार्थ चित्र प्रस्तुत किए हैं । इस कृति में अलंकारों की विशेषता यह है कि ये कवि की निजी कल्पना और अनुभवों पर आधारित हैं । सादृश्य-संबंध स्थापना में कवि की सूक्ष्म दृष्टि ही कार्यरत रही है । परंपरागत सादृश्य-संबंधों और उपमानों का प्रयोग बहुत कम है । इसलिए गंगावतरण की अलंकार-योजना अधिक आकर्षक कही जा सकती है ।

निम्नांकित उपमा अलंकार में सम्पूर्ण पृथ्वी को मुद्रिका और अवधपुरी को उसमें जड़ी हुई मणि के सदृश बताया गया है- इस उपमा से अवधपुरी को उत्कर्ष मिला है -

मेदिनि मंडल-मंजु -मुद्रिका- मनि सी राजै

बन-राजी चहुं फेर घेर-नग की छवि छाजै[1]। उपमाओं के लिए कहीं२ अ और सूक्ष्म उपमान भी कवि ने जुटाए हैं जो छायावदी अभिव्यंजना प्रणाली का आभास देते जान पड़ते हैं -

रह्यौ भूप कौ रूप भावना के लेखा सौ ।

अस्ति नास्ति के बीच गनित-कल्पित रेखा सौ[2]।

निम्नांकित "रूपक" में सरिता के सादृश्य विधान से शोक के आधिक्य की व्यंजना हुई है-

यौ कहि जथा-प्रसंग कथा संछिप बखानी ।

कहत सुनत दुहुं दृगनि सोक-सरिता उमगानी[3]।

गंगा को कन्या के रूप में प्रत्यक्ष तथा निज पति की ओर अनुराग मयी दृष्टि डालते देख राधा के मन में गंगा के प्रति क्रोध का भाव उमड़ा जिसे सघन घटाओं के उमडने की क्रिया से उपमित किया गया है इससे राधा के हृदय में भावों के अचानक परिवर्तित हो जाने की व्यंजना हुई है किन्तु यह सादृश्य योजना भावोत्कर्ष में अधिक सहायक होती नहीं जान पड़ती -

---

१-३: गंगावतरण:छं० सं० १।१, ६।७, ३।१५ ।

निरखि नीठि निज आर परति दुहुं-दीठि कनौड़ी ।

अनरव-घटा अति सघन घूमि राधा-उर औंड़ी[१]।

कपिल के आश्रम का वैभव प्रकट करने में निम्नांकित वस्तूत्प्रेक्षा सहायक सिद्ध हुई है-

मिल्यौ जात मगमाहिं ठाम इक परम मनोहर

निज सोभा मनु स्वर्ग गाड़ितहं धरी धरोहर ।

मनि-मय पर्वत-पुंज मंजु कंचन-मय धरनी,

तेज -रासि दिग छोर छ्वै उए मानौ सत तरनी[२]।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि बहु प्रयुक्त अलंकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य अलंकारों के प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलते हैं । उनके उदाहरण ये हैं -काव्यार्थ पत्ति के इस उदाहरण से सगर सुतों की अपार शक्ति की व्यंजना सफलता के साथ हुई है-

देव दनुज थहरात देखि दल तात तिहारौ ।

कहा बापुरौ चपल चोर आवै जिय बारौ[३]।

दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग असमंज के निर्वासन की परिस्थिति को स्पष्ट करने में सहायक हुआ है- सुनि पुकारि इक बार नीर नैननि नृप ढारयौ ।

तुरन ताहि तजि नेह गेह सौं दूरि निकार्यौ ।

जैसें जब बहु करि उपाय औषधि हिय हारत ।

सब अंगनि दुख देत दंत बुधिवंत उखारत[४]।

बन की शोभा मेरु वर्णन को उत्कर्ष देने के लिए प्रतीप अलंकार का प्रयोग किया है और उसे नंदन बन से भी श्रेष्ठ बताया है-

सुर मुनि-स्वागत-काज साज बन-राज सजायौ ।

सहित सहाय समाज न्यौति ऋतुराज पठायौ ।

ठाम-ठाम अभिराम सुखद सुखमा सौं पागे ।

नंदन-बन -आनंद मंद लागत जिहिं आगे[५] ।

छन्द-योजना

गंगावतरण में रोला छन्द का प्रयोग हुआ है । प्रत्येक सर्ग के अन्त में एक एक उल्लाला (अर्थात् अंतिम छंद सर्ग में छप्पय) रखा गया है । ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगला

१-५: गंगावतरण: छं० सं०४।४३, ९।३३,९।८, ११।८, १०।१० ।

चरण के रूप में तीन छप्पय रखे गए हैं ।

रोला छन्द की रचना में रत्नाकर जी विशेष पटु हैं । इस दृष्टि से गंगावतरण नंददास के रुक्मिणी - मंगल के निकट हैं । रुक्मिणी-मगंल में नंददास ने रोला छन्द में अद्भुत प्रवाह और अनुपम संगीत की सृष्टि की है । गंगावतरण के रोला छन्द में भी उसी प्रकार का प्रवाह और माधुर्य है ।

रोला छन्द प्रबन्ध काव्य रचना के लिए उपयुक्त सिद्ध हुआ है । इसमें न केवल ओज का ही वरन् कोमल एवं मधुर भावों की भी व्यंजना सफलता के साथ की गई है । नंददास की रुक्मिणी-मंगल तथा गंगावतरण के कोमल प्रसंग इसके उदाहरण हैं ।

- - -

१- रत्नाकर जी और उनका गंगावतरण लेख, विशाल भारत, जुलाई १९२८, पृष्ठ ११० ।

अध्याय ८

पंचवटी (रचनाकाल १९२५ ई०)

इसके रचयिता श्री मैथिलीशरण गुप्त हैं । आधुनिक युग के खण्डकाव्यों में पंचवटी का प्रमुख स्थान है । यह कृति हिन्दी खण्डकाव्य-साहित्य में नवीन शिल्प का प्रवर्तन करती है ।

रचना -शिल्प - यद्यपि नवीन पद्धति की रचना है तो भी खण्डकाव्य के शास्त्र सम्मत लक्षणों का इसमें अभाव नहीं है । इसका कथानक रामायण पर आधारित है । इसके नायक लक्ष्मण हैं जो सद्वंश क्षत्री हैं । वैसे तो वे अवतारी पुरुष होने के कारण देवकोटि के पात्र हैं किन्तु यहां उनका चित्रण मानवीय धरातल पर हुआ है । उनके जीवन की एक ही रात की महत्वपूर्ण घटना को इसमें खण्डकाव्य के रूप में विकसित किया गया है । यह घटना उनके चरित्र की दृढ़ता व पवित्रता का परिचय देती है । पंचवटी में कवि ने स्थूल इतिवृत्तात्मकता को त्याग कर प्रबन्ध के लिए आवश्यक तत्वों के चयन और निरर्थक अंशों के त्याग की शैली अपनायी । उसमें कथा के केवल उन्हीं अंशों को ग्रहण किया गया जिनका लक्ष्मण के चरित्र से सीधा संबंध है । कथानक में रोचकता लाने के लिए नाटकीय तत्वों का समावेश किया गया है । पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप से कथा-प्रवाह को अग्रसर करने और उनके चरित्र की विशेषताओं को उभारने में सहायता ली गयी है । पात्रों के सहसा प्रवेश और परिस्थिति के आकस्मिक परिवर्तन द्वारा कथा में वैचित्र्य उत्पन्न करने की चेष्टा की गयी है । कथा की गति में सरलता के स्थान पर कुछ वक्रता लाने की चेष्टा भी लक्षित होती है । पंचवटी का कथानक प्रकृति वर्णन से प्रारंभ होता है । तत्पश्चात् कथानायक लक्ष्मण को कुटी के बाहर वीरासन लगाए हुए दिखाकर कथा उनके मानसिक स्तर पर उतार दी जाती है । पंचवटी के पारिवारिक जीवन की झांकी इसी स्तर से पाठक को मिल जाती है । मानसिक चिन्तन के क्रम में ज्यों ही उर्मिला की करुण स्मृति उठती है त्यों ही दृश्य बदल जाता है और एक हास्यवदनी बाला उनकी आखों के सामने साक्षात् आकर खड़ी हो जाती है । पुनः सीता के कुटी से बाहर निकलते ही स्थिति में परिवर्तन होता है । मनो वैज्ञानिक प्रणाली पर चरित्रों का विकास इसकी अन्य विशेषता है । पूर्व की कृतियों में कवि स्वयं पात्रों के आचार-व्यवहार पर टीका-टिप्पणी करते रहे हैं किन्तु इस कृति में पात्रों को अपने भाषण व कार्य-कलाप से अपने चरित्रगत वैशिष्टय का परिचय देने की छूट मिल गयी है ।

वर्णनों की प्राचीन परम्परा के स्थानपर चित्रण की नवीन शैली अपनायी गयी है। विषयों व वस्तुओं की प्रमुख रेखाओं को उभार कर उनके सहारे पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है। ब्योरा अथवा वितरण देने की विधि को त्याग दिया गया है। इनके अतिरिक्त एक प्रमुख परिवर्तन कवि के दृष्टिकोण में यह दिखाई पड़ता है कि इसमें शास्त्रीय रूढ़ियों के पालन की चेष्टा कवि नहीं करता है। मंगलाचरण की पद्धति छोड़कर इसमें कथा का पूर्वाभास तीन छंदों में दिखाया गया है। सर्ग विभाजन की पद्धति भी इसमें छोड़ दी गई है। कथा का प्रारंभ प्रकृति वर्णन द्वारा घटना की उपयुक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हुए किया गया है।

युग के बौद्धिक वातावरण के अनुरूप वस्तु-विधान में परिवर्तन हुआ है। कथा के अति प्राकृत व अविश्वसनीय तत्वों को या तो पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया गया है या उनकी बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। राम, सीता और लक्ष्मण के चरित्रों को देवत्व से मनुजत्व के स्तर पर उतारकर प्रस्तुत किया गया है। अतः ये पात्र अधिक हृदय संवेद्य बन गए हैं। अलंकारों के चमत्कार, के स्था पर सहज सरल अभिव्यक्ति पर इसमें विशेष बल दिया गया है। असामान्य और अलौकिक के स्थान पर सामान्य और उपेक्षित को वर्ण्यन का विषय बनाया गया है। प्रकृति और पशु-पक्षियों के प्रति भी प्रेम और सौहार्द्र का ~~वत्त~~ वातावरण प्रस्तुत किया गया है।

पंचवटी के इन नवीन तत्वों का आगे के खण्डकाव्यों में उत्तरोत्तर विकास हुआ है।

<u>वस्तु-विवेचन</u>- पंचवटी का कथानक रामायणीय है। पंचवटी में स्थित कुटिया में राम के छोटे से परिवार के दैनिक जीवन की झांकी इसमें प्रस्तुत की गई है। इसी कुटिया में १३ वर्ष व्यतीत होने के बाद एक दिन एक महत्वपूर्ण घटना घटी। शूर्पणखा निशा में विचरण करती हुई प्रहरी के रूप में वीरवेश धारण किए हुए लक्ष्मण के सामने आ खड़ी हुई और उनसे प्रेम प्रस्ताव किया। इस घटना के सहारे कवि ने प्रेम और वासना का स्वरूप स्पष्ट किया, लक्ष्मण के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान किया तथा राम, सीता और लक्ष्मण के हास-परिहास भरे पारिवारिक सौख्य की व्यंजना की। शूर्पणखा अपने प्रेम-प्रस्ताव की असफलता पर क्रुद्ध होकर, भयंकर वेश धारण कर आक्रमण करने को प्रस्तुत हुई तो लक्ष्मण ने दंड स्वरूप उसके नाक-कान काट कर उसे विरूप कर दिया जिससे वह भविष्य में इस प्रकार का छल-प्रपंच न प्रदर्शित कर सके।

वह हाहाकार मचाती हुई चली गई । इसके द्वारा कवि ने असत् पर सत् की विजय का आदर्श प्रस्तुत किया । कथा का अंत मधुर पारिवारिक वातावरण में होता है ।

पंचवटी की कथावस्तु में पर्याप्त मौलिकता है । केवल शूर्पणखा का प्रेम प्रस्ताव ल व लक्ष्मण के द्वारा उसके विरूप किये जाने की घटना रामायण से ली गयी है किन्तु उसमें इच्छानुसार परिवर्तन करके कवि ने उसे स्वतंत्र रूप से विकसित किया है । "मानस" में शूर्पणखा पहले राम से प्रणय का प्रस्ताव करती है और राम के द्वारा वह लक्ष्मण के पास भेजी जाती है किन्तु पंचवटी में वह रात्रि के अंतिम प्रहर में उपस्थित होती है जबकि लक्ष्मण वीरासन लगाए ह कुटिया की रक्षा में तत्पर रहते हैं । उस निर्जन वातावरण में वह लक्ष्मण से प्रणय-याचना करती है । इसके अतिरिक्त प्रसंगोपयुक्त प्राकृतिक वातावरण, लक्ष्मण के मानसिक रहस्यों का उद्घाटन, सामान्य जनोपयुक्त पारिवारिक वातावरण, देवर-भाभी विनोद आदि मौलिक प्रसंगों की योजना कर कवि ने घटना को नवीन रूप में प्रस्तुत किया है । इसमें लक्ष्मण के चरित्र को नवीन उत्कर्ष प्रदान किया गया है । यहां वे उद्धत व चंचल प्रकृति के नहीं दिखाई पड़ते । नैतिक बल व चारित्रिक दृढ़ता के साथ साथ उनके हृदय के कोमल पक्षों को भी यहां उद्घाटित किया गया है । इसमें सभी पात्रों को विशुद्ध मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किया गया है । नाटकीय परिवर्तनों व सरस संवादों के द्वारा अभिनव रोचकता की सृष्टि हुई है । स्थूल वर्णनात्मकता व उपदेशात्मकता, का इसमें पूर्ण अभाव है । कवि अंतर्वृत्तियों के उद्घाटन में अधिक रूचि प्रदर्शित करता है । पंचवटी कवि की प्रबन्ध-कला के विकास के नवीन मोड़ की सूचक कृति है ।

चरित्र-चित्रण

पंचवटी में चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिक पद्धति का सहारा विशेष लिया गया है । पंचवटी के पात्र परंपरा से प्रतिष्ठित हैं । अतः उनके प्राचीन स्वरूप की रक्षा करते हुए उनमें नवीनता लाना अत्यंत कौशल की अपेक्षा रखता है । पंचवटी के चरित्रों की सबसे बड़ी विशेषता मानवीय धरातल पर उनकी अवतारणा है । पात्रों की अति मानवीय और विशेषताओं को कवि ने यथासंभव दूर करने की चेष्टा की है । इस कृति में संवादों के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से चरित्रों की विशेषताएं प्रकट हुई हैं ।

लक्ष्मण- पंचवटी के नायक हैं । समस्त प्राचीन राम साहित्य में लक्ष्मण का चरित्र उभर नहीं सका । लक्ष्मण के जीवन का चरम लक्ष्य राम के चरणों में रहकर उनकी सेवा करना रहा है । अपने आराध्य देव के लिए वे अपना सर्वस्व त्याग करने को प्रस्तुत रहे हैं और उनके विरोधियों के प्रति उनका रौद्ररूप सदैव प्रबुद्ध रहा है ।

किन्तु पंचवटी में लक्ष्मण के चरित्र के अन्य पक्षों का भी उद्घाटन हुआ है । प्रस्तुत काव्य में उनका व्यक्तित्व राम की अपेक्षा अधिक मुखर है । लक्ष्मण को नायकत्व प्रदान करने के लिए ही कथा के मौलिक रूप में परिवर्तन भी किया गया है । शूर्पणखा लक्ष्मण के ही भोगी कुसुमायुध योगी रूप को देखकर मुग्ध होती है और उन्हीं से रात्रि के निर्जन, किन्तु मधुर मादक, वातावरण के मध्य प्रेम-प्रस्ताव करती है । मानस की भांति वह दिनदहाड़े नहीं आती और राम से पहले प्रणय-याचना नहीं करती- उन्हीं के द्वारा उसका विरूपीकरण अन्त में उनके नायकत्व का उत्कर्ष सूचित करता है ।

मुख्य कथा की पृष्ठ भूमि का निर्माण करते हुए कवि ने रति भावोद्दीपक मधुर मादक वातावरण में कुटिया की रक्षा में तत्पर वीरासन लगाए हुए लक्ष्मण का दर्शन कराया है । उनका यह रूप उनके व्यक्तित्व की वाह्य रूपरेखा ही नहीं उनके चरित्र की दृढ़ता का भी परिचायक है-

पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भिकमना,
जाग रहा यह कौन धनुर्धर, जब कि भुवन भर सोता है?
भोगी कुसुमायुध योगी-सा, बना दृष्टिगत होता है[1] ।

किन्तु इसके साथ ही कवि की दृष्टि उनके अन्तर्जगत की हलचल को भी उद्घाटित करने में समर्थ हुई है । इसकै के सहारे लक्ष्मण के चरित्र को कवि प्रकाश में लाने में समर्थ हुआ है । मनोनगत के विश्लेषण के सहारे कवि ने लक्ष्मण के हृदय की कोमलता, स्निग्धता और तरलता का परिचय दे दिया है । वन में पेड़ पौधों पशु पक्षियों के प्रति उनकी आत्मीयता, भरत कैकेयी के प्रति उनकी श्रद्धा के साथ पति की सुख-सुविधा की चिंता में रत रहने वाली प्रिय पत्नी उर्मिला की करुण स्मृति भी उन्हें निमग्न करती है ।

१- पंचवटी छं सं० २

बेचारी ऊर्मिला हमारे लिए व्यर्थ रोती होगी,

क्या जाने, वह हम सब बनें में होंगे इतने सुख-भोगी ।

मग्न हुए सौमित्रि चित्र-सम नेत्र निमीलित एक निमेष[1]।

ऊर्मिला के प्रति उनकी निष्ठा इतनी दृढ़ है कि वे पर नारी की कल्पना भी पापमूलक समझते हैं । शूर्पणखा की प्रणय याचना का उत्तर वे किन शब्दों में देते हैं-

"पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, कि मैं विवाहित हूं बाले[2]!"

वे एकपत्नीव्रत का आदर्श प्रस्तुत करते हैं । शास्त्र समर्थित होने पर भी उनका अन्तःकरण बहु-विवाह के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करता - लक्ष्मण कहते हैं-

मेरे मत में एक ओर हैं शास्त्रों की विधियां सारी,

अपना अन्तःकरण आप है आचारों का सुविचारी[3]।।

शूर्पणखा के हाव-भाव और नाना तर्क उन्हें विचलित नहीं कर पाते, उनकी चारित्रिक पवित्रता और दृढ़ता की कठोर परीक्षा इस प्रसंग में हुई है जिससे उनका आत्म-संयम और उनकी जितेन्द्रियता निखर उठी है ।

पंचवटी के लक्ष्मण में भावुकता और चिन्तनशीलता का प्राधान्य है । बन के जीवन के प्रति उन्हें कितना मोह है उसके सामने वे राज सुख को भी कुछ नहीं समझते । भरत की इसी त्यागवृत्ति के कारण वे उन्हें बड़भागी कहते हैं[4]। राम के प्रति उनकी सेवा भावना अत्यन्त दृढ़ है । राम जहां रहते हैं वहीं राम-राज्य का वातावरण दिखाई पड़ता है । बन में पशु-पक्षी भी बैर-भाव भूलकर प्रेम और सद्भाव से मुक्त वातावरण में विचरते हैं कितनी सुख-शान्ति वहां रहती है[5]। राम की चरण सेवा का अपना अधिकारि सुरक्षित रखने के लिए वे सीता से स्पष्ट कहते हैं "आर्य्य-चरण सेवा में समझो मुझको भी अपना भागी[6]।" सीता के प्रति उनके पूज्य भाव हैं ।

लक्ष्मण तप और त्याग की मूर्ति है । सीता राम से कहती है "देख तुम्हारे प्राणानुज का तप सुरेन्द्र भी डोल गया[7]।" इसी प्रकार राम उन्हें प्रेमान्ध बन्धु कहकर सब कुछ भूला हुआ बताते हैं[8]। वे प्रेम के आदर्श के समर्थ के है । उसे अमृत रूप कहते हैं और वासना को विष पूर्ण[9]।

१- पंचवटी, छं० सं० ३० । २- वही, छं० सं० ५४ ।
३- वही, छं० सं० ५५ । ४- वही, छं० सं० १२ ।
५- वही, छं० सं० ४ (पूर्वाभास) । ६- वही, छं० सं० २ ।
७- वही, छं० सं० ८४ । ८- वही, छं० सं० ।
९- वही, छं० सं० १२ ।

शूर्पणखा के विरूप होने की घटना से राम आशंकित हो जाते है किन्तु लक्ष्मण पुरुषार्थ और कर्मठता की दुहाई देकर उनकी शंका को दूर करते हैं। यहां पर लक्ष्मण का राम पर उत्कर्ष व्यंजित होता है। अन्यायी को दण्ड देना मनुष्य का कर्त्तव्य है। राम के साथ अंतिम वार्तालाप में लक्ष्मण का पौरुष व्यंजित हुआ है। उनकी साहसिकता, निर्भीकता, कष्ट सहिष्णुता, शौर्य तथा कर्त्तव्य पर दृढ़ रहने की अनुपम उत्साह उनके चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने में सहायक हुए हैं।

शूर्पणखा- शूर्पणखा पंचवटी की प्रतिनायिका है। दानवी होते हुए भी उसे मानवी रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसका मानवी रूप माया जन्य है। उसके इस रूप में नारी का वासना पक्ष उभर कर आया है। सीता के सात्विक रूप की तुलना में शूर्पणखा का प्रकृत नारीत्व अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त हुआ है। उसके चकाचौंध पैदा करने वाले वासनामय रूप का वर्णन कवि ने आलंकारिक शैली में सुन्दर ढंग से किया है[१]।

शूर्पणखा के इस अलंकृत रूप के साथ सीता की सात्विक छवि देकर कवि ने उसे भली-भांति हृदयंगम करा दिया है -

अहा ! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर की-सी मूर्ति न थी[२]।

शूर्पणखा सीता को देखकर अपने अंगों से उनकी तुलना भी करती है-

एक बार अपने अंगों की ओर दृष्टि उसने डाली,
ऊलझ गई वह किन्तु-बीच में थी विभूषणों की जाली।
एक बार फिर वैदेही के देखे अंग अदूषण वे, -
सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे रखते थे शुभ भूषण वे[३]।।

शूर्पणखा निर्लज्जता की प्रतिमा है। उसमें संयम और सात्विकता का पूर्ण अभाव है। वासना की दासी बनी हुई वह कभी लक्ष्मण पर तो कभी राम पर अपने आप को न्यौछावर करने को प्रस्तुत होती है। शूर्पणखा की निर्लज्जता, चंचलता और काम विवशता उसकी निम्नांकित ऊक्तियों में फूटी पड़ती है -

धारण करूं योग तुम-सा ही भोग-लालसा के कारण[४]।

+ + +

अरे, कौन है, वार न देगी जो इस यौवन-धन पर प्राण[५]?

१-५: पंचवटी: छं० सं० ३१, ६५, ६७, ४५, ४८।

"झूठा?" प्रश्न किया प्रमदा ने और कहा--"मेरा मन हाय !
निकल गया है मेरे कर से होकर विवश, विकल, निरूपाय[1]।
+ + +
लेकर इतना रूप कहो तुम दीख पड़े क्यों मुझे छली ?
चले प्रभात- बात फिर भी क्या खिले न कोमल कमल कली ?
+ + +
रात बीतने पर है अब तो मीठे बोल बोल दो तुम,
प्रेमातिथि है खड़ा द्वार पर, हृदय-कपाट खोल दो तुम[2]।

राम के प्रति उसका प्रस्ताव भी अस्थिर चित्तता और उसकी काम-तृषा की परिचायक है-

पहनो कान्त, तुम्हीं यह मेरी जयमाला-सी बरमाला,
बने अभी प्रासाद तुम्हारी एक एकान्त पर्णशाला !
मुझे ग्रहण कर इस भाभा के भूल जायेंगे ये भ्रू-भंग,
हेमकूट, कैलाश आदि पर सुख भोगोगे मेर संग[3]।"

राम और लक्ष्मण से निराशा होकर शूर्पणखा का उद्धत रूप प्रस्फुटित होता है - वह अपने यथार्थ रूप में प्रगट हो जाती है -

गाल कपोल पलटकर सहसा बने भिड़ों के छत्तों-से,
हिलने लगे उष्ण सांसों से औठ लपालप लत्तों-से,
कुन्द कली से दांत हो गये, बढ़ बराह की डाढ़ों-से,
विकृत, भयानक और रौद्र रस प्रकटे पूरी बाढ़ों-से[4]।

शूर्पणखा का मायावी वेश नारी के प्रकृत स्वरूप को खड़ा करता है और उसका वास्तविक दानवी रूप उसके अतिमानवीय राक्षसी स्वरूप को । उसके माध्यम से लक्ष्मण के चरित्र को उत्कर्ष मिला है । शूर्पणखा में नारी के वासना पूर्ण पक्ष को उभारने में कवि को अद्भुत सफलता मिली है ।

<u>सीता</u>- पंचवटी में सीता का चरित्र गौण है । उन्हे सामान्य धरातल पर स्थित किया गया है । किन्तु उनका व्यक्तित्व कुछ मुखर है यहां वे लज्जा और संकोच में आवेष्टित नहीं हैं । लक्ष्मण के साथ उनका हास-परिहास उनकी विनोद-प्रियता का सूचक है । उनके करूणापूर्ण स्नेह से बन के पशु-पक्षी भी उनके परिवार के अंग से बन गये हैं[5]।

१-५: पंचवटी: छं० सं० ५७, ६१, ९५, १११, १६,१९ ।

सीता एक आदर्श गृहिणी के रूप में चित्रित हुई हैं । अपने कुटुम्ब का उत्तर-दायित्व वे बड़ी तत्परता से निबाहती हैं । घर के काम-काज में लक्ष्मण भी उनका हाथ बंटाते हैं । यहां का जीवन अत्यन्त सरल और अकृत्रिम है । स्वावलम्बन उनका प्रमुख गुण है । वे लक्ष्मण के साथ नदी से जल भरने जाती हैं । और धान समा लेकर मणतियां चुगाती हैं[१]। सीता के स्वावलम्बन पूर्ण दैनिक जीवन की एक झलक देखिए-

अपने पौधों में जब भाभी भर भर पानी देती हैं,
खुरपी लेकर आप निराती जब वे अपनी खेती हैं ।
पाती हैं तब कितना गौरव कितना सुख, कितना सन्तोष !
स्वावलम्ब की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष[२]।।

सीता सात्विकता और सरलता की प्रति मूर्ति हैं । यह सादगी उनके बाह्य और अन्तर्जीवन में समान रूप से दिखाई पड़ती है । उनका आडम्बर-हीन सहज सुंदर रूप आकर्षक व मनोहर है । ललम ऊषा से उपमित होकर उसकी पवित्रता का प्रभाव बढ़ गया है -

अहा ! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर की-सीमूर्ति न थी ।
वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़कर गया चन्द्र पश्चिम की ओर[३]।

बाह्याकृति की भांति उनका मन भी सरलता और पवित्रता का आगार है । वे सांसारिक समृद्धि की भूखा नहीं । त्याग और संतोष का जीवन जो स्नेह और परस्पर साहाय्य के सहारे विकसित हो, वही परिवार को सुखी बना सकता है -

नहीं चाहिए हमें विभव-बल, अब न किसीको डाह रहे,
बस, अपनी जीवन-धारा का यों ही निभृत पवाह बहे[४]।

पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तो उनकी दया के पात्र हैं ही किन्तु शूर्पणखा के प्रति भी उनकी सहानुभूति कम नहीं है । वे उसका पक्ष लेकर लक्ष्मण को मनाने की चेष्टा करती हैं । देवरानी बनाने के लिए वे यहां तक कह डालती है कि घर का कोई काम उससे न करायेंगी, किन्तु उनके पशु-पक्षियों के दोषों को क्षमा करने का बचन वे अवश्य ले लेना चाहती हैं[५]। शूर्पणखा जब सीता के जीवन सर्वस्व राम को ही बर

१-५: पंचवटी: छंद संख्या: १२७, २४, ६५, १२४, ७५ ।

बनाने का प्रस्ताव कर बैठती है तो भी वे अस्वीकार नहीं करतीं, हां, राम के शासन भर करती रहने का अधिकार मात्र मांगती हैं[१]। सहानुभूति और दया का गुण सीता में अनूठा है । पशु-पक्षी क्या विरोधी भी उससे वंचित नहीं ।

सीता के पातिव्रत्य का आदर्श पंचवटी में भी प्रतिष्ठित हुआ है । पति पर शासन करने की भूख उन्हें नहीं । उनके पातिव्रत्य का आदर्श "सेवा के अधिकार" में निहित है । पति का सुख ही पत्नी के सुख का कारण है । इसी प्रकार लक्ष्मण को समझाते हुए वे ऊर्म्मिला की ओर से उन्हें आश्वस्त करती हुई कहती हैः-

तो मैं कहती हूं, वह मेरी बहन न देगी तुमको दोष,
तुम्हें सुखी सुनकर पीछे भी पावेगी सच्चा सन्तोष ।
प्रिय से स्वयं प्रेम करके ही हम सब कुछ भर पाती हैं,
"वे सर्वस्व हमारे भी हैं" यही ध्यान में लाती हैं[२]।।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि, सीता एक सामान्य गृहस्थ स्त्री के रूप में चित्रित हुई है । वे कोमल, सरल, कर्त्तव्यनिष्ठ और हास-परिहास प्रिय हैं ।

राम- राम का चरित्र पंचवटी में गौण है । वे लक्ष्मण के आराध्य अवश्य हैं किन्तु उनका व्यक्तित्व अस्पष्ट रहता है । शूर्पणखा -प्रसंग में भी उनका भाग अप्रधान है । लक्ष्मण से निराश होकर ही शूर्पणखा राम से प्रणय-याचना करती है । किन्तु राम के एक पत्नीव्रत का परिचय यहां मिलता है ।शूर्पणखा को उत्तर देते हुए वे अपने इस व्रत का परिचय यह कहकर देते हैं कि घर छोड़कर बन में रहते हुए भी वे पत्नी को न छोड़ सके[३] । राम की विनम्रता और प्रिय भाषण का वृत्ति लक्ष्मण की अपेक्षा अधिक है । तभी तो राम के प्रिय बचन सुनकर शूर्पणखा की "छाती फूल गयी" और उसने कहा-"बड़े सदैव बड़े होते हैं, छोटे रहते हैं छोटे[४]।

राम को भी यहां एक सामान्य मानव के रूप में अवतरित किया गया है । उनमें ईश्वरत्व की प्रतिष्ठा नहीं हुई । लक्ष्मण द्वारा संकेतित उनका आदर्श-नृपत्व और उनकी समदर्शिता मानवीय अधिक हैं ईश्वरीय कम ।

जो हो, जहां आर्य्य रहते हैं, वहीं राज्य वे करते हैं,
उनके शासन में बनचारी सब स्वच्छन्द बिहरते हैं[५]।
+ + +
गुह, निषाद, शवरों तक का मन रखते हैं प्रभु कानन में[६]।

१-६: पंचवटीः छन्द संख्या ९६, ७९, ९८, ८६-९३, १४, ।

एक सामान्य गृहस्थ की भांति वे शूर्पणखा कांड से संशंकित होकर कह उठते हैं:-

"हुआ आज अपशकुन सबेरे, कोई संकट पड़े न हा ।
कुशल करे कर्तार" उन्होंने लेकर एक उसांस कहा[१] ।

लक्ष्मण के प्रति उनका स्नेह असीम है[२] और सीता के प्रति उनका पत्नी-प्रेम मर्यादित है ।

गार्हस्थ्य-भावना

पंचवटी में स्थित कुटिया में राम-लक्ष्मण-सीता के लघु परिवार का भव्य चित्र कवि ने खींचा है । नागरिक वैभव-विलास की सामग्री यहां उपलब्ध नहीं है । इस छोटे से परिवार में सुख-शान्ति और सौहार्द्र का जो वातावरण दिखाई पड़ता है वह आह्लादकारी है । ईर्ष्या, द्वेष और गृह कलह का दूषित वातावरण यहां नहीं है । यहां का जीवन स्वावलम्बन पर आधारित है । अपने श्रम से अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में जो सन्तोष मिलता है उसकी तुलना महलों में पायी जाने वाली सुख-सुविधाओं से नहीं हो सकती ।

इस परिवार के सभी प्राणी अपने-अपने कर्तव्य पालन मे सतर्क हैं । लक्ष्मण ने भाई राम की चरण सेवा में अपने को भाभी का साझीदार बनाया है[३]। उनका धर्म सेवा का धर्म है जिसके लिए उन्होंने "धन-धाम" धरा के साथ अपनी नव-वधू तक का त्याग कर दिया है । रात्रि के समय जब उनके आराध्य युग्म विश्राम करते हैं तो वे धनुष-बाण लेकर कुटिया के बाहर पहरा देते हैं[४]। प्रातःकाल उठकर वे उनका पद-वंदन करते हैं[५]। दिन में वे भाभी के पारिवारिक कार्यों में हाथ बटाते हैं[६]।

अपने कर्तव्य का पालन तत्परता से करती है । पानी भरना, मछलियां चुगाना[७] पौधे सींचना, खेत निराना[८] आदि कार्यों में व्यस्त रहती हैं । वे आश्रमवासी पशु-पक्षियों को भोजन देतीं[९] तथा उनके साथ क्रीड़ा करके उनका और अपना मनोरंजन करती हैं[१०]। अपने स्वामी तथा देवर के साथ हास-परिहास करती हुई वे सभी के जीवन में सरसता व सौख्य का संचार करती हैं ।

१-पंचवटी: छं०सं० ११९ । २- किन्तु राम की उज्ज्वल आंखें सफल सीप सी भर आईं । पूर्वाभास छं० ३ ।
३- पंचवटी, पूर्वाभास छं०सं० २ ।
४- वही, छं०सं० ३ । ५- वही, छं०सं० ७२,८३ । ६- वही, छं० सं० १२७।
७- वही, छं० सं० १२७। ८- वही, छं० सं० २४ । ९- वही, छं० सं० १६ ।
१०- वही, छं०सं० १४ ।

राम का स्नेह सभी बनवासी स्त्री-पुरुषों को मिलता है । पड़ोसी और संबंधी सबको संतुष्ट रखने में ही गृहस्वामी की सफलता है । गुह, निषाद, शबरों आदि निम्नवर्ग के व्यक्तियों के प्रति भी उनका स्नेह कम नहीं । वे छोटे बड़े का भेद भाव किए बिना सभी सेसमान-भाव रखकर प्रेम करते हैं[1]। परिवार के सौख्य पर कोई आंच न आवे, इसके लिए वे सजग रहते हैं[2]। समय-समय पर वे भाई लक्ष्मण का पथ-प्रदर्शन भी करते हैं[3]।

इस परिवार की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसका हर सदस्य एक दूसरे की सुख सुविधा का ध्यान ही नहीं रखता, वरन् दूसरे के सुख के लिए अपने ~~सर्वस्व~~ सर्वस्व-त्याग को प्रस्तुत रहता है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सरल और सात्विक गार्हस्थ्य जीवन का आदर्श स्वरूप पंचवटी में मिलता है ।

वर्णन

प्रकृतिः- पंचवटी का कवि मानवीय कार्य- व्यापारों के चित्रण में अधिक कुशल है । पंचवटी कवि का प्रकृति-प्रेम इस कृति में पहली बार फूटा है । इसमें प्रकृति के कोमल स्निग्ध चित्र देखने को मिलते हैं । प्रकृति को इसमें सजीवता प्रदान की गई है । वह चेतन की भांति सहज संवेदन शील है । प्रकृति और मानव का घनिष्ठतम पारिवारिक संबंध इसमें प्रस्फुटित हुआ है ।

पंचवटी के प्रारम्भ में प्रकृति के रमणीय वातावरण को अंकित किया गया है । यद्यपि ये प्रारम्भिक चित्र आगे आने वाले सरस प्रसंगों की पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं, तथापि इन कोमल स्निग्ध रूपों में कवि की तल्लीनता प्रकृति के प्रति उसके सहज प्रेम को व्यंजित करती है । चंचल-किरणों की क्रीड़ा, धरती की पुलक, वृक्षों का झूमना रसमग्न कवि ही देख सकता है ।

यह प्रकृति पवित्र और सात्विक भावों को जन्म देने वाली है । ऋषि-मुनियों की वासस्थली, तप बन्य प्रकृति के प्रति श्रद्धा का भाव कवि में विद्यमान है । कुछ उदाहरण लीजिएः-

मुनियों का सत्संग यहां है, जिन्हें हुआ है तत्व-ज्ञान,
सुनने को मिलते हैं उनसे नित्य नये अनुपम आख्यान[4]।

\+ \+ \+

१-पंचवटीः छन्द संख्या- १२-१४, २- वही, छं० सं० ११९ ।३-वही, छं०सं०१२१ ।
४- वही, (३१वां संस्करण) छं० सं० २० ।

आंखों के आगे हरियाली रहती है हर घड़ी यहां
जहां तहां झाड़ी में झिरती है झरनों की झड़ी यहां ।
बन की एक एक हिमकणिका जैसी सरस और शुचि है,
क्या सौ सौ नागरिक जनों की वैसी विमल रम्य रुचि है[1]?
पंचवटी की छाया में है सुन्दर पर्ण-कुटीर बना,
उसके सम्मुख स्वच्छ शिला पर धीर वीर निर्भीकमना[2]।

इस प्रकृति नटी के पलटते हुए रंगों के साथ पात्रों और परिस्थितियों के परिवर्तन की व्यंजना की गई है -

इसी समय पौ फटी पूर्व में, पलटा प्रकृति-पटी का रंग,
किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर फटा दिवा के दमके अंग,
कुछ कुछ अरुण, सुनहली कुछ कुछ प्राची की अब भूषा थी,
पंचवटी की कुटी खोलकर खड़ी स्वयं क्या ऊषा थी[3]।

इस प्रकृति के प्रति आत्मीयता और कौटुम्बिक के भावना का विकास किया गया है । बन के पेड़-पौधें और पशु-पक्षी सीता का वात्सल्य प्राप्त करते हैं । उनको सींचने या खिलाने-पिलाने की चिन्ता सीता को परिवार के प्राणियों की भांति ही सदैव बनी रहती हैः-

आ आकर विचित्र पशु-पक्षी यहां बिताते दोपहरी,
भाभी भोजन देतीं उनको, पंचवटी छाया गहरी ।
चारु चपल बालक ज्यों मिलकर मां को घेर खिझाते हैं,
खेल-खिझाकर भी आर्या को वे सब यहां रिझाते हैं[4]।।

इस प्रकृति में प्रसन्न-चित्रों की आयोजना है । प्रकरण-मुक्त कर यदि निम्नांकित छन्द का सौंदर्य देखें तो वह स्मृति -चित्र बनकर भावोद्बोधन करता हुआ प्रतीत होता हैः-

गोदावरी नदी का तट वह ताल दे रहा है अब भी,
चंचल जल कल-कल कर मानो तान ले रहा है अब भी ।
नाच रहे हैं अब भी पत्ते, मन-से सुमन महकते हैं,
चन्द्र और नक्षत्र ललककर लालच भरे लहकते हैं[5]।।

१-पंचवटीः छन्द संख्या १९, ९, ६४, १६, १७ ।

कवि ने वन्य-प्रकृति के सरल एवं नैसर्गिक पक्षों का भावानुरंजित चित्रण किया है । कवि स्वयं इसका परिचय देता है-

मानों है यह भुवन भिन्न ही कृत्रिमता का काम नहीं,
प्रकृति अधिष्ठात्री है इसकी, कहीं विकृति का नाम नहीं[१]।

आलंकारिक रूप में भी प्रकृति का प्रयोग हुआ है-

हंसने लगे कुसुम कानन के देख चित्र-सा एक महान,
विकस उठीं कलियां डालों में निरख मैथिली की मुसकान[२]।

सीता के रूप को उत्कर्ष प्रदान करने में ष उक्त पंक्तियां की योजना सुंदर है- पंचवटी ष प्रकृति हमारे सुख दुःख की सहचरी है और अत्यन्त उदार है - इसकी व्यंजना देखिए:-

सरल तरल जिन तुहिन कणों से हंसती हर्षित होती है,
अति आत्मीया प्रकृति हमारे साथ उन्हीं से रोती है ।
अनजानी भूलों पर भी वह अदय दण्ड तो देती है,
परबूढ़ों को भी बच्चों - सा सदय भाव से सेती है[३]।।

इस प्रकार पंचवटी ष का प्रकृति-वर्णन वैविध्यपूर्ण है और काव्योत्कर्ष में सहायक है ।

रूप-वर्णन

पुरुष- पंचवटी में रूप-वर्णन अति संक्षिप्त किन्तु सांकेतिक है । उसमें कुछ रेखाओं के सहारे ही सम्पूर्ण चित्र का प्रत्यक्षीकरण कराया जाता है । बाह्य रूपरेखा को पात्रों के आंतरिक व्यक्तित्व के साथ सम्बन्ध करके प्रस्तुत किया गया है । लक्ष्मण के स्वरूप का आभास भोगी कुसुमायुध योगी[४] के सूत्र से ही मिल जाता है । फिर स्वच्छ शिला पर धनुष-बाण लेकर बैठना और निद्रा का त्याग कर कुटिया के धन की रक्षा में निर्भीकता से तत्पर होना आदि संकेतों से जहां उनके रूप की रेखाएं उभरकर प्रत्यक्ष होती हैं वहां उनके व्यक्तित्व का भी परिचय मिलता है ।

इसी प्रकार एक ही पंक्ति में राम के पूर्ण चित्र की व्यंजना की गई है:-

क्षण भर में देखी रमणी ने एक श्याम शोभा बांकी,
क्या शस्यश्यामल भूतल ने दिखलाई निज नर-झांकी[५]।

१-पंचवटी: छं०सं० २५ । २-५ : वही, ६८, ८, ९, ८१ ।

किंवा उतर पड़ा अवनी पर कामरूप कोई घन था,

एक अपूर्व ज्योति थी जिसमें जीवन का गहरापन था[1]।

वस्त्राभूषण, अंगों की आकृति, एवं चेष्टाओं आदि का वर्णन कर पात्र के चरित्र की विशेषताओं को निदर्शक विशिष्ट छवियों के सहारे ही कवि पात्र की वाह्य रूप विधान करता है।

नारी रूप- नारी रूप चित्रण में भी उक्त नवीन पद्धति का दर्शन होता है। सीता के जीवन की पवित्रता और सात्विकता का प्रतिबिंब उनके वाह्य रूप में प्रकट होता है। कवि ने उन्हें "अवनी की ऊषा" कह कर उनको सात्विक सौन्दर्य की आभा देदी है। यहां पर प्रतीप अलंकार का सहारा लेकर कवि ने उनके सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान किया है-

अहा! अम्बरस्था ऊषा भी इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,

अवनी की ऊषा सजीव थी, अम्बर की-सी र्तिमू न थी।

वह मुख देख, पाण्डु-सा पड़कर, गया चन्द्र पश्चिम की ओर[2]

प्रकृत सौन्दर्य के लिए आभूषणों की आवश्यकता नहीं। सीता के सहज सौन्दर्य को "सनक्षत्र अरुणोदय" से उपमित किया गया है। अरुणोदय की बेला में कहीं एक आध-नक्षत्र ही झलकता है वह भी प्रकाश में खोया सा रहता है- सीता के शरीर में आभूषणों की भी यही स्थिति है।

एक बार फिर वैदेही के देखे अंग अदूषण वे,

सनक्षत्र अरुणोदय ऐसे रखते थे शुभ भूषण वे[3]।।

शूर्पणखा के कृत्रिम रूप का वर्णन कवि ने कुछ विस्तार के साथ किया है किन्तु उसमें भी ब्योरेवार चित्र देने की प्रवृत्ति नहीं है। विभिन्न अंगों के सौन्दर्य का अलग-अलग वर्णन नहीं मिलता। कुछ प्रमुख विशेषताओं के सहारे ही बिम्ब ग्रहण कराया जाता है। आभूषणों से लदी हुई उस रमणी में चकाचौंध है, सहज सौन्दर्य नहीं-

चकाचौंध सी लगी देखकर प्रखर ज्योति की वह ज्वाला,

निस्संकोच खड़ी थी सम्मुख एक हास्यवदनी बाला

रत्नभरण भरे अंगों में ऐसे सुन्दर लगते थे

ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ सौ जुगनू जगमग जगते थे।

१-३ पंचवटी छं संख्या ८३, ६५, ६७।

थी अत्यन्त अतृप्त वासना दीर्घ दृगों से झलक रही,
कमलों की मकरन्द-मधुरिमा मानो छवि से छलक रही[1] ।

उसका मुद्रा-चित्र भी कवि ने सफलता से चित्रित किया है ।
कटि के नीचे चिकुर-जाल में उलझ रहा था बायां हाथ,
खेल रहा हो ज्यों लहरों से लोल कमल भौरों के साथ ।
दायां हाथ लिये था सुरभित चित्र-विचित्र-सुमन-माला
टांगा धनुष कि कल्पलता पर मनसिज ने झूला डाला[2].

नारी के उपर्युक्त चित्र उत्तेजना प्रदान करने वाले हैं । सीता के रूप चित्रों से सात्विकता और पवित्रता का भाव उदित होता है किन्तु शूर्पणखा के उन चित्रों से वासना जगती है । ज्योति-जुगनू, कमल, भ्रमर, मकरन्द आदि उपमान वासना को उद्दीप्त करने में सहायक हैं ।

संक्षेप में कह सकते हैं कि रूप चित्रण में कवि ने प्राचीन परिपाटी का त्याग कर दिया है । सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना अवश्य हुई है किन्तु वह भी बहुत कम । विवरण न देकर कवि एक दो विशेषताओं का निर्देश करके ही सम्पूर्ण चित्र आंखों के सामने प्रत्यक्ष कर देता है । रूप विधान की एक नवीन शैली का जिसे हम सांकेतिक शैली कह सकते हैं, प्रयोग इसमें हुआ है ।

रस और भाव व्यंजना

पंचवटी के नायक लक्ष्मण हैं । उनकी भावुकता और चारित्रिक पवित्रता ही कवि ने प्रधान रूप से चित्रित की है । अतः शास्त्रीय अर्थ में वे किसी स्थायी भाव के आश्रय नहीं बनते । उनके व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण कवि ने किया है किन्तु रस-परिपाक की चेष्टा नहीं की है ।

श्रृंगार की झलक लक्ष्मण की स्मृति उस समय मिलती है जब चिन्तन करते हुए लक्ष्मण उर्म्मिला की स्मृति में डूब जाते हैं ।

मग्न हुए सौमित्रि चित्र-सम नेत्र निमीलित एक निमेष[3]

किन्तु उसी समय शूर्पणखा के आलौकिक रूप को देखकर वे आश्चर्य में पड़ जाते हैं अतः उक्त रतिभाव शान्त हो जाता है । इसे हम भाव शांति के उदाहरण के रूप में ले सकते हैं ।

१-३ पंचवटी छं० संख्या २८-२९, ३३, ३० ।

राम-लक्ष्मण को आलम्बन मानकर शूर्पणखा के हृदय में जो रति भाव उत्पन्न होता है वह एक पक्षीय रहने के कारण रस की कोटि तक नहीं पहुंच पाता । पर-पुरुष से रति-कामना अनौचित्य पूर्ण होने के कारण उसको हम रसाभास का उदाहरण मान सकते हैं -

शूर्पणखा का "रौद्ररूप जुगुप्सा को उद्रिक्त करता है[१]

जहां लाल साड़ी थी तनु में बना चर्म का चीर वहां,
हुए अस्थियों के आभूष थे मणि-मुक्ता-हीर जहां ।
कंधो पर के बड़े बाल वे बने अहो! आंतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी हुई मुण्डमाला सुविशाल[२]।

उर्मिला का आक्रामक रूप देखकर लक्ष्मण का वीरत्व जाग्रत नहीं होता, क्योंकि नारी होने के कारण उसे मारने का उत्साह उनमें नहीं है । वह केवल उसी उपाय को काम में लाते हैं जिससे वह पुनः किसी को न छल सके[३] ।

सीता को आश्रय मानकर भय की व्यंजना भी हुई है-

हो सकते थे दो द्रुमाद्रि ही उसके दीर्घ शरीर-सखा,
देख नखों को ही जंचती थी वह विलक्षणी शूर्पणखा
भय विस्मय से उसे जानकी देख न तो हिल-डोल सकीं,
और न जड़ प्रतिमा-सी वे कुछ रुद्ध कण्ठ से बोल सकीं[४]।।

देवर-भाभी प्रसंग में "हास" की झलक मिलती है । लक्ष्मण जब अपने पुरुषार्थ का बखान करते हैं - मैं पुरुषार्थ पक्षपाती हूं इसको सभी जानते हैं[५]। तो सीता को परिहास का अवसर मिल जाता है "रहो, रहो, पुरुषार्थ यही है- पत्नी तक न साथ लाये"[६] किन्तु देवर-भाभी परिहास में हास्य-रस का परिपाक नहीं होता, इससे उनके पारिवारिक विनोद-पूर्ण जीवन की झलक ही मिलती है ।

इस प्रकार पंचवटी में अंगी रस का अभाव है । पारिवारिक सौख्य की व्यंजना ही इसमें प्रधान है ।

कवि मैथिलीशरण गुप्त को खड़ी बोली को काव्य भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त है । उन्होंने यह कार्य अपने विविध काव्यों में

१- मैथिलीशरण गुप्त, व्यक्ति और काव्य, कमलाकान्त पाठक पृ० ३१३ ।
२-६पंचवटी- छं० सं० ११२, ११६, ११३, १२५ तथा १२६ ।

इसके प्रयोग द्वारा किया है । अतः उनकी काव्य भाषा का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। "जयद्रथ-वध" की भाषा-शैली की विशेषताएं हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं । पंचवटी की भाषा-शैली जयद्रथ-वध की अपेक्षा अधिक विकसित है । जयद्रथ वध की भाषा में इतिवृत्तात्मक रूक्षता का प्राधान्य है किन्तु पंचवटी की भाषा में एक चांचल्य और तारल्य का दर्शन होता है । जयद्रथ वध की अपेक्षा पंचवटी की भाषा में परिष्कार और निखार अधिक है । थोड़े शब्दों में अधिक कहने की लाघव शक्ति पंचवटी में विकसित हुई है । पंचवटी में नाटकीयता का प्राधान्य होने के कारण भाषा भी उसी के अनुरूप ढली है । संवादों में भाषा का वह स्थूल रूप नहीं रहता जो सामान्य कथनों और वर्णनों में रहता है । संवादों और नाटकीय कथोपकथन में भाषा अधिक मंजी है ।

पंचवटी की भाषा के प्रति उदाहरण-

सीता बोलीं कि ये पिता की आज्ञा से सब छोड़ चले ।
पर देवर, तुम त्यागी बनकर क्यों से मुंह मोड़ चले ।
उत्तर मिला कि "आर्य्ये, बरबस बना न दो मुझको त्यागी
आर्य्य चरण सेवा में समझो मुझको भी अपना भागी ।"[१]

पंचवटी में खड़ी बोली को संस्कृत शब्दावली की सहायता से काव्योपयोगी बनाया गया है । मैथिलीशरण गुप्त जी की यह सामान्य प्रवृत्ति है । न तो उन्होंने तत्सम शब्दों के बाहुल्य से इसके प्रकृत सौन्दर्य को नष्ट किया -(जैसा कि हरिऔध जी की भाषा में हुआ है) और न भाषा का बाजारू या बोलचाल का सामान्य रूप ही रहने दिया । भाषा की अभिव्यंजकता को बढ़ाने के लिए उन्होंने संस्कृत की ओर ही दृष्टि डाली है । विदेशी भाषा के शब्दों को उन्होंने ग्रहण नहीं किया । हां कुछ क्षेत्रीय प्रयोग उन्होंने अवश्य किए हैं । जैसे भीमना, भिड़[१] । संस्कृत शब्दों को भी कवि ने कहीं कहीं अपनी छंदादि की आवश्यकता के अनुकूल विचित्र रूप में प्रयुक्त किया है विश्वानुकूल्य[२], "वदान्या"[३]।

मुंह मोड़ना[४], एक घाट पर पानी पीना,[५] उंगली पकड़ प्रकोष्ठ पकड़नेका[६] आदि मुहावरों का प्रयोग भाषा को चटकीली बनाने में सहायक हुए हैं ।

१- पंचवटी, छं०सं० १-१११ । २- वही, छं०सं० १२ । ३- वही, छं० सं० १०२ ।
४- वही, पूर्वाभास, छं०सं०२ । ५- वही, छं० सं० २१ । ६- वही, छं०सं० ९६ ।

अध्याय ९

स्वप्न (रचनाकाल १९१८ ई०)

इसके रचयिता श्री रामनरेश त्रिपाठी हैं। काल्पनिक आख्यानों को लेकर लिखे गये खण्डकाव्यों में इस रचना का महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें युग जीवन की ज्वलन्त समस्या -राष्ट्र-स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष को वाणी मिली है। राष्ट्रीय-एकता प्रजातन्त्र, तथा व्यापक राष्ट्रीय-हितों के लिए संकुचित (व्यक्तिगत) स्वार्थों का उत्सर्ग आदि विषय इसके प्रमुख प्रतिपाद्य हैं। राजनैतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन की समस्याओं का सुंदर सामंजस्य इसमें दिखाई पड़ता है। इस सामयिक उपयोगिता के साथ साथ शाश्वत साहित्य के विशुद्ध कलात्मक तत्वों का भी इसमें अभाव नहीं है। प्रकृति के राग-रंजित भव्यचित्र और मानव मन के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने में इसके कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

रचना-शिल्प- "स्वप्न" में ख्यात कथानक कोलेकर कवि ने स्वच्छन्द प्रवृत्ति का परिचय दिया है। इसके कथानक के ढांचे का निर्माण नवीन पद्धति पर हुआ है। पं० श्रीधर पाठक द्वारा अनूदित एकान्तवासी योगी आधुनिक काल में प्रणय काव्यों की एक नूतन परम्परा को जन्म दिया जिसमें प्रेमी या प्रेमिका अपने प्रेम-पात्र के विरह में योगी बनकर बन - बन में भटकते हैं और अंत में रहस्यपूर्ण ढंग से पुनः संयुक्त होते हैं। इसमें "प्रेम" को एक स्वर्गीय वस्तु मानकर उसकी पूर्ति के लिए सर्वस्व त्याग का आदर्श प्रस्तुत किया जाता है। इस परम्परा की रचनाओं में प्रेम-पथिक (प्रसाद) शिशिर पथिक(रामचंद्र शुक्ल)आदि प्रमुख हैं। त्रिपाठी जी का "मिलन" "पथिक", "स्वप्न" आदि भी उसी परम्परा की कृतियां हैं। इसमें त्रिपाठी जी ने देशभक्ति के उज्ज्वल आदर्श को संजोकर एक वैशिष्ट्य उत्पन्न कर दिया है जिससे ये प्रेमकथाएं सुन्दर राष्ट्रीय आख्यान काव्य के रूप में विकसित हो गयी हैं। इनमें प्रेमी और प्रेमिका सामाजिक बाधा के फलस्वरूप अथवा किसी प्रतिद्वन्दी के बीच में आ जाने के कारण एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं होते वरन् राष्ट्र-प्रेम या देश-सेवा की तीव्र आकांक्षा उन्हें व्यक्तिगत प्रणय की उपेक्षा करने को विवश करदेती है। पहले प्रेमी या प्रेमिका मे से किसी एक में देश-भक्ति का यह ज्वार प्रबल रहता है जिसके फलस्वरूप बिछोह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है किन्तु अंततः वियुक्त प्रेमी के त्याग पूर्ण आदर्श, कर्तव्यनिष्ठा और साफल्य से प्रेरित होकर दूसरा भी

उसी रंग में रंग जाता है ।

स्वप्न के कथा-विन्यास में जटिलता होते हुए भी इसमें प्रबन्ध गठन की दृष्टि से कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती । यद्यपि अनेक स्थलों पर कथा प्रसंग मनो भय हो जाता है किन्तु उससे कथा के संबंध निर्वाह मे कोई बाधा नहीं पड़ती । प्रथम दो सर्गों में नायक की आत्माभिव्यक्ति ही प्रधान है किन्तु वह आगे आने वाली कथा से असंपृक्त नहीं है ।

कथा के आदि, मध्य और अंत का निर्वाह भली प्रकार हुआ है । प्रारम्भ से सुमना के गृह त्याग के पूर्व तक कथा का आदि अंश, सुमना के गृह त्याग से बसन्त के युद्ध भूमि में जाने तक मध्यांश और बसन्त के युद्धभूमि में पहुंचने से लेकर समाप्ति तक "अंत" का अंश कहा जा सकता है । इन तीनों अंशों में परस्पर कार्य-करण संबंध के आधार पर सुगठित है ।

खण्डकाव्य के प्राचीन शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह "स्वप्न" में आंशिक रूप में ही हुआ है । इसका कथानक पांच सर्गों में विभक्त है । इसकी कथा उत्पाद्य और नायक काल्पनिक होना शास्त्र सम्मत है । इसमें आद्यन्त एक ही छन्द का व्यवहार हुआ है । देश विषयक रति-भाव की इसमें प्रधानता है जो शास्त्रीय दृष्टि से रसकोटि तक नहीं पहुंच सकती । प्रारम्भिक कथा भाग में नायक में औदात्य का दर्शन नहीं होता उसे कर्तव्यच्युत, कामी और कापुरुष के रूप में चित्रित किया गया है, यद्यपि अंत में उसके चरित्र का विकास होता है । नायक को कथा के अन्त में उत्कर्ष मिलता है और राज्य एवं स्त्री की फलरूप में प्राप्ति होती है ।

<u>वस्तु-विवेचन-</u> खण्डकाव्य में काल्पनिक नायक बसन्त के जीवन के एक महत्वपूर्ण प्रसंग को चित्रित किया गया है और वह है देश पर संकट- शत्रु के आक्रमण- आने के समय नारी के मोह में फंसकर उसका कर्तव्यच्युत हो जाना और नारी की ही प्रेरणा से उसका पुनः कर्तव्य पालन में रत होकर देशोद्धार करना । यह चरित्र प्रधान कृति है। बसन्त और सुमना के चरित्रों को विकसित करने के लिए शत्रु के आक्रमण की घटना का आश्रय लिया गया है । राजा के पराजित हो जाने से देश की रक्षा का भार स्वाधीनता प्रेमी नागरिकों पर आ पड़ता है । सभी नागरिक राष्ट्र की रक्षा के लिए युद्ध में शत्रु से लोहा लेने के लिए जाते हैं किन्तु बसन्त अपनी प्राणवल्लभा के मोह में कायर बन जाता है- अपने कर्तव्यच्युत पति को ठीक मार्ग पर लाने के लिए सुमना अद-

न्य साहस का परिचय देकर पुरुष वेश में चुपचाप युद्ध के लिए चली जाती है और अपने शौर्य का परिचय देकर शत्रुओं को घुसने से रोकती है, किन्तु बसन्त के अभावमें उसकी सफलता अधूरी ही रहती है, वह युक्ति से बसन्त को युद्धभूमि में ले जाती है- वस्तुतः तभी बसन्त की मोहनिद्रा टूटती है जब वह जान लेता है कि स्त्री हो-कर सुमना ने पौरुष का परिचय दिया है और वह पुरुष होकर भी निकम्मा पड़ा हुआ है । बसन्त और सुमना के सम्मिलित उद्योग से ही देश की रक्षा होती है- शत्रु पराजित होता है । बसन्त देश का राजा बनता है और सुमना रानी ।

चरित्र-चित्रण

"स्वप्न" में बसन्त और सुमना दो ही मुख्य पात्र है । महत्व की दृष्टि से सुमना का चरित्र अधिक आकर्षक और उदात्त प्रतीत होता है । नायक बसन्त के स्वप्न को सत्य में परिवर्तित करने का श्रेय सुमना को हीहै । वह प्रेरक शक्ति है और स्वयं त्याग, साहस, वीरता और देश-प्रेम की प्रतिमा है । किन्तु पंचम सर्ग में वह पृष्ठभूमि में जाकर अपने समस्त गुणों को बसन्त में विकसित करती है । लगता है दोनों ही कर्मरत होकर फल प्राप्ति के अवसर पर एक दूसरे को उसका श्रेय देने के लिये आवाहन करते हैं- यह त्याग उनमें सात्विक प्रेम भाव को उर्जजित करता है ।

सुमना- स्वप्न की नायिका या प्रधान पात्री है । वह देश और समाज के प्रति अपने कर्तव्यो से परिचित तथा पति और परिवार की प्रतिष्ठा और मर्यादा के प्रति जागरूक आदर्श नारी है । आधुनिक युग के पूर्व संयोगिनी और वियोगिनी के रूपों के अतिरिक्त नारी के अन्य रूपों की कल्पना ही नहीं हुई थी । आधुनिक युग में उसमे देशभक्ति, त्याग, कर्मठता और वीरता के गुणों की प्रतिष्ठा हुई । इन्हीं आदर्शों के अनुकूल उसका बाह्य रूप-रेखा भी निर्मित हुई । सुमकना का सहज सात्विक रूप उसके उच्च विचारों का द्योतक है-

जिसके नेत्रों में दर्शित था, सच्चरित उन्नत पवित्रमन
जिसकी भौहों मे लक्षित था, सरल प्रकृति-संभव भोलापन[1]।

\+ \+ \+

करुणा सी मृदु, धर्म-गीत सी, शुद्ध कल्पना सी सुख-संकुल ।
शुभ्र उषा सी, दिव्य हास्य सी, रूप-सिंधु की मणि सी मंजुल[1]।

1- स्वप्न॰ छं॰ सं॰ ३१, ३४ ।

प्रारम्भ से अंत तक सुमना में सात्विक प्रेम की झांकी दिखाई देती है- वह अपने सामने एक व्यापक दृष्टिकोण रखती है । अपने पति को भावुकता के प्रवाह में बहता और निरुद्यमी बनता देख वह स्नेह भरे स्वर मे उसका प्रतिवाद करती है-

भोजन के उपरान्त सुअवसर पाकर कहने लगी-प्राणधन !
क्या फिर आज तुम्हारे मन में जाग उठा वह रोग पुरातन
कैसी ही हो उच्च भावना पर उद्योग बिना हे प्रियवर !
निरी कल्पना से तट पर से पारावार नहीं सकते तर[1]।

सुमना के हृदय में पति-भक्ति, परिवार-भक्ति और देश-भक्ति की त्रिवेणी प्रवाहित है जिसका दर्शन हमें उसके चरित्र के विभिन्न पक्षों में होता है । वाह्य आचरण की दृष्टि से वह वीर पत्नी, वीर-नारी और कर्तव्य परायणा है । वह ओजस्वी शब्दों में पति को शत्रु के विरुद्ध शस्त्र ग्रहण करने के लिये प्रेरणा देती है-

"तुम हो वीर पिता माता के वीर पुत्र मेरे जीवन-धन ।
तुमसे आशायें कितनी हैं जन्मभूमि को हे अरिमर्दन ।
तुम्हें ज्ञात है कैसा संकट है स्वदेश पर हे प्राणेश्वर ।
शोभा नहीं तुम्हें देता है घर पर रहना इस अवसर पर[2]।"

युद्ध भूमि में अपनी वीरता और शत्रु-संहार मे उत्साह दिखाकर सुमना ने बढ़ते हुए शत्रु को रोक दिया और देश के स्वातन्त्र्य की रक्षा की । ऐसी नारी का नाम देशवासियों के कंठ पर रहे तो आश्चर्य ही क्या-

"यदि वह सैन्य-संगठन करके पहुंच न जाती उचित समय पर
तो स्वातन्त्र्य खो चुका होता देश तुम्हारा हे अभयंकर ।
है सबको कंठस्थ देश में उसका सुमना नाम मनोहर
सुखद नाम सुनकर बसंत के आये नेत्र आंसुओं से भर[3]।"

सुमना की कर्तव्य-परायणता के कई स्थल स्वप्न मे दिखाई पड़ते हैं । भावुकता में बहकते हुए एवं कर्म विमुख पति को उचित सेवा मार्ग और कर्म-मार्ग पर लाना वह अपना कर्तव्य समझती है । उसी की प्रेरणा से बसन्त दुविधा छोड़कर एक निश्चय पर आचरण करने में सचेष्ट होता है[4]।

१-४- स्वप्न, छं० सं० ३५, ३।३९, ४।२६, ९।४१ ।

कर्तव्य लापन में त्याग की आवश्यकता होती है उसमें कष्ट का अनुभव होता है । ऐसे ही अवसर पर व्यक्ति की कर्तव्यपरायणता की परीक्षा होती है जब वह अपना कर्तव्य निभाने के लिए बडे से बड़ा कष्ट उठाने को तत्पर हो । सुमना ऐसे ही अवसर पर अपना कर्तव्य निभाती है - उसका पति बसन्त उसी के मोह में फंस कर अपने कर्तव्य को भूल जाता है- राष्ट्र पर संकट आने के समय भी वह अपने राष्ट्रीय कर्तव्य को नहीं निभाता । उसके मोह को भंग करना सुमना अपना कर्तव्य समझती है । अतः अपने हृदय पर पत्थर रखकर वह अपने पति को कर्तव्य-विवेक जाग्रत करने का उपक्रम करती है-

निज -कर्तव्य परायण सुमना उसी रात में पुरुष-वेष धर
बार-बार निद्रित पति की छबि बड़े प्रेम से अवलोकन कर
"स्वामी का कल्याण करें हरि" कहकर प्रेम वारि दृग में भर
तम में लुप्त हो गई, घर से एक आह के साथ निकल कर[1]।

पति की कल्याण कामना का भाव उमड़ा पड़ता है । यहां उसका सहज नारीत्व उभरन आया है । इसी प्रकार सुमना से प्रेरणा पाकर बसन्त जब युद्ध भूमि के लिए प्रस्थान करता है तो (युवक वेश में प्रच्छन्न) सुमना का पति-प्रेम अश्रु बनकर उमड़ पड़ता है[2]। युद्ध में सदैव पति के साथ प्रच्छन्न वेश में रहकर वह शत्रुओं से उसकी प्राण-रक्षा करती है[3]। सुमना ही अपने पति को कर्मपथ में खींचकर उसे यश, विजय और राज्य का भागी बनाती है - यह उसकी पतिभक्ति को प्रमाणित करने के लिए अपर्याप्त नहीं है । एक व्यापक लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान कर देती है ।

इस प्रकार सुमना एक आदर्श नारी चरित्र है जिसमें सुकुमारता, कोमलता के साथ साथ शौर्य और साहस की मात्रा भी कम नहीं है । आधुनिक युग की आदर्श नारी की कल्पना उसमें साकार हो उठी है । परिवार के सुख में ही नहीं समाज और राष्ट्र के कल्याण में भी उसका योगदान पुरुषों की अपेक्षा कम नहीं । वह पुरुष को प्रेरक और पथ -प्रदर्शक है ।

बसन्त- बसन्त एक गतिशील पात्र है । विकास की तीन स्थितियां बसन्त के जीवन में दिखाई पड़ते हैं ।

१-३- स्वप्न॰ ३।४१, ४।४१, ४।४० ।

१- अनिश्चय की स्थिति

२- मोह की स्थिति और

३- जागरूकता की स्थिति

अनिश्चय की स्थिति में बसन्त की अवस्था में आधुनिक युग के नवयुवकों के महत्वाकांक्षी हृदय का परिचय मिलता है। उसमे बड़े-बड़े महत्वपूर्ण कार्य अपने जीवन में सम्पन्न करने की अभिलाषा जगती है। वास्तविक जीवन की विषमताएं जब तक दूर रहती हैं तब तक ये आशाएं और उमंगे अपने पूरे वेग के साथ हृदय में उठती हैं। वह दीन-दुखियों के दुख-दर्द को दूर करने की तीव्र अभिलाषा प्रकट करता है। उसकी भावुकता अनेक प्रकार की चिन्तन-मनन की सामग्री उसे दे देती है - किन्तु उसका यौवन सुलभ हृदय प्रकृति के रंगीन रूपों से उद्दीप्त वातावरण में प्रेयसी के सुकुमार अंगों के साथ विलास-क्रीड़ा करने कीओर अधिकाधिक खिंचता है वह समझ नहीं पाता कि वह किस रास्ते को अपनाए[१]- इसी मानसिक उधेड़बुन में उसके जीवन की गति कुछ विचित्र सी दिखाई पड़ती है।

<u>मोह की अवस्था</u>- बसन्त इस अवस्था में अपनी प्रेयसी के भृकुटि-संचालन में ही जीवन की धड़कनों का अनुभव करने लगता है। वह वासना का क्रीत दास बन जाता है। देश की पुकार और पत्नी की प्रेरणा भी उसके मोह को भंग नहीं कर पाते- प्रेयसी से दूर होकर वह एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता क्योंकि प्रियतमा की चितवन का शर उसके हृदय में धंसा हुआ है-

> धंसा हृदय में है हे प्यारी, तेरी चोखी चितवन का शर।
> कसका करती है गुलाब के, कांटे सी नासिका मनोहर।
> तेरे चिबुक-गर्त में मेरा मन रहता है मग्न निरन्तर।
> मैं आहत, मैं विवश, भला क्या कर सकता हूं रण में जाकर[२]।

पत्नी के छोड़कर चले जाने पर वह विरह से मूर्च्छित हो जाता है[३] और पत्नी की स्मृतियों में डूबकर घर त्याग देता है[४]। उसके जीवन में अंधकार व्याप्त हो जाता है[५]। प्रकृति भी उसे विरह दुख में डूबी ज्ञात होती है[६] स्वभावतः अपने समान ही दूसरों को व्यथित देख उसका दुख हल्का हो जाता है। प्रकृति की सात्विक वातावरण प्राप्त कर उसके मन की दशा सुधरती है। उसे अपनी भूल ज्ञात हो जाती है[७]। वह समझ

१-७: स्वप्न- छं० सं० १।३१, ३।३७, ४।७, ४।१९, ४।२०, ४।२१, ४।२९।

लेता है कि प्रेम में तृप्ति नहीं है[1]। इसी अवसर पर युद्ध के लिए राष्ट्र का आमंत्रण स्वीकार कर वह अपनी प्रेमिका के पद-चिन्हों का अनुसरण करता है[2]। यहीं से उसके जीवन की धारा बदल जाती है - वह प्रेम की सात्विक भूमि पर पहुंच कर देश के लिए, समाज के लिए अपने को बलिदान करने को तत्पर हो जाता है[3]। वस्तुतः ठोकर खाकर ही मनुष्य "श्रेयप्त" के पथ पर अग्रसर होता है ।

जागरूकता की अवस्था:- इस अवस्था में पहुंच कर बसन्त का चरित्र पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त करता है । उसके प्रारम्भिक "स्वप्न" इस अवस्था में सत्य हो जाते हैं । वह अपने बल, बुद्धि, विक्रम से राष्ट्रका जन-नायक बनता है ।

इस अवस्था में भावुकता, कर्मठता, लक्ष्य की दृढ़ता, स्थिरता, लोक हित चिन्तन, हृदय की विशालता, मन की उच्चता, जीवन की नियमितता आदि की प्रतिष्ठा कर कवि ने उसके चरित्र के उदात्तीकरण की चेष्टा की है[4]। किन्तु इस महान् गुणों के विकास -प्रसार के लिए समुचित अवकाश नहीं प्रदान किया गया है । कवि ने इन गुणों का उल्लेख मात्र कर दिया है । अभी तक जो वासना का क्रीत दास बना था वह बसन्त इतने महान् गुणों का भाण्डार बन गया - सहसा विश्वास नहीं होता । काल्पनिक नायक के प्रति आस्था जगाने के लिए कवि को विशेष चातुर्य से उसके गुणों को उसके कार्यों, विचारों और व्यवहारों के द्वारा व्यंजित करना चाहिए । राम और कृष्ण जैसे ख्यात नायकों के स्वरूप से हम भलीभांति परिचित हैं अतः उनके चरित्र को विकसित करने में बिना विस्तार के भी काम चल जाता है । बसन्त के चरित्र में उपर्युक्त गुणों का समुचित विकास नहीं दिखाया गया है ।

रस- और भाव-व्यंजना

प्रस्तुत कृति में कवि की दृष्टि रस-निष्पत्ति द्वारा पाठकों को आनंद प्रदान करने की ओर नहीं है, इसके द्वारा कवि ने चरित्रों के स्वरूप को ही उद्घाटित किया है । फिर भी वियोग-संयोग, शृंगार तथा करुण आदि रसों के व्यंजक स्थल इसमें आए हैं ।

वियोग- "स्वप्न" में नायिका की विरह-दशा का नहीं, नायक की विरह -व्यथा का चित्र खींचा गया है । सामान्यतः कवियों ने नायिका की विरह-दशा के चित्रण में ही विशेष रुचि प्रदर्शित की है, किन्तु प्रिया के विरह में व्याकुल प्रेमियों के चित्रों

१-४: स्वप्न- ४।३०, ४।३९, ५।२०-२१, ६।३-४-५ ।

की भी साहित्य-क्षेत्र में कमी नहीं है । कवि-कुल-गुरु कालिदास का प्रसिद्ध खण्ड-काव्य मेघदूत विरही-यक्ष के विरहोच्छ्वास का उत्कृष्टतम उदाहरण है व ग्रंथि का नायक भी अपनी प्रेयसी का अन्य के साथ ग्रन्थिबंधन हो जाने पर उसके विरह में व्याकुल होकर छटपटाता है । "स्वप्न" भी इस दृष्टि से उसी की परम्परा का अनुसरण करता है ।

बसन्त की वियोगावस्था का स्वप्न में विस्तार से चित्रित किया गया है । इसके लिए एक पूरे सर्ग की योजना की गई है । बसन्त की विरह-दशा का चित्रण स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक पद्धति पर हुआ है ।

तीव्र भावानुभूति की अवस्था में व्यक्ति भावोच्छ्वास के साथ एक ही बात को अनेक बार और भिन्न भिन्न शब्दों में कहने लगता है । प्रेमी या प्रेमिका को भावोद्बोधक अनेक संबोधनों से आर्त होकर पुकारना विरही के भावावेश का द्योतक है- बसन्त के भावावेश का स्वरूप देखिए- कैसे उसकी प्रतिध्वनि असहाय होकर टकराती है-

प्रेम पद्मिनी । प्रेम-लता । हे प्राणवल्लभे । हे प्राणेश्वरि ।
मेरी प्रिय सद्मिनी कहां हो ? हे मेरे जीवन की सहचरि ।
मैं पुकारता हूं पर मेरी ही ध्वनि सुन पड़ती है फिर कर ।
मानों प्रिया-विहीन जानकर करता है उपहास आज घर[1] ।

सूना घर उसे भयंकर राक्षस की भांति काटने दौड़ता है[2] । कभी वह ईश्वर से प्रेयसी का पता पूछता है जिससे घनिष्ठ नाता होता है उसके सहसा दूर हो जाने का मन में विश्वास नहीं होता । बसन्त कभी आंखे बंद करके इस आशा से पुनः खोलता है कि कहीं उसकी प्रणयिनी सदा की भांति आंख मिचौनी न खेलती हो[3] । कभी दर्पण में अपने पीछे उसका प्रतिबिम्ब देखने की असफल चेष्टा करता है । वह प्रियात्मा से संबंध रखने वाली वस्तुओं (वस्त्राभूषण, पौधे - स्थानों को चूमता और उन्हें देखकर आंसू बहाता है । उसके मानस-चित्रों में अनुभूत सुखों का प्रतिबिम्ब झलकता है[4]। विनोद और संयोग क्रीड़ा के चित्र उसके मन में उभरते हैं और उसे अधिकाधिक व्यथित करते हैं । प्रिया के बिना उसे विश्व अंधकार मय लगने लगता है[5]- प्रकृति में भी उसे अपने हृदय की ही प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ती है । उसका

१-५ स्वप्न छ सं० ४।१, ४।२, ४।३, ४।४, ४।१० ।

व्यक्तिगत वियोग प्रकृति के साहचर्य से विराट् रूप धारण कर लेता है-

पता नहीं किसके वियोग में बन में नदी-तटों पर तरूवर ।
मेरी तरह रूदन करते हैं फूल नामके अश्रु गिराकर ।
कोई रोता है अनन्त में जिसके अश्रु बिन्दु हैं उडुगण
ओस नाम से तृण तरूओं पर बिखरे रहते हैं जिनके कण[1] ।

प्रियतमा को ढूढ़ते ढूढ़ते विश्व ही उसे सुमनामय लगने लगता है[2] । संपूर्ण प्रकृति के सौन्दर्य में सुमना के ही सौन्दर्य की झलक दिखाई पड़न देने लगती है । यहां उसका प्रेम व्यक्ति की परिधि से निकल कर समष्टि में व्याप्त हुआ जान पड़ता है ।

हिम से शुभ्र शैल-श्रेणी के मध्य विमल दर्पणा समसुन्दर
जमे हुए उज्जवल सरसी को कौतूहल के साथ देखकर
वह कहता था- सुमना के है मुक्त हास्य की उज्जवलता यह
उसे देखता हुआ वहीं पर दिन व्यतीत कर देता था वह[3]।

वह अपनी मनोव्यथा के गीत अर्द्धरात्रि के समय गाता हुआ नीली झील के तट पर विचरता रहता है[4] । उसके विरह गीत सर्वत्र गूंज उठते हैं । हरवाहों चरवाहों के कंठों से निनादित हो उठते हैं । किन्तु सुमना तक उसकी पुकार नहीं पहुचती है । तदनंतर -धीरे धीरे उसका विवेक जागृत होता है और तब वह प्रेम के मर्म को समझ कर अपनी भूल का अनुभव करता है-

लता-तिकेत-निवासी बनकर वह सोचा करता मन ही मन
अहो । प्रेम में तृप्ति नहीं है केवल है अनन्त आकर्षण
शान्ति नहीं, केवल चिन्ता है, चिन्ता में है कहां आत्म-सुख?
सोच-सोचकर वह अपराधी स्वयं बन गया अपने सम्मुख ।

वह सुमना की इच्छा पूर्त्ति व उसके आदर्शों के अनुकरणा में ही अपने प्रेम की सफलता का अनुभव करने लगता है ।

वियोग वर्णन की उपरोक्त शैली परम्परागत शैली से भिन्न है । परंपरागत उपमानों की सहायता न लेकर, सरल भाषा में विरही हृदय में उठने वाली विविध भाव तरंगों और सूक्ष्म अंतर्वृत्तियों का प्रत्यक्षी करण कराकर कवि भावोद्रेक करता है । केवल एक स्थल पर प्रेमिका के रूप -स्मरण के लिए रूढ़

१-स्वप्न - छं सं० ४।२०, ४।२१ , ४।२३

उपमानों को एक साथ नियोजित कर दिया गया है ।

वियोग की दशा अवस्थाओं में से अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुण कथन, व्याधि, उन्माद, मूर्च्छा, जड़ता, आदि की अवस्थाएं बसन्त में दिखाई पड़ती है

संयोग- संयोगावस्था में नायक-नायिका के हृदय में उठने वाले नाना भावों और चेष्टाओं का वर्णन परोक्ष रूप में स्मृति की पृष्ठ भूमि पर हुआ है । स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव आदि की प्रत्यक्ष योजना या षट्-ऋतु, बारहमासा आदि उद्दीपन के अंगों की योजना रस संचार की दृष्टि से नहीं हुई है । फिर भी संयोगावस्था के अनेक स्थूल, चित्रों एवं संचारियों की योजना प्रथम सर्ग में नायक बसन्त के भावुक उद्गारों में हुई है । इन परोक्ष चित्रों से भी शृंगार रस का संचार हो सकता था, किन्तु नायक के हृदय के करुणा और प्रेम के द्वन्द्व को चित्रित करने के कारण प्रथम सर्ग के वर्णनों में रस-विरोध उत्पन्न हो गया है । चौथे सर्ग में बसन्त की वियोग जन्य स्मृति के सहारे कुछ संयोग चित्र अंकित हुए हैं । हर्ष, चपलता, क्रीड़ा आदि संचारियों की एक साथ व्यंजना निम्नलिखित छन्द में आकर्षक है- अनुभाव भी स्वतः आ गए है- चुम्बन आलिंगन के स्थूल व्यापारों की भी झलक मिलती है-

मुझे ध्यान में निरत देखकर वह गुलाब का फूल तोड़ कर
मुंह पर मार खिलखिला उठती मैं तत्काल भुजाओं में भर
बार-बार चुम्बन करता हूं उससे जो लालिमा उमड़कर
निकल कपोलों पर आता है, क्या है वैसी उषा मनोहर[1]।

संयोग की विविध मुद्राओं के अनेक चित्र स्वप्न में भरे पड़े है जो रति भाव की व्यंजना करते हैं-

प्रेम-निशा में स्मृति निद्रावश प्रियम्वदा की पृथुल जाघ पर
सिर रख सोते ही क्षण भर में दृग उठ पड़ते हैं अकुलाकर
लेटे ही लेटे अचरज से देख उदित अति निकट मनोभव
हाथ फेर जो सुख पाता हूं वह क्या है सुरपुर में संभव[2] ।

रूपगर्विता का स्वरूप निम्नलिखित छन्द में मोहक है ।

१-२ स्वप्न छं सं० ४।८, ११४ ।

एक दिवस मैंने उपवन में पुष्पित एक गुलाब देखकर ।
बड़े प्रेम से कहा-हे प्रिये । कैसा है प्रसून यह सुन्दर ।
वह अचरज लगी देखने निज कपोल मेरे समक्ष कर ।
मैं लज्जित हो गया, भूलता नहीं हाय ! वह दृश्य मनोहर[1]।

नायिका के अनुभावों की योजना निम्नलिखित छन्द में देखिए-

कभी छोड़ सुख-स्वप्न मोहिता शयिता दयिता को शय्या पर
कुन्द-लता के निकट खड़े हो उसके करके याद मनोहर-
भृकुटि-विलास, सप्रेम विलोकन, रसमय वचन, सदा विहसित मुख,
हो जाता हूं हर्ष विमोहित इससे बढ़ क्या है जग में सुख[2]।

उपर्युक्त चित्रों में अलंकारों का सहारा बहुत कम लिया गया है । फिर भी वे हृदयस्पर्शी और भावोत्तेजक हैं । कवि ने मोहक-मुद्रा और लुभावने दृश्यों का अपनी सूक्ष्मपर्यवेक्षण शक्ति के बल पर ब्यौरा और विस्तार प्रस्तुत कर चित्रों को पूर्ण और सजीव बना दिया है । संयोग की मुद्राओं का वर्णन प्रसंगवश ही हुआ है अतः वह एक स्थल पर न होकर यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है ।

प्रकृति-वर्णन

"स्वप्न" में कवि का प्रकृति-प्रेम मुखरित हो उठा है । पर्वतीय सौन्दर्य की चित्ताकर्षक छवि कृति में यत्र-तत्र बिखरी हुई है । कवि ने भूमिका में लिखा है "मैं प्रकृति का पुजारी हूं । इससे प्रकृति के प्रति मेरा आन्तरिक अनुराग "पथिक" की तरह इसमें भी जहां-तहां उमड़ पड़ा है । काश्मीर में जिन-जिन प्राकृतिक दृश्यों ने मुझे लुभा लिया था, उनका वर्णन मैंने उसके अनेक पद्यों में किया है[3]।" "स्वप्न" के आरम्भ के दो सर्ग प्रकृति-चित्रण के उद्देश्य से ही लिखे गए हैं । इन वर्णनों में प्रकृति के प्रति कवि का सहज अनुराग व्यंजित हुआ है । प्रकृति के रमणीय रूप पात्रों के भावों को उद्दीप्त करने में विशेष सहायक होते हैं । चांदनी, उपवन, लता-कुंज, तरु छाया, सुगंधित पवन, एकान्त-निर्जन वातावरण प्रेमियों के हृदयस्थ रति भाव को तीव्रता प्रदान करते हैं । प्रकृति के इन्हीं रम्य रूपों के बीच मानव अपनी सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर आनन्द-विहार करता है । ऐसे ही सुहावने वातावरण में प्रेमी की प्रेम-विह्वल अवस्था देखिए-

---

१-२: स्वप्न- ४।१७, ३।१६,
३- स्वप्न-भूमिका, पृष्ठ २ ।

हरित तलहरी में गिरिवर की, समतल निर्भर -ध्वनित धरा पर ।
छाया में अति सघन द्रुमों की, बैठ विशद हरिताम शिला पर ।
जाता हूं मैं भूल जगत को बार-बार अनिमेष देखकर ।
रूपगर्विता प्राणप्रिया के यौवन-मद-विह्वल दृग-सुन्दर[१]।

प्रकृति के विभिन्न व्यापारों का प्रेमियों के भाव जगत से कितना गहरा नाता है । मेघ गर्जन का प्रभाव देखिए-

उमड़-घुमड़ कर जब घमंड से उठता है सावन में जल धर
हम पुष्पिता कदम्ब के नीचे भूला करते हैं प्रतिबासर
तड़ित-प्रभा या घन-गर्जन से भय या प्रेमाद्रेक प्राप्त कर
वह भुजबन्धन कस लेती है यह अनुभव है परम मनोहर[२]।

प्रकृति के विभिन्न दृश्य जीवन के मार्मिक तथ्यों की व्यंजना भी करते हैं अतः वे चिन्तन और मनन की भी सामग्री देते हैं । कभी वे प्रवृत्ति की प्रेरणा देते हैं तो कभी निवृत्ति की । जीवन की नश्वरता प्रिय से प्रिय वस्तु को भी सदा के लिए दूर कर देती है-

एक बूंद जल घन से गिरकर सरिता के प्रवाह में पड़कर ।
"जाता हूं मै फिर न मिलूंगा" यह पुकारता हुआ निरन्तर ।
चला जा रहा है आगे से, कैसा है यह दृश्य भयावह ।
इस अस्थिर जग में क्या मेरे, लिये नहीं है चिन्तनीय यह[३]?

प्रकृति के गतिमय चित्र मानव को निरन्तर-उद्योग-रत रहने की प्रेरणा देते जान पड़ते हैं-

पर्वत शिखरों का हिम गलकर जल बनकर नालों में आकर ।
छोटे बड़े चीकने अगणित शिला-समूहों से टकराकर ।
गिरता, उठता, फेन बहाता, करता अति कोलाहल "हर-हर" ।
वीर-वाहिनी की गति से वह बहता रहता है निशि वासर[४]।

देवदारु की सतत-सुगंधित छाया में किसी प्रपात की निकटवर्ती शिलापर बैठकर चित्त को जो शान्ति मिलती है, वह सात्विक भावों को जन्म देती है-

इनका बाल-विनोद देखते, हुये किसी तीरस्थ शिला पर ।
सतत सुगंधित देवदारु की, छाया में सानन्द बैठकर ।

१-४: स्वप्न- १।१, १।१९, १।२१, १।२५ ।

सिर धर हरि के पद-पद्मों पर, करके जीवन -सुमन समर्पण
बना नहीं सकता क्या कोई अपने को आनन्द निकेतन[1]?

आलम्बन के रूप में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण भी स्वप्न में मिलता है । अनेक स्थलों पर प्रकृति के स्वाभाविक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कवि का प्रकृति-प्रेम फूट पड़ा है । इसके विभिन्न रूपों में उसकी चित्तवृत्तियां रमी हुई दिखाई देती हैं । अपनी सूक्ष्म-पर्यवेक्षण शक्ति द्वारा प्रकृति के इन सहज-सुन्दर रूपों में निहित सौन्दर्य का चित्र वह बड़े कौशल से प्रस्तुत करता है साथ ही अपनी कल्पना और भावुकता के रंग में रंगकर वह उन्हें हृदयग्राही भी बनाता चलता है । पार्वती वृक्षों का सजीव चित्र नीचे की पंक्तियों में देखिए-

लंबे सीधे सघन इकट्ठे विविध विटप अवली से शोभित ।
चिड़ियों की चहचह से जाग्रत झरनों से दिन-रात निनादित ।
पर्वत की उपत्यका में है कितना सुख ! कितना आकर्षण ।
शान्ति स्वस्थता बांट रहा है, सतत जहां का एक-एक कण[2]।

कवि इन विटपों के रूप और आकार तथा बाहरी कार्यों तक ही अपनी दृष्टि सीमित नहीं रखता । वह उनके हृदय में प्रवेश कर उसके आंतरिक गुणों को भी उद्घाटित करता है-

ये अति सघन सुपल्लव-शोभित, तरूवर शीतल छांह बिछाकर ।
सद् गृहस्थ सम अतिथि के लिये रहते हैं प्रस्तुत निशिवासर[3]।

ये विशाल वृक्ष अत्यन्त उदार हैं, इनके आतिथ्य भाव की व्यंजना ऊपर के छंद में दिखायी गयी है । यहां उनकी शीतल-छाया पर्वत के चरण चूमने को व्याकुल है-

इस विशाल तरूवर चिनार की अति शीतल छाया सुखदायक
चरण चूमने को आतुर सी पहुंची है गिरि की काया तक
हिम-शृंगों को छोड़ रही हैं, दिनकर की किरनें क्षण-क्षण पर
तिरती हैं वे घन-नौका पर नभ-सागर मे विविध रूप धर[4]।

उपर्युक्त पंक्तियों में संध्या के धीरे-धीरे आगमन का चित्र खींचा गया है । संध्या के समय सूर्य के पश्चिम में चले जाने के कारण इन लम्बे वृक्षों की छाया भी बहुत लम्बी हो जाती है और वह पर्वत के तल भाग तक पहुंच कर उसके चरण छूने

१-४: स्वप्न- १।२७, १।२९, २।१०, २।१४ ।

का उपक्रम करती है । सूर्य के और नीचे चले जाने पर उसकी किरणें पर्वत के ऊंचे शिखरों पर पहुंच जाती है । और वहां से भी खिसक कर आकाश में उड़ते हुए मेघ खण्डों में चमकने लगती है - संध्या के क्रम-क्रम से आते हुए स्वरूप का सूक्ष्म चित्र यहां अंकित हुआ है ।

प्राकृतिक रूप-व्यापारों में बसन्त की रहस्यमयी अज्ञात सत्ता का आभास मिलता है । यह छायावादी युग का प्रभाव है । सृष्टि के अंतर्गत में व्याप्त अज्ञात शक्ति के लिए विस्मय और कौतूहल का भावना अनेक स्थलों पर दिखाई देती है-एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

घन में किस प्रियतम से चपला, करती है विनोद हंस-हंस कर?
किसके लिए उषा उठती है प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर ?
मंजु मोतियों से प्रभात में तृण का मरकत सा सुन्दर कर ।
भरकर कौन खड़ा करता है जिसके स्वागत को प्रतिवासर[1] ।

हिमा च्छादित पर्वत के विराट् रूप का आभास देने के लिए कवि की विराट् कल्पना देखिए-

अवधि उत्तुंग अर्मिमय फेनिल, सिन्धु शापवश मानों जमकर
हिम पर्वत बन गया यकायक, तृण तरू गुल्म लता है जलचर
किसके चिन्ता शमन अलौकिक, मधुर गान से कान लगाकर
ज्ञान भूलकर निज तन का क्यों है नीरव निस्तब्ध मनोहर[2]?

संध्या कालीन वातावरण में पार्वतीय, ग्राम्य और वन प्रदेश के यथार्थ चित्र जाने पहचाने और परिचित से प्रतीत होते हैं-

ढोरों के पीछे चरवाहे घरकी और विपिन के पथ पर ।
देते हैं सूचना सांझ की मुरली के मधुमय स्वर में भर ।
विरह-भार से नत मलाह-गण चले गुणवती नौका लेकर
कोई गुणवन्ती इनको भी खींच रही है क्या पद-पद पर[3] ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्वप्न में प्रकृति के विभिन्न रूपों का प्रयोग मिलता है और प्रकृति वर्णन की प्रचलित प्रायः सभी प्रणालियां इसमें व्यवहृत हुई हैं ।

१-३ स्वप्न छं सं० २।४, २।८, १६ ।

प्रेमतत्व

"स्वप्न" में निहित प्रेम-भावना का मूल तत्व यह है कि प्रणयी जीवन का आदर्श काम वासना की तृप्ति में ही सीमित नहीं है । प्रणय की प्रेरणा मनुष्य में अपार बल और अचिन्त्य शक्ति की उद्भावना कर सकती है । "प्रणय" का उद्देश्य काम-तृप्ति कदापि नहीं । यह तो उसका अत्यन्त संकीर्ण और सीमित अर्थ मे ग्रहण करना है । काम पूर्ति के उद्देश्य को लेकर उत्पन्न होने वाला प्रणय भाव समाज, राष्ट्र और विश्व के लिए कल्याणकारी नहीं है । "प्रणय" वस्तुतः मानव की एक सहज स्वाभाविक मनोवृत्ति है जिसका स्वरूप अत्यन्त उज्जवल, उदात्त और आकर्षक होता है । इसका भव्यतम रूप त्याग और बलिदान में निहित है भोग में नहीं । किन्तु प्रेम के इस उदात्त स्वरूप या स्तर तक पहुंचने के लिए मनुष्य को साधना करनी पड़ती है- "स्वप्न" का नायक बसन्त भी वियोगी की ठोकरें खाकर और सुमना के पथ"प्रदर्शन से प्रेम के उस भव्य स्वरूप को पहचान पाता है । साधना के कष्टों, या आघातों को सहने के बाद वासनाएं जल जाती हैं और प्रेम अपने शुद्ध सात्विक रूप में निखर आता है । प्रेम में अपने आप को भेंट करने और सर्वस्व अर्पित करने की भावना प्रधान हो जाती है-

> सच्चा प्रेम वही है जिसकी तृप्ति आत्मबलि पर हो निर्भर
> त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है करो प्रेम पर प्राण निछावर
> देश प्रेम वह पुण्य-क्षेत्र है अमल असीम त्याग से विलसित ।
> आत्मा के विकास से जिसमें मनुष्ता होती है विकसित[1] ।

भाषा-शैली

"स्वप्न" की भाषा में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक एवं छायावाद युग की भावाभिव्यंजक शैलियों का प्रयोग मिलता है । द्विवेदी जी के प्रयत्न से खड़ी बोली का जो व्याकरण -सम्मत रूप काव्य में प्रयुक्त हो रहा था उसका मंजा हुआ स्वरूप "स्वप्न" में दिखाई पड़ता है । इसमें प्रयुक्त खड़ी बोली गद्य की भाषा के अति निकट है । जिसमें व्याकरण सम्मत पूर्ण वाक्यों का प्रयोग गद्यवत् मिलता है

"स्वप्न" में भाषा की स्वच्छता की ओर कवि का विशेष ध्यान है । छन्दों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए भाषा के स्वरूप को बिगाड़ने का प्रयत्न

१- स्वप्न पृ।२१ ।

"स्वप्न" में नहीं दिखाई पड़ता । यहां तक कि कारकचिन्ह और सहायक क्रियाओं का व्यवहार भी गद्य की भाषा की भांति ही सर्वत्र अनिवार्य रूप में हुआ है। एक उदाहरण देखिए-

सुनता हूं यह मनुज देह है, इस रचना में अंतिम अवसर ।
सेवा करके व्यथित विश्व की मैं तर सकता हूं भवसागर,
पर जो विविध वासनाएं हैं जग में जो हैं अमित प्रलोभन ।
इनसे जग रचने वाले का है क्या कोई भिन्न प्रयोजन[1]।

पं० राचन्द्र शुक्ल ने त्रिपाठी जी की भाषा के संबंध में लिखा है- "भाषा की सफाई और कविता के प्रसाद गुण पर इनका बहुत जोर रहता है। काव्य-भाषा में लाघव के लिए कुछ कारक-चिन्हों और संयुक्त क्रियाओं के कुछ अंतिम अवयवों को छोड़ना भी (जैसे "कर रहा है" के स्थान पर "कर रहा" या करते हुए के स्थान पर "करते) ये ठीक नहीं समझते[2] ।"

स्वप्न की भाषा सरल और बोध गम्य है । कवि के भावों को समझने में किंचित् चेष्ठा पाठक को नहीं करनी पड़ती । इसी कारण उसमें एक प्रवाह आ गया है । कवि ने संस्कृत की प्रचलित शब्दावली का ही व्यवहार अधिक किया है। विदेशी शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है । संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों से भी बचने की चेष्टा दिखाई पड़ती है ।

छायावादी युग में शब्दों में नवीनता लाने के लिए निरर्थक उपसर्गों को जोड़ने की प्रवृत्ति कवियों में विशेष दिखाई पड़ी । स्वप्न में भी उस प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं, यद्यपि ऐसे प्रयोग अधिक नहीं है । निसेवित, निपीड़ित, निरत, विभिश्रण, उत्पीड़ित, विलोचन, विमोह, विरचा, विमोचन, विक्षोभ, विकम्पित, विमंडित आदि मुहावरों का प्रयोग अनेक स्थलों पर भाषा मे सप्राणता और त्वरा लाने में सहायक हुआ है- नीचे के छन्द में प्रत्येक पंक्ति में मुहावरे दानी का सौन्दर्य देखिए-

देख तुम्हारा देश-प्रेम उस गर्वित अरि का उतर जाय मदा(मद उतरना)
वीर तुम्हारी ललकारों से उखड़ जायख तस्कर के पदा (पैर उखड़ना)

१-१: स्वप्न छं० सं० ३७ ।
२- हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ० सं० ६९८ ।

चकाचौंध हो जाय तुम्हारी तलवारों की चमक देखकर(चकाचौंध होना)

पत्ते सा उड़ जाय तुम्हारे वायु-वेग में पड़ वह पामर[1](पत्ते सा उड़ना)

अंतिम प्रयोग मुहावरे का नहीं है तो भी उसकी ध्वनि उसी प्रकार की है ।

स्वप्न की भाषा भावों के अनुकूल है । सहज और सरल भावों को प्रसाद गुण संपन्न भाषा मे प्रस्तुत किया गया है । इसकी कोमल पद-योजना पाठक का हृदय स्पर्श करती है ।

अलंकार-योजना

"स्वप्न" में अलंकारों की योजना भावों की अभिव्यंजना में सहायक है । वे ऊपर से लादे हुए नहीं है । सादृश्य मूलक, विरोधमूलक आदि विविध प्रकार के अलंकारों के अतिरिक्त छायावादी रचनाओं में प्रयुक्त विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण जैसे विदेशी अलंकारों के भी प्रयोग मिलते हैं । उपमान प्राकृतिक भी है और वस्तु जगत के भी । सूक्ष्म उपमानों की योजना भी हुई है । प्राचीन रूढ़िबद्ध उपमानों के साथ-साथ अपने निजी निरीक्षण के बल पर नवीन उपमान भी कवि ने प्रस्तुत किए है । सादृश्य के आधार पर उपमानों की योजना की परिपाटी अब पुरानी पड़ गयी है । इस कृति में उपमानों की योजना साधर्म्य या प्रभाव साम्य पर आधारित है-

बातों ही बातो में तन से घन की छाया -सम यह यौवन

निकल जायगा तीर की तरह पछताओगे तब मन ही मन[2]।

प्रस्तुत उदाहरण में "यौवन" उपमान का विषय है जिसकी स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए कवि ने"घन की छाया" और (छूटे हुए० तीर के दो उपमान प्रस्तुत किये है । इनका उपमेय से कोई सादृश्य नहीं है । "घन की छाया" क्षणित होती है । यह उसका गुण या धर्म है यौवन क भी उसी प्रकार टिकाऊ नहीं, उसे पकड़ कर रखना असंभव है । दूसरे उपमान "तीर" का धर्म उसकी अनियंत्रित और तीव्र गति है । यौवन की गति भी उसी प्रकार तीव्र और अनियंत्रित है । एक और उदाहरण लीजिए-

"एक एक कण जिसका होगा वट सम बढ़े ब्याज पर अर्पण[3]।"

यहां ब्याज उपमेय है और वट वृक्ष वृद्धि उपमान । इनमें आकार की समा-

---

१- स्वप्न, छं० सं०५।१८ ।   २- वही, सर्ग २ छं० सं० ४० ।
३- वही. १।११ ।

नता नहीं धर्म की समानता है । बट वृक्ष की बरोहों के बढ़ने और वृक्ष के रूप में पुनः परिवर्तित होकर नयी बरोहों को जन्म देने से उसका वृद्धि-विस्तार कितनी द्रुत-गति से होता है । महाजनों का ब्याज भी चक्रवृद्धि क्रम से उसी रूप में बढ़ता है। निम्नांकित उदाहरण में नायक बसन्त के द लक्ष्य हीन भटकने की अवस्था तरु के टूटे हुए पत्ते से उपमित की गयी है जो सादृश्य पर आधारित न होकर साधर्म्य पर ही आधारित है-

मैं तरु से टूटे पत्ते की भांति न जाने कहां कहां तक
पता नहीं किसकी तलाश में उड़ता रहता हूं प्रवाह पर[१]।

रूपक अलंकार के प्रयोगों में उपमान प्रायः प्राचीन है जैसे नीचे के उदाहरण में "पद्म" और "सुमन":-

सिर धर हरि के पद-पद्मों पर करके जीवन-सुमन समर्पण[२]।

नारी का मोह किस प्रकार मनुष्य के विवेक को नष्ट कर देता है उसका मूर्त प्रत्यक्षीकरण रूपक की सहायता से कवि ने नीचे की पंक्ति में सफलता के साथ किया है-

"दृग-अंचल से बुझा दिया है नारी ने विवेक का दीपक[३]"

यहां अंधकार के द्वारा विवेकहीनता की स्थिति प्रत्यक्ष हो गयी है ।

निम्नांकित प्रतीप अलंकार के द्वारा नायिका के सौन्दर्य को उत्कर्ष मिलता है-

मुझे ध्यान में निरत देखकर, वह गुलाब का फूल तोड़ कर
मुंह पर मार खिलखिला उठती मैं तत्काल भुजाओं में भर,
बार-बार चुम्बन करता हूं उससे जो लालिमा उमड़कर
निकल कपोलों पर आती है, क्या है वैसी उषा मनोहर[४]।

प्रिया के अभाव में सूने घर की भयंकरता को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने के लिए कवि नेअपन्हुति अलंकार का प्रयोग किया है-

प्रियंवदा के बिना आज यह लगता है घर महाभयंकर
द्वार नहीं हैं ये अति भीषण मुंह खोले हैं बड़े निशाचर[५]।

"दृष्टान्त" अलंकार में उपमान और उपमेय में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है देश की निराशापूर्ण अवस्था में बसन्त की महत्ता का आभास दिखाने में कवि ने

१-४: स्वप्न- छं० सं०, २।२७, १।२७, १।४१, १।८ ।
५- वही, छं० सं० ४।२ ।

"दृष्टान्त" अलंकार की सहायता ली है-

निर्जन बन के बीच सुगम पथ तम में दीप दिशा-भ्रम में रवि
संकट में सान्त्वना, वाक्य, बल विस्मृति में विद्युज्जिह्वा कवि
अगम भंवर में सुनिपुण नाविक विषम वासनाओं में संयम
घोर निराशा में स्वदेश की दर्शित हुआ बसन्त धैर्य सम[1]।

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त अन्योक्ति[2], अप्रस्तुत- प्रशंसा[3], स्वाभावोक्ति[4] एवं विरोधाभास[5] के प्रयोग भी स्वप्न में मिलते हैं । कवि ने नवीन और प्राचीन दोनों प्रकार के उपमान जुटाए हैं । नारी के रूप वर्णन में उसके अंगों के लिए प्रयुक्त रूढ़ उपमानों को कवि ने एक ही छंद में एकत्रित कर दिया है-

कमल, कलम, सरिता, राकापति, परभृत लतिका, विद्युत मधुकर ।
रक्त कुसुम, दाड़िम, गुलाब, शुक देख महीधर -शिखर वारि-धर ।
सुमना के अंगों की करके याद विरह से कातर होकर ।
रूदन किया करता था बन में घुटनों पर बसन्त सिर रखकर[6]।

अमूर्त के लिए मूर्त और मूर्त के लिए अमूर्त उपमानों का प्रयोग भी कवि ने किया है । प्रथम का उदाहरण देखिए-

सागर सा गंभीर हृदय हो गिरि सा ऊंचा हो जिसका मन
ध्रुव सा जिसका लक्ष्य अटल हो दिनकर सा हो नियमित जीवन[7]।

द्वितीय का उदाहरण देखिए-

नोकवती नासा करती थी जिसकी प्रतिभा को सुप्रमाणित
जो सत्कवि की एक पंक्ति सी सुंदर थी सदर्थ से प्राणित[8]।

कहीं कहीं पर अमूर्त उपमानों की माला भी कवि ने पिरोयी है-

करुणा-सी मृदु, धर्म-गीत सी शुद्ध, कल्पना सी सुख संकुल ।
शुभ्र उषा-सी दिव्य हास्य सी, रूप-सिंधु की मणि सी मंजुल[9]।

छन्द- स्वप्न में आदि से अंत तक समान सवैया छन्द का व्यवहार हुआ है । छंद-योजना की दृष्टि से स्वप्न में कोई वैशिष्ट्य नहीं है ।

- - -

१-५: स्वप्न- छं० सं०५।१, २।२३, ३।३५, २।३६, ४।५ ।

६-९: वही, छं० सं० ४।२७, ५।४, २।२३, २।३४ ।

अध्याय १०

तुलसीदास (रचनाकाल १९२८ ई०)

"तुलसीदास" पं० सूर्यकान्त 'निराला' का अत्यन्त उच्चकोटि का खण्डकाव्य है । कवित्व की ऊंचाई और भावों की गहराई की दृष्टि से कदाचित् हिन्दी का कोई खण्डकाव्य इसके स्तर को नहीं पहुंच पाता । इसके कवित्व की ऊंचाई को दृष्टि में रखकर ही कुछ विद्वानों ने इसे महाकाव्य तक की संज्ञा दे डाली । किन्तु महाकाव्य के लिए जीवन के जिस व्यापक परिवेश की आवश्यकता होती है वह इसमें नहीं है । खण्डकाव्य की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट कृति है । छायावादी कवियों की दृष्टि अन्तर्मुखी अधिक होने के कारण गीतिकाव्य की रचना ही उनके द्वारा प्रधान रूप से हुई । प्रबन्ध काव्यों का निर्माण उनके द्वारा बहुत कम हुआ । छायावादी शैली का प्रथम खण्डकाव्य "ग्रंथि" एक काल्पनिक आख्यान मात्र है जिसमें लौकिक प्रेम और विरह की पीड़ा ही मुख्य वर्ण्य हैं । उसमें भावों का वह उदात्त स्वरूप देखने को नहीं मिलता जो महाकवि निराला के तुलसीदास में । भारतीय संस्कृति के ~~कर्ता~~ किंवा आत्मा महाकवि तुलसीदास के मानसिक उन्नयन और उनके कृतित्व के सांस्कृतिक महत्व के द्योतक भव्य चित्र तुलसीदास में प्रस्तुत किये गये हैं । वास्तव में कवि के द्वारा गृहीत विषय नवीन और इतर कवियों द्वारा अस्पृश्य रहा है । तुलसीदास जैसे सांस्कृतिक महाकवि के अंतर्प्रदेश के गूढ़ स्तरों की गहराई में प्रविष्ट होकर कवि ने अपनी अद्भुत काव्य-प्रतिभा और अंतर्भेदिनी सूक्ष्म दृष्टि का परिचयदिया है । उनकी यह कृति अद्वितीय है । आधुनिक महाकाव्यों में जो स्थान कामायनी का है वही स्थान आधुनिक खण्डकाव्यों में निराला के "तुलसीदास" का है । छायावादी युग के दो श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्यों-"कामायनी" और "तुलसीदास"- में इसकी गणना की जाती है ।

प्रबन्धात्मकता- निराला स्वतन्त्र व्यक्तित्व संपन्न कवि हैं । वे परम्पराओं और रूढ़ियों का अनुकरण नहीं करते । उन्होंने काव्य के क्षेत्र में नवीन प्रयोग किए हैं । "तुलसीदास" जैसा "प्रबन्ध काव्य" भी ऐसा ही एक प्रयोग कहा जा सकता है । जानकी वल्लभ शास्त्री ने लिखा है "निराला जी काव्य कला अथवा जीवन दर्शन को गतानुगतिक रूप से नहीं ग्रहण किया । उन्होंने अपनी ही विशिष्ट दृष्टि से मानव, समाज, राष्ट्र एवं विश्व को देखा और उन्हें साहित्य के पृष्ठों पर आंका है[१]।"

१- हिमालय अंक ५ में प्रकाशित "साहित्यिक निबंध" के अंतर्गत तुलसीदास की आलोचना

तुलसीदास का कवि और संस्कृति के मेआता के रूप में-मानसिक विकास ही इस काव्य का मुख्य कार्य है । इसे महाकवि निराला ने बड़ी ही बारीकी से अंकित किया है । इसके प्रबन्ध को चार खण्डों में विभक्त किया जा सकता है-

अ- सांस्कृतिक पृष्ठभूमि (प्रारम्भ से छं० १० तक)

आ- चित्रकूट -भ्रमण (छं० ११ से ५९ तक)

ई- रत्नावली के भाई केसाथ चले जाने से लेकर तुलसीदास की प्रतारणा तक- (छं० ६० से ८५ तक)

ई- चरम विंदु - (छं० ८६ से १०० तक)

इन सभी खण्डों में पृथक्-काव्य तत्व विद्यमान हैं-

प्रथम खण्ड में मुगल संस्कृति के फैलते हुए प्रभाव और लुप्त होती हुई भारतीय संस्कृति के काल्पनिक चित्र दिए गये हैं । इसमें कवि ने अनुभूति की अपेक्षा कल्पना का आश्रय अधिक लिया है । " इन संघटित वर्णनों के भीतर से निराला जी यह दरसाना चाहते हैं कि तुलसीदास का प्रादुर्भाव कोई आकस्मिक घटना नहीं किन्तु अवश्यंभावी परिणाम था[१]।"

द्वितीय खण्ड में मनोविज्ञान का प्रभाव अधिक है । इसमें रहस्यवादी पद्धति का आश्रय अधिक लिया गया है । इसकी प्रशंसा में जा० ब० शास्त्री ने लिखा है - "पुरुष के साथ प्रकृति का ऐसा रागात्मक संबंध नई कविताओं में कदाचित् ही अन्यत्र देखने को मिले । पुरुष कवि की नारी प्रकृति के प्रति प्रेम-पीड़ा का उद्दाम निवेदन वैसा महार्घ नहीं किन्तु प्रकृति का पुरुष के प्रति ऐसा सजल आकर्षण, आत्म-निवेदन दुर्लभ है । असल बात तो यह कि "अभिज्ञान शाकुन्तल" के समान यहाँ भी प्रकृति स्वरूपतः मानव की सहचरी हो गई है । प्रकृति को मानवीय रूपक में लाकर उससे आलाप-संलाप कराना और कला है परन्तु प्रकृति को प्रकृति ही रहने देकर उसे अपना अंतरंग बना लेना कलाकार के असामान्य आध्यात्मिक विकास का ही प्रकाशक कहा जायगा[२]।" इस खण्ड में कवि के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व, प्रकृति के साथ उसके भावों का आदान-प्रदान, तथा मन की अध-ऊर्ध्व गतियों का सूक्ष्म परिचय मिलता है । तृतीय खण्ड में लौकिक आदर्शों और मर्यादाओं के उल्लंघन की क्रिया और प्रतिक्रिया अंकित हुई है । तुलसीदास की चारित्रिक परीक्षा इसमें हुई है । एक ही आघात में उसके "काम" के बंधन झनझना

१- हिमालय अंक ५ में प्रकाशित "साहित्यिक निबंध" के अंतर्गत तुलसीदास की आलोचना, पृ० ८३ ।

२- वही, पृ० ८३-८४ ।

कर टूट जाते है । चतुर्थ खण्ड में कवि की आत्मा बंधन हीन होकर आध्यात्मिक आलोक प्राप्त करती है । इस आलोक में रत्नावली का दिव्य रूप भी दिखाई देता है

प्रबन्ध काव्य के दो प्रमुख तत्व कथा और वर्णन इसमें वैशिष्ट्य के साथ उपस्थित हैं । अतः इसकी प्रबन्धात्कमता अक्षुण्ण है । इसमें कथा का सूत्र बाह्य घटनाओं में न रहकर तलस्थ हो गया है । तुलसीदास के अन्तर्मन का विकास अथवा मन का उच्चतम स्तर पर पहुंचकर सामान्य लौकिक संस्कारों से मुक्त होना ही केन्द्रीय सूत्र है जिसके सहारे राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विषय वस्तुओं को कवि ने समन्वित कर दिया है । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसे "अंतर्मुख प्रबन्ध " की संज्ञा दी है[१]।

<u>वस्तु-विवेचन-</u> तुलसीदास के जन्म के पूर्व की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि दिखाते हुए कवि निराला ने इस्लामी संस्कृति के तत्कालीन बढ़ते हुए वेग का दिग्दर्शन कराया है । भारत का सांस्कृतिक सूर्य अस्त हो चुका था और इस्लाम की शीतल छाया धीरे-धीरे फैल रही थी । भारतवासी इस्लाम की ओर आकर्षित होकर अपने दुख भूल बैठे थे । चारों ओर निष्क्रिय शान्ति और भोग-विलास, नृत्य-गीत का वातावरण छाया हुआ था । नारी के संकेत पर पुरुष नाचते थे । वे माया में पूरी तरह लिप्त थे । इधर चित्रकूट की प्रकृति की रमणीयता को देखकर युवक तुलसी के मन में नव प्रकाश उत्पन्न हुआ , किन्तु जड़-प्रकृति उन्हें वेदना में डूबी हुई मालूम हुई और उसके इस रूप से महात्मा तुलसीदास को सत्य की खोज की प्रेरणा मिली । कवि का मन -उन्मन होकर संस्कारों की सहतों सतहों को पार करता हुआ ऊंचा उठने लगा । मन की उस स्थिति में कवि ने भारत के देशकाल को तमसाच्छन्न पाया । भारत के सांस्कृतिकसूर्य की आभा उसे राहु-ग्रस्त प्रतीत हुई । उसे सत्य के प्रच्छन्न होने का स्पष्ट आभास मिला अतः उसे प्रकाशित करने के लिए कवि की चेतना की लहरें उमड़ चलीं । किन्तु पत्नी रत्नावली के मोह के कारण कवि का मन धीरे धीरे निचले स्तरों पर उतर आया और अंत में पत्नी ने ही उनका विवेक जागृत किया उसने अपने मोह पर विजय पायी । कवि की यह विजय मुस्लिम संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की विजय थी ।

"तुलसीदास" के संबंध में यह प्रसिद्धि चली आ रही है - प्रारम्भ में वे अपनी पत्नी पर इतने अधिक आसक्त थे कि एक बार पत्नी के मायके चले जाने पर वे रास्ते की तमाम कठिनाइयों को पार करते हुए उसी रात ससुराल जा पहुंचे । उनकी पत्नी

१- देखिये: हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० सं० ७१९ ।

की सहेलियों और परिवार वालों के सामने लज्जित होना पड़ा और उन्होंने तुलसीदास को करारा उत्तर दिया जिससे तुलसीदास की मोह-निद्रा टूट गई और वे विरक्त होकर राम-भक्त बन गए । बाबा बेणीमाधव दास कृत"मूल गोसाईं चरित" के अनुसार तुलसीदास का विवाह दीनबन्धु पाठक की रूपवती कन्या रत्नावली से हुआ था जिस पर उनकी आसक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी थी । वे उसके प्रेम में इतने लीन रहते थे कि एक क्षण का वियोग भी उन्हें असह्य हो गया था[1]। प्रियादास कृत भक्तमाल की टीका और तुलसी चरित्र में भी उपर्युक्त वृत्तान्त का उल्लेख है[2]। कहते हैं रत्नावली ने फटकारते हुए ये दोहे तुलसीदास से कहे थे -

लाज न लागत आपको दौरे आयहु साथ ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ ।
अस्थि चर्म मय देह मम तामें जैसी प्रीति ।
वैसी जौ श्रीराम महं होति न तौ भवभीति[3]।।

किन्तु तुलसीदास के जीवन की इस घटना का वर्णन करना "तुलसीदास" के कवि निराला का उद्देश्य न था । उन्होंने इस घटना को केवल साधन रूप में ग्रहण कर तत्कालीन युग की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में तुलसीदास के कृतित्व का मूल्यांकन करने की चेष्टा की है । श्रीजानकी बल्लभ शास्त्री ने लिखा है "ऐसा प्रतीत होता है, जैसे वर्षों से निराला जी के मस्तिष्क में जितनी ऊंची कल्पनाएं पुंजीभूत हो रही थीं, जितनी घनी भूत भावनाएं हृदय में द्वन्द्व मचाएं थीं, उन सबका सूक्ष्म प्रतिबिम्ब तुलसीदास के आदर्श पटल पर पड़ गया है । उनके जीवन की जटिलता इसकी भाषा में वाणी पा गयी है, उनकी विशृंखल दार्शनिकता यहां कड़ी-कड़ी मे जुड़ गयी है और उनकी नित्य उन्मुक्त भावना इसके छन्दों की कारा में भी आत्मा की मुक्ति को भली-भांति दरसा सकी है । उनकी चिन्तन प्रियता ने इस रचना को अन्तर्मुखी बना दिया है । उनकी जीवन-संगिनी उदात्त दार्शनिकता ने इसे मनोवैज्ञानिक घात-प्रतिघातों से गतिमय, आवेगमय, कर दिया है । इनकी सौन्दर्य पिपासु दृष्टि ने इसे प्रकृति और जीवन के संश्लिष्ट चित्रों से सजा दिया है और दिशाकाश को घेर कर छा जाने वाले उनके विशाल व्यक्तित्व ने इसके अणु-परमाणुओं तक को महान् बना दिया है[4]।"

१- गोस्वामी तुलसीदास- डा० बड़थ्वाल, पृ० ३८ ।
२-३:- पं० रामचंद्र शुक्ल -हिन्दी सा० का इतिहास, पृ० १९८ ।
४- साहित्यिक निबन्ध -जानकी बल्लभ शास्त्री, हिमालय, भाग ५ ।

आज का युग बुद्धिवादी युग है । इस युग का पाठक किसी भी ऐसे तथ्य को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं है जो बुद्धि संगत न हो । आज का पाठक कदाचित् यह मानने को तैयार नहीं हो सकता कि तुलसीदास का प्रेम परिपुष्ट हृदय रत्नावली की ताड़ना के हल्के झटके से एकबारगी सदा के ल लिए असंपृक्त हो गया और तुलसीदास की वृत्तियों का राम की ओर उन्मुख होना ही मानस जैसी महान् कृति की रचना का कारण बन गया । "तुलसीदास" के कवि ने कथानक को मनोवैज्ञानिक भित्ति पर निर्मित कर पाठक के मन में उत्पन्न होने वाली शंकाओं को निर्मूल कर दिया है । प्रस्तुत कृति के अनुसार रत्नावली के उनके जीवन में आने के पूर्व ही तुलसीदास काव्य-शास्त्र निष्णात हो चुके थे-

युवकों में प्रमुख रत्न चेतन,

समधीत शास्त्र-काव्या लोचन ।

जो, तुलसीदास, वही ब्राह्मण कुल दीपक[१],

यही नहीं कवि सुलभ प्रकृति-प्रेम भी उनमें पूरी तरह जागृत हो चुका था । चित्रकूट की शान्ति प्रकृति उन्हें बाहों में भर लेने को उत्सुक जान पड़ती थी[२]। अतः यह स्पष्ट है कि समाज का उद्धार करने, भारतीय संस्कृति की रक्षा करने महाकवि बनने की सारी परिस्थितियां कवि के जीवन में पहले ही उदित हो चुकी थीं । उनका मन संस्कारों के निचले स्तरों को छोड़कर ऊर्ध्व का स्पर्श करके उतर आता था[३]। उनके मार्ग में रत्नावली का प्रेम ही एकमात्र बाधा थी जिसे रत्नावली ने स्वयं तोड़कर कवि को पूर्णतया मुक्त कर दिया ।

विविध -विषय-वर्णन

सामाजिक पतन- तुलसीदास के युग की पतनोन्मुख सामाजिक अवस्था का वर्णन इस कृति में अत्यन्त प्रभावशाली है । इस्लामी संस्कृति के चकाचौंध लोग अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को भूले जा रहे थे[४]। उसी की प्रेरणा से पूजन-अर्चन में भी स्वार्थ-बुद्धि घर करती जा रही थी । पूजा पार्थिव इच्छाओं की तृप्ति के लिए होती थी । मनुष्य जड़ हो गया था[५]। सामाजिक संगठन नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था । द्विजाति-ब्राह्मण, क्षत्री आदि उच्च वर्ण वाले अपने गौरव को खो चुके थे । क्षत्री कायर और

१- ३: तुलसीदास, छं० १२, १६, २२-२३ ।

४- भारत का सम्यक देश-काल, खिंचता जैसे तम शेष जाल,
खींचती, बृहत् से अन्तराल करती सी । - (छं० सं० २४) ।

५- वही, छं० सं० २५ ।

ब्राह्मण चाटुकार बन गए थे[1]। शूद्रों की अवस्था तो और भी शोचनीय थी -

चलते -फिरते, पर निस्सहाय, वे दीन, क्षीण कंकाल काय,
आशा केवल जीवनोपाय उर-उर में,
रण के अश्वों से शस्य सकल, दलमल जाते ज्यों, दल के दल,
शूद्र गण क्षुद्र जीवन-सकल पुर पुर में[2]।

उपर्युक्त छन्द में शूद्रों और पददलित दीन दुखियों के प्रति कवि की सहानुभूति जैसे उमड़ी पड़ती है । उच्च वर्ग वालों के दुर्व्यवहार के प्रति कवि का आक्रोश भी इन पंक्तियों में व्यंजित है-

वे शेष-श्वास, पशु, मूक-भाष, पाते प्रहार अब हता श्वास,
सोचते कभी, आजन्म ग्रास द्विज गण के,
होना ही उनका धर्म परम, वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम,
रे चरण-वरण बस, वर्णाश्रम -रक्षण के[3]।

पहले जिन्हें सेवा का गुरुभार देकर समाज के पद प्रदान किया । वही अब उनके लिए विष-सम हो गया । वे सामाजिक प्रतिष्ठा खो बैठे । द्विजाति वर्ग के लोग इस्लामी संस्कृति का आसव पीकर बेसुध हो गए । इस वातावरण में मुक्त चिंतन के लिए अवसर ही न रहा[4]। मोगलों के आतंक के फलस्वरूप देश में वीरता का ह्रास हो गया । वीर बंदी गृहों के भीतर थे और बाहर नपुंसक उत्सव मनाते थे । राजपूत वीर युद्ध में काम आ गए और राजपूतों के रूप में केवल सूत मागध ही जीवित बचे[5] ।

कवि ने तुलसीदास को राष्ट्रीयता का प्रतीक माना है । एक सच्चे राष्ट्र नेता के रूप में तुलसीदास ने अपने युग की नाड़ी को पहचाना था । उपर्युक्त सामाजिक दुर्गुण प्रस्तुत कृति के रचयिता कवि के युग के लिए भी उतने ही सत्य हैं । तुलसीदास के युग में इस्लामी संस्कृति की खुमारी थी तो निराला के रचनाकाल के समय अंग्रेजी संस्कृति का विषमय प्रभाव पड़ रहा था ।

<u>प्रकृति</u>- निराला मुख्यतः मानवीय भावनाओं केकवि हैं । प्रकृति के स्वतंत्र रमणीय रूपों की शोभा का चित्रण पंत के समान उनमें नहीं मिलता । फिर भी वातावरण

१- भारत का सम्यक् देश-काल, खिंचता जैसे तम शेष जाल,
खींचती, बृहत् से अन्तराल करती सी। -छं० सं०१७ ।

२-३: तुलसीदास छं० सं० १८-१९ । ४- वही, छं० सं० ३०-३१ ।

५- वही, छं० सं० ४, ५, ६ ।

का परिचय देने के लिए प्रकृति के रूपों के मार्मिक चित्र कवि ने खींचे हैं । तुलसीदास जब हाट से चिन्ता करते हुए लौटते हैं, उस समय का संध्या का रंगीन चित्र केवल कुछ पंक्तियों में सजीव हो उठा है -

सामग्री ले लौटे जब घर, देखा नीलम-सोपानों पर,
नभ के, चढ़ती आभा सुन्दर पग धर-धर,
श्वेत, श्याम, रक्त, पराग-पीत,
अपने सुख से ज्यों सुमन भीत,
गाती यमुना नृत्य पर, गीत कल-कल स्वर[१]।

उपर्युक्त पंक्तियों में संध्या का मानवीय करण हुआ है जो अप्सरा की भांति नीलम की सीढ़ियों पर चढ़ती जा रही है उसकी रंग-बिरंगी छबि मोहक है । इसमें प्रकृति का प्रयोग प्रबन्ध के एक पात्र के रूप में हुआ है । वह नायक तुलसीदास की प्रेरक-शक्ति हैं । रहस्यवादी कवि प्रकृति को भी चेतन सत्ता के रूप मे ग्रहण करता है । प्रकृति के रूपों में भी मानव के ही समान सुख-दुख के अनुभव की क्षमता होती है । चित्रकूट की प्रकृति तुलसीदास को पाकर उन्हें बाहों में भर लेने को इच्छुक है ।

तरु-तरु, वीरुध-वीरुध तृण-तृण
जाने क्या हंसते मसृण- मृसृण,
जैसे प्राणों से हुये उऋण, कुछ लखकर,
भर लेने को उरमें, अथाह
बाहों में फैलाया उछाह,
गिनते थे दिन, अब सफल चाह फल रखकर[२]।

इस्लाम के प्रभाव से भारतीय जीवन में जो निष्क्रियता, जड़ता और विवशता आई उसका प्रभाव विराट् प्रकृति पर भी पड़ा । उसकी चेतना लुप्त हो गई । तुलसीदास को प्रकृति में जड़ता की अनुभूति होती है, प्रकृति उनके सामने अपना दुख रोती हुई प्रतीत होती है -

हनती आंखो की ज्वाला चल
पाषाण-खण्ड रहता जल-जल
ऋतु सभी प्रबल तर बदल -बदल कर आतें,

१-२: तुलसीदास: छं० सं० ७०, १६ ।

वर्षा में पंक प्रवाहित सरि

है शीर्ण काय-कारण हिम अरि,

केवल दुख देकर उद रंभर जन जाते[1]।

"तुलसीदास" के प्रकृति चित्रों की विशेषता यह है कि वे मन की भावना के बदलते ही अपना स्वरूप भी परिवर्तित कर लेते हैं उपर्युक्त छन्द में प्रकृति का करुण चित्र अंकित हुआ है किन्तु नायक तुलसीदास के ससुराल जाते समय प्रकृति शृंगारोचित भावों में डूबी दिखाई पड़ती है -

मग में पिक कुहरित डाल-डाल

है हरित विटप सब सुमन माल,

हिलती लतिकायें ताल- ताल पर सस्मित,

पड़ता उन पर ज्योतिः प्रपात,

है चमक रहे सब कनक-गात,

बहती मधु धीर समीर ज्ञात आलिंगित[2]

रत्नावली की प्रतारणा से तुलसीदास की चेतना का प्रवाह जब मुक्त हो गया तो समस्त सृष्टि में एक नूतन हर्ष छा गया -

बाजीं बहती लहरें कलकल

जागे भावाकुल शब्दोच्छल

गूँजा जग का कानन-मण्डल, पर्वत्-तल,

सूना उर ऋषियों का ऊना

सुनता स्वर, हो हर्षित, दूना

आसुर भावों से जो भूना, था निश्चल[3]

प्रकृति का सर्वाधिक प्रयोग अप्रस्तुत विधान के लिए हुआ है । वर्ण्य विषय की सौन्दर्य वृद्धि और वस्तु के यथार्थ रूप को पाठकों के हृदय में उतारने के लिए प्रकृति के पदार्थों का सहारा कवि गण लिया करते हैं । निराला की प्रस्तुत कृति में ऐसे प्रयोगों की प्रचुरता है । प्रायः रूपकों के सहारे कवि ने स्थितियों और भावनाओं को बड़ी सफलता एवं स्पष्टताके साथ व्यक्त किया है - उसने भारत के सांस्कृतिक पराभव को सन्ध्या के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है -

---

१-३: तुलसीदासः छं० सं० १८, ७४, ।

भारत के नभ का प्रभा पूर्ण
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे- तमस्तूर्य दिड्॰ मंडल,
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान,
है उर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल[1]।

इसी प्रकार मुस्लिम संस्कृति के बढ़ते हुए वेग को वर्षा का रूपक दिया गया है -

मोगल-दल बल के जलद - यान
दर्पित -पद उन्मद-नद पठानि
हैं बहा रहे दिग्देशज्ञान, शर-खरतर,
छाया ऊपर घन-अंधकार-
टूटता बज्र दह दुर्निवार,
नीचे प्लावन की प्रलय धार, ध्वनि हर-हर[2]।

मुगलों के शासन की नींव दृढ़ हो जाने के बाद अकबर आदि शासकों की उदार नीति के फलस्वरूप शांति स्थापित हुई, सवर्ण हिन्दू, यहां तक कि वीर राजपूत भी वैर-भाव को भूल कर नवागत सभ्यता के रंग में रंग गए । किन्तु इस शान्ति के बावजूद भी देश अपनी सांस्कृतिक आधार खोता जा रहा था । इस शांति के वातावरण को शरद कालीन चांदनी के रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है -

अब, गीत घटा, खिल गया गगन,
उर-उर को मधुर, ताप प्रशमन
बहती समीर, चिर आलिंगन ज्यों उन्मन,
झरते हैं शशधर से क्षण-क्षण
पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन
ज्योतिर्मय प्राणों के चुंबन, संजीवन[3]।

उपमान के रूप में प्रकृति के एक छवि -खण्ड की योजना देखिए-

बह कर समीर ज्यों पुष्पा कुल
बन को कर जाती है व्याकुल,
हो गया चित्त कवि का त्यों तुलकर उन्मन[4] ।

१-४: तुलसीदासः छं० सं० १, ३, ८, २२ ।

प्रकृति के पदार्थों का प्रयोग प्रतीक के रूप में परिस्थिति और वस्तु-स्थिति को ध्वनित करने के लिए भी हुआ है। निम्नांकित छंद में छाया, कलरव, तम आदि प्रतीकवत् प्रयुक्त हैं।

इस छाया के भीतर हैं सब,
हैं बंधा हुआ सारा कलरव,
भूले सब इस तम का आसव पी-पीकर
इसके भीतर रह देश-काल
हो सकेगा न रे मुक्त-माल,
पहले का - सा उन्नत विशाल ज्योतिः सर[1]

विराट् प्रकृति को कवि नारी के रूप में देखता है। सर्वांग सम्पन्न नारी की यह छवि देखिए:-

यह श्री पावन, गृहणी उदार,
गिरि-वर उरोज, सरि पयो धार,
कर बन-तरु, फैला फल निहारती देती,
सब जीवों पर है एक दृष्टि,
तृण-तृण पर उसकी सुधा वृष्टि,
प्रेयसी, बदलती बसन सृष्टि नव लेनी[2]।

और दूसरी ओर नारी के रूप में कवि विराट् प्रकृति का दर्शन भी करता है। कवि की यह विराट् एवं अद्भुत कल्पना अद्वितीय है:-

प्रेयसी के अलक नील, व्योम,
दृग-पल, कलंक, -मुख मंजु, सोम,
निःसृत प्रकाश जो, तरुण क्षोभ प्रिय तन पर,
पुलकित प्रतिपल मानस-चकोर
देखता मूल दिक उसी ओर
कुल इच्छाओं का वही छोर जीवन-भर[3]।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्रकृति इस कृति में कवि का साध्य न होकर साधन रूप में ही व्यवहृत हुई है।

१-३: तुलसीदासः छन्द संख्या ३१, ४१, ४७।

पारिवारिक वातावरण-

"तुलसीदास" में रत्नावली के भाई के अपनी बहिन को बुलाने के लिए आने तथा उसके बहन से वार्तालाप में पारिवारिक जीवन के चित्रों की झलक मिलती है । भारतीय समाज में विवाह के बाद कन्या का ससुराल से पिता के घर न लौटना पिता के परिवार के लिए अपमानजनक समझा जाता है । कन्या को उसके पति के घर भेजकर मां बाप की ममता का अंत नहीं हो जाता । वे अपनी लाड़ली कन्या के लिए चिंतित और उसे सुखी देखने को व्यग्र रहते हैं । निम्नोक्त छन्द में पारिवारिक जीवन की कितनी यथार्थ अभिव्यक्ति हुई है- यदि रत्नावली से कहता है-

हो गई रतन, कितनी दुर्बल,
　　चिन्ता में बहन, गई तू गल?
मां, बापू जी, भाभियाँ सकल पड़ोस की
　　है विकल देखने को सत्वर,
सहेलियां सब ताने देकर,
　　कहती हैं, बेचा बर के कर, आ न सकी[1]।

यही नहीं, भाई यह भी बताता है कि गांव की अन्य लड़कियां जो उससे पीछे ससुराल गई थीं, कई बार नैहर आ चुकी हैं किन्तु रत्नावली एक भी बार नैहर नहीं गई । बार बार भाई को निराश होकर लौट जाना पड़ा[2]। अतः भाई कुछ चुभते हुए वचन कहता है-

"हम, बिना तुम्हारे आए घर,
　　गांव की दृष्टि से गए उतर,
क्यों बहन, व्याह हो जाने पर, घर पहला
　　केवल कहने को है नैहर? -
दे सकता नहीं स्नेह-आदर?-
　　पूजे पद, हम इसलिए ऊपर? " उर दहला[3]

मां, बाप और भाभियों तथा सखी सहेलियां आदि के ममता भरे सन्देश जीवन के यथार्थ पर आश्रित होने के कारण अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं । एक-एक पंक्ति में कवि ने व्यथा उड़लते की चेष्टा की है माता की व्यथा का संपूर्ण स्वरूप नीचे की दो

१-३: तुलसीदासः छं० सं० ६१-६२ + ६५, [illegible] ।

तीन पंक्तियों में समाहित हो गया है-

आंसुओं भरी मां दुख के स्वर
बोली, रतन से कहो जाकर,
क्या नहीं मोह कुछ माता पर अब तुम को?[१]

इसी प्रकार- "बोले बापू, योगी रमाता मैं अब तो-
कुछ ही दिन को हूं कूल-द्रुम,
छू लूं पद फिर, कह देना तुम[२]।"

पंक्तियों से पिता के हृदय का वात्सल्य उमड़ा पड़ता है । रत्नावली के हृदय में भावों के बादल उमड़ पड़े । उसका मर्यादा में बंधा धर्म जाग उठा । पति के स्नेह का उपवन भावों के बादलों में ढक गया । और वह भाई के साथ जाने को उद्यत हुई।

रूप-वर्णन- (पुरुष) - पुरुष रूप वर्णन मे कवि नायक तुलसीदास के पुष्ट शरीर विशाल नेत्र आदि का परिचय कराते हुए उनके आंतरिक गुणों पर भी प्रकाश डालता है । अन्य युवकों में वे प्रमुख हैं । काव्य, शास्त्र, आलोचना आदि विषयों को उन्होंने भली-भांति हृदयंगम किया है । उनकी आत्मा का प्रकाश उनकी निर्भीकता, व निःसंशय मुख मुद्रा में झलकता है । उनकी मंद-मुस्कान उनकी प्रतिभा का परिचय देती है[३]। यमुना तट पर स्थित अपनी मातृ-भूमि राजापुर में उन्होंने अपनी विद्या व प्रतिभा से प्रतिष्ठा पाई है । प्रिय जनों के वे आदर के पात्र हैं । समस्त वातावरण उनके गुणों के सौरभ से व्याप्त है[४]। नायक का यह रूप-वर्णन उनके चिन्तन शील व्यक्तित्व का ही पूरक है ।

नारी रूप-वर्णन में कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का प्रदर्शन किया है । नारी के स्वरूप को प्रकृति के प्रतीकों के माध्यम से उद्घाटित किया गया है ।नारी छवि के पूर्ण चित्र तो कृति में नहीं मिलते उसके संकेत मात्र मिलते हैं । चित्रकूट की प्रकृति के दर्शन से जब तुलसीदास का मन ऊर्ध्वगामी होकर नभोदेश में विचरण करता है तभी कमल की सी कांति वाली पत्नी रत्नावली उनकी स्मृति में झूम जाती है -

उस क्षण, उस छाया के ऊपर,
नभ तम की-सी तारिका सुघर,

१-४: तुलसीदास: ६३, ६४, १२, १३ ।

आ पड़ी दृष्टि में, जीवन पर, सुन्दरतम
प्रेयसी, प्राणसंगिनी, नाम
शुभ रत्नावली- सरोज-दाम
वामा इस पथ पर हुई वाम सरितो पम[१]

नारी के नेत्रों में आकर्षण केन्द्रित रहता है। अतः नेत्रों की ही आकर्षक छवि का वर्णन कई स्थलों पर हुआ है-

जाते हो कहां? "तुले तिर्यक्,
दृग, पहनाकर ज्योतिर्मय स्रक्
प्रियतम को ज्यों, बोले सम्यक शासन से,
फिर लिए मूंद वे पल पक्ष्मल-
इन्दीवर के-से कोश विमल,
फिर हुई अदृश्य शक्ति पुष्कल उस तन से[२]।

तुलसीदास दृग-छवि में ही बंधकर अक्षम हो गए।

उस ऊंचे नभ का, गुंजन पर
मंजुल जीवन का मन-मधुकर
खुलती उस दृग-छवि में बंधकर, सौरभ को
बैठा ही था सुख से क्षण भर,
मुंद गए पलों के दल मृदुतर,
- - - - - - - - - - - - -[३]।

रत्नावली की क्रोध भरी मुद्रा का निम्नांकित बिम्ब चित्र अत्यन्त उच्चकोटि का है-

बिखरी छूटीं, शफरी - अलकें,
निष्पात नयन नीरज पलकें,
भावातुर पृथु उर की छलकें उपशमिता
निः संबल केवल ध्यान-मग्न
जागी योगिनी अरूपप-लग्न,
वह खड़ी शीर्ण प्रिय-भाव-मग्न निरूपमिता[४]।

१-४: तुलसीदासः ३७, ३८, ३९, ।

दार्शनिकता

तुलसीदास के मानसिक स्तरों का उद्‌घाटन करते हुए अद्वैत वादी दर्शन की प्रतिष्ठा की गई है। अद्वैतवादी दर्शन के अनुसार जगत मिथ्या है, माया कृत है। जब तक जीव सांसारिक भोग-विलास में लिप्त रहता है + तब तक उसे सत्य (या रहस्य-वादी भाषा में सुन्दर प्रियतम) का दर्शन नहीं होता। वह माया को ही भ्रमवश सत्य समझ बैठता है। तुलसी के आविर्भाव काल में सांसारिक सुख भोग का जो प्रवृत्ति बढ़ी उससे सत्य का सच्चा-स्वरूप प्रच्छन्न होता जा रहा था- निम्नांकित छन्द में माया के प्रसार का स्वरूप देखिए-

अब स्मर के शर-केशर से झर
रंगनी रज- रज पृथ्वी अम्बर,
छाया उससे प्रति मानस सर शोभा कर,
छिप रहे उसी से वे प्रियतम
छवि के निश्छल देवता परम,
जागरणोपम यह सुप्ति-विरम भ्रम, भ्रम क भर[1]।

यह संसार इसीलिए कवि को अंध कूप जान पड़ता है। सांसारिक सुख समृद्धि सत्य से दूर लेजाने वाली है। राजा यथार्थतः रंक है। अतः सच्ची मुक्ति सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने में है -

है वही मुक्ति का सत्य रूप
यह कूप-कूप भव- अंध कूप
वह रंक, यहां जो हुआ भूप, निश्चय रे[2]।

इस्लामी शासन का वातावरण माया का ही रूप है उससे परे ज्ञान-स्वरूप ब्राह्म की सत्ता है उसकी प्राप्ति ही वास्तविक मुक्ति है-

\+ + +

इस अनिवल -बाह के पार प्रखर
किरणों का वह ज्योतिर्मय घर,
रवि-कुल-जीवन-चुम्बनकर मानस-धन जो[3]।

कवि ने "तुलसीदास" में दार्शनिक सिद्धान्तों एवं सामाजिक अवस्थाओं का

१-३: तुलसीदासः छं० सं० २१, ३४, ३३।

अभिनव सामंजस्य उपस्थित किया है । एक ओर तो मुस्लिम संस्कृति के विषमय प्रभाव को अंकित कर वैदिक धर्म के पुनरुद्धार के लिए कवि प्रयत्नशील होता है दूसरी ओर प्रकृति के चेतन से असंपृक्त होकर जड़वत् रह जाने के कारण कवि का चेतनोर्मियों से उसे पुनर्जीवन देने का दृढ़ निश्चय व्यक्त होता है । वस्तुतः यह इस्लाम का ही व्यापक प्रभाव दिखाने की चेष्टा है जिसके कारण चेतन समाज ही नहीं व्यापक प्रकृति भी अपनी मूल चेतना को खो बैठी । समाज और प्रकृति की जड़ता को चेतनोर्मियों से पुनर्जीवन देने का कार्य तुलसीदास ने किया ।

छायावादी परम्परा के अनुकूल प्रकृति और पुरुष अथवा जड़ और चेतन के परस्पर आकर्षण और प्रेम के चित्र भी कवि ने चित्रित किए हैं:-

जड़ प्रकृति, चेतन तुलसीदास को उर मे भर लेने को उत्सुक है-
तरु तरु वीरुध-वीरुध, तृण तृण
जाने क्या हंसते मस्तृण-मसृण,
जैसे प्राणों से हुये उऋण, कुछ लखकर,
भर लेने को उर अथाह
बाहों में फैलाया उछाह,
गिनते थे दिन, अब सफल चाह पल रखकर[१]

बिना ज्ञान अथवा चेतन के स्पर्श के समस्त प्रकृति जड़ है । वह चेतन के साहचर्य के लिए व्याकुल है । वह तुलसीदास से कहती है जिस तरह राम ने पत्थर(जड़) को नारी (अहिल्या) में परिवर्तित कर दिया, उसी प्रकार चेतन तुलसीदास उसका स्पर्श कर उसकी जड़ता को दूर करें-

लो चढ़ा तार- लो चढ़ा तार,
पाषाण खण्ड ये, करो हार,
दे स्पर्श अहल्योद्धार-सार उस जग का,
अन्यथा यहां क्या? अन्धकार,
बन्धुर पथ, पंकिल सरि, कगार
झरने, झाड़ी, कटंक विहार पशु-खग का[२]।

छायावादी कवि रूप में अरूप का दर्शन करने की चेष्टा करता है । बाह्य सृष्टि में उसे अज्ञात शक्ति का सौन्दर्य झलकता दिखाई पड़ता है । उसी अज्ञात के

१-२: तुलसीदासः छं० सं० ८८, ९० ।

के स्पर्श से सम्पूर्ण प्रकृति उसे सप्राण प्रतीत होती है । किन्तु तुलसीदास के चित्रकूट की प्रकृति में उस अरूप सौन्दर्य की झलकन न मिली । वह जड़ मात्र दिखाई दी, गतिहीन दृष्टिगोचर हुई । निराला ने अन्यत्र लिखा है "तुलसीदास में नारी और प्रकृति का यह तदाकार रूप दिखाई देता है । प्रकृति में नारी और नारी में प्रकृति के चित्र तो दिये ही गये हैं ।प्रकृति का नारी सुलभ प्रेम-आकर्षण भी प्रकृति के नारी भाव का ही द्योतक है ।

मानसिक-उत्थान

तुलसीदास में नायक तुलसीदास का मन दो बार सामान्य सतह से ऊपर उठकर नभोदेश में पहुंचता है । एक बार चित्रकूट में प्रकृति दर्शन से और पुनः पत्नी से प्रताड़ित होकर ससुराल में । मन के इस उत्थान का बड़ा ही विशद वर्णन कवि ने किया है । ज्यों ज्यों मन ऊंचे स्तर पर पहुंचता जाता है त्यों त्यों पूर्व संस्कारों के रंग धुलते जाते हैं । वस्तुतः यह नायक के भावों का उदात्तीकरण ही है । कवि ने अपनी अपूर्व कल्पना के सहारे इस भावलोक के विभिन्न स्तरों का परिचय दिया है । कवि का यह ऊर्ध्व गमन क्रम-क्रम से होता है । मन की उड़ान का परिचय पक्षी की उड़ान के सहारे दिया गया है-

\+ \+ \+

वह उस शाखा का बन -विहंग
उड़ गया मुक्त नभ निस्तरंग
छोड़ता रंग पर रंग-रंग पर जीवन[1]

पार्थिव संस्कारों के क्रम-क्रम से छूटने का वर्णन अंतिम पंक्ति में सुन्दर हुआ है कवि का मन अगोचर सत्य की खोज के लिए ऊंचा उठ रहा है अतः गोचर रंगों या संस्कारों को छोड़ता जा रहा है । मन की यह उड़ान बहुत ऊंची होती जाती है - मायक के क्षेत्र को पार करने के बाद ही मन ज्ञान के लोक में प्रविष्ट हो सकता है - निराला मन की उस ऊर्ध्व गति की कल्पना करते हैं जहां वह माया से मुक्त विराट् सत्य का दर्शन कर सके । तभी तो वह मायाकृत संस्कारों की सतहों को पार करता हुआ नभोदेश में पहुंचता है ।

दूर, दूरतर, दूर तम, शेष
कर रहा पार मन नभोदेश

१- तुलसीदास(निराला) छं० सं० ११ ।

सजता सुवेश, फिर फिर सुवेश जीवन पर

छोड़ता रंग, फिर फिर संवार

उड़ती तरंग ऊपर अपार

संध्या ज्योतिः ज्यों सुविस्तार अंबरतर[१]।

संध्याकालीन प्रकाश की रंगीन किरणोंजिस प्रकार क्रम - क्रम से आकाश में बढ़ती जाती हैं- उसी प्रकार तुलसी का मन संस्कारों के स्तर पार करता जाता है-

दूसरी बार रत्नावली के सरस्वती रूप का दर्शन कर तुलसीदास का मन ऊंचा उठता है, उस अवस्था में कवि का मन ब्रह्माण्ड के विराट् रूप का दर्शन करता है जिसमें समस्त शून्य घूमते हुए धुंए के समुद्र सा लगता था चंद्र और तारे उसमें डूब से रहे थे। उस शून्य में ऊपर-नीचे कुछ नहीं दिखता था और सारी रेखाएं मिटती-सी जान पड़ती थीं-

दृष्टि से भारती से बंध कर,

कवि उठता हुआ चलत ऊपर,

केवल अम्बर- केवल अम्बर फिर देखा,

घूमाय मान वह घूर्ण्य प्रसर

धूसर समुद्र शशि-तारा-हर

सूझता नहीं क्या ऊर्ध्व, अधर, क्षर-रेखा[२]।

मन की उठती हुई तरंगों और मन की ऊर्ध्व स्थिति का विवरण कवि की उदात्त कल्पना शक्ति का परिचायक है। कवि का यह क्षेत्र नवीन है। इसकी प्रेरणा कवि को रवीन्द्रनाथ से मिली ज्ञात होती है। उनकी रचनाओं में मन की ऊर्ध्व की स्थितियों के वर्णन मिलते हैं।

रस- और भाव-व्यंजना

"तुलसीदास" मनोवैज्ञानिक प्रबन्ध काव्य है जिसका कथानक विषय महाकवि तुलसीदास के मनोजगत के रहस्यों का उद्घाटन करना और मन की अध-उर्ध्व गतियों का विश्लेषण कर तत्कालीन परिस्थितियों में उनके कृतित्व के सांस्कृतिक महत्व को प्रकाश में लाना है। इसी अन्तर्मुखी विषय वस्तु के ग्रहण करने के कारण न तो इसमें चरित्र-चित्रण की चेष्टा हुई है और न रस-निष्पत्ति की ओर कवि का ध्यान गया

१-२: तुलसीदासः छं० सं०८८, ।

है ।

फिर भी प्रारम्भ से अंत तक इस रचना में शान्त रस की धारा प्रवाहित होती हुई जान पड़ती है । बीच में कुछ स्थलों पर शृंगारकी अवश्य झलक मिलती है किन्तु वे भी शान्त के पोषक हैं । देश के सांस्कृतिक ह्रास के कुछ चित्र करुणा को जगाते हैं ।

नायक तुलसीदास सांसारिक राग-भोग से मुक्त होकर सत्य की साधना में लीन होते हैं । उनका मन जो मोह के पाश में बंधकर कुछ काल के लिए निम्न स्तरों पर उतर आया था, पुनः अपनी ऊर्ध्व स्थिति पर पहुंच जाता है । इस ऊर्ध्व स्थिति में पहुंच कर वह भारतीय समाज और संस्कृति के अधः पतन का सम्यक् अनुभव प्राप्त करता है और इसी ऊर्ध्व स्तर पर पहुंच कर उनका मन यह संकल्प करता है-

करना होगा यह तिमिर पार-
देखना सत्य का मिहिर-द्वार-
बहना जीवन के प्रखर ज्वार में निश्चय
लड़ना विरोध से द्वंद्व -समर,
रह सत्य-मार्ग पर स्थिर-निर्भर -
जाना, भिन्न भी देह, निज घर निःसंशय[१]।

निज घर अर्थात् सत्य की खोज के लिए कवि का चल पड़ना-यही इस कृति का मुख्य कार्य है जो नायक के निर्वेद भाव का सूचक है ।

तुलसीदास का गृह-त्याग, सांसारिक भोगों को माय का रूप समझकर छोड़ देना, सत्य की खोज के लिए व्रत लेना आदि विभाव है । परमानंद की अवस्था, रत्नावली को सरस्वती के रूप में कमलों को खोलते हुए देखना आदि अनुभाव और मति धृति, तर्क, हर्ष आदि सञ्चारी भाव है- तुलसीदास की निम्न पंक्तियों में शान्त-रस निष्पन्न होता है-

जगमग जीवन का अन्त्य भाष-
"जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उससे गृह के भीतर,
देखूंगा नहीं कभी फिर कर
लेता मैं, जो वर जीवन-भर बहने का[२]।"

१-२: तुलसीदासः छं० सं० ३५, ९९ ।

निम्नांकित छन्द में नायक तुलसीदास के हर्ष "संचारी" के माध्यम से उनके "रति" भाव की व्यंजना हुई है-

अस्तु रे, विवश, मारुत-प्रेरित,

पर्वत समीप आकर ज्यों स्थित

घन-नीलालका दामिनी जित ललना वह,

उन्मुक्त-गुच्छ वक्रांक - पुच्छ,

तब, नर्तित कवि-शिखि-मन समुच्छ

वह जीवन की समझा न तुच्छ छलना वह[1]।

किन्तु अन्तिम पंक्ति से उठता हुआ रति भाव शान्त हो जाता है अतः इसे भाव-शान्ति का उदाहरण माना जा सकता है।

तुलसीदास की अनुपस्थिति में रत्नावली भाई के साथ पितृगृह चली जाती है। तुलसीदास जब हाट से लौटते हैं और रत्नावली को घर में नहीं पाते तो प्रिया के वियोग में उनका रति भाव और भी उद्दीप्त हो जाता है। प्रिया का सौन्दर्य उन्हें सदा से भी अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है-

वह आज हो गई दूर तान

इसलिए, मधुर वह और गान

सुनने को व्याकुल हुए प्राण प्रियतम के,

छूटा जग का व्यवहार- ज्ञान,

पग उठे उसी मग को अजान,

कुल-मान-ध्यान श्लथ स्नेह-दान सक्षम से[2]।

उपर्युक्त पंक्तियां वियोग शृंगार की हैं। दूर से आई हुई स्वर लहरी कितनी मधुर होती है, उसी प्रकार दूरस्थ प्रिया का रूप भी अधिक मधुर प्रतीत होता है। सादृश्य पर आधारित यह अप्रस्तुत योजना कितनी उपयुक्त बन पड़ी है। प्रिया को पाने के लिए तुलसीदास व्याकुल हो उठे उन्हें न लोक-व्यवहार का ध्यान रहा और न कुल की प्रतिष्ठा का।

समाज के निम्नवर्गीय लोगों का दैन्य हमारी करुणा का आलम्बन बनता है -

चलते-फिरते, पर निःसहाय,

वे दीन, क्षीण कंकाल काय,

१-२: तुलसीदासः छं० सं०८२, ७३।

आशा-केवल जीवनो पाय उर-उर में,

रण के अश्वों से शस्य सकल-

दलमल जाते ज्यों, दल के दल

शूद्रगण क्षुद्र-जीवन-संबल, पुर-पुर में[१]।

उपर्युक्त पंक्तियों में निराला ने अपने युग के दैन्य और अभाव की व्यंजना की है। कवि का हृदय दीन-दुखियों के दुखों के प्रति अधिक सहानुभूति-शील रहा है।

"तुलसीदास" में ध्वनि-चित्रों का प्राधान्य है। इन छंदों का चमत्कार वाच्यार्थ में न होकर व्यंग्यार्थ में निहित है। ध्वनि काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण तुलसीदास में उपलब्ध हैं। निम्न छन्द मे शरद के वातावरण के द्वारा तत्कालीन भोग-विलास मय जीवन को ध्वनित किया गया है-

अब धौत धरा, खिल गया गगन,

उर - उर को मधुर, ताप प्रशमन

बहता समीर, चिर आलिंगन ज्यों उन्मन,

झरते हैं शशधर से क्षण-क्षण

पृथ्वी के अधरों पर निःस्वन

ज्योतिर्मय-प्राणों के चुंबन, संजीवन[२]।

अर्थात् चन्द्रमा के उदय से संपूर्ण वातावरण चंद्रिका स्नात हो गया है। उसका अमृत पृथ्वी के अधरों को सींच कर संजीवन प्रदान कर रहा है। यह वाच्यार्थ है जो अधिक चमत्कारपूर्ण नहीं है। व्यंग्यार्थ है अकबर जैसे मोगल शासक की उदारता से भारतीय वातावरण में सुख-शान्ति का प्रसार होना और हिन्दू समाज पुनर्जीवन पाकर सुखोपभोग में लीन होना जो अधिक चमत्कारपूर्ण है। अतः यहां रूपकातिशयोक्ति अलंकार ध्वनि है।

तुलसीदास-भाषा-शैली

तुलसीदास छायावादी शैली का अंतर्मुखी खण्डकाव्य है। अतः छायावादी शैली की विशेषताएं तो इसमें दृष्टव्य हैं ही किन्तु चिन्तन पक्ष की प्रधानता होने के कारण इसकी भाषा-शैली में निजी वैशिष्ट्य है जो इसे सामान्य छायावादी शैली से भिन्न कोटि में ला देता है। निराला ओज और पौरुष के कवि हैं। उनका यह

१-२: तुलसीदासः छं० सं० १८, ८।

रूप तुलसीदास में भी दिखाई देता है । उनकी भाषा में एक अद्भुत शक्ति है ।

संस्कृत की तत्सम शब्दावली का इसमें प्राधान्य है । ओज उत्पन्न करने के लिए कवि ने सामासिक और सन्धिज पदों का व्यवहार विशेष रूप से किया है -

भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे- तमस्तूर्य दिङ-मंडल
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते है मुसलमान,
है ऊर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल[1]

किन्तु जहां पारिवारिक वार्तालाप या कार्य-व्यापार के चित्र कवि ने दिए हैं वहां भाषा अत्यन्त व्यावहारिक,सरल और घरेलू बोलचाल की हैः-

लेते सौदा जब खड़े हाट,
तुलसी के मन आया उचाट
सोचा अबके किस घाट उतारे इनको,
जब देखों, जब द्वार पर खड़े
उधार लाए हम, चले बड़े !
दे दिया दान तो अड़े पड़े अब किनको[2] ?

इस प्रकार भावानुकूल भाषा-परिवर्तित होती चलती है ।

तुलसीदास के शब्द प्रयोग की विशेषता बताते हुए श्री विशंभरनाथ उपाध्याय ने लिखा है कि उनमे "अर्थ और ध्वनि दोनों का विवास है, कवि चयन शक्ति के बल पर, परिस्थिति के अनुसार शब्द सामंजस्य में ध्वनन शक्ति भी उत्पन्न करता है और अर्थ निर्वाह की भी अवहेलना नहीं करता[3]" उपर्युक्त (छं० १) इसका उदाहरण है ।

तुलसीदास-अलंकार

"तुलसीदास" का कवि अलंकार या वाह्य-साज-सज्जा का कवि नहीं है वह भावों और विचारों के उदात्त स्वरुप की व्याख्याता है । अतः अलंकारों की योजना काव्य की वाह्य-चमक-दमकउसकी रचनाओं में नहीं मिलती । फिर भी अपने

१-२ : तुलसीदासः छं० सं० १, ६९ ।
३- निरालाःकृतियां और कलाः विशंभरनाथ उपाध्याय, पृ० सं० १७३ ।

चित्रों को स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त करने के लिए कवि ने सादृश्य मूलक अलंकारों का प्रचुर प्रयोग किया है । लम्बे लम्बे सांग रूपकों , उपमाओं आदि की भरमार है । मुस्लिम संस्कृति के बढ़ते हुए वेग और भारत के सांस्कृतिक ह्रास के चित्र रूपकों के सहारे कवि ने बड़ी सफलता के साथ चित्रित किए हैं । ग्रंथ के आरंभ में ही भारत की संस्कृति के ह्रास को संध्या के रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है जो कई छंदों तक चलता है । केवल एक उदाहरण पर्याप्त होगा-

मोगल-द ल बल के जलद-यान,
दर्पित मद उन्मद-नद पठान
हैं बहा रहे दिग्देश ज्ञान, शर-खरतर
छाया ऊपर घन-अन्धकार-
टूटता बज्र दह दुर्निवार,
नीचे प्लावन की प्रलय-धार, ध्वनि हर-हर[१] ।

उपमा अलंकारों में प्रयुक्त उपमान प्रायः नये और भावोत्कर्ष में सहायक हैं । कवि को चित्रकूट की प्रकृति की भाषा कुहरे की कुंडली सी जान पड़ी ।

वह भाषा-छिपती छबि सुन्दर
कुछ खिलती आभा में रंगकर,
वह भाव कुरल-कुहरे-सा भर कर आया[२] ।

उपर्युक्त उपमा प्रभाव-साम्य पर आधारित है । कुहरे से अस्पष्टता का प्रभाव हमारे मन पर पड़ता है । प्रकृति की भाषा भी वैसी ही अस्पष्ट थी । एक भाव के लिए अनेक उपमानों का समावेश भी हुआ है किन्तु वे भावाभिव्यक्ति की पूर्णता के द्योतक हैं, पांडित्य प्रदर्शन के लिए नहीं आए-

रिपु के समक्ष जो था प्रचण्ड
आतप ज्यों तम पर करोद्दंड - उपमा
निश्चल अब वही बुन्देलखण्ड, आभागत
निःशेष सुरभि, कुरबस-समान - उपमा
संलग्न वृन्त पर, चिन्त्य प्राण
बीता उत्सव ज्यों चिन्हम्लान, छाया श्लथ[३]-उदा०

१- तुलसीदास छं० सं० १
२-३ वही छं सं० १४

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध है कि तुलसीदास में अलंकार जहां भी आए हैं वहां वे काव्योत्कर्ष में सहायक हुए हैं ।

छंद-योजना-तुलसीदास

तुलसीदास- आद्यन्त एक ही छंद का व्यवहार हुआ है । इसका निर्माण कवि ने स्वयं किया है । इसमें तीसरे और छठे चरण की २२ मात्राएं चौपाई में समप्रवाह "षष्ठक" जोड़ने से बनी है । चौपाई के दो चरण और २२ मात्राओं के चरण के योग से छन्द का आधा भाग बना है । इस प्रकार के दो खंडों से पूरे छन्द का निर्माण हुआ है । साथ ही १६ मात्राओं के चरणों का अन्त्यानुप्रास और १६ मात्राओं के बाद पूर्ण चरण से अन्तरन्त्यानुप्रास मिलता है ।

अध्याय ११

नहुष (रचनाकाल १९४० ई०)

यह मैथिलीशरण जी का एक उत्कृष्ट खण्डकाव्य है। पंचवटी में उन्होंने खण्ड-काव्य के शिल्प में जिस नवीन मोड़ की सूचना दी थी उसका पूर्ण विकास "नहुष" में दिखाई पड़ा।

रचना-शिल्प- नहुष में "नहुष"के स्वर्ग-भ्रष्ट होने की महाभारतीय कथा को आधार बनाया गया है। इसका कथानक घटनात्मक न होकर भावात्मक अधिक है। पात्रों की मानसिक अवस्थाओं और अंतर्वृत्तियों का परिचय देते हुए कवि कथा के सूत्रों को जोड़ता जाता है। संवाद एक ओर पात्रों के शील की व्यंजना करते हैं तो दूसरी ओर कथा के प्रवाह को अग्रसर करते हैं। इसके साथ साथ युग की समस्याओं का विश्लेषण भी इनके माध्यम से हुआ है। नारद, शची, नारद-नहुष, उर्वशी-नहुष, देवदूती-शची, देवदूत-गुरु तथा नहुष-सप्तर्षि आदि के संवादों के सहारे ही कथा का ढांचा निर्मित हुआ है।

नहुष के कथानक में यद्यपि कवि स्वच्छन्द-प्रवृत्ति का परिचय देता है तथापि शास्त्रीय मान्यताओं की नितान्त अवहेलना नहीं करता। प्रारम्भ में मंगलाचरण है जिसमें राम-कृपा को पाने की अभिलाषा के साथ-साथ मानव के आगे बढ़ने की अदम्य आकांक्षा व्यक्त हुई है। पंचवटी में मंगलाचरण की प्रणाली कवि ने पूर्णतया त्याग दी थी, किन्तु कवि का आस्तिक हृदय कदाचित् इसे न सहन कर सका। सर्ग विभाजन की प्रवृत्ति की कथा को शची नहुष आदि खंडाँशों में विभक्त करने में दिखाई पड़ती है। इन खंडों के अंत में प्रायः आगामी खण्डों की कथा की सूचना दी गई है। शास्त्रोक्त विविध वर्ण्य विषयों का वर्णन भी मिलता है। सुर-लोक, भू-लोक, सुरसरि, सद्यःस्नाता, नन्दन विपिन, मंत्रणा, दूत-दूती, मद्यपान, जल-विहार आदि के वर्णन प्रसंगानुसार नियोजित हुए हैं। प्रबन्ध के वस्तु"नायक" और "रस" तीनों प्रमुख अंगों की कल्पना में नवीनता आ गयी है। वस्तु इतिवृत्तात्मक न रहकर सूक्ष्म मनोगत और गौण हो गई है। घटनाओं की शृंखला के स्थान पर संवादों की शृंखला मिलती है। घटनादि के स्थूल वर्णनों के स्थान पर परिस्थिति का चित्रण प्रमुख हो गया है।

कवि की दृष्टि पात्रों के बाह्य कार्य-कलापों पर न जाकर उनके प्रेरक भावों और आंतरिक उद्वेलनों पर अधिक रहती है। वे अधिक चिन्तनशील हैं। पात्रों का

सामान्यीकरण की प्रवृत्ति इसमें विशेषरूप से दिखाई देती है। मानव दैवी पात्रों को भी मानवीय स्तर पर चित्रित किया गया है। मानवता और मानव-भूमि की प्रतिष्ठा का भाव उनमें प्रधान है। "रस" के विभिन्न अवयवों "विभावानु-भावादि) की योजना परंपरागत शैली में नहीं मिलती। पात्रों के विचारों को अधिक महत्व दिया गया है। उन्हीं के आधार पर उनके शीलादि का परिचय मिलता है जो शास्त्रीयदृष्टि से रस परिपाक में सहायक नहीं कहा जा सकता। भाव"चित्र बुद्धि प्रेरित और युगानुरूप हैं।

इतिवृत्तात्मकता की प्रवृत्ति इस कृति में बिल्कुल नहीं दिखाई पड़ती इसके स्थान पर नाटकीय शैली का प्रभाव अधिक है। उद्धरण चिन्ह युक्त पात्रों के संवाद ही अधिक मिलते हैं। मुख्य कार्य के उत्कर्ष के लिए आवश्यक प्रसंगों का चयन कवि ने किया है। अनावश्यक प्रसंगों की भरती वह नहीं करता। पूर्व-कथा को ग्रंथ आरम्भ करने के पूर्व "पूर्वाभास" शीर्षक देकर स्पष्ट कर दिया गया है। एकांकी नाटकों की इस परंपरा को कवि ने खण्डकाव्य के लिए उपयुक्त समझ कर ग्रहण कर लिया है।

वस्तु-विवेचननहुष में "नहुष" के स्वर्ग-भ्रष्ट होने की परिस्थितियों का चित्रण हुआ है। इन्द्रत्व पाने की परिस्थिति काव्य का वर्ण्य नहीं है। इन्द्रत्व की प्राप्ति के पश्चात् उसकी भाव-धारा किस प्रकार परिवर्तित होकर उसे पतन की ओर ले जाती है- यही काव्य का विषय है। केवल उन्हीं परिस्थितियों को चित्रित किया गया है जो पथ"भ्रष्ट होने की घटना से जुड़ी हुई है।

नहुष की कथा महाभारत के उद्योग पर्व अध्याय ११,१२ और १७ से ली गई है। उसमें मद्रराज शल्य युधिष्ठिर को कष्ट सहिष्णुता का उपदेश देते हुए नहुष की कथा दृष्टान्त रूप में कहते हैं।

प्रस्तुत कृति में कथा का सूत्र महाभारत के उपर्युक्त अंश से गृहीत हुआ है किन्तु कथानक को विकसित करने में कवि ने मौलिकता का परिचय दिया है। महाभारत की कथा का उद्देश्य कष्ट-सहिष्णुता की शिक्षा देना है किन्तु प्रस्तुत कृति में इस कथा के द्वारा मानव की महत्ता और उसके असीम बल-पौरुष में आस्था व्यक्त की गई है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने इस कथानक में आमूल परिवर्तन कर दिया है। डा॰ उमाकान्त ने लिखा है-"कवि ने आदर्श रक्षा-हेतु, रोचकता-संवर्द्धनार्थ तथा आख्यान को सुसंगत, विश्वसनीय

तथा बुद्धि सम्मत बनाने के लिए यत्र-तत्र नूतन उदभावनाएं की जिनसे मूल कथानक और भी सज संवर गया है"[1]। नहुष के महाभारत की कथा से भिन्न मौलिक स्थलों का यहां संक्षेप में निर्देश किया जा रहा है ।

महाभारत में नहुष के आचार-परिवर्तन के पीछे कोई कारण नहीं प्रस्तुत किया गया-

"सुदुर्लभं वरं लब्ध्वा प्राप्य राज्यं त्रिविष्टपे
धर्मात्मा सततं भूत्वा कामात्मा समपद्यत[2] ।

किन्तु प्रस्तुत कृति में नहुष के मानसिक परिवर्तन के पीछे मनोवैज्ञानिक कारण प्रस्तुत किये गए हैं[3] । चूंकि देवलोक में व्यवस्था इतनी अच्छी थी कि वहां किसी शासक की आवश्यकता ही नहीं थी । अतः निष्क्रिय देवराज (नहुष) के लिए भोग में लिप्त होना स्वाभाविक ही था ।

महाभारत में इन्द्राणी को प्राप्त करने के लिए नहुष इन्द्र के दुराचरणों का कथन कर शची के मन में इन्द्र के प्रति अश्रद्धा जगाने की चेष्टा करते हैं ।

अथदेवानुवाचेदमिन्द्रं प्रति सुराधिपः ।
अहल्या धर्षितापूर्वभृषि पत्नी यशस्विनी[4] ।

किन्तु प्रस्तुत कृति में इन्द्र के गौरवपूर्ण पद के आदर्श की रक्षा करने के लिए उक्त प्रसंग को त्याग दिया गया है । इसके स्थान पर "इन्द्राणी रहेगी वही इन्द्र जो हो सो सही[5]"का तर्क दिया गया है ।

महाभारत में शची अपनी सतीत्व रक्षा के लिए सूक्ष्मरूपधारी इन्द्र के पास उपाय पूछने जाती है-

गत्वानहुष भेकान्ते ब्रवीहि च सुमध्यमे ।
ऋषियावेन दिव्येन भामुपैहि जगत्पते ।
एवं तववशे प्रीता भविष्यामीति तं वद[6] ।

किन्तु "नहुष" में ऋषियों के प्रति अपने रोष का बदला लेने की भावना से शची स्वयं ऋषियों के द्वारा पालकी उठवाने की युक्ति सोचती है[7] ।

१- मैथिलीशरण गुप्त कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृ० सं० ४
२- महाभारत उद्योग-पर्व, अध्याय ११, श्लोक १०-११
३- देखिए नहुष, उर्वशी-नहुष संवाद पृ० सं० ३१-३७ मुग्ध साहनुष बोला, देख उस स्नेह को तो फिर तुम्हीं तो कुछ काम लो इस देह से ।
४- महाभारत उद्योग पर्व, अध्याय १२, श्लोक ५-६ ।
५- नहुष पृ० सं० ४२
६- महा० उद्योग पर्व, अध्याय १५, श्लोक ३-४ ।
७- नहुष पृ० सं० ५८,५९ ।

इस प्रकार कवि ने परंपरागत कथा में अतिप्राकृत तत्वों को दूर कर उसे तर्क सम्मत रूप दिया है । अतः "नहुष" की मौलिकता असंदिग्ध है ।

चरित्र-चित्रण

प्रस्तुत कृति में चरित्र चित्रण की अभिनयात्मक शैली का ही सहारा लिया गया है । कवि अपनी ओर से पात्रों की विशेषताओं के संबंध में टीका-टिप्पणी नहीं करता । इसमें नहुष गतिशील पात्र है । उसके जीवन का उत्कर्षा-पकर्ष और उसका मानसिक परिवर्तन सफलता के साथ चित्रित किया गया है । स्वर्ग-प्राप्ति के पूर्व उसकी धैर्य-वृति, निस्पृहता आदि गुण उस चरमस्थिति तक पहुंचते हैं जो उसे संदेह "इन्द्रत्व" प्राप्त करा देते हैं । किन्तु स्वर्ग के भोग-विलास में फंसकर वही सदाचारी नहुष अविवेकी, कामी, अहंकारी और क्रोधी बन जाता है । पुनः ठोकर खाकर वह संभलता है और मानवोचित कर्तव्य भावना पुनः उसमें जाग्रत होती है । शची रूढ़ पात्री हैं । उसमें सतीत्व का आदर्श निहित किया गया है । कूटनीति के सहारे वह सप्तर्षियों से बदला भी ले लेती हैं और उनके शाप से नहुष के हठ से अपने सतीत्व को बचाने में भी सफल होती हैं ।

नहुष- इस कृति का मुख्यपात्र है । वह पुरूषार्थ का प्रतीक है । मानव की महत्ता और गौरव को चरमोत्कर्ष पर पहुंचाने वाला उसका व्यक्तित्व अजेय है । सामान्यतः प्रबन्ध काव्यों में नायक का उत्कर्ष दिखाया जाता है और कथा के मुख्य फल की प्राप्ति उसको होती है । किन्तु नहुष में उसके उत्कर्ष में नहीं पतन में कथा का अन्त होता है । यदि नहुष की कथा पर गंभीरता से विचार किया जाय तो ज्ञात होता कि नहुष का पतन यथार्थतः उसका सत्य-पथ पर पदार्पण है । मनुष्य की महानता प्रेय की प्राप्ति में नहीं है वरन "श्रेय" के लिए "प्रेय" के त्याग में है । "इन्द्रत्व" के महान पद को गंवाकर भी चेहरे की मुस्कान फीका न होना नहुष की धीरता, वीरता और अप्रतिहत उन्नताकांक्षा का प्रतीक है । उसका चरित्र सामान्य मानव की कर्तव्य चेतना जगाने में पूर्ण समर्थ है । शापग्रस्त एवं हतन्तेज होने के बाद भी नहुष का वीर-दर्प देखिए-

> "संकट तो संकट, परन्तु यह भय क्या ?
> दूसरा सृजन नहीं मेरा एक लय क्या ?"
>
> \+ + + +

संभला अदम्य मानी खींचकर ढीले अंग-
कुछ नहीं, स्वप्न था सो हो गया भला ही भंग ।
कठिन कठोर सत्य तो भी शिरोधार्य है,
शान्त हो महर्षि, मुझे शाप अंगीकार्य है ।
दुःख में भी राजा मुसकाया पूर्व-दर्प से"[१] ।

मानव का सच्चा धर्म है "आगे बढ़ना" । किन्तु उसे पथभ्रष्ट करने के लिए काम क्रोधादि अनेक विकार सदैव तत्पर रहते हैं । अपनी निस्पृहता, त्याग और धर्म आदि के बल पर जिसने सदेह स्वर्ग जाकर इन्द्रत्व का अलभ्य पद पाया, वही "काम" की प्रेरणा से सामान्य विवेक तक खो बैठा- नहुष स्वयं स्वीकार करता है-

मानता हूं, भूल गया नारद का कहना-
"दैत्यों से बचाये यह भोग धाम रहना।"
आ घुसा असुर हाय । मेरे ही हृदय मे,
मानता हूं आप लज्जा पाप-अविनय में[२] ।

नहुष की मानवीयता की कठोर परीक्षा का यह अवसर था जिसमें तपे हुए कंचन की भांति उसका मनुष्यत्व निखर उठा । उसका अप्रतिहत उत्साह इन पंक्तियों में देखिए -

मानता हूं और सब, हार नहीं मानता,
अपनी अगति नहीं, आज भी मैं जानता ।
आज मेरा मुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी[३] ।

"नहुष" का मोहक गुण है उसका स्वजाति गौरव और स्वभूमि-प्रेम । स्वर्ग जाने के बाद भी वह भूलोक एवं उसके निवासियों के हित-चिन्तन में लीन रहता है । उनके लिए इष्ट वृष्टि और छाया आदि यथेच्छ साधनों को सुलभ कराने के लिए सचेष्ट होता है[४] । वह स्वभाव से स्वार्थी और सुख-लोलुप नहीं है । अपने साथ ही अपने समाज और अपनी मातृभूमि को वह उन्नति के शिखर पर ले जाने को लालायित है-

---

१- नहुष पृ० सं० ६४ (पंचमावृत्ति २००७)
२-३ वही पृ० सं० ६५
४- देखिए नहुष पृ० सं० ३३

चाहे जहां मेरे उठने के लिए ठौर है,
किन्तु लिया आज मैंने भार कुछ और है ।
उठना मुझे ही नहीं एक मात्र रीते हाथ
मेरी देवता भी और ऊंची उठे मेरे साथ[1] ।

फिर भी मानव होने के नाते उसमें दुर्बलताएं होना स्वाभाविक है । स्वर्ग के भोग विलासमय वातावरण में नहुष की कामलिप्सा प्रदीप्त हो उठती है और शची के अनिन्द्य सौन्दर्य पर वह आसक्त हो जाता है । इसी काम के उद्दाम वेग में उसका विवेक बह जाता है । वह स्वाधिकार-भावना से दृप्त होकर सप्तर्षियों से भी अपनी शिविका उठवाने का अनुचित कार्य करवाता है और तदर्प उचित दण्ड प्राप्त करता है ।

"नहुष" का चरित्र सामान्य मानव जीवन के उत्थान-पतनमय रूप का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करता है और मानव की घोर से घोर विपत्ति की अवस्था में धैर्य धारण करने व महा लक्ष्य की ओर अग्रसर होने का संदेश देता है ।

शची- शची के मानसिक अन्तर्द्वन्द के चित्रण मे कवि ने अधिक सहृदयता दिखाई है । नारी-चरित्रों को उत्कर्ष प्रदान करने और उनके आदर्श की रक्षा में कवि की वृत्तियां अधिक रमती हैं । "नहुष" की भूमिका से विदित होता है कि इसकी रचना, मा श्रीनरोश इन्द्राणी नाम के लघु काव्य की रचना के रूप में हुआ था । जिससे स्पष्ट है कि कवि शची को ही कृति की नायिका (प्रधान पात्री) का पद देना चाहता था ।

शची के चित्रण में कवि ने पर्याप्त सहानुभूति भी दिखाई है । प्रस्तुत रूप में भी "नहुष" का कथा चक्र प्रधानतया उसी के आश्रित है । नहुष की "इन्द्रत्व" प्राप्ति तो "सूक्ष्म" है वह कृति का मुख्य प्रतिपाद्य नहीं हैं । "पतन" ही मुख्य प्रतिपाद्य है जिसके मूल में शची की अस्वीकृति ही उत्तरदायी है । अतः शची को नायिका का पद न देने पर भी उसे केन्द्रीय पात्री मानना ही पड़ेगा । उसे प्रति-नायिका कहना अधिक युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता[2] । क्योंकि "प्रतिनायक" के प्रति सामान्यतः पाठक की सहानुभूति नहीं होनी चाहिए । किन्तु शची की करुणा पूर्ण अवस्था एवं पातिव्रत्य की दृढ़ता के प्रति पाठक की सहानुभूति जाग्रत होती है ।

१- नहुष, पृ० सं० ६६
२- डा० कमलाकान्त पाठक ने शची के संबंध में लिखा है " इस काव्य की न वह प्रधान पात्री है, न नहुष की सहयोगिनी वह प्रतिनायक के स्थान की पूर्ति करती है"- मैथिली शरण गुप्त व्यक्ति और काव्य पृ० ३२८ ।

वस्तुतः "नहुष" की चरित्र-सृष्टि विचित्र है क्योंकि इसके दोनों प्रमुखपात्र हमारी सहानुभूति जगाते हैं ।

स्वर्ग की अधीश्वरी शची का चरित्र भू-लोक के ही नारी आदर्श पर प्रतिष्ठित है । पति के पराभव और उसके प्रायश्चित हेतु जल-समाधि ग्रहण करने पर उसका दैन्य कितना कारुणिक है-

क्या थी, अब कौन हूं, कहां थी, अब मैं कहां,
क्या न था, परन्तु अब मेरा क्या रहा यहां ?
आज मैं विदेशिनी हूं अपने ही देश में,
बन्दिनी-सी आप निज निर्मम निवेश में[1]।

पातिव्रत्य का आदर्श प्रतिष्ठित कर कवि ने उसे लोक सामान्य नारी पात्रों की कोटि में ला दिया है । देवदूती से नहुष का प्रणय -सन्देश पाकर शची के सामने एक विचित्र स्थिति आ जाती है । वह कहती है:-

सौंपा धन-धाम तुम्हें और गुण-कर्म भी,
रख न सकेंगी हम अन्त में क्या धर्म भी[2]।

शची में कवि ने अपने अन्य नारी पात्रों की अपेक्षा अधिक क्षमता, शक्ति और साहस संचित किया है । दासता व पराधीनता का जीवन उसे असह्य है -

मेरी यह दिव्य धरा आज पराधीना है
इन्द्राणी अभागिनी है, देवेश्वरी दीना है[3]।

वह विदेशी "नहुष" को शासक के रूप में अंगीकार नहीं करती । उसके प्रति वह शंकित रहती है । "नहुष" के शासक चुने जाने पर सखी द्वारा संतोष व्यक्त करते ही वह कह उठती है-

"नहीं, किन्तु पद में सदैव एक मद है,
सीमा लांघ जाता है उमड़ता जो नद है,
निश्चय है कब क्या किसी के मन का कहीं,
शंकित हो मेरा मन, आतंकित है यहीं[4]।

यही नहीं इस संकट की स्थिति का निवारण करने के लिए उसका वीरत्व और आत्मतेज भी उद्दीप्त हो उठता है -

---

१- नहुष, पृ० सं० १७(नवम् संस्करण) ।
२- वही, पृ० सं० ४९ ।
३- वही, पृ० सं० १७ ।
४-वही, पृ० सं० १८ ।

- - - - - - - - - - - - - - |
सम्भव जो होता युद्ध तो मैं आप जूझती ।
और मैं दिखाती, रस मात्र नहीं चखती ।
देखते सभी, क्या शक्ति साहस हूं रखती[1]।

वह पवित्र एवं सात्विक भावों का अधिष्ठात्री होते हुए भी अत्यन्त चतुर, कूटनीतिज्ञ एवं बुद्धि वैभव सम्पन्न है । स्वर्ग के विधि-विधान की निज हित में वह कितनी सुन्दर व्याख्या करती है - उसके स्वर में राजतंत्र के विरुद्ध प्रजा के स्वाधिकार की पुकार है । तत्कालीन ब्रिटिश शासकों के अधिकारों की सीमा की ओर संकेत है -

जैसे धनी मानी गृही जाय तीर्थ-कृत्य को,
और घर-बार सौंप जाय भले भृत्य को,
सौंपा अपने को यह धाम वैसे मानो तुम,
थाती इसे जानो निज धर्म पहिचानो तुम[2]।

देव सभा को अपने विरुद्ध निर्णय करते देख वह समाज की व्यवस्था पर व्यंग्य करती हुई व्यक्ति के अधिकारों की चर्चा करती है -

मैं तो मनः पूत ही को मानती हूं आचरण,
ऐच्छिक विषय मेरा व्यक्ति-वरणावरण ।
सत्ता हां समाज की है, वह जो करे, करे ?
एक अबला का क्या, जिये, जिये, मरे, मरे[3]।

शची अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नारी की प्रतिमा है । वह बाधा और विरोधों के सामने झुकना नहीं जानती । साम, दाम, दण्ड, भेद सब उपाय वह काम में लाती है । देव-सभा के निर्णय से निराश होकर वह अपनी सतीत्व रक्षा के लिए नहुष के सामने नत होने और देश निकाले का दंड मांगने को भी तत्पर होती है[4] और अंततोगत्वा वह "कूटनीति" का सहारा लेती है । "सप्तर्षियों" के द्वारा चालित शिविका पर नहुष के नर रूप में आने का प्रस्ताव रखकर वह एक ओर ऋषियों से बदला लेती है[5]। दूसरी ओर युक्ति पूर्वक "नहुष" को

१- नहुष, पृ० सं०१९ । २-वही, पृ० सं० ४९ ।
३-५: वही, पृ० सं० ५०, ५८, ५८-५९ ।

स्वर्ग-भ्रष्ट कर अपनी रक्षा करती है। प्रो० धर्मेन्द्र ने लिखा है "कवि को अपनी स्त्री पात्रियों के आदर्श के प्रतिपालन के लिए पक्षपात सा है, अतः यहां भी पद और प्रेम के बीच जो द्वन्द्व मचा था उस पर शची को विजयिनी बनाया गया है[1]।

शची में पातिव्रत्य, देश-भक्ति, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, जैसे आदर्श गुणों के साथ साथ वीरता, साहस, बुद्धिमत्ता एवं चिन्तनशीलता आदि गुणों को प्रतिष्ठित किया गया है।

शिवि का यात्रा और स्वर्ग-पतन वर्णन

प्रस्तुत कृति का सबसे महत्वपूर्ण स्थल नहुष का स्वर्ग-भ्रष्ट होना है जिनका निर्वाह कवि ने बड़े कौशल से किया है। "काम" के वशीभूत होकर मानव का विवेक नष्ट हो जाता है। "नहुष" की इस अवस्था का चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक एवं यथार्थ है। शची के अनौचित्यपूर्ण प्रस्ताव की व्याख्या नहुष किस प्रकार करता है-

"ऋषियों से?" कोई पूर्व वैर उन्हें लेना है,
और नया वाहन-विनोद--" मुझे देना है?[2]"

"कामान्ध" नहुष शची की चाल को समझने में असमर्थ रहता है। वह समझता है, इस व्यवस्था के द्वारा शची उसे अश्रुत पूर्व वाहन का आनन्द प्रदान कराने को उत्सुक है और ऋषियों से वह प्राचीन वैर का बदला लेना चाहती है। सचमुच कामातुर व्यक्ति अनिष्टागम को भी इष्ट मानकर अपने आंतरिक सुख-प्रवाह को अविच्छिन्न रखता है।

नहुष इसी अविवेकपूर्ण स्थिति में ऋषियों द्वारा शिविका उठवाने में कोई अनौचित्य नहीं देखता। ऋषियों को दिए गए अपने इस आदेश का औचित्य वह मन ही मन अनेक युक्तियों से सिद्ध कर लेता है। वह यह नहीं समझ पाता कि जिन ऋषियों के बल पर वह आज सदेह स्वर्ग में आकर इन्द्रत्व का अधिकारी बना है, उन्हीं के शाप से वह तेज-भ्रष्ट होकर रसातल में भी पहुंच सकता है। ऋषिगण नवीन देवराज की आज्ञा का उल्लंघन न कर शिविका उठाने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं।

१- गुप्त जी के काव्य की कारुण्य धारा: धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, पृ० सं० ९८।
२- नहुष, पृ० सं० ६०।

ऋषियों को शिविका ले जाने का कार्य करते देख शिविका उठाने वाले पेशेवर कहारों की प्रतिक्रिया व्यक्त करने में गुप्त जी ने सूक्ष्म दृष्टि का परिचय दिया है । इन प्रतिक्रियाओं में आधुनिक श्रमिक वर्ग की मनोवृत्ति की झलक भी मिल जाती है । प्रतियोगिता के इस युग में अपने पेशे को दूसरों द्वारा अपनाते देख उन्हें ईर्ष्या होना स्वाभाविक है-

> सच्चे भार धारियों को हो गया भृकुटि-भंग-
> आज कुछ होगा, सही अच्छे नहीं रंग-ढंग ।
> पालकी उठाना कुछ संहिता बनाना है?
> या कहीं निमन्त्रण में जाके जीम आना है[1]?

ऋषि चालित यान में कामोन्मत्त नहुष चलता है । किन्तु तपः क्षीण ऋषि क्षिप्त गति से अग्रसर होने में असमर्थ रहते हैं- नहुष आतुर होकर उन्हें धिक्कारता है-

> "बस क्या यही है बस, बैठ विधियाँ गढ़ो ?
> अश्व से अड़ो न अरे, कुछ तो बढ़ो, बढ़ो[2]।"

इतना ही नहीं, कन्धे बदलने के लिए जब ऋषि गण विराम लेते हैं तो आतुरता वश नहुष खीजकर पैर पटकता है जो एक ऋषि को लग जाता है । बस, ऋषियों की सहनशीलता की सीमा आ जाती है । क्रोध में आकर सप्तर्षि उसे सर्प बनकर पतित होने का शाप देते हैं । इस समय ऋषियों के क्रोध व नहुष की स्थिति का परिवर्तन कवि ने बड़े कौशल से स्पष्ट किया है[3]। वह हतप्रभ होकर पालकी की नाल का सहारा लेकर नत-वदन हो जाता है । उसका स्वप्न भंग होता है और विवेक जाग्रत होता है । वह अपने कुकृत्य पर पश्चाताप करता है । किन्तु वह पराजय नहीं स्वीकार करता और पुनः अपने कर्म के बल पर ऊँचे उठने का दृढ़ संकल्प व्यक्त करता है-

> आज मेरा भुक्तोज्झित हो गया है स्वर्ग भी,
> लेके दिखा दूंगा कल मैं ही अपवर्ग भी[4]।

<u>नहुष का स्वर्ग-भोगः</u>- स्वर्ग भोग के अंतर्गत देव बालाओं के नृत्य-गीत, जल-क्रीड़ा, उद्यानोत्सव, सुरापान आदि के मादक चित्र मिलते हैं । नहुष के स्वर्ग-भोग में विलास रत व्यक्ति के मनोविज्ञान का परिचय सुन्दर है-

---

१-४: नहुषः पृ० सं० ६२, ६२, ६३-६४, ६५ ।

भूत गया, देखेंगे भविष्य जब आयगा,
ले लें वर्तमान अभी वह भी तो आयगा,
पीछे कुछ भीहो, स्वाद चाहिये ही खाने में,
अच्छी लगती है खुजली भी खुजलाने में[1]।

भोगी व्यक्ति भूत-भविष्य की चिन्ता नहीं करता वह अपने वर्तमान का ही जी भर कर उपभोग करना चाहता है। फिर अभावग्रस्त व्यक्ति को एकबार जी यदि भोगों की खुली छूट मिल जाय तो उसकी दशा भी ऐसी ही होती है-

आया यह कौन पंछी नन्दन विपिन में,
लेता जो विराम न तो रात में न दिन मे।
फल सुरपुर के सभी जो लिए लेता है।
जूठे कर किंवा और मीठे किये देता है[2]।

भोगादिक में व्यक्ति जितना ही अधिक प्रवृत्त होता है उसकी भोगतृष्णा शान्त न होकर, उतनी ही अधिक बढ़ती है -

सेवन से और और बढ़ते विषय हैं,
अर्थ जितने हैं सब काम में ही लय हैं,
एक बार पीकर प्रमत्त हुआ जो जहां,
सुध फिर अपनी-पराई उसको कहां[3]?

नहुष के "स्वर्गभोग" में कवि की कला का निखरा हुआ स्वरूप दिखाई देता है। इस वर्णन में कहीं भी अश्लीलता या कुरुचि की झलक नहीं मिलती। समस्त व्यापार पात्रों और विषयों की मनोवैज्ञानिक विशिष्टताओं के अनुकूल चित्रित हुए हैं जिनमे शालीनता है। वे स्थूल न होकर सूक्ष्म और सांकेतिक हैं। शारीरिक व्यापारों व चेष्टाओं पर कवि की दृष्टि उतनी नहीं रहती जितनी मानसिक अवस्थाओं व प्रवृत्तियों के उद्घाटन पर शारीरिक वर्णन जहां हुए भी हैं वहां कुछ सूक्ष्म रेखाओं के सहारे ही पूर्ण चित्रों का उद्घाटन किया गया है-एक उदाहरण-

नेत्र ही भरे थे नर-देव के नमद से,
होती थी प्रकट एक झूम पद पद से,

१-३: नहुष: पृ० सं० ३९, ३८, ३९।

उ ऊपर से नीचे तक मत्तमान थी कहां,

ऐरावत से भी दर्शनीय वह था वहां[1]।

इस वर्णन से मदमत्त शराबी का पूर्ण चित्र आंखों में झूलने लगता है ।

स्वर्गः- स्वर्ग का प्राकृतिक वैभव पृथ्वी के प्रकृति वैभव का ही उन्नत एवं उत्कृष्ट तर रूप है । स्वतंत्र रूप से स्वर्ग के पदार्थों व दृश्यों का विस्तृत वर्णन कवि नहीं करता वरन् संक्षेप में पृथ्वी के साथ सापेक्षिक वैशिष्ट्य मात्र दिखाता है । स्वर्ग की अलौकिकता का चमत्कारपूर्ण वर्णन इसमें नहीं मिलता । प्राचीन मान्यताओं के अनुकूल कवि स्वर्ग को अलभ्य नहीं मानता । "पृथ्वी ही स्वर्ग बन सकती है, यदि इसके अभावों को हम अपने पुरुषार्थ से मिटा दें । स्वर्ग के वर्णन में जलवायु, गंध, पत्र-पुष्पादि का वैशिष्ट्य प्रदर्शित कर कवि वहां के शान्त,कान्त वातावरण का चित्रण ही करता है जो शची के मनस्ताप को व्यंजित करने के लिए पृष्ठभूमि का भी कार्य करता है[2]।

भू-लोकः-नहुष नारद के साथ वार्तालाप में भारत-भूमि की प्रशस्ति गाता है । पृथ्वी स्वर्ग की अपेक्षा किसी दृष्टि से हीन नहीं है उसके रूप-वैभव में कितना सम्मोहन है-

मेरी भूमि तो है पुण्य भूमि वह भारती,

सौ नक्षत्र-लोक करें आके आप आरती ।

नित्य नये अंकुर असंख्य वहां फूटते,

फूल झड़ते हैं, फल पकते हैं, टूटते[3]।

कवि की दृष्टि पृथ्वी के प्राकृतिक साधनों और पोषक तत्वों पर विशेष रूप से जाती है । पृथ्वी के जीवन में जो त्रुटियां, जो अभाव हैं, उनमें भी कवि को विशिष्ट सौन्दर्य के दर्शन होते हैं । पृथ्वी पर दुःख है, किन्तु वह सुख की सच्ची अनुभूति कराने वाला भी तो है । मृत्यु और परिवर्तन है, तो जन्म और नूतनता का उल्लास भी है । स्वर्ग की स्थिरता मानव के लिए स्पृहणीय नहीं हो सकती । स्वर्ग तो मानव की उन्नति के मार्ग की एक बाधा या विराम है[4]। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से इस पृथ्वी को स्वर्ग से भी अधिक समृद्ध कर सकता है । उर्वशी के स्वर में कवि कहता है:-

---

१-नहुष, पृ०सं० ४० । २-४: वही, पृ० सं० १५, १७, १७-१८ ।

स्वर्ग या नरक तो निवासी ही बनाता है,

एक ही समीर उन दोनों को जनाता है[1]।

सुख और वैभव यदि बिना प्रयास मिले तो मनुष्य अकर्मण्य बन जाय । जीवन का सौरस्य नष्ट हो जाय । इसीलिए सृष्टा ने भोग की समस्त सामग्री पृथ्वी के गर्भ में सुरक्षित कर दी है । मनुष्य अपने बुद्धि-बल और श्रम से अपने सुख का संग्रह कर सकता है[2]।

नारी-रूप

नहुष में "शची" का सद्यःस्नान रूप "स्वर्ग भोग" खंड के अंतर्गत वर्णित हुआ है । यह वर्णन संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त प्रभावशाली है । इसमें परंपरागत पद्धति को न अपनाकर कवि ने नवीन शैली का प्रयोग किया है । रूढ़ उपमानों के स्थान पर नवीन व अनुभूत उपमानों की योजना और सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर यथार्थ चित्रों की सर्जना कर कवि ने इसे अत्यन्त आकर्षक बना दिया है । सुरसरि से निकली हुई शची की छवि का यह चित्र देखिए-

एक ओर पर्त सा त्वचा का आर्द्र पट था,

फूट-फूट रूप दूने वेग से प्रकट था ।

तो भी ढके अंग घने दीर्घ कच-भार से,

सूक्ष्म थी झलक किन्तु तीक्ष्ण असि धार से[3]।

शची के जल से बाहर आने की छवि का बिम्ब ग्रहण कराने में कवि ने विराट् उपमा संजोयी है । सौन्दर्य के समवेत प्रभाव की व्यंजना प्रथम दो पंक्तियों में अति सूक्ष्म है-

एक घटना सी घटी सुषमा की सृष्टि में,

अद्भुत यथार्थता थी कल्पना की दृष्टि में,

निकली नई-सी यह वारि से वसुन्धरा,

वर तो वही है बस, इसने जिसे वरा[4]।

निम्नांकित पंक्तियां शची के अंगों की कान्ति, गुराई एवं पवित्रता को व्यंजित करती हैं । वह इतनी निर्मल है कि उसकी देह ने मानों गंगाजल को ही धो

१-४: नहुष: पृ० सं० १६, ३५, ४४, ४१ ।

दिया है। गंगा का जल जो चांदी के कणों से युक्त था अब सोने के कणों से भी युक्त हो गया है- जल की महत्ता ही शची के स्नान से बढ़ी है-

देह धुली उसकी या गंगाजल ही धुला,
चांदी धुलती थी जहां, सोना भी वहां धुला[1]।

रस और भाव-व्यंजना

नहुष में शास्त्रीय रस-दृष्टि का अभाव सा है। नहुष को कथा का नायक मानने पर उसमें "रति" भाव के साथ हमारा तादात्म्य होता है किन्तु उसका रति-भाव "स्थायी" नहीं बन पाता। एक पक्षीय होने के कारण उसमें परिपक्वता नहीं आती। "नहुष" के रति भाव की व्यंजना इन पंक्तियों में देखिए:-

देखता ही राजा रहा सुध-बुध भी बही,
ओझल हुई भी वह दीखती सी ही रही
रूपरानी! कंचुकी सी स्थिति नरनाह की।
जान पड़ी बैरिनें सी अप्सराएं साथ की[2]।

इसी प्रकार शची के शोक-भाव की व्यंजना रस कोटि तक नहीं पहुंच पाती। शोक के साथ साथ उत्साह आदि के विरोधी रसों के आगमन से उसमें विक्षेप होता है। उसके शोक और दैन्य भाव का एक चित्र यहां प्रस्तुत किया जाता है -

आज मैं विदेशिनी हूं अपने ही देश में
बन्दिनी सी आप निज निर्मम निवेश में

+ + +

हा! दुःस्वप्न ही मैं इसे मान नहीं सकती
कैसे समझाऊं मन जान नहीं सकती[3]।

कथा के अंत में नहुष-पतन के प्रसंग में करुण रस का परिपाक नहीं होता। नहुष का पतन उसके अनुचित व्यवहार का दण्ड है अतः उसके प्रति उस अवसर पर हमारी सहानुभूति नहीं जगती। नहुष में ध्वनि सिद्धान्त का विशेष प्रभाव है। असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भाव-संधि, भाव-शबलता आदि के उदाहरण मिलते हैं।

१- नहुष, पृ० सं०१४, । २-३: वही, ११, १७ ।

"नहुष" का शिविका-वाहक ऋषियों के प्रति क्रोध अनौचित्यपूर्ण है । वे पूज्य हैं । शिविका ढोने की शक्ति भी उनमें नहीं है, अतः मंदगति से बढ़ना और बार-बार कंधे बदलने के लिए रुकना स्वाभाविक है । वे क्रोध के उपयुक्त आलम्बन नहीं हैं। अतः निम्नांकित पंक्तियों में रसाभास है-

बार-बार कंधे फेरने को ऋषि अटके
आतुर हो राजा ने सरोष पैर पटके[1]।

प्रधानता से व्यंजित व्यभिचारी भाव को आचार्यों ने भावाभास के रूप में स्वीकृत किया है । निम्नांकित पंक्तियों में नहुष का "वितर्क" व्यभिचारी प्रधानता से व्यंजित हुआ है-

करती मनोरथ कहाँ हैं स्त्रियाँ मन का
आप पूर्ण करने में पौरुष है जन का
ऋषि-मुनियों से भी असंभव नहीं है दोष,
दोषियों के ऊपर उचित ही है राज रोष[2]।

चिन्ता और गर्व दो समान चमत्कार वाले भावों की एक साथ योजना देखिए । यह भाव संधि के अंतर्गत आयगा-

होकर भी स्वर्गेश्वरी घोर-चिन्ता-चर्विता,
हो उठी प्रदीप्त आत्म-गौरव से गर्विता[3]।

भाव-शांति में मन में उठा हुआ भाव दूसरे भाव के आगमन से शान्त हो जाता है नीचे के उदाहरण में पहले शची के उत्साह भाव की व्यंजना होती है किन्तु द्वितीय पंक्ति में वह शान्त हो जाता है-

जाकर नहुष से अकेले ही अडूंगी मैं,
लड़ न सकूंगी तो पदों पर पड़ूंगी मैं[4]।

इसी प्रकार एक ही साथ अनेक भावों की योजना से भाव-शबलता के चित्र भी निर्मित हुए हैं:-

कोई युक्ति हाय ! मुझे आज नहीं सूझती- दैन्य
संभव जो होता युद्ध तो मैं आज जूझती - तर्क
और मैं दिखाती रस मात्र नहीं चखती - गर्व
देखते सभी या शक्ति साहस हूँ रखती[5] - उत्साह

१-५: नहुष, पृ०सं०६३, ६१, १०, १८, १९ ।

असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्य ध्वनि के उदाहरणों की भी नहुष में कमी नहीं है। इसमें ~~वस्तु~~ वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि दो प्रमुख रूप होते है। निम्नांकित छंद में शची का अतिशय रूप व्यंग्य है, अभिधार्थ में उतना चमत्कार नहीं है-

एक ओर पर्ण-सा त्वचा का आर्द्र पट था।

फट-फट रूप दूने वेग से प्रकट था।

तो भी ढके अंग घने दीर्घ कच भार से,

सूक्ष्म थी झलक, किन्तु तीक्ष्ण असिधार से[1]।

अलंकार -ध्वनि के निम्नांकित उदाहरण में व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है-

देह धुली उसकी या गंगाजल ही धुला।

चांदी धुलती थी जहां, सोना भी वहां धुला[2]।

यहां गंगाजल की अपेक्षा शची की देह की उत्कृष्टता ध्वनित हुई है।

<u>रचना का उद्देश्य-</u> नहुष काव्य में मानव के उच्च गुणों की प्रतिष्ठा और उनका महत्व अंकित करना ही कवि का लक्ष्य ज्ञात होता है। कवि त्याग, सहिष्णुता, उदारता, परोपकार आदि उच्च मानवीय आदर्शों को स्वर्ग की वस्तुओं से भी बढ़कर समझता है। नहुष अपने इन्हीं मानवीय गुणों के बल पर सदेह स्वर्ग जाने का ही आदर्श नहीं प्रस्तुत करता, वरन् अलभ्य "इन्द्रत्व" का भी अधिकारी बन जाता है। वस्तुतः कवि का तात्पर्य यह है कि मानवीय गुणों का उच्चतम विकास ही मनुष्य को दिव्यरूप प्रदान करता है। किन्तु अन्याय, अत्याचार एवं दुर्गुणों को प्रश्रय देने से मनुष्य क्या देवता भी दण्ड के पात्र होते हैं। देवाधिदेव इन्द्र को भी "ब्रह्महत्या" का प्रायश्चित करने के लिए जल-समाधि लेनी पड़ी। "नहुष" जो सत्कर्मों के बल पर "इन्द्रत्व" पाता है वहीं कुकृत्यों का दण्ड पाकर स्वर्गभ्रष्ट हो पाताल में सर्प योनि धारण करता है। वस्तुतः कवि ने कर्म के आश्रय से नरत्व और देवत्व को समीप लाने की चेष्टा की है। उच्च कर्मों और सद्गुणों से ही मानव देवता बन जाता है और उनके अभाव में देवता भी दानव के तुल्य हो जाते हैं।

स्वर्ग के देश-काल में ही कवि कथा का विकास करता है किन्तु वहां की राजनीतिक, सामाजिक व्यवस्था इस लोक की आदर्श व्यवस्था का ही प्रतिरूप है।

१-२: नहुषः पृ० सं० ५१, ५१।

आदर्श राज्य वही होता है जिसमें राजा की आवश्यकता ही न रहे । स्वर्ग का शासन भी इसी प्रकार का है - नहुष कहते हैं-

वस्तुतः यहाँ की प्रजा इतनी विशिष्ट है ।
इसके हितार्थ कोई राजा नहीं इष्ट है[१]।

राजा वहाँ स्वेच्छाचारी नहीं होता वह तो एक प्रतीकमात्र है[२]। वस्तुतः शासन के विधि -विधान का पालन करना राजा के लिए भी अनिवार्य है । देवसभा में विवादपूर्ण प्रश्नों का विचार होता है । वहाँ का शासन नीति और न्याय पर आधारित है उसका संकेत वरुण के कथन से मिलता है-(दे० पृ० ५५-५७) कर्म-फल को वहाँ के विधान में भी मान्यता दी गई है ।

"शची" में भी पातिव्रत्य के लौकिक आदर्श की प्रतिष्ठा की गई है । वह सामान्य लौकिक नारियों की ही भांति पति के जलसमाधि लेने पर व्यथित होती है। उसका आत्म तेज भी सच्ची क्ष पतिव्रता की भांति जागृत होता है । इसकी रक्षा के लिए वह कूटनीति का भी आश्रय लेती है ।

मानव और धरती की प्रतिष्ठा बढ़ाना ही कवि का मूल उद्देश्य ज्ञ ज्ञात होता है ।

भाषा-शैली

"नहुष"गुप्त जी के उत्तर काल की रचना है अतः उसकी भाषा में प्रौढ़ता का दर्शन होता है । इस समय तक खड़ी बोली भाषा की अभिव्यंजना शक्ति समृद्ध हो चुकी थी । नहुष की भाषा में इस समृद्धि का प्रभाव दिखाई पड़ता है । गुप्त जी की भाषा के मूलतत्व -सरलता, स्वच्छता और शुद्धता इसमें भी सुरक्षित हैं ।

डा० कमलाकान्त पाठक ने गुप्त जी की परवर्ती काल(जिसमें वे नहुष को सम्मिलित करते हैं) के संबंध में लिखा है ।"परवर्ती काल की पदावली में संयम की प्रवृत्ति बढ़ गई है, अतएव उसमें वाग्वैभव है और प्रसाधन की न्यूनता दृष्टिगत होती है । कवि भाव-गाम्भीर्य और दार्शनिक मंतव्यों को स्पष्ट, सरल और साधु पदावली में प्रयुक्त करने लगा है । गुप्त जी ने संश्लिष्ट और समास शैली की अपेक्षा विवरणात्मक व्यास शैली को मुख्यतः व्यवहृत किया है । -----वह मुख्यतः साधु

और सरल तथा स्पष्ट और साभिप्राय है । भावाभिव्यक्ति के कार्य में वह प्रायः सक्षम और सार्थक दिखाई पड़ती है[1]।"

पंचवटी की भाषा से इसकी भाषा की तुलना करने पर स्पष्ट विदित होता है कि पंचवटी की भाषा मे जो चंचलता और उछल-कूद थी, वह नहुष की भाषा में नहीं है । नहुष में विचारों की प्रधानता है । उसी के अनुकूल भाषा में गम्भीरता और प्रौढ़ता के भी दर्शन होते हैं । नहुष की भाषा का प्रतिनिधि उदाहरण हम इसे मान सकते है-

व्याधि, जरा, मृत्यु है तो जन्म भी तो है नया,
आया फिर नूतन हो, जीर्ण होके जो गया,
आवश्यक विष की कमी है योग्य मात्रा में,
स्वर्ग भी विराम एक है हमारी यात्रा में[2]।

- - -

१- मैथिलीशरण गुप्तः व्यक्ति और काव्य, पृ० सं० ६७६ ।

२- नहुष, पृ० सं० ९८(पांचवां संस्करण) ।

अध्याय १२

कुणाल (रचना काल १९४२ ई०)

इसकी रचना श्री सोहन लाल द्विवेदी ने समाज के युवकों के चरित्र-निर्माण के उद्देश्य से की थी[१] । "कुणाल" की कथा को लेकर श्री अनूप शर्मा ने सन् १९२६ ई० में "सुनाल" नामक खंडकाव्य की रचना की थी किन्तु वह इतना लोक प्रिय न हो सका । किन्तु सरल एवं प्रसाद गुणमयी शैली के कारण सोहनलाल जी की यह कृति अत्यन्त लोक प्रिय हुई है । ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित उच्च कोटि के खण्ड-काव्य की यह रचना इस युग में ऐतिहासिक खण्डकाव्यों में कही जा सकती है । इसमें ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करते हुए कवि ने कुणाल के आदर्श चरित्र को पूरी सफलता के साथ विकसित किया है ।

प्रबन्ध-शिल्प

"कुणाल" की प्रमुख घटना विमाता तिष्यरक्षिता की कुणाल पर आसक्ति और असफल होने पर उसकी प्रतिक्रिया है । इस घटना के सहारे कवि ने कुणाल की चारित्रिक पवित्रता और मातृभक्ति की उच्च भावना को उद्घाटित किया है । मुख्य घटना को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने कुणाल के प्रारंभिक जीवन का और वातावरण की रूप रेखा प्रस्तुत करने के लिए अशोक के राज्यवैभव एवं पाटलीपुत्र की समृद्धि आदि का वर्णन विस्तार से किया है । इसी प्रकार उपसंहार रूप में कुणाल के राज तिलक और अशोक के सन्यास ग्रहण की घटनाओं को भी इसमें जोडा गया है । १६ खण्डों में विभाजित इस कथानक को देखकर आपातनः इसके महाकाव्य होने का भ्रम होने लगता है । किन्तु कार्य, चरित्र और उद्देश्य आदि की महाकाव्योचित महत्ता इसमें नहीं दिखाई पड़ती ।

एक ही प्रमुख घटना को आधार बनाने के कारण काव्य रूप की दृष्टि से यह एक खण्ड काव्य ही है किन्तु कथानक में संतुलन का अभाव है । कुछ अंशों को कवि ने आवश्यकता से अधिक विस्तार दे दिया है और कुछ आवश्यक अंशों की एकदम उपेक्षा कर दी है । उदाहरण के लिए प्रथम चार सर्ग (पाटलीपुत्र, कुणाल, तारुण्य, अशोक) केवल भूमिका के रूप में नियोजित किए गए हैं जो खण्ड-

काव्य की सीमा को दृष्टि में रखने पर उचित नहीं कहे जा सकते । "चर" के लिए एक अलग खण्ड की योजना अनावश्यक प्रतीत होती है । कवि को तिष्यरक्षिता के अन्याय व उसकी निरंकुशता की व्याख्या करने का अवसर इससे अवश्य मिल गया है किन्तु राजा की ओर से प्रेषित मुहर बंद पत्र[1] के गुप्त रहस्यों का परिज्ञान पत्र वाहक चर को होना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता ।

इसी प्रकार जैसा कि आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी ने लिखा है[2] निर्वासन और प्रत्यागमन के बीच वर्षों का व्यवधान होते हुए भी कवि ने पथ-गीतों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रसंग की अवतारणा नहीं की । वर्षों के इस शून्य को भरने के लिए कोई न कोई चेष्टा अवश्य होनी चाहिए थी ।

आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी की सम्मति में आखों का अर्पण करना नायक का मुख्य कार्य है, निर्वासन नहीं । अतः निर्वासन को अनावश्यक विस्तार न देकर कवि को आँखें अर्पण करने की घटना का वर्णन विस्तार से करना चाहिए था[3] । किन्तु केवल दो पंक्तियों मे कवि ने इसकी सूचना मात्र दे दी है-

क्रूर नियति ने लीं निकाल अंबुज सी आँखें
उड़े न ऊपर प्राण, रह गईं कंपती पाँखें[4]

खण्डकाव्य के लिए आवश्यक "महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का निर्वाह आंशिक रूप से इस कृति में हुआ है । सर्ग विभाजन की प्राचीन परिपाटी का पालन कुछ परिवर्तित रूप में इसमें मिलता है । सर्गों की संख्या न देकर विभागों का नामकरण पात्रों के नाम या मुख्य क्रिया-व्यापारों के व्यंजक शीर्षकों मे हुआ है । शास्त्रीय मान्यता के अनुकूल खण्डकाव्य में ८ से कम सर्ग होने चाहिए, किन्तु यह नियम स्थायी और अनिवार्य नहीं माना जा सकता । इसकी वस्तु इतिहास प्रसिद्ध है । नायक सद्वंश क्षत्रिय और सद्‌गुण सम्पन्न है । इसका अंगीरस शान्त है, करूण और शृंगार अंग रूप में आए हैं । नगर, उपवन, जलाशय, मधुपान, यज्ञ, संध्या, प्रातः, उत्सव, यात्रा, मंत्रणा, संयोग आदि अनेक प्रसंग यथास्थान वर्णित हुए हैं । भावानुकूल छंद परिवर्तन भी इसमें हुआ है । इसका नामकरण नायक के नाम पर हुआ है चतुर्वग फल में से नायक को कार्य (अर्थात् राजसिंहासन या लोक वैभव) की

१- देख प्रधानामात्य दंतमुद्रा से मुद्रित- पत्र खोल अविलम्ब लगा पढ़ने चिंतत चित
कुणाल पृ० सं० ६९ ।
२- कुणाल, भूमिका, पृ० ४
३-४ कुणाल, भूमिका पृ० ४-७२ ।

प्राप्ति होती है ।

भारतीय शास्त्रोक्त लक्षणों के साथ साथ नवीन रचना विधान का भी प्रभाव इस पर पर्याप्त रूप से पड़ा है । कथा-प्रसंगों के बीच-बीच गीत सृष्टि की परम्परा नवयुग की देन है । कुणाल में कुणाल की बालक्रीड़ाओं को गीत के माध्यम से व्यक्त किया गया है । इसके अतिरिक्त कुणाल की निर्वासन अवधि का अन्तराय मिटाने के लिए कवि ने अनेक पथ-गीतों की सृष्टि की है जो परिस्थिति के अनुकूल होने के कारण मार्मिक हैं । पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की प्रवृत्ति भी नवीन युग की परम्परा के अनुकूल है । कुणाल के तिष्यरक्षिता, अनुताप, प्रतिशोध, चर, पथगीत आदि खण्डों में तिष्यरक्षिता, चर और कुणाल दम्पति के मनोविज्ञान का अच्छा परिचय दिया गया है । "रस" निष्पत्ति की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर इस कृति में अधिक बल दिया गया है । प्राचीन रचनाओं में रस-परिपाक पर ही कवि की दृष्टि अधिक रहती थी । इस प्रकार रचना-विधान की दृष्टि से कुणाल में प्राचीन और नवीन का समन्वय हुआ है ।

कुणाल के कथा प्रबंध में कुछ असंगतियां भी हैं । तिष्यरक्षिता का कुणाल के प्रति प्रेम-प्रस्ताव पाटलिपुत्र में होता है किन्तु तक्षशिला में उसके निर्वासन की घटना घटित होती है । दोनों के बीच में कुणाल के पाटलिपुत्र से तक्षशिला गमन की सूचना नहीं दी गयी । प्रबन्ध की पूर्वापर क्रमबद्धता की रक्षा के लिए यह आवश्यक था ।

कुणाल की बाल्यावस्था के चित्र अंकित करते हुए कवि ने लिखा है-

> कहता "मा देको मै छलपल,
>
> घोले पर दिल्ली ओ आया ।

"कुणाल" के समय में "दिल्ली" नगरी का यह नाम नहीं था । अतः इसमें काल संकलन संबंधी त्रुटि है ।

<u>वस्तु-विवेचन-</u> कुणाल की कथावस्तु १६ लघु खण्डों में विभक्त है । जिनका नामकरण पात्र या स्थल के नाम पर अथवा क्रिया-व्यापार आदि के व्यंजक शीर्षकों में हुआ है ।

प्रारंभ के (पाटलिपुत्र, कुणाल, तारुण्य) तीन खंड मुख्य कथा से संबंधित न होकर पृष्ठभूमि निर्मित करते हैं । पाटलिपुत्र में मगध की तत्कालीन राजधानी की भौतिक व सांस्कृतिक समृद्धि का विशद वर्णन किया गया है । "कुणाल" शीर्षक के अन्तर्गत कुणाल के जन्म का हर्षोल्लास एवं उसकी शैशवावस्था की

आकर्षक छवि का वर्णन है । तृतीय सर्ग में कुणाल के तारुण्य विकास को अंकित किया गया है ।

अशोक सर्ग के पूर्वार्द्ध में अशोक के राजकीय वैभव का वर्णन करते हुए उत्तरार्द्ध में एक नाटक की आयोजना होती है जिसमें राजन्यवर्ग के अभिनेता भाग लेते हैं । इसमें कुणाल कामदेव की भूमिका में प्रस्तुत होता है । उसकी मादक छवि को देख विमाता तिष्यरक्षिता उस पर आसक्त हो जाती है । यहीं मुख्य कथा का बीज वपन होता है ।

तिष्यरक्षिता की अतृप्त वासना उद्वेलित होती है । एक दिन वह सोलह शृंगार सजाकर अन्धकारमयी रजनी में कुणाल के शून्य कक्ष में जाकर उससे प्रणय प्रस्ताव कर बैठती है । कुणाल विमाता के इस असंयत प्रस्ताव का श्रद्धावनत होकर प्रतिवाद करता है । यहां कुणाल के चरित्र की परीक्षा होती है ।

तिष्यरक्षिता का नारीत्व प्रतिशोध की अग्नि से प्रज्वलित हो उठता है। उसका आत्माभिमान उसके विवेक को क्षार कर डालता है । उसके हृदय के आलोड़न-विलोड़न का अच्छा परिचय "प्रणय- निवेदन" अनुताप और प्रतिशोध खण्डों में मिलता है । अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए वह युक्ति पूर्वक अशोक से एक सप्ताह के लिए राज्य सत्ता स्वयं ग्रहण कर लेती है । सिंहासनासीन होकर वह तक्षशिला के राज्यपाल को संदेश भेजकर अपराधी कुणाल के दोनों दृग निकाल कर निर्वासित कर देने की राजाज्ञा का पालन करने का निर्देश देती है ।

चर रानी के कूटचक्र से विक्षुब्ध होते हुए भी संदेश लेकर जाता है । तक्षशिला का प्रधानामात्य भी राजाज्ञा को संदेह की दृष्टि से देखता है किन्तु "कुणाल के आग्रह पर वह राजाज्ञा का पालन करता है । कुणाल का कांचना सहित राज्य-त्याग और समस्त प्रजा एवं नागरिकों को क्षोभ,करुणापूर्ण है । कुणाल और कांचना भिक्षा के द्वारा उदर-पूर्ति करते हुए वन-पथ में विचरण करते हैं उनके पथ-गीत कारुणिक होते हुए भी जीवन और जगत के मूल प्रश्नों की ओर इंगित करते हैं । इन पथ-गीतों में कवित्व का उच्चतम स्तर विद्यमान है । युगों बाद ये उद्भ्रान्त पथिक गाते हुए पाटलीपुत्र मे आ पहुंचते हैं । कांचना और कुणाल की प्राचीन स्मृतियां लहरा उठती हैं । अतिथिगृह में प्रभाती गाने पर राजमंदिर में उन्हें बुलाया जाता है । सम्राट् के आग्रह पर भिक्षुक कुणाल अपना परिचय देता है । सभी स स्तंभित रह जाते हैं । मगधपति कुणाल को अंक में लगा लेते हैं । रहस्य ज्ञात होने पर सम्राट क्रोधाभिभूत होकर अपराधिनी रानी का वध करने को प्रस्तुत

होते हैं किन्तु कुणाल राजमाता को क्षमा प्रदान करने की भिक्षा मांगता है । सर्वत्र आनन्द का वातावरण छा जाता है । "कुणाल का राज्याभिषेक कर अशोक काषायग्रहण करते हैं ।

कुणाल के कथानक में कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना नहीं की । कुणाल के अधिकांश प्रसंग इतिहास सम्मत हैं । अशोक की कलिंग विजय[1], विमाता तिष्यरक्षिता का कुणाल पर आसक्त होना, और कुणाल द्वारा उसका प्रतिरोध, तक्षशिला के शासक के रूप में कुणाल की नियुक्ति, रानी का छलपूर्वक कुणाल को अन्धा कर निर्वासित करवाना, कुणाल और कांचना का भटकते हुए पाटलिपुत्र पहुंचना आदि प्रसंग इतिहास से प्रमाणित हैं[2] । किन्तु कुणाल की दृष्टि लौटना, रानी तिष्यरक्षिता को क्षमादान मिलना, कुणाल को एक सिंहासन की प्राप्ति तथा अशोक का "काषाय-ग्रहण" जैसी उत्तरांश की घटनाएं इतिहास से प्रमाणित नहीं हैं । ये प्रसंग कदाचित लोक में चली आती हुई किंवदन्तियों पर आधारित हैं । कुणाल की रचना के पूर्व लिखे गए कुणाल साहित्य "सुनाल, कुणालगीत- आदि में भी कुणाल के नेत्रहीन किए जाने और भटकते हुए पाटलिपुत्र लौटने के प्रसंग मिलते हैं । हां अशोक के काषायग्रहण का उल्लेख कदाचित् पूर्ववर्ती रचनाओं में नहीं है । उत्तरांश के इतिहास से अप्रमाणित ये अंश नायक कुणाल के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करने मे सहायक हैं अतः प्रबन्ध काव्य की आवश्यकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । नेत्रों की दृष्टि लौटने का प्रसंग अस्वाभाविक और अविश्वसनीय है । यह आधुनिक पाठक के गले नहीं उतर सकता । अतः इसको कोई संशोधित रूप देने की आशा आधुनिक युग के कवि से की जा सकती थी, किन्तु कुणाल का कवि ऐसा न कर सका

ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार "तिष्यरक्षिता तथा अन्य षड्यंत्रकारियों को कठोर दण्ड मिला था । अशोक ने रानी तिष्यरक्षिता को आग मे जलाने की आज्ञा प्रदान की थी । कुणाल की आंखे जिस स्थल पर निकाली गयी थी वहां अशोक ने एक स्तूप बनवाया था । कुणाल ने राजाज्ञा को शिरोधार्य कर एक महान आदर्श की स्थापना की थी । उसकी स्मृति में अशोक ने जो स्तूप बनवाया था वह

१- शोभित अशोक सिंहासन में । करके कलिंग जग जीवन में, (कुणाल पृ० ३१)

२- देखिए, सत्यकेतु विद्यालंकारकृत भारत का प्राचीन इतिहास- प्रथम संस्करण, पृ० ४८१ ।

नवीं शताब्दी अर्थात चीनी यात्री ह्वेनसांग के भारत आने के समय तक वर्तमान था[1]। किंतु इन अंशों को कुणाल में परिवर्तित रूप में दिखाया गया है। ये अंश प्रबंध काव्य की दृष्टि से अधिक उपयुक्त भी न थे। अतः हम कह सकते हैं कि कुणाल में ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा करते हुए भी कवि ने उत्तरांश में काव्य दृष्टि को ही प्रमुखता दी है।

चरित्र-चित्रण

कुणाल- कुणाल इस कृति का नायक है। उसके आत्म-संयम व चारित्रिक पवित्रता का आदर्श ही इसमें प्रमुख रूप से चित्रित किया गया है। कुणाल के चरित्र के माध्यम से नैतिकता के उच्च आदर्शों की प्रतिष्ठा करना ही यहां कवि का लक्ष्य है। कुणाल के चरित्र की अन्य विशेषताएं उसके इसी प्रमुख गुण की पोषक हैं। उसकी मातृ-भक्ति पितृ भक्ति राजभक्ति, अनुशासन प्रियता, त्याग, उदारता, कष्ट-सहिष्णुता प्रजावत्सलता एवं अक्रोध आदि गुण उसके उच्च नैतिकता के ही अंग हैं।

अशोक जैसे लोकप्रिय प्रजापालक राजा के राज्य में विद्रोह के तत्वों का नितान्त अभाव था। कुणाल उसी वातावरण मे पोषित राजकुमार था अतः राजाज्ञा का उल्लंघन, भले ही वह उसके हितों के प्रतिकूल और षड्यंत्र पोषित था, उसकी नैतिक-चेतना के विरुद्ध था। इस राजाज्ञा से उत्तेजित होकर कुछ सैनिक कुणाल से इसकी अवज्ञा करने का प्रस्ताव कर बैठते हैं किन्तु कुणाल राजा के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उन्हें उत्तर देता है -

> अब न कभी दुहराना मुख से ऐसी पापमयी यह बात,
> पुण्यशील वे, स्नेहशील वे, न्यायशील वे मुझको ज्ञात[2]।

राजनैतिक क्रांति तो दूर की बात है, पारिवारिक संबंधों को वह कितना पवित्र समझता है- वह कहता है-

> फिर, मेरे भी बन्धु सभी हैं मुझे प्राण से भी प्रिय नित्य,
> वे षड्यन्त्र करें जीवन में यह मिथ्या है बात असत्य[3]

१- देखिए, सत्यकेतु विद्यालंकार कृत भारत का प्राचीन इतिहास प्रथम संस्करण पृ० ४८१।

२- कुणाल पृ० सं० ७९-८०।

३- वही पृ० सं० ८०।

कुणाल का शील यहां "राम" के शील के स्तर पर पहुंचा हुआ दिखाई देता है । वह उत्तम प्रकृति का नायक है । कहीं भी उसके आचार व्यवहार में कोई त्रुटि नहीं दिखाई देती । विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके शील की परीक्षा हुई है किन्तु तप्त कंचन की भांति उसका चरित्र अधिकाधिक निखार पाता रहा है । माता तिष्यरक्षिता उसके रूप यौवन पर आसक्त होकर उससे प्रेम-प्रस्ताव करती है । उसके इस मानसिक असंतुलन पर कुणाल मर्म्माहत हो उठते हैं-

मर्माहत-से थे अब कुणाल श्रद्धानत प्रणत बने अस्थिर ।
"आर्ये । तुम हो जननी मेरी, सोचो तो, क्या कहती हो फिर ?
कैसे यह साहस हुआ तुम्हें, माता, अब राजभवन जाओ,
कुछ पूजन-यजन करो जिससे, हलचल में परम शांति पाओ"[1]

कुणाल के शील की परीक्षा की दूसरी परिस्थिति तब उत्पन्न होती है जब तक्षशिला का प्रधानामात्य कुणाल के हाथ में चर का लाया हुआ पत्र देकर षड्यन्त्र की आशंका व्यक्त करता है, किन्तु कुणाल उस कठोर राजाज्ञा से किंचित भयभीत नहीं होते और प्रधानामात्य को अपना कर्तव्य पालन करने के लिए प्रेरित करते हैं-

ले कुणाल ने पत्र ध्यान से उसको देखा,
मुखमण्डल पर खिंची एक नव स्मित की रेखा,
बोले यह राजाज्ञा है, इसका पालन हो,
इसी प्रकार, कलंक मौर्य का, प्रक्षालन हो[2]।

अपने कुल के कलंक को आत्म-त्याग के द्वारा मिटाने का यह आदर्श कितना ऊंचा है । इसी प्रकार पुनर्मिलन के बाद तिष्यरक्षिता के अपराध पर क्रोधित होकर जब अशोक उसे मृत्यु दण्ड देने पर तुल जाते हैं तो कुणाल के लिए यह असह्य हो उठता है -

पुत्र के हित राजमाता को मिले यह दंड,
कौन होगा और इससे पाप अधिक प्रचंड,
महाराज । प्रथम हमारा शीश कर लो छिन्न,
फिर, जननि का शीश होगा कंठ से विच्छिन्न
या, विनीत भिखारियों को आज दो यह दान
राजमाता कोकरो, या आज क्षमा-प्रदान

१-२ कुणाल पृ० सं० ४६, ७१ ।

अपने विरोधियों और अहितचिन्तकों के लिए भी जिसके हृदय में ममता, उदारता और क्षमाशीलता की धारा बहती हो, वह मानवता का भूषण है। माता के क्रूर कर्म उसके मातृत्व के प्रति कुणाल की श्रद्धा कम नहीं करते। "कुणाल" का चरित्र खण्डकाव्य के नायकत्व की दृष्टि से अत्यन्त सफल है। महाकाव्य के नायक में जो औदात्य होना चाहिए उसकी झलक कुणाल में भी मिलती है, किन्तु उसके चरित्र के विविध पक्षों का व्यापक परिप्रेक्ष्य में उदघाटन नहीं हुआ है। आचार्य नंददुलारे बाजपेयी ने लिखा है "कुणाल का चरित्र महाकाव्य के उपयुक्त धीरोदात्त बनाना कवि को इष्ट नहीं है। वह कुणाल के रि इतना बड़ा बोझ नहीं लादना चाहता। वह केवल उसके मातृ प्रेम संबंधी ऊंचे आदर्श को ही प्रमुख रूप से सामने रखता है। यदि वह अन्य घटनाओं के संयोग से चरित्र को बोझिल बना देता तो उक्त इष्ट की सिद्धि न होती।"[1]

<u>तिष्यरक्षिता</u>- तिष्यरक्षिता कुणाल का दूसरा महत्वपूर्ण चरित्र है। कवि ने मनोविज्ञान की सहायता से उसके आंतरिक उद्वलनों को वाणी दी। मनुष्य के नैतिक व अनैतिक आचरण के लिए व्यक्ति से अधिक उसकी परिस्थितियां उत्तरदायी होती हैं। अपराधी और दोषी भी इसीलिए हमारी सहानुभूति से वंचित नहीं हो सकते। तिष्यरक्षिता की परिस्थितियां भी उसी प्रकार की हैं।

"वह वयस्क अशोक की युवा पत्नी है। वह राजमहिषी है ही अशोक के हृदय साम्राज्य की सम्राज्ञी भी है। भोग विलास की प्रभूत सामग्री महलों में उसे उपलब्ध है। किन्तु उसका नारीत्व अतृप्त है। सपत्नी-पुत्र कुणाल के रूप यौव को देखकर उसकी अतृप्त वासना जाग उठती है। नैतिकता अनैतिकता का विवेक खोकर वह "कुणाल" से प्रेम-प्रस्ताव कर बैठती है किन्तु कुणाल के द्वारा उसके अनुचित प्रस्ताव के ठुकराए जाने पर उसका अधिकार मद उसमें प्रतिशोध की अग्नि प्रज्वलित कर देता है। उसकी नैतिक चेतना भी कुछ क्षणों के लिए उसमें उभरती है।

आह! यह मैंने किया, कितना बड़ा व्याघात
कांचना यदि जान लेगी, क्या न हो उत्पात[2]?

१- कुणाल भूमिका पृ० ५

२- कुणाल पृ० सं० ५०।

किन्तुतः अन्ततः वह प्रतिहिंसा की मूर्ति बनकर धधकने लगती है । उसके मन का अन्तर्द्वन्द देखिए-

+ + +

ममता कहती है, भान भान, निर्मम हो इतना हठ न ठान
पर, घाव कह रहा, "पुनः भूल ? अपने पथ पर फिर रख न शूल ।
कह रही लाज, भर जलधिकूल, प्रक्षालन कर या पंक मूल
मैं सोच न पाती, थका ज्ञान, इस दुख से कैसे मिले त्राण,
मैं निर्झरिणी, पत्थर हूंगी अपने हाथों से विष दूंगी[1]।

षड्यन्त्र रचकर कुणाल जैसे विरीह निरपराध पुत्र के लिए जो विधान वह प्रतिशोध की भावना से उद्वेलित होकर करती है वह उसकी निर्ममता, क्रूरता आदि का ज्वलन्त प्रमाण है । उसका यह कठोर संदेश ले जाने वाला चर भी उसके इस पापाचार की भर्त्सना करता है-[2] ।

अंत
कुणाल के पावन चरित्र से प्रभावित होकर अंत में तिष्यरक्षिता की वृत्तियां भी बदल जाती है । ~~उसके~~ वह अपने उठाए हुए बवंडर का दुष्परिणाम देख लेती है । उसके यौवन का ज्वार भी अब बीत चुकता है अतः वह कुणाल के राज्याभिषेक के अवसर पर ग्लानि और परिताप में डूबी दिखाई पड़ती है[3]

तिष्यरक्षिता के चरित्र में अनैतिकता, क्रूरता आदि वृत्तियों की प्रतिष्ठा की गई है, किन्तु इस चरित्र की सृष्टि में परिस्थितियों का बहुत बड़ा हाथ है । यह गतिशील चरित्र है । तमस से सत की ओर वह उन्मुख होती है ।

कांचना- कांचना का चरित्र उभारने की चेष्टा इसमें नहीं हुई । पति के सुख दुख मे अपने व्यक्तित्व को लय कर देना ही उसके चरित्र का महत्वपूर्ण पक्ष है । निम्नांकित पंक्तियाँ इस तथ्य को भली भांति व्यंजित करती है-

थी कांचना खड़ी करूणा-सी छाया सी होकर अम्लान,
जैसे हो प्रतिबिंब दूसरा यह कुणाल का ही द्युतिमान[4]।

कुणाल के साथ जाने का आग्रह करती हुई वह उससे कहती है-

कैसे तुम्हें छोड़ सकती हूं प्रियतम इस भीषण दुख में,
मैं गृह रहूं सुखी हो, औ तुम जाओ कानन के मुख में[5]

१-५ कुणाल पृ० सं० ५६, ५६, १३३, ८१, ७१ ।

कांचना के रूप-वैभव का स्वतंत्र रूप से कोई वर्णन हीं किया गया । इसका कारण संभवतः तिष्यरक्षिता को अधिक महत्व देना था । किन्तु कांचना इस काव्य की नायिका (नायक की विवाहिता पत्नी) है । अतः उसके चरित्र को कुछ अधिक विस्तार मिलना चाहिए था । आचार्य नंददुलारे बाजपेयी का निष्कर्ष इस संबंध में दृष्टव्य है । "तिष्यरक्षिता की तुलना मे कांचना का चित्रण, काव्य-व्यापार को ध्यान में रखते हुए, नमित अवश्य दिखाना था । तो भी कांचना के चित्रण में कुछ प्रमुख रेखाएं छूट गई है, ऐसा आभास पुस्तक पढ़ लेने पर हमारे मन में रह जाता है । जिस प्रकार कुणाल, तिष्यरक्षिता और अशोक के लिए कवि ने एक एक सर्ग रखा है उसी प्रकार कांचना को भी एक अलग सर्ग मिल जाता तो चित्रण समन्वय की दृष्टि से अधिक अच्छा होता"[1] ।

भारतीय पत्नी का एक मात्र धर्म है पति के पदचिन्हों का अनुसरण करना और सुख-दुख हर अवस्था में उसकी सेवा करना । कांचना का यह गुण इस कृति मे प्रस्फुटित हुआ है । कुणाल जब उसके साथ ले जाने के आग्रह को स्वीकार कर लेते हैं तो कांचना कितनी खुश होती है-

ज्यों भिखारिणी को मिल जावे, किसी रत्न का अनुपम दान ।
हुई कांचना प्रमुदित जैसे दरिद्रिणी हो धनी महान्[2] ।

कठिन से कठिन स्थिति में भी कांचना लज्जा और मर्यादा का त्याग नहीं करती । तक्षशिला से निर्वासित होते समय जब कुणाल सैनिको, व प्रजाजनों व राजकर्मचारियों के प्रति स्नेहपूर्ण कृतज्ञता व्यक्त करते हैं तो वह लज्जशील आर्यललना का आदर्श प्रस्ततु करती हुई मूर्तिवत् खड़ी रहती है-

मूर्तिमंत वह खड़ी रही चित्रित-सी शिल्प-कला सी रम्य
यह पत्नी की नीरवता है समझी गई शिष्टता, क्षम्य[3] ।

इसी प्रकार पुनर्मिलन के समय अशोक जब कुणाल को अंक में भर लेते हैं तो-

कांचना थी दूर विगलित लाज से भूचीर,
चाहती थी मुख छिपा ले, थी व्यथा गंभीर,
कहा नृपवर ने न हो संकोच से अब दूर,
राजरानी । दूर रह तुम बनो मत अब क्रूर[4]।

कांचना कुणाल की अनुचरी ही नहीं रहती, वह इससे अधिक अपने नेत्र

१- ४- कुणाल पृ० सं० ६, ७६, ८१, १२० ।

हीन पति की आँखे बन जाती है । बन-पथ में सर्वत्र साथ रहकर वह पति के विपत्ति के क्षणों को मधुर बना देती है-यद्यपि उसके इस पक्ष का उद्घाटन भली प्रकार कवि कर सका किन्तु इस की झलक उनकी मार्ग छवि के चित्रों से मिल जाती है-

कांचना आगे चली कर लिये भिक्षा-पात्र,
और पीछे चले भिक्षु कुणाल जर्जर-गात्र[1] ।

अशोक

अशोक कथा के प्रधान पात्र नहीं है । कुणाल सर्ग के अंतर्गत उनके वात्सल्य की एक झलक मिलती है-

जब अशोक ने लिया अंक में वह नीरव कुड्मल निस्पंद,
भूल गये साम्राज्य सौख्य सब, मिला अमल चेतन आनंद[2]।

कुणाल के निर्वासन और अंधे बनाए जाने की घटना की कारुणिकता इससे बढ़ जाती है । अशोक के लिए एक अलग सर्ग की योजना भी कुणाल में हुई है किन्तु उसमें अशोक के राजकीय वैभव और हास-विलास मय वातावरण का चित्रण ही प्रधान रूप से हुआ है । अशोक के वस्त्राभूषण से अलंकृत पुष्ट अंगों का विशद वर्णन उनके राजसिक एवं सात्विक व्यक्तित्व को उभारता है[3]। रूठी हुई तिष्यरक्षिता को मनाने के लिए अशोक जा मनुहार करते हैं उनमें उनकी काम-लिप्सा का परिचय मिलता है ।

बोले अशोक, -मैं क्या वर दूं? क्या संपति चरणों में धर दूं?
जिससे हो मन का क्षोभ नष्ट बोलो लिख दूं मैं वही पृष्ठ[4]।

तिष्यरक्षिता के त्रिया-चरित्र को समझने में वे असफल रहते हैं और दशरथ की भांति आचरण करते हुए उसकी मनोकामना पूर्ण करने का वरदान दे डालते हैं । एक सप्ताह के लिए वह राज्य की अधिकारिणी बनकर वह अपनी क्रूर इच्छाओं को परितुष्ट करने का अवसर पा जाती है । "वर" के माध्यम से अशोक की इस दुर्बलता पर कवि टिप्पणी करता है-

हां । अशोक भी पूर्व शाप से ज्यों अभिशापित,
देख न पाते क्या रहस्य है घर में संचालित ।

यह ममता का रंग, ढंग अभिनव गढ़ता है,
यौवन से भी अधिक, जरा पर यह चढ़ता है ।

१-४: कुणाल: पृ० सं० ११५, १६, ५८ ।

मानव
होता वृद्ध, विरस, तब रस के कण को
दौड़ पकड़ता जैसे डूबा पकड़े तृण को[1]

वर्णन

पाटलीपुत्र- पाटलीपुत्र का वर्णन ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करता है । उसकी तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और कला-कौशल संबंधी समृद्धि का भावुकतापूर्ण वर्णन कवि ने किया है । कवि की वर्णन-शैली में नवीनता है । वस्तु गणना की रूढ़ि नहीं परिपालित हुई है । अमूर्त उपमानों के सहारे कवि ने सुरुचिपूर्ण चित्र खींचे हैं-

थी प्राचीर धैर्य-सी निर्मित बनी राज्य-श्री की प्रहरी
पथ प्रशस्त, शत सिंहद्वार थे, उठती वैभव की लहरी[2]।

कहीं कहीं ~~मानवीकरण~~ मानवीकरण के द्वारा जड़ पदार्थों को सजीवता प्रदान की है-

सोच रहा था वह मन ही मन अपना पुरावृत्त-इतिहास,
कैसे शिशु से तरुण हो उठा यौवन का आगया विकास[3]।

लाक्षणिक वैचित्र्य का सहारा भी कवि ने अनेक स्थलों पर लिया है-

पाटलिपुत्र पढ़ रहा था अपने जीवन के कंचन पृष्ठ

पाटलिपुत्र वर्णन के अंतर्गत कवि की चित्र-विधायिनी प्रतिभा का दर्शन होता है । बिना अलंकारों का सहारा लिए हुए सरल किन्तु चुने हुए विशेषणों से शब्दावली में वस्तु का प्रभावशाली चित्र खींचने में कवि कुशल है-

नभ-चुंबी शरदभ्र-सदृश थे सप्त सौध अति रम्य खड़े
उड़ता मौर्य -केतु था जिनपर ध्वज-निशान उतुंग बड़े[4]।

कवि की दृष्टि केवल उच्च अट्टालिकाओं पर नहीं जाती । उसने वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर, सुरसरि आदि के वर्णन भी किए हैं । अंतःपुर के हास-विलास युद्धक्षेत्र में वीरों के पराक्रम, दार्शनिक व धार्मिक अनुष्ठान और व्यापारिक समृद्धि आदि का भाव-विभोर वर्णन कर कि कवि ने मौर्य-कालीन भारत का एक चित्र उपस्थित कर दिया है ।

१-४: कुणालः पृ० सं० ६७, १,१,१ ।

रूप-वर्णन

पुरुष रूप- सौन्दर्य वर्णन मे कवि ने छायावादी शैली को ग्रहण किया है । कुणाल के मोहक रूप से कथा का अभिन्न संबंध है । उसके रूप वर्णन में नवीन (अमूर्त) उपमाओं का सहारा कवि ने लिया है जो छायावादी कवियों का प्रभाव है । कुणाल की अलकों के लिए तर्क से उपमित किया गया है-

आज शिशु से हो गया है तरुण-अरुण कुणाल
तर्क-सी अलकें लहरातीं, दीप्त उन्नत भाल[1] ।

"कामायनी" के बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल का प्रभाव इस पर है । इसी प्रकार तरुणाई के लिए इन्द्रधनुष, हास के लिए ज्योत्स्ना आदि अप्रस्तुत रखे गए हैं[2]। नख शिख पद्धति पर अंग प्रत्यंग वर्णन की प्राचीन परिपाटीका अनुकरण कवि नहीं करता । फिर भी भृकुटि, बाहु, स्कंध, नासिका, नेत्र आदि अंगों का वर्णन मिलता है जो पात्रों के व्यक्तित्व की रूप रेखा उभारने में समर्थ है । कुणाल का बाह्य सौन्दर्य उसके आंतरिक गुणों को भी व्यंजित करता है-

पारदर्शी-से, मुकुर-से, ये मनोरम अंग,
झलकता अंतः बहिः, जिनमें अलौकिक रंग[3]।

रूप वर्णन में प्रसिद्ध प्राचीन उपमानों व उनके विशिष्ट धर्मों को एक ही वस्तु मे नियोजित कर कवि ने उसमें अभिनव सौन्दर्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है । "कंचन" और सरसिज" प्राचीन उपमान हैं किन्तु उनके गुणों को एक स्थान में नियोजित कर कवि ने नूतन प्रभाव उपस्थित किया है-

कंचन का ले रंग, और सरसिज की लेकर कोमलता,
विधि ने था निर्माण किया यह अभिनव शोभा-कल्पलता[4]।

+ + +

इन्द्र लोक की मणियां लेकर, सुरपुर का लेकर सौन्दर्य
आपण-श्री थी सजी राजकन्या-सी, बनी सजग आश्चर्य[5] ।

रूप वर्णन में निरलंकृत अंगों की प्रकृत शोभा का वर्णन भी कवि ने अधिक किया है । वस्त्राभूषण का सौष्ठव उसमें नहीं मिलता ।

नग्न तन भी वे दिखाते अतुल शोभागार,
प्रकृत शोभा को कहीं क्या पा सका शृंगार[6]

१-६ कुणाल पृ० सं० १९, १९, २०, १५, १०, २२ ।

रूप वर्णन सोद्देश्य है । कुणाल के रूप वर्णन में उसकी मधुर मादक छवि पर विशेष बल दिया गया है । वही आगामी घटनाओं की प्रेरक हैं । कुणाल के नेत्रों के सौन्दर्य पर रीझकर ही तिष्यरक्षिता अपना विवेक खो बैठी थी और आपके प्रतिशोध की अग्नि कुणाल के नेत्र निकलवाने पर ही शांत हुई थी । अतः नेत्रों की शोभा का वर्णन अधिक विशद होना चाहिए था । किन्तु ऐसा नहीं हुआ । नीचे की पंक्तियों में नेत्रों का वर्णन, अधिक प्रभावशाली नहीं लगता -

> था सभी शोभन मनोरम किन्तु लोचन पद्म,
> थे बड़े ही हृदय-स्पर्शी स्वर्ग सुख के सद्म[1]

अशोक के रूप वर्णन में वस्त्र-आभरणयुक्त अलंकृत अंगों की छवि प्रधानता से चित्रित की गई है । उसका ऐसा वर्णन राजकीय मर्यादा की रक्षा के लिए हुआ है-

> मस्तक पर अक्षत शुचिचंदन, भुजदंडों पर, मरकत कंकण,
> कटितट पीतांबर वरशोभन, मणि मुकुट शीश पर वंदनीय[2] ।

कुणाल के रूप वर्णनों की विशेषता यह है कि वे कथा के वातावरण व परिस्थिति के अंग होकर आए हैं । यही कारण है कि रूप वर्णन के साथ-साथ पात्रों के शील और वैभव-समृद्धि आदि का भी मिला-जुला रूप प्रस्तुत होता है । अशोक कुणाल आदि सर्गों मे यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है ।

<u>नारी-रूप-</u> तिष्यरक्षिता का अभिसारिका रूप कवि ने प्रणय-निवेदन के अंतर्गत प्रस्तुत किया है । यहां कवि ने अनेक मूर्त-अमूर्त उपमानों की झड़ी लगा दी है । ये उपमान प्रभाव-साम्य पर आधारित हैं-

अमूर्त
> मानस की मधुमय आशा सी, उर की मादक अभिलाषा सी,
> नयनो की नीरव भाषा सी लज्जा की नव परिभाषा-सी[3]

मूर्त
> कुंदन-सी, कंचन, चंपक सी विद्युत् की नूतन रेखा-सी,
> श्रावणघन के नीलांचल के, तट के विशुभ्र अवलेखा-सी[4] ।

कवि की वृत्ति बाह्यांगों का ब्योरा देने में नहीं रमती मानसिक आलोड़न को उद्घाटित करने में विशेष लीन होती है । अनुभावों व वाह्य चेष्टाओं का वर्णन भी उसके अंतर्द्वन्द्व को ही प्रत्यक्ष करता है-

---

१-४ कुणाल पृ० सं० २३,२६,४०, ४१ ।

चलती दो चरण कभी द्रुतगति, गंभीर धीर पद, चिन्ताकुल,
तो कभी, जड़ित-सी, चित्रित-सी, स्थिर हो जाती पथ पर व्याकुल,
थी खेल रही मुखमण्डल पर, नव अभिनव भावों की लहरी,
था कभी हर्ष, तो कभी शोक, थी धूपछांह फिरती गहरी[1]

वाह्य अंगों का सौन्दर्य भी नितान्त उपेक्षित नहीं हुआ-

माणिक मदिरा-सी फूट रही थी अरुण कपोलों पर लाली,
अधरों पर थी मुसकान मंद, जैसे आ सोई उजियाली[2]

उपर्युक्त विश्लेषण के द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रूप वर्णन की प्राचीन परिपाटी कुणाल में नहीं मिलती । पात्रों के चरित्रों को पूर्ण बनाने के लिए ही कवि ने अंगों की शोभा का वर्णन किया है । वर्णन चरित्र के साथ साथ वातावरण के निर्माण के भी सहायक हैं । नवीन उपमाओं की योजना कवि ने प्रायः की है किंतु प्राचीन उपमानों का प्रयोग भी नूतन पद्धति पर मिलता है । अलंकार रहित शुद्ध वर्णनात्मक शैली का प्रयोग भी हुई हुआ है और वह सरस व प्रभावोत्पादक भी है ।

रस और भाव-व्यंजना

कुणाल का प्रधान रस शान्त है । नायक कुणाल का "शम" स्थायी भाव शान्त रस में परिपक्व हुआ है । वैसे तो सम्पूर्ण वातावरण ही शान्त या "शम" भाव से परिपूर्ण है किन्तु निर्वासन पथगीत और काषायग्रहण आदि खंडों में "शान्त" सभी अवयवों सहित उपलब्ध है ।

"कुणाल" के "शम" भाव का आलंबन जीवन की अस्थिरता है । जीवन क्षण भंगुर है अतश्च एक उस क्षणिक जीवन की सुख सुविधा के लिए स्वार्थ प्रेरित होकर अपने माता-पिता-बंधु आदि श्रद्धास्पद गुरुजनों से कलह करके कलंक मोल लेना ठीक नहीं[3] ।

निम्नांकित छंद में अनुभावों के माध्यम से शान्त रस का परिपाक सफलता के साथ हुआ है-

---

१-३ कुणाल पृ० सं० ४९, ४०, ८० ।

एक एक करके कुणाल फिर सभी वहीं पर वस्त्र उतार
रखने लगे नित्य ही जैसे जैसे उतर रहा हो भार ।
राज्य मुकुट को ले मस्तक से सचिव श्रेष्ठ के कर में धर
राज्यदंड भी दिया हाथ में शीश झुकाया सिर सादर[1] ।

तर्क,[2] मति,[3] धृति[4] आदि संचारी "शान्त" रस के परिपाक में सहायक हुए हैं ।

"पथगीत" शान्त-रस के उत्कृष्ट उदाहरण हैं । कुणाल द्वारा गाया हुआ बिदा गीत संसार की परिवर्तन शीलता को दिखाकर निर्वेद उत्पन्न करता है । एक उदाहरण लीजिए-

भोगा अब तक धनधरा-धाम, क्या सुख न मिला मुझको प्रकाम?
जीवन-प्रभात था कल ललाम, तो संध्या आई आज श्याम,
फिर, इसे रहे क्यों रोक-थाम? दो बिदा, आज, अंतिम प्रणाम[5]।

इसी प्रकार "जग में विहग अकेला राही"[6], झंझा मचल रहा, राही, लहरों से क्या मोह राही, मुझको बड़ी दूर है जाना आदि गीतों में शान्त रस का वातावरण मुखरित हो उठा है ।

करुण- निर्वासन सर्ग में शान्त के बीच बीच करुण प्रसंगों की अवतारणा से शान्त का प्रभाव तीव्रतर होता है । करुण के आलम्बन स्वयं कुणाल है और उसके आश्रय हैं तक्षशिला की प्रजा व सैनिक आदि । यहां पाठक का तादात्म्य प्रजा व सैनिकों से होता है ।

जग सागर में उठा पुनः अब नये अश्रुजल का गुरु ज्वार
लगा डूबने उतराने-सा अग-जग विकल निखिल संसार[7]

पथ गीतों में व प्रत्यावर्तन के पुनर्मिलन आदि खण्डों में करुण का अच्छा परिपाक हुआ है । श्रृंगार के स्थायी भाव रति का आश्रय तिष्यरक्षिता है, किन्तु सपत्नी पुत्र उसकी रति का आलम्बन बनता है जो अनैतिक व अनौचित्यपूर्ण है अतः श्रृंगार रस नहीं "रसाभास" मात्र है । -

---

१- कुणाल, पृ० सं०८३ । २- वही, पृ० सं० ७९(यदि मैं करूँ-------)
३- वही, पृ० सं० ८०(आज्ञा शिरोधार्य---)। ४- वही, पृ० सं०८१(यह ममता का गहरा----)।
५-७: वही, पृ० सं०८७, ९४-९८, ८३ ।
देखिये, वही पृष्ठ सं० ४५

कुछ और पास में खिसक निकट आ,-स्कंधों पर धर भुज मृणाल,

बोली सम्राज्ञी, बतलाओ संकुचित बन रहे क्यों कुणाल[१]?

"कुणाल" सर्ग के अंतर्गत अशोक के वात्सल्य भाव के सुन्दर चित्र भी दर्शनीय है-

कोमल कलित ललित कपोल का जिस दिन, किया सरस चुंबन,

भूल गई अपना समस्त दुख, प्रसवकाल का उत्पीड़न[२]।

रस और भाव-व्यंजना की दृष्टि से कवि की दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है । शांत, करुण, शृंगार तथा उनके विभिन्न अवयवों के अतिरिक्त अनुभावों एवं विविध व्यभिचारियों के चित्रण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है । ध्वनि के भी उत्कृष्ट उदाहरण इसमें मिलते है । तिष्यरक्षिता का प्रणय-प्रस्ताव संबंधी अंश ध्वनि काव्य की दृष्टि से उत्तम है ।

पथ गीत

साकेत के नवम सर्ग की भांति कुणाल मे कवि ने पथ-गीतों का एक अलग खण्ड रखा है ।"निर्वासन"से लेकर "पुनर्मिलन" तक के अनेक वर्षों के व्यवधान को भरने के लिए कवि ने केवल पथ-गीतों की सृष्टि की है । प्रबन्ध का प्रवाह इन गीतों से रुक सा जाता है । किन्तु फिर भी ये कथा से असंबद्ध नहीं है । कुणाल और कांचना के भिक्षुक -जीवन का परिचय इनसे मिलता है । उन्मुक्त प्रकृति के सहज स्निग्ध रूपों में तल्लीनता ही इन भावों में व्यक्त हुई है । घर-बार त्यागने के बाद प्रकृति का व्यापक क्षेत्र ही निर्वासित दम्पत्ति की क्रीड़ा भूमि बन जाता है ।

इन गीतों के विषय और उनमें निहित भावधारा में वैविध्य दिखाई देता है जो मानव जीवन के विभिन्न पार्श्वों की ओर संकेत करते हैं । संक्षेप में यहा उनका परिचय दिया जा रहा है - आया सुभग सबेरा, राही, कमल नयन ये खोलो, राही, बोले तरु में काग राही, प्रभात गीत है जिनमें जागरण का सन्देश है । "कैसा मधुमय कलरव" में प्रकृति के उल्लास मय रूप की व्यंजना है जिसमें प्रकृति का तृण तृण कण कण पक्षियों के कलरव से गुंजरित है । "नभ में विहग अकेला" गीत में विरक्ति की भावना ध्वनित हुई है । "झंझा मचल रहा" के द्वारा मन की आवेगमयी स्थिति की व्यंजना हुई है । "आई मधुर सुगंध" मे अज्ञात सत्ता के अन्त-

---

१-२: कुणालः पृ० सं० ४५, १६ ।

निहित सौन्दर्य का रहस्यमय संकेत मिलता है । "लहरों से क्या मोह" में संसार से निर्लिप्त रहने का भाव है । "पाल तरी के खोल" प्रगति का सन्देश देता है । बैठो श्रान्त न पथ में अप्रतिहत साहस के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है, विपत्तियों को अपनाने व सुख में पथ-भ्रष्ट न होने के लिए "बैठों देख न छाया" गीत में सावधान किया गया है । निराशा सर्वथा त्यागकर सदैव प्रसन्न रहने का सन्देश क्यों "तुम आज उदास "और" रह अधर में गान" में दिया गया है । फूलों और शूलों में एकरस रहकर मस्त रहने की वृत्ति "तुम कैसे मतवाले" के द्वारा जागृत की गई है । अंतिम गीत में अपने गन्तव्य की दूरी और उसकी असीमता का परिचय दिया गया है । "कुणाल" दम्पति इन शक्ति और उत्साहवर्द्धक गीतों को गाते हुए पथ पर बढ़ते हैं ।

इन गीतों में भी एक क्रम है । यह क्रम भावों के उत्थान और विकास में दिखाई देता है । प्रभात में प्रकृति की निद्रा-भंग होने के साथ कुणाल-दम्पति का यह नव-जीवन प्रारंभ होता है । प्रकृति के इस विशाल प्रांगण मे कभी पक्षियों का मधुमय कलरव मुग्ध करता है तो कभी आकाश में उड़ता हुआ एकाकी पक्षी कोई भाव जगा देता है । मधुर सुगंध के रूप में कोई आमंत्रण भेजता ज्ञात होता है । प्रकृति के अनुकूल प्रतिकूल रूपों के बीच से अपने मार्ग को गतिशील रखने, मोह में न फंसने और बाधाओं को मुस्कराते हुए पार कर जाने की भावना इनमें दिखाई देती है । अंतिम गीत में चलते चलते पथ का अंत न आने के कारण उसकी असीमता व्यक्त हुई है ।

इन्हें संबोध-गीति की संज्ञा दी जा सकती है । ये सभी "राही" को संबोधित किए गए हैं । इनमें से कुछ पथिक कुणाल की स्वानुभूति की व्यंजना करते हैं और कुछ वातावरण के मार्मिक रूपों के व्यंजक होने के साथ जीवन के तथ्यों के उद्भावक है । समग्रतः वे पथिक दम्पति की आंतरिक व बाह्य स्थितियों के परिचायक हैं ।

इन सभी गीतों में विषय वस्तु का नितान्त अभाव नहीं है । इनका आधार मूर्त (प्रकृति) है । इनमे कुणाल की सौन्दर्यानुभूति और स्वानुभूति का मिश्रण है । ये सभी गीत प्रगीत शैली के हैं । सब एक ही छंद मे लिखे गये हैं, केवल अंतिम गीत की प्रकृति कुछ भिन्न है । प्रकृति के कोमल रूपों को कोमलकान्त पदावली में प्रस्तुत कर कवि ने शब्द चयन के सहारे ही भावों को ध्वनित करने में सफ-

लता पाई है । शब्दों के संगीत में ही भाव धारा उमड़ती ज्ञात होती है-

लघु लघु कंठों में लघु लघु स्वर
लघु लघु अमृत बूंदों को भर
करते कैसा उत्सव?
राही !
कैसा मधुमय कलरव[1]?

और भी- मलयज धीरे धीरे बहता,
मन में मधुर कथा-सी कहता,
यह बेला अनमोल !
राही !
पाल तरी के खोल[2]!

पथ गीतों के अतिरिक्त कुछ और गीतों की रचना भी अन्य सर्गों में मिलती है ।

देश-काल

ऐतिहासिक काव्यों में वस्तु, पात्र एवं घटनादि की यथार्थ अनुभूति कराने और उसमें स्वाभाविकता लाने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में तत्कालीन वातावरण का चित्रण आवश्यक होता है । कुणाल का कवि भारत के अतीत गौरव का गुणगान जी खोलकर करता है ।

कुणाल के प्रारम्भिक सर्गों में कवि ने अशोक के राजत्वकाल की भारत की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक गतिविधि का अच्छा परिचय दिया है । उसका यह वर्णन कवि के ऐतिहासिक ज्ञान की सूचना देता है । अशोक के साम्राज्य की भौतिक व आध्यात्मिक समृद्धि का जीता जागता चित्र "पाटलिपुत्र" एवं "अशोक" सर्गों में मिलता है ।

ऐतिहासिक काव्यों में पग पग पर कवि को सतर्क रहने की आवश्यकता होती है उसे तत्कालीन समाज की मर्यादा-ओं के अनुकूल घटना के पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण करना पड़ता है । वह अपने युग के आदर्शों और तथ्यों का आरोप उस युग के समाज पर कर बैठने की भूल कर सकता है । "कुणाल" में भी इस प्रकार

१-२: कुणाल: पृ० सं० १४, १८ ।

की कुछ भूलें मिलती है । "कुणाल" सर्ग में कुणाल की बाल-क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है-

कहता, "माँ देखो मैं छलपल घोले पल दिल्ली ओ आया[1]।"

अशोक के समय में दिल्ली नगरी तो थी किन्तु उसका नाम यह नहीं था[2]। दूसरा दोष कुणाल के राजकीय वैभव की उपेक्षा कर उसे सामान्य बालक की भांति चित्रित करने में दिखाई पड़ता है-

देखता ललककर दूध-दही जो टंगी सिकहरे ऊपर ही।"

या वह "धूल भरा नटखट आया[3]।"

किन्तु ये दोष सब एकही गीत में आ गए हैं जिसका उद्देश्य "कुणाल" को जीवन के सामान्य धरातल पर प्रतिष्ठित करना मात्र है । कथा-प्रवाह में उक्त गीत का कोई विशेष महत्व भी नहीं है । यदि उसको कृति से बहिष्कृत कर दिया जाय तो प्रबन्ध कला की दृष्टि से कृति में कोई त्रुटि नहीं आती । अतः सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि पृष्ठभूमि के रूप में तत्कालीन युग और समाज का एक पूर्ण प्रतिबिम्ब "कुणाल" में देखने को मिलता है ।

भाषा-शैली

इस कृति की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसका सारल्य एवं प्रसाद गुण संपन्न होना । उनकी कवि-तौं इसी कारण लोकप्रिय भी अधिक हुई है ।

कुणाल की भाषा विशुद्ध साहित्यिक और संस्कृतिनिष्ठ है । इसकी रचना के पूर्व खड़ी बोली हिन्दी छायावादी कवियों के हाथों पड़कर पूर्ण परिष्कृत हो चुकी थी । छायावादी कवियों की भाषा की सभी विशेषताएं इसमें विद्यमान हैं । फिर भी इसकी भाषा में कवि का व्यक्तित्व झलकता है । उसमें एक आकर्षक प्रवाह है । छायावादी शैली की दुरूहता का उनमें दर्शन नहीं होता । कहीं-कहीं पर तो उसका रूप अत्यन्त सरल है-

कंचन का ले रंग, और सरसिज कीलेकर कोमलता,
विधि ने था निर्माण किया, यह अभिनव शोभा-कल्पलता[4]।

\+ -+ +

कुछ दिन बीते यजन-हवन में करते कुशल मंगलाचार,
आया दिवस, देखने शिशु शशि, उमड़ा जन-जलनिधि का ज्वार[5]।

१-५: कुणाल, पृ० सं० १८, ८,(भूमिका), १७, १५, १४ ।

किन्तु वैभव को उत्कर्ष पर पहुंचाने के लिए कहीं-कहीं कठिन संस्कृत शब्दावली का प्रयोग मिलता है-

था मौर्यवंश सौभाग्य-सूर्य, चूडांत चमकता ज्यों विदूर्य,
बजता दिशि-दिशि में विजय-तूर्य, पाकर अशोक का बल प्रताप[1]।

कुणाल में कवि ने प्रधानतः अभिधा का ही सहारा लिया है किन्तु छायावादी शैली के लाक्षणिक प्रयोग भी कम नहीं है -

देता था सौन्दर्य स्नेह से यौवन को मद का प्याला,
ऊषा संध्या बैठी रहती खोल प्रकृति की मधुशाला

संस्कृत के तत्सम शब्दों का इसमें बाहुल्य है । छायावादी कवियों द्वारा प्रयुक्त -मधु, मादक, मधुमय, नीरव, अरुण, रागारुण, स्वर्णिम, तरणी, नीलांचल आदि- शब्दों को कवि ने पूरी तरह अपनाया है । किन्तु कहीं कहीं पर तद्भव शब्दों का व्यवहार भी मिल जाता है जैसे "सिकहरे" "डिठौना" आदि । उर्दू शब्द "चांद" का व्यवहार अपवाद रूप में ही हुआ है । कहीं-कहीं पर भाषा अशक्त है-

अब था आनन का कृष्ण रंग, जैसे प्रस्फुटित हुआ कुढंग[2]।

तुक या छंद की गति को ठीक रखने के लिए भाषा का स्वरूप बिगाड़ने की चेष्टा भी कहीं कहीं पर मिलती है-

मृगशिशु पर कर-नख चूर चूर करना चहती हो उदर पूर[3]।

इसमे चाहती के लिए "चहती" का प्रयोग हुआ है ।

अलंकार-योजना

प्रस्तुत का बोध कराने के लिए अप्रस्तुतों की योजना प्राचीनकाल के कवि गण करते आ रहे हैं । कवि की प्रतिभा और युग की प्रकृति के अनुकूल अप्रस्तुत योजना के लिए लाए गए विषय-वस्तुओं के स्वरूपमें परिवर्तन होता रहा है । प्राचीन कवि गण कुछ बंधे हुए रूढ़-उपमानों की सहायता से ही अपने प्रतिपाद्य विषय का सौंदर्य बोध कराने में सफलता प्राप्त कर लेते थे किन्तु आधुनिक युग मे प्राचीन घिसे-पिटे उपमानों की सहायतासे कवि वांछित प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता । अतः अपनी

१-३: कुणालः पृ० सं०२७, ६३, ६१ ।

कल्पना और प्रतिभा के बल से वह नवीन अप्रस्तुतों को खोजने और नव-नव प्रणालियों से अपने अन्तर्मन के भावों को प्रभावपूर्ण बनाकर प्रस्तुतकरने भी चेष्टा करता है

कुणाल में उपमा रूपक आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की योजना प्रधान रूप से हुई है किन्तु उपमानादि परंपरागत न होकर नितान्त नवीन हैं। आधुनिक युग में छायावादी कवियों की रचनाओं में प्राचीन चन्द्र, कमल, भ्रमर आदि स्थूल उपमानों की प्रतिक्रिया में सूक्ष्म और अमूर्त उपमानों को प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति विशेष दिखाई पड़ी। इन उपमानों का सादृश्य विधान रूप, रंग, आकार आदि पर आधारित न होकर वस्तु के मन पर पड़ने वाले प्रभाव को दृष्टि में रखकर खड़ा किया गया। "कुणाल" में भी ऐसे ही उपमानों की योजना अधिक मिलती है।

मूर्त विषय का बोध कराने के लिए अमूर्त विषय को निम्नांकित पंक्तियों में उपमान बनाया गया है-

थी प्राचीर धैर्य-सी निर्मित बनी राज्य-श्री की प्रहरी[1]।

\+ \+ \+

तर्क-सी अलकें लहरातीं दीप्त उन्नत भाल[2]।

कहीं कहीं पर ऐसे उपमानों की माला सी उपस्थित कर कवि ने नूतन प्रभाव-सृष्टि की चेष्टा की है -तिष्यरक्षिता के सौन्दर्य-चित्रों की ये पंक्तियां देखिए-

मानस की मधुमय आशा-सी उर की मादक अभिलाषा-सी,
नयनों की नीरव भाषा-सी लज्जा की नव परिभाषा-सी[3]।

"मूर्त" और "स्थूल" उपमान भी प्राचीन न होकर नवीन है और कवि की निजी कल्पना पर आधारित है। विराट् प्रकृति की कोई भी वस्तु कवि कल्पना की परिधि से बाहर नहीं रहती।

माणिक मदिरा-सी फूट रही थी अरुण कपोलों पर लाली,
अधरों पर थीं मुसकान मंद, जैसे आ सोई उजियाली[4]।

\+ \+ \+

रागारुण-रंजित उषा-सी मृदु मधुर मिलन की संध्या-सी,
माधवी, मालती, शेफाली, बेला-सी, रजनीगंधा-सी

१-४: कुणाल: पृ० सं० १, १९, ४०, ४९।

कुंदन-सी, कंचन, चंपक-सी, विद्युत् की नूतन रेखा-सी,
श्रावणघन के नीलांचल के, तट के विशुभ्र अवलेखा-सी[1]।

उपर्युक्त पंक्तियों में उपमान अपेक्षा कृत स्थूल और नवीन हैं किन्तु एक साथ उपमानों की झड़ी लगाकर कवि ने चमत्कार या बुद्धि वैभव के प्रदर्शन की चेष्टा अधिक की है। उपमादि अलंकारों की योजना भाव सौन्दर्य को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए होती है किन्तु ऐसे स्थलों पर उपमानों के जमघट से मुख्य भाव दब जाता है।

तिष्यरक्षिता की कुणाल के प्रति परिवर्तित मनोवृत्ति का रूपक अलंकार की सहायता से मूर्त रूप में देने में कवि को अवश्य सफलता मिली है-

स्नेह-सागर था जहां लहरा रहा गंभीर
घृणा का पर्वत वहीं पर खड़ा लिये शरीर[2]।

+ + +

क्यों न मैंने ही स्वयं इस विष-विटप को तोड़?
उर-अजिर से हटाकर, फेंका न दूर मरोड़[3]।

रूपक अलंकार के द्वारा तिष्यरक्षिता के हृदय की आशा-उल्लास भरी स्थिति भी कवि ने सफलता के साथ प्रत्यक्ष कराई है।-

सम्राज्ञी के जीवन-वन में फूटे नव-नव पल्लव,
अभिलाषा के इन्द्रधनुष थे लिये रंग श्री अभिनव[4]।

रूपक अलंकार का एक और उदाहरण देखिए जिसमें नारी के रूप को उत्कर्ष प्रदान किया गया है-

नूपुर की रुनझुन-रुनझुन में घुल जाती उर की झनकार
अंग तरंगों में गिरते थे नयनों के जलजात अपार[5]।

"प्रतीप"अलंकार निम्नांकित उद्धरण में रूप-वर्णन को उत्कर्ष प्रदान कर रहा है-

आज अंगों में चढ़ा कमनीयता का रंग,
कनक चंपक मुरझाते से देख छवि का ढंग[6]।

१-६: कुणाल: पृ० सं० ४१, ५९, ५०, ३६, ४, ।

"सन्देह" अलंकार के द्वारा नायक "कुणाल" की धूलि भरी छवि में शिव के सौन्दर्य का आभास दिलाकर नायक के बालरूप को उत्कर्ष दिया गया है-

कुंचित अलकों में धूलि भरी, मिट्टी से क्या शोभा निखरी,
क्या शिशु शंकर धर भस्म अंग, जननी का मन हरने धाया[1]?

उपर्युक्त साम्य मूलक अलंकारों के अतिरिक्त विरोध मूलक अलंकारों के भी उदाहरण यत्र-तत्र मिल जाते हैं। विरोधाभास का एक उदाहरण देखिए:-

उन्नत कुच कुंभों को लेकर, फिर भी, युगयुग की प्यासी-सी[2]।

अशोक के युग के वीर सैनिकों की शक्ति का परिचय अतिशयोक्ति अलंकार के निम्न उद्धरण में सुन्दर ढंग से दिया गया है-

अंगों की अंगड़ाई लेते लौह-कवच हो जाते चूर्ण[3]।

उपर्युक्त अलंकारों के अतिरिक्त विशेषण विपर्यय व मानवीय करण जैसे पश्चिमी साहित्य में बहुप्रयुक्त अलंकारों के प्रयोग भी कुणाल में कम नहीं है-

मंडराते अलिकुल चंचल हो तरल वासना से उद्दाम[4]।
(विशेषण विपर्यय)

पाटलिपुत्र परम प्रसन्न पा करके नये खिलौने को
स्वप्न-सुमन से लगा सजाने अपने हृदय-बिछौने को[5]।

-मानवीकरण

छन्द-योजना

"कुणाल" छंद वैविध्य परम्परा की रचना है। इसमें प्रायः हर दूसरे खण्ड में छन्द परिवर्तित हो जाता है।

इसमें गीतों को छोड़कर वीर, शोभन, रूपमाला, पद्धरी, सिंह, अड़िल्ल, सारस, समान सवैया, रोला, पादाकुलक आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। सभी ~~मार्मिक~~ मात्रिक और तुकान्त छन्द हैं और हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुकूल हैं। इनमें से अधिकांश छंद थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आधुनिक युग के कवियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। "कुणाल" की छंदयोजना की प्रधान विशेषता यह है कि उसमें भाव-परिवर्तन के साथ छंद भी परिवर्तित हो जाता है जिससे काव्योत्कर्ष की वृद्धि होती है।

कुछ स्थलों पर छंदों में चरणों की मात्राएं कम या अधिक मिलती है-

---

१-५: कुणाल: पृ०सं० १८, ४१, ६, ५, १६।

अधरों का मधुमय मद हास है आज नहीं पाता विकास
बेदना-व्यथित बह रही श्वास किस व्रण के गोपन का प्रयास[1]?

उपर्युक्त छन्द के प्रथम चरण में १६ के स्थान पर १५ मात्राएं हैं अतः इसमें छंदों भंग दोष है ।

- - -

१- कुणाल: पृ० सं० ५७ ।

अध्याय १३

नकुल (१९४६ ई०)

इसके रचयिता श्री सियारामशरण गुप्त हैं । मौर्य्य विजय की रचना के ३२ वर्ष बाद इसकी रचना हुई । इस दीर्घ अवधि में कवि के विचार, भाव और भाषा आदि में जो प्रौढ़ता आयी उसका स्पष्ट संकेत इस रचना मे मिलता है । नकुल में छोटे बड़े की मनोवैज्ञानिक समस्या का हल प्रस्तुत किया गया है । इसमें मानव और मानव भूमि की श्रेष्ठता का भाव अपनी चरमसीमा पर पहुंचा हुआ जान पड़ता है । देवता भी मानव और मानव भूमि के दर्शन के लिए लालायित हैं और उनके उच्च विचारों व गुणों की प्रशंसा कर अपने को धन्य समझते हैं । शान्ति और सद्भावना के भारतीय संदेश को युधिष्ठिर के वंशीवादक नकुल को पुनर्जीवन दिलाने की चेष्टा के रूप में वाणी मिली है । स्वाभिमान और आत्म-गौरव की भावना को प्रबुद्ध करने की चेष्टा अर्जुन के स्वर्ग में स्वागत के प्रसंग में दिखाई पड़ती है । इस प्रकार युग और राष्ट्र की व्यापक चिन्ताधारा को अभिव्यक्ति देने वाला यह ग्रन्थ आधुनिक युग के विचार प्रधान खण्डकाव्यों में एक विशिष्ट स्थान का अधिकारी है ।

प्रबन्ध शिल्प

"नकुल" में प्रबन्ध शिल्प की नूतन पद्धति का दर्शन होता है । इसमें घटनाओं का स्थान अप्रधान है, कवि का लक्ष्य विचारों का प्रतिपादन ही है । घटनाएं विचारो के प्रतिपादन के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि उत्पन्न करती हैं । उनकी योजना विचार-प्रकाशन के उपयुक्त स्थितियों तक पहुंचाने के लिए हुई हैं । मणिभद्र-युधिष्ठिर वार्त्तालाप, स्वर्ग मे अर्जुन के स्वागत का प्रसंग, वृन्दावन मे कृष्ण के मुरली-वादन का प्रसंग तथा पार्वती के राम-जानकी संबंधी संस्मरण आदि ऐसे ही स्थल हैं जिनके सहारे कवि विचारों का प्रतिपादन करता है । चरित्रों का विकास और विचारों का प्रतिपादन कवि अभिनयात्मक शैली में ही करता है । वह स्वयं तटस्थ रहकर पात्रों को पारस्परिक वार्त्तालाप द्वारा अपने विचार प्रस्तुत करने की छूट दे देता है । नकुल के अधिकांश संवाद इसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं । कथा की शृंखला जोड़ने और काल के व्यवधान को मिटाने के लिए कवि संस्मरणों के सहारे पूर्व प्रसंगों की अवतारणाकरता है जिसमें कथा-शिल्प की नवीन"टेकनीक"का दर्शन

होता है । पात्रों के बाह्य कार्यव्यापारों की अपेक्षा उनके प्रेरक भावों पर कवि की दृष्टि विशेष रहती है । कथा के बीच-बीच अचानक स्थिति परिवर्तन, आकस्मिक प्रवेश आदि के द्वारा कवि नाटकीय स्थितियों की अवतारणा करता है । "नकुल" की केन्द्रीय भावना मानव और मानव भूमि का गौरव गान और उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करना है । कथा के अबौद्धिक तत्वों और अविश्वसनीय प्रसंगों को त्याग कर उसकी बुद्धि सम्मत व्याख्या करने की चेष्टा कवि ने की है । प्रकृति, मानव और मानवेतर प्राणियों के पारस्परिक सहानुभूति पूर्ण पारिवारिक सहजीवन का वातावरण प्रस्तुत कर कवि ने "वसुधैव कुटुम्बकम" की भावना को प्रमुखता दी है । विविध विषय- वस्तुओं का विवरण या वर्णन करने की प्राचीन शैली के स्थान पर कवि मुद्राओं, स्थितियों और वस्तुओं के सजीव चित्र अंकित करने में प्रवृत्त हुआ है ।

उपर्युक्त नवीनताओं के होते हुए भी नकुल में शास्त्रीय लक्षणों की अवहेलना नहीं हुई । इसकी कथा पांच भागों में विभाजित है । यह विभाजन केवल संख्या देकर हुआ है । उसका आधार महाभारत का तत्संबंधी आख्यान है । नायक सद्वंश क्षत्रिय धर्मराज युधिष्ठिर हैं जो धीरोदात्त गुण सम्पन्न हैं । अंगी रस शान्त और शृंगार आदि अंग रूप में आए हैं । वन, नगर, सरोवर, शैल, प्रभात, सन्ध्या, दिन, रात्रि, मुनि, यक्ष, संयोग, वियोग, मृगया, युद्ध आदि के वर्णन यथास्थान नियोजित हुए हैं । प्रारंभ से अंत तक एक ही छंद का प्रयोग हुआ है ।

इसकी घटना और इसका वर्णन विस्तार खण्डकाव्य के ही उपयुक्त है । यद्यपि इसका मुख्य प्रतिपाद्य विचार है तो भी इसमें सरस सुन्दर स्थलों की कमी नहीं है । इसमें कथानक, चरित्र या वर्णनों का विस्तार इतना नहीं है कि इसे महाकाव्य की संज्ञा दी जा सके । नकुल को पुनर्जीवन देने का एक ही केन्द्रीय घटना के आस -पास इसका कथानक घूमता है । उसी घटना के सहारे संदेश और समस्याएं भी जुड़ी हुई हैं । अतः खण्डकाव्य की दृष्टि से यह एक सफल कृति है ।

<u>वस्तु विवेचन-</u> नकुल का कथानक महाभारत के वन-पर्व की अध्याय ३११ से अध्याय ३१४ तक की कथा पर आधारित है । कवि ने इसे स्वतंत्र रूप से विकसित कर पांच खण्डों मे विभाजित किया है । इसका घटना-काल केवल एक दिन में सीमित है । द्रौपदी सहित पांचो पाण्डव वन जीवन के बारह वर्ष व्यतीत कर दूसरे दिन अज्ञातवास के लिए जाने को हैं । उसी दिन प्रातः काल तपस्वी की अरणि मथनिका

लेकर मृग भागता है और उसको छुड़ाने की चेष्टा में युधिष्ठिर को छोड़कर समस्त पाण्डव अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं । अंत में युधिष्ठिर की सहाता से उन्हें पुनर्जीवन मिलता है । "नकुल" में महाभारतीय आख्यान का कवि ने पूर्ण स्वतंत्रता के साथ उपयोग किया है । नकुल की मौलिकता सिद्ध करने के लिए यहां हम दोनो कथाओं के पार्थक्य सूचक स्थलों का निर्देश कर रहे हैं ।

महाभारतीय कथानक में पांचो पाण्डव हिरण का पीछा करते हैं । वे सभी हिरन का पीछा करते-करते दूर निकल जाते ह और प्यास से तृषित होते हैं- नकुल में केवल युधिष्ठिर हिरण का पीछा करते हैं ।

आलोच्य कृति मे महाभारत की ही भांति युधिष्ठिर "नकुल" के ही जीवन-दान देने की कामना व्यक्त करते हैं । किन्तु यहां कवि का दृष्टिकोण बदल गया है । महाभारत में युधिष्ठिर ने धर्म की प्रतिष्ठा के उद्देश्य से अपनी दोनों माताओं को पुत्रवती बनाये रखने के लिए प्रच्छन्न धर्म से यह बरदान मांगा था । नकुल के कवि ने उक्त प्रसंग के सहारे आधुनिक युग की मौलिक समस्या- छोटे बड़े के संघर्ष का समाधान प्रस्तुत किया है ।

इस नवीन दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने के लिए कवि ने कथानक मे कुछ मौलिक परिवर्तन कर दिए हैं । नकुल को वयःक्रम में चतुर्थ न रखकर उसे पाण्डवों में सबसे छोटा माना है । नकुल स्वयं कहता है -

~~नकुल-स्वयं-कहता-है~~

"पीछे आकर नहीं किसी विधि से मैं वंचित,
मेरा भाग्य सुदीर्घ चार अंकों तक संचित[1] ।

अपनी इष्टसिद्धि के लिए कवि ने "नकुल" पद का एक चमत्कारिक अर्थ भी कर डाला । यहां पदभंग द्वारा "नकुल" ('न' + 'कुल') अर्थात कुल गोत हीन या छोटा अर्थ लिया गया है । युधिष्ठिर मृग का पीछा करते समय कृष्ण के बालरूप की भांकी मानसपट पर देखते हुए इस अर्थ को ध्वनित करते मालूम पड़ते हैं ।

नकुल, न गोत्र, न जाति, सभी का होकर बिबबन
देगा सबको भव्य भविष्यत् का आश्वासन[2] ।

१- नकुल/ पृ० सं०
२- नकुल पृ० सं० १० ।

महाभारतीय कथानक में धर्म यक्ष बनकर युधिष्ठिर की परीक्षा लेता है और माया से अन्य पाण्डवों को मूर्च्छित कर देता है वही मृग बन कर पाण्डवों को आकर्षित कर उन्हें दूर ले जाता है । आज के बुद्धिवादी पाठक को यह ग्राह्य नहीं हो सकता । अतः कवि ने धर्म के स्थान पर मणिभद्र की कल्पना की जिसने अपने धर्म की दृढ़ता के कारण कुबेर के पुरस्कार की उपेक्षा कर दी और निर्वासन पाया इसी का आश्रम पर्वत के पादतल में है । मृग भी उसी के आश्रम का है । उसी के पीछे पीछे युधिष्ठिर मणिभद्र के आश्रम में आ जाते हैं । इसी के पास अमृत की एक बूंद है जो उसे कैलाशपुरी में मिली थी[1] । छोटे और बड़े की मुख्य समस्या का हल जो मणिभद्र-युधिष्ठिर संवाद में मिलता है, इस परिवर्तन के कारण अधिक स्वाभाविक और बुद्धिसंगत हो गया है ।

महाभारत के युधिष्ठिर की शंका को, कि कहीं दुर्योधन ने तालाब को विषाक्त न करा दिया हो, "नकुल" में यथार्थ का बना पहिना दिया गया है । इस कार्य को संपन्न करने के लिए दुर्जय और बज्रबाहु दो अतिरिक्त पात्रों की अवतारणा की गई है । मणिभद्र दुर्जय को हलाहल लेकर वन में घूमते देख अमृतह्रद के विषाक्त होने की संभावना के प्रति पहले से ही आशंकित रहता है अतः उचित समय पर अमृतह्रद पर पहुंच जाता है । उधर बज्रबाहु गंगास्नान से लौटती हुई द्रौपदी के मन में युक्ति पूर्वक अमृतह्रद देखने जाने की उत्कंठा जगा देता है । दुर्जय और बज्रसेन अपना काम समाप्त कर एक दूसरे की हत्या कर डालते हैं । उनके वार्तालाप द्वारा स्वार्थलोलुप व्यक्तियों या राष्ट्रों के परस्पर लड़कर मिट जाने की व्यंजना भी हुई है ।

चौथा परिवर्तन "तालाब" के स्थान पर अमृतह्रद की कल्पना के द्वारा कवि ने किया है । अमृताचल पर स्थित करके इसके द्वारा युधिष्ठिर के अन्य पाण्डवों के साथ अमृतह्रद पर न जाने के लिए समुचित कारण कवि ने ढूढ़ निकाला है । वृद्धावस्था के कारण पर्वत पर चढ़ना उनके लिए कठिन है, अतः वे द्रौपदी सहित अन्य पाण्डवों को घूमने की आज्ञा देकर स्वयं कुटिया में रह जाते हैं ।

तपस्वी के आश्रम से हिरण का अरणि-मथनिका ले जाना, सरोवर तट पर युधिष्ठिर को छोड़कर शेष पाण्डवों का मृत होना, युधिष्ठिर का नकुल को पुनर्जीवन देने की कामना व्यक्त करना आदि प्रसंग यथावत् हैं ।

१- नकुल, पृ० सं०८९ ।

उपर्युक्त परिवर्तनो के अतिरिक्त कवि ने "नकुल" के कथानक में अनेक नवीन उद्भावनाएं भी की है। इनकी योजना प्रबन्ध की आवश्यकता की पूर्ति के उद्देश्य से हुई है। ये उद्भावनाएं दो प्रकार की हैं-

पात्रों के दैनिक जीवन संबंधी पारिवारिक वातावरण के चित्र

और- स्मरण के सहारे प्रस्तुत किये हुइ अवान्तर प्रसंग

प्रथम के अंतर्गत अर्जुन और द्रौपदी का प्रेम परिहास, बन में युधिष्ठिर आदि का कुन्ती को स्मरण करना, नकुल का वंशीवादन, द्रौपदी की लज्जापहरण संबंधी मनो व्यथा आदि।

द्वितीय के अंतर्गत तीन प्रसंग आए हैं।

क- युधिष्ठिर द्वारा मृग का पीछा करते समय बाल कृष्ण की मुरली-मनोहर छवि का ध्यान।

ख- स्वर्गपुरी में अर्जुन के स्वागत-समारोह का मणिभद्र द्वारा कथन।

ग- बन की कंटकिता लता सम्बन्धी संस्मरण।

उपर्युक्त समस्त उद्भावनाएं काव्य के मुख्य उद्देश्य एवं सन्देश के प्रतिपादन एवं पात्रों के चरित्रों के उद्घाटन में सहायक हैं।

चरित्र-चित्रण

नायकत्व- युधिष्ठिर इस काव्य के प्रधान पात्र या नायक है क्योंकि काव्य का मुख्य सन्देश उन्हीं के माध्यम से व्यक्त होता है। "नकुल" इस कृति के नायक नहीं हो सकते। पुस्तक का नामकरण जिस पात्र के नाम पर हो उसे "नायक" मान लेना अनिवार्य नहीं है। "नकुल" सबसे छोटा है, कवि के प्रतिपाद्य सन्देश के अनुसार छोटा बड़े से अधिक महत्व सम्पन्न हैं, इसी महत्ता के कारण युधिष्ठिर अर्जुन का नहीं नकुल का ही पुनर्जीवन मांगते हैं। क्या इसी सिद्धान्त को लेकर युधिष्ठिर और नकुल के नायकत्व सम्बन्धी संघर्ष में हम युधिष्ठिर पर नकुल की ही विजय स्वीकार कर लें?

युधिष्ठिर -मणिभद्र संवाद पर आधारित कथा भाग ही इसमें प्रधान है। युधिष्ठिर द्वारा नकुल के पुनर्जीवन की अभिलाषा व्यक्त करने के पूर्व तक नकुल का कथा भाग में कोई महत्व नहीं है। केवल उसके पाण्डवों में सबसे छोटे होने की व्यंजना प्रसंग-वश करा दी गई है। मणिभद्र के पूछने पर कि मृतकों में से किसे अमृत की बूंद देकर पुनर्जीवन किया जाय, युधिष्ठिर के मुंह से अनायास ही "नकुल"निकल

पड़ता है । इसके द्वारा कवि प्रमुख समस्या को उभार कर मणिभद्र-युधिष्ठिर संवाद के द्वारा उसका समाधान प्रस्तुत करता है ।

किन्तु नकुल समस्या का प्रेरक मात्र है । नकुल के व्यक्तिगत शीलादि से इस समस्या का कोई संबंध नहीं है । वस्तुतः उस परिस्थिति विशेष में "नकुल" की महत्ता का कारण उसकी लघुता है ।

जैसे युधिष्ठिर से नकुल को महत्ता प्राप्त होती है ठीक वैसे ही नकुल को महत्ता देने के कारण युधिष्ठिर के चरित्र को उत्कर्ष प्राप्त होता है । चूंकि कथा में क्रियात्मक भाग युधिष्ठिर का ही अधिक है और वे ही प्रारम्भ से अंत तक कथा के संचालक रहते हैं अतः उन्हीं को नायक का पद मिलना चाहिये ।

युधिष्ठिर

नकुल समस्या प्रधान काव्य है । अतः पात्रों के शील निरूपण की अपेक्षा उनके विचारों और जीवन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही प्रमुख है । फिर भी पात्रों के चरित्र की रूपरेखाएं उभरती गई हैं ।

एक पात्र में एक ही प्रकार के भाव की अनेक अवसरों पर पुनरावृत्ति हो तो वह उसका प्रकृति का परिचायक बन जाता है । यदि कोई पात्र अनेक अवसरों पर क्रोध प्रगट करता दिखाई देता है तो हम उसे क्रोधी प्रकृति का पात्र कहने लगते हैं । इसके विपरीत यदि कोई पात्र विभिन्न परिस्थितियों में अपनी दया की वृत्ति का परिचय देता ज्ञात होता है तो हम उसे दयालु कहने लगते हैं । पात्र के शील स्वभावादि का ज्ञानसबसे अधिक उनके द्वारा प्रगट किये गये भावों से ही होता है । किन्तु नकुल में कवि के निजी विचारपात्रों के स्वतंत्र विकास पर हावी हो गए है ।

युधिष्ठिर के द्वारा व्यक्त किये हुये भावों से उनकी शान्ति और अहिंसा प्रिय प्रकृति का बोध होता है । बाहुबल को वे पशुबल समझते हैं और उसके द्वारा अवतरित विनाश क्रिया को बहुत बड़ा पाप । वे मृग का पीछा करते हुए जंगल में बहुत दूर निकल जाते हैं किन्तु प्रकृति का ममत्व भरा सुखशान्ति मय वातावरण उन्हें अपनी निष्फलता पर खिन्न नहीं होने देता । उनके चिन्तन से उनके अहिंसा प्रिय स्वभाव का परिचय मिलता है -

आहत क्या अन्यत्र हो चुका है मृग अब तक?
हा ! हत विधि के शीश बड़ा अपराध अनर्थक !

उसको निज शरविद्ध किया होगा जिस जन ने,
पाया होगा तोष बीर बन उसके मन ने ।
वर बीरत्व विनाश-क्रिया में ही क्या केवल ?
तब नर-बल कुछ और नहीं है, वह है पशु बल[1]।

प्रकृति से उन्हें प्रेम है । बसुधा के समस्त प्राणी एक प्रेम के सूत्र में आबद्ध हो जाय, कृष्ण की बांसुरी की प्रेम-भरी स्वर लहरी की गूंज से सम्पूर्ण वातावरण व्याप्त हो जाय जो निर्बलों और असहायों को अभय दान देकर वैर-विरोध का उन्मूलन कर दे, ऐसे जगजीवन की कल्पना उनके मन में सदैव उठती है-

वह मुरली जो खींच बनमृगी को भी लाई,
देकर जिसने अभय प्राण की भीति भगाई,
अब भी मेरे महाशून्य को कर समलंकृत,
हो उठती है स्मरण मात्र से नव नव झंकृत[2]।

समाज की विषमता व सुख के साधनों के असमान वितरण के प्रति उनके मन में क्षोभ है किन्तु वे संघर्ष का स्वर नहीं ऊंचा करते-

रहे नगर में भले अन्न जल से वंचित जन,
अविरत सबके लिए मुक्त है बन का वितरण[3]।

डा० नगेन्द्र ने सत्य ही लिखा है"सियाराम शरण इस बौद्धिक उत्तेजना से अपरिचित नहीं हैं, उनके खण्डकाव्यों और स्फुट मुक्तकों में इसकी स्थिति सर्वत्र है, परन्तु स्वीकृति व कहीं भी नहीं है[4]।"

युधिष्ठिर त्यागमय धर्म के समर्थक हैं । छोटों की रक्षा के लिए बड़ों का बलिदान यह उनका मूलमन्त्र हैं । संसार की दशा इसके विपरीत है । यहां बड़े और शक्तिशाली छोटों और अशक्तों का शोषण करते हैं - युधिष्ठिर मणिभद्र से इस पृथ्वी के गरल अमृत मय स्वरूप का निर्देश करते हैं-

यह बसुधा है, यहां गरल मय ताप न हो क्यों
देखेंगे तो यहां पायेंगे ऐसे जतुगृह
फूंक दिये जा सकें जहां निज बान्धव निस्पृह ।
रीति यहां की यही देखने में आती है,
अमृत छोड़कर बुद्धि हलाहल को धाती है[5]।

१-३: नकुलः पृ० सं० ५, ८, १४ ।

४- कवि सियारामशरण गुप्त में (संपा०डा० नगेन्द्र का लेख) पृ० ७५ ।

५- नकुल, पृ० सं०२६ ।

उनका विचार है घृणा से घृणा का अन्त नहीं होता। प्रेम से घृणा पर जीता जा सकता है। आततायी के लिए भी हमारी करुणा और उदारता का स्रोत न सूखे। युधिष्ठिर की क्षमा शीलता का आदर्श इन पंक्तियों में देखिए:-

अनुकम्पित जब महत् दोष के प्रति भी रहती,
क्षमा तभी है क्षमा, मही मण्डल में महती[१]।

युधिष्ठिर धर्मराज हैं। उनका यह रूप परंपरागत है किन्तु इस ग्रंथ में उनका धर्म युग के अनुकूल चित्रित हुआ है। छोटों के लिए बड़ों का समर्पण यह सृष्टि का धर्म है युग की मांग भी यही है। छोटों में हम अपने को ही विकसित होता हुआ देखते हैं। छोटों के लिए बड़ों का त्याग व्यक्ति की चिरंतन सत्ता का प्रतीक है[२]।

उपर्युक्त पंक्तियों में युधिष्ठिर के सन्देश का निचोड़ है। ये उनके चरित्र की महत्ता की भी द्योतक है। उनके चरित्र में गांधी जी की सत्य, अहिंसा, आस्तिकता, आत्मिक शुद्धता आदि के दर्शन होते हैं।

मणिभद्र

"मणिभद्र" मानवेतर योनि का काल्पनिक पात्र है। मणिभद्र का चरित्र कवि की निजी सृष्टि है। उसके चरित्र में धर्म पर आरूढ़ रहने की कट्टर भावना निहित है। प्रच्छन्न धर्म के स्थान पर धर्मधीर मणिभद्र कीकल्पना कर कवि ने उसे अधिक ग्राह्य बना दिया है। उसके उत्तम कार्य के पुरस्कार स्वरूप जब कुबेर ने अनेक मणिरत्न उसे देने चाहे तो मणिभद्र ने उन्हें अपने वेतन से अधिक उत्कोच समझ करअस्वीकृत कर दिया। फलतः अलकापुरी से निष्कासित हुआ[३]।

मणिभद्र के चरित्र की सृष्टि करके प्रकारान्तर से कवि ने मानव की प्रतिष्ठा वृद्धि का ही उद्देश्य सिद्ध किया है। वह नरेतर(यक्ष) योनि का धर्मनिष्ठ पात्र है किन्तु मानव के महान् गुणों के प्रति उसे श्रद्धा है। स्वर्गपुरी में जब नर-प्रतिनिधि अर्जुन के स्वागत का उत्साह उमड़ा था, उस समय मणिभद्र में हीनता-ग्रन्थि विद्यमान थी, किन्तु अर्जुन के आत्माभिमान से प्रेरणा पाकर उसकी हीनता ग्रंथि मिटती है[४]। इसी प्रकार युधिष्ठिर के त्याग और धर्म की दृढ़ता का वह कायल होता है। वह मानव (युधिष्ठिर) से ही निर्मल दृष्टि पाता और कृतज्ञ होता है।

१- पु: नकुल: पृ० सं० १७, १२-१३, ११, १६-१७, १६।

संसार के छल-छंद कुचक्र, पाखण्ड हिंसा आदि के प्रति उसे घृणा है । जंगल में एक ऐसे ही छद्मवेशी को हलाहल युक्त देखकर वह उसका बध करने में भी सकुचाता है ।

मणिभद्र की प्रतिक्रियाएं इस बात का प्रमाण हैं कि मनुष्य अपने महान् गुणों से देवों का भी पूज्य बन सकता है, किन्तु दुर्गुणों से वह घृणा का अधिकारी भी नहीं रहता, अत्यंत विकृष्ट हो जाता है । संसार के कल्याण की कामना से उसका हृदय, परिपूर्ण है । तापस से युधिष्ठिरादि का वास्तविक परिचय प्राप्त कर वह अनिष्ट के निवारण के लिए तीव्र गति से पर्वतस्थहृद की ओर दौड़ता है और वहां पाण्डवों को मृत पाकर उसे व्यथा होती है जो उसके हृदय की कोमलता और सदाशयता की परिचायक है-

"सब समाप्त हो चुका, अ- न आ पाया कुछ पहले,
यह अनीति-अपघात हृदय हा । कैसे सह ले ?
आया क्रूर कृतान्त वार पीछे से करने,
अनवधान में देश दिया कायर विषधर ने[१] ।

सत् की रक्षा और असत् का निवारण ही उसका धर्म है । अपने पास सुरक्षित अमृत बिन्दु का त्याग वह सत् की रक्षा के लिए करने को उद्यत है । अर्जुन भीम जैसे वीर संसार के हिंसक पशुओं का विनाश कर मानवता की रक्षा करने में समर्थ है अतः उनकी प्राण रक्षा आवश्यक है । किन्तु युधिष्ठिर के नकुल को पुनर्जीवन देने की अभिलाषा व्यक्त करने पर मणिभद्र विस्मित होता है । उसे नकुल के सामने अर्जुन भीम आदि को न्यौछावर करने की बात समझ में नहीं आती[२] ।

किन्तु युधिष्ठिर के प्रेम सन्देश को पाकर मणिभद्र की भ्रांति दूर होती है। गांडीव पृथ्वी पर शान्ति की अवतारणा नहीं कर सकता प्रेम की बासुरी की मधुर स्वर लहरी ही संसार का कल्याण कर सकती है । युधिष्ठिर के इस संदेश को स्वीकार कर मणिभद्र कृतज्ञ होता है ।

मणिभद्र के चरित्र की सृष्टि करके कवि ने मूल कथा की युगानुकूल बुद्धिसंगत व्याख्या करने मे सफलता पायी है । यही नहीं मणिभद्र की सहायता से ही

१-२ नकुल पृ० स० ——, ९० ।

कवि भी अपनी अभिलषित समस्या को उभार सका है । इस दृष्टि से मणिभद्र की चरित्र सृष्टि महत्वपूर्ण है ।

द्रौपदी

नकुल में द्रौपदी के चरित्र को उभारने की चेष्टा की गई है । वह भावुकता, सात्विक पवित्रता और कारुणिकता की मूर्ति है । उसके हृदय की दया और कोमलता का प्रसार जीव जगत तक ही नहीं / जड़ प्रकृति के पदार्थों तक है । वन की कुटिया को, जिसमें उसने अपने जीवन की एक लम्बी अवधि तक आश्रय पाया, वह कैसे भूल सकती है । आज जहां उसे वनवास के १२ वर्ष पूरे होने का हर्ष है वहां उसे कुटिया को छोड़ने का दुख भी है । वह अपनी कृतज्ञता किस भांति प्रगट करें जब वह यहां आयी थी तो इस वनस्थली के रूप में उसे मां की गोद प्राप्त हुई थी । इसी गोद में उसके आंसू सूखे हैं अतः वह कैसे इसका उपकार न माने । वह जानती है कि उसके चले जाने के बाद तरु कोटर की भांति वह सूनी पड़ी रहेगी और एक दिन महाकाल के उदर में विलीन हो जायगी, उस समय श्रद्धा के फूल भेंट करने की व्यवस्था वह किस रूप में करती है-

मैं अपने कुछ अश्रु यहां अर्पित कर जाऊं,
चाह रही हूं, उन्हें सुरक्षित ही धर जाऊं ।
जिसकी सन्तति गई दूर की लिए बिदाई,
उस मां ज्यों यह कुटी बने जब मृतशायी
तब मेरे ये अश्रु फूल बन बन कर आवें,
अनजाने ही गये दुखों की सुधि भर लावें[1]।

कितनी पारिवारिक स्नेह से भरी भावनाएं हैं जो हमारे हृदय की कोमल करुण वृत्तियों को उद्दीप्त कर देती हैं । अंतिम दिन वह वन की प्रकृति को जी भर कर देख लेना चाहती है । प्रकृति के पदार्थों से उसका मौन वार्तालाप हृदय स्पर्शी है-

कहा आप ही- विदाकाल का दर्शन कर लूं,
जो है यहां समस्त हृदय-मानस में भर लूं ।
पता नहीं, कल कहां ऊषा की किरण खिलेगी,
यह तटिनी, एकान्त संगिनी फिर न मिलेगी ।

१- नकुल पृ० सं० ३२ ।

बिसरेगी तू नहीं कहीं भी क्यों न रहूं मैं
मधुरे । ऐसा वचन तुझे हा कैसे दूं मैं[१] ।

प्रकृति के सहजी वन से उत्पन्न स्नेह की सजीवता एवं सहज अनुभूति का अभिनव सौन्दर्य द्रौपदी की उक्तियों में मिलता है । वह अपने इन सहचरों के लिए शुभ कामनाएं देना नहीं भूलती । "सजनि निरन्तर नया रहे तेरा यह पानी[२]।" की कामना तटिनी के लिए व्यक्त की गई है ।

द्रौपदी पूर्व स्मृतियों का संचित कोष है । उसके पूर्व जीवन की विषम परिस्थितियां वन के शून्य जीवन मे अवसर पाकर उमड़ती रहती हैं । दुर्योधन की भरी सभा में उसका लज्जापहरण उसकी ही नहीं नारी जाति की लज्जा पर आक्रमण था- वह वेदना उसके हृदय में चुभती रहती है[३] ।

द्रौपदी के नारीत्व का उद्घाटन कवि ने अर्जुन के साथ उसके एकान्त मिलन की योजना करके किया है । यह योजना एक बार स्मृति कथन के रूप में हुई है । द्रौपदी को वज्रसेन द्वारा अमृतहृद की याद दिलाने पर उसे उस दिन की प्रेम-चर्चा याद आ जाती है जब वह अर्जुन के साथ उनके स्वर्गपुरी जाने के पूर्व अमृतहृद घूमने गई थी । अर्जुन के दूर देवनगर में जाने का संवाद सुनकर उसने मान किया था और इस अवस्था में अर्जुन का हास परिहास भी उसे अरुचिकर प्रतीत हुआ था-

बोली भौंहें तान- तुम्हें सूझी है क्रीड़ा,
नहीं समझते पुरुष कभी नारी की पीड़ा[४]

किन्तु अर्जुन के द्वारा प्रेम का आश्वासन पाकर वह फूली नहीं समाती थी[५] ।

नारी पुरुष को आत्म समर्पण करके ही संतुष्ट होती है । द्रौपदी का नारीत्व इसी प्रकार अर्जुन पर न्योछावर होता है । अर्जुन द्रौपदी के कुंज मिलन में अर्जुन के पार्वती और राम-जानकी संबंधी संस्मरणों के माध्यम से इस तथ्य की व्यंजना हुई है[६] । अपनी लज्जा पर आंच आते ही नारी का रौद्ररूप अत्याचारी के अनिष्टार्थ उद्दीप्त हो जाता है । द्रौपदी का रौद्र रूप भी एक आध स्थल पर देखने को मिलता

१-६ नकुल पृ० सं० ३३, ३४, ३० ५८ ५०, ५३-५४ ।

है जैसे गंगा स्नानसे लौटते समय बज्रसेन के अचानक सामने आ जाने पर-

छोड़ रही हूं तुझे, सामने से हटजा,
कहती हूं फिर कभी निकट मेरे तू आगा[१]।

इस प्रकार द्रौपदी भावुकता, कोमलता और सहानुभूति की मूर्ति है। पातिव्रत्य की भावना उसमें तीव्र है। किन्तु उसके नारीत्व पर हावी होने वाले व्यक्ति के लिए उसका क्रोधानल प्रज्वलित होते देर नहीं लगती।

अन्य चरित्र महत्वपूर्ण नहीं हैं।

रस और भाव-व्यंजना

उनकी व्यक्तिगत सुख की वासनाओं का अन्त हो चुका है। उनमें "शम" स्थायी की अवस्थिति मानी जा सकती है। छोटों, दलितों, उपेक्षितों के प्रति करुणा, और ईश्वर (कृष्ण) के मधुर मोहक रूप में प्रगाढ़ आस्था आदि उनके "शम" भाव के ही सूचक हैं। तापस, वन, कुटिया, प्रकृति के आत्मभाव व्यंजक दृश्य आदि उद्दीपन हैं। युधिष्ठिर का रोमांच, विस्मय अवाक् होना आदि अनुभाव हैं। मति, हर्ष, स्मृति आदि संचारी हैं। उपर्युक्त अंगों से परिपुष्ट होकर शान्त रस की व्यंजना यहां होती है-

उसी दिवस का लाभ रहा, पर सबके ऊपर
वह मुरली जो खींच वनमृगी को भी लाई,
देकर जिसने अभय प्राण की भीति भगाई,
अब भी मेरे महाशून्य को कर समलंकृत,
हो उठती है स्मरण मात्र से नव नव झंकृत[२]

मणिभद्र के आश्चर्य भाव की व्यंजना देखिए-

जिसके तनुपर न हो क्षुद्र मणि का भी गहना,
जिसने कर्कश कठिन वसन वल्कल का पहना,
वन में जिसके पास धनुष भर हो साधारण,
कर कैसे वह सका वहां वह दैन्य निवारण[३]।

इसी प्रकार दुर्योधन के गुप्तचरों को आलम्बन मानकर मणिभद्र के घृणाभाव की व्यंजना हुई है-

---

१-३ नकुल पृ० सं० ३६, ८, ११।

अमृतौषध के बिना गहल धारी हो जो नर,
कुटिल कर्म रत निन्द्य नारकी है वह विषधर ।
उसे हनन कर कौन रूधिर से रँगता निजकर,
घोर घृणा से उसे कर दिया वन के बाहर

+ + +

मक्ष प्रदर्शित कर न सका जो घृणा वचन से,
उसको उसने प्रकट किया अब नीरव पन से[१] ।

द्रौपदी और अर्जुन को परस्पर आलम्बनाश्रय मानकर "रति" भाव की व्यंजना भी कवि ने की है किन्तु नैतिक आदर्शों से सहमा हुआ कवि श्रृंगार के स्थूल चित्रण से अपने को बचाने की चेष्टा करता है । इसी कारण स्थूल श्रृंगार के कुछ चित्र कवि ने द्रौपदी की स्मृति के धरातल पर प्रस्तुत किए हैं और उनमें भी वह सजीवनता और उष्णता नहीं दिखाई पड़ती जो श्रृंगार चित्रों में होनी चाहिए । सुर नगरी को प्रस्थान करने के पूर्व द्रौपदी से अर्जुन की विदाई लेने का श्रृंगार चित्र देखिए-

एक हाथ से हाथ, दूसरे से धर ठोढ़ी,
ग्रीवा अपनी ओर पार्थने उसकी मोड़ी,
और स्वमुख से अमिट प्रेम की छाप लगाई,
अमृत पिलाकर विरह-काल की भीति भगाई[२] ।

डा० नगेन्द्र ने उपर्युक्त चित्र को बिल्कुल ठंडा बतलाया है । इसमें सारी क्रिया यन्त्रवत् होती है । ऊष्मा काइस में अभाव है । उनके विचार से नारी का एक प्रकृत रूप भी है, जिसके शरीर और मन में उपभोग की भूख है, जो स्वयं उपभोग्य बनकर भी तृप्ति पाती है । अतः नैतिक आदर्शादि के आतंक से नारी के इस रूप की उपेक्षा करना उसके मूल रूप की उपेक्षा करना है और जीवन के कवि के लिए वह स्पृहणीय नहीं है[३] ।

अंतिम सर्ग में युधिष्ठिर के तात्कालिक विषाद की झलक भर मिलती है । द्रौपदी सहित चारो पाण्डव अमृतहृद का विषाक्त जल पीकर मृत हो चुके हैं । मणि-भद्र के सहानुभूति प्रदर्शन पर युधिष्ठिर कहते हैं-

---

१-२ नकुल पृ० सं० १६-१७, ४२ ।

३- कवि सियारामशरण गुप्त (डा० नगेन्द्र का लेख) पृ० ७८-७९ ।

परजन अब तक तात, न था मैने पहचाना,
प्रथम बार ही भेद हाय ! मैने यह जाना,
समझा जिनको स्वजन, यही था उनके मन में,
मुझे अकेला छोड़ गये, इस भव कानन में ।
जाओ मेरे हृदय-प्राण-था इष्ट यही यदि,
जीवन का यह मरण योग भागूं मैं स्थिर निरवधि ।
हुए युधिष्ठिर मौन, नयन अनिमेष अचल थे,
स्थिर समाधि में महाकाल के वे दो पल थे ।
ऊपर नभ में टपक पड़ी तारिका सरीखी,
बूंद बरौनी तले अश्रु की ठहरी दीखी[१] ।

किन्तु ये विषाद संचारी मात्र है, यह भी उनके "शम" का पोषक है । मृतकों को शान्ति मिल गई इससे संतुष्ट होकर वे थोड़ी ही देर बाद दुर्योधन के लिए चिंतित होते हैं-

मिली शान्ति ही उन्हें हो गये हैं गत जो जन ।
पाप-पंक में लिप्त हाय ! क्यों हुए सुयोधन[२] ।

वर्णन

प्रकृति- वर्णनों के अंतर्गत सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकृति-वर्णन है । नकुल की समस्त घटना वन के मध्य प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में घटित हुई है । प्रकृति के विविध रूपों के रागरंजित चित्रों से यह कृति भरपूर है । प्रकृति यहां तटस्थ नहीं, वह केवल पृष्ठ भूमि ही नहीं प्रस्तुत करती और न वह भावों की उद्दीपन मात्र है वरन् अन्य पात्रों की भांति इसका एक अलग व्यक्तित्व भी है । वह वात्सल्यमयी मां के समान मानवों पर ही वात्सल्य नहीं प्रदर्शित करता, वन्य पशु-पक्षियों के प्रति भी उसका दुलार कम नही है । डा० सत्येन्द्र ने ठीक ही लिखा है- "कवि ने मनुष्य, पशु और प्रकृति का मनोरम कौटुम्बिक रूप खड़ा कर दिया है । वृक्ष, नदी, पर्वत सभी जैसे जीवन में एक स्थान रखते हैं, उनमें भी एक जैसे उदारता है, पारस्परिक सहानुभूति का भाव वैसे उनमें व्याप्त है[३]"। वन की प्रकृति किस प्रकार अपने जीवों को आंचल में छिपाकर उनकी

१-२ नकुल पृ० सं० ८४,८८ ।

३- कवि सियारामशरण गुप्ता (सं० डा० नगेन्द्र) में संकलित "नकुल" नायक लेख, पृ० १९२ ।

प्राणरक्षा करती है-

आगे पीछे इधर-उधर झाड़ी ही झाड़ी,
नीचे ऊँचे सरस शुष्क वृक्षों की बाड़ी
इनमें मृग का हितू हुआ वह कौन अयाचित,
जिसकी छाया यथा उठी उंगली का इंगित,
बता रही थी उसे सुरक्षित पथ आगे का,
धन्य बन्धु अनजान प्राण लेकर भागे का[१] ।

प्रकृति का यह वात्सल्यपूर्ण स्वरूप अनेक स्थलों पर व्यक्त हुआ है । द्रौपदी के आँसू भी उसी प्रकृति की गोद में ही सूखे वह कहती है-

इस वन में, इस वनस्थली में मैं जब आई,
मैया की सी गोद यहां आते ही पाई
आई थी निर्बोध नवागत शिशु सी निर्भय,
नयन मूंद निश्चिन्त न कुछ भी मान अपरिचय
आकर रोदन दिया, नहीं चुपकाना माना
सुखी नहीं हूं, सुखी नहीं हूं, यह हठ ठाना[२] ।

प्रकृति के कोमल स्निग्ध एकान्त स्वरूप पर कवि की दृष्टि अधिक रही है जिसमें उसे अखण्ड जीवन अटूट ममता, असीम उत्कंठा व आश्चर्यमयता का दर्शन हुआ है । प्रकृति के कठोर-कर्कश रूप कवि को आकृष्ट न कर सके । प्रकृति का शान्त स्निग्ध वातावरण पवित्र भावों को उद्दीप्त करता है -

अर्जुनादि इस समय ऊंचाई पर पर्वत के,
पहुंच रहे थे निकट समाकांक्षित उस ह्रद के ।
नव नव सुषमा निरख मग्न मन था कृष्णा का,
भूल गया था, ध्यान श्रमज जल की तृष्णा का ।
दृश्यावलि है यहां नाथ, यह कितनी नीकी,
झलमल वह जो दूर, झलक है निज तटिनी की ।
रुक सके न क्यों विश्रान्ति हेतु कुछ यहां सभी हम ।
वह वन, जिसमें दुःख चटपटे सुख सा भोगा,
आगे फिर इस भांति नयन गोचर क्या होगा[३]

१-३ नकुल पृ० सं ३, ११ ७६ ।

उपदेशक के रूप में भी प्रकृति के कुछ चित्र कवि ने खींचे हैं-

था यह ऐसा स्थान जहां से दूर दूर गत ।

नीचे का बन-दृश्य दीखता था अप्रति हत ।

जता रहा था पलट गया-सा वह प्रिय प्रान्तर,

पाना हो कुछ भव्य उठो तो ऊंचे स्तर पर[१]।

प्रकृति के मानवीय कार्य व्यापारों का प्रति बिम्ब भी सहृदय कवियों को दिखाई पड़ जाता है । शैल से उतरकर कुछ दूर आगे जाकर मुड़ती हुई सरिता की गति वेगमयी होते देख द्रोपदी अर्जुन से कहती है-

"कुछ ही पहले नाथ, रही जो मन्दगामिनी ।

खर प्रवाह में हुई यहां यह कान्त कामिनी ।

गुपचुप कुछ संदेश दूर से प्रिय का पाया,

यह कल विकलोल्लास तभी उर का उठ आया[२]।"

और अर्जुन उसका कारण भी प्रस्तुत करते हैं-

कुछ ऐसा ही बोध मुझे भी होता प्यारी,

यह तटिनी है दूर विजन की शैल कुमारी,

अब तक गुरुजन तुल्य सामने अमृताचल था,

संयत होकर मधुर-मधुर इसका कल-कल था,

वह गिरि, देखो, हुआ यहां दृग पथ से ओझल,

हुई इसी से यह प्रवाहिणी यों चल-चंचल,

निर्जन में उद्दमित बालिका ज्यों वय वाली,

मुखरित होकर बजा रही है यह करताली[३]।"

उपर्युक्त चित्र इसलिए और भी सार्थक है कि उनके सहारे पात्र अपने हृदयस्थ प्रणय की भी व्यंजना करते चलते हैं ।

प्रकृति के सटीक चित्रों की नकुल में कमी नहीं प्रातः,सन्ध्या, दोपहर आदि का यथार्थ स्वरूप इन चित्रों के द्वारा प्रस्तुत करने में कवि सफल हुआ है । इनमें कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय मिलता है । गंगा के निर्मल जल में स्नान करती हुई द्रोपदी कीयह छबि देखिए-

---

१- नकुल, पृ० सं० ६६ ।

२- वही, पृ० सं० ५८ ।

३- वही, पृ० सं० ५९ ।

बन गंगा के सतत प्रवाहित निर्मल जल में,
ऊपर से ही जहां झलक देते थे तल में,
रंग-विरंगे उपल-खण्ड, घोंघे बालूकण,
करती थी वह वहां अकेली स्नाथन्निमज्जन ।
अञ्जलिजल से वक्ष वाहु क्व भिंगो भिंगो कर,
जल धारा में पसर गई वह लम्बी होकर,
सैकत में फिर युग मृणाल-भुज स्थापित कर निज,
ऊपद समुद उछाल दिया उसने मुख सरसिज[1]।

नकुल के प्रकृति चित्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सात्विक को जन्म देते और हमारी सुकुमार वृत्तियों को तुष्ट करते हैं ।

स्वर्ग का स्वागत-समारोह- मणिभद्र के संस्करण के रूप में अर्जुन के लिए स्वर्ग में आयोजित स्वागत-समारोह का भाव-विभोर वर्णन कवि ने किया है । इसके द्वारा नर की महत्ता प्रमाणित करने और देवों की तुलना मे भी उसे श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टा कवि ने की है ।

इस अवसर पर स्वर्ग निवासियों की स्तक उत्कंठा का सुन्दर चित्र कवि ने खींचा है । अर्जुन के पहुंचने के पूर्व सुर-सुरांगनाएं हर्षोल्लास से भर कर अर्जुन की महिमा-मंडित कथाएं कहते है और उनके साथ पृथ्वी के अपार वैभव की कल्पना में मग्न दिखाई देते हैं । प्रतीक्षारत देवगण अर्जुन की प्रतीक्षा करते हुए अंतरिक्ष पर दृष्टि टिकाए हैं, उनके पहुंचते ही "आ पहुंचे" की ध्वनि से भवन व राजपथ हर्ष-निनादित हो उठते हैं । ऐरावत पर एक साथ वे सबको दिखाई पड़ते हैं । रत्ना भूषित जयन्त के दायीं ओर गज पर वे आसीन हुए । उनके नग्न, वल्कलयुक्त किन्तु तेजोमय रूप को देखकर सभी आश्चर्य चकित हो गए:-

यही अकांचन राजरत्न हस्तिनापुरी का ?
बहु कीर्तित बहु कथित किरीटी उस उर्वी का ?
विस्फारित दृग रख न सके अपने में प्रत्यय,
देख रहा हूं जिसे, वही है धरा-धनंजय[2]।

फिर सुर-सरांगनाओं द्वारा मन्दार मालिकाओं की वर्षा, धीरे-धीरे गज का आगे बढ़ना, सुरपुर की सौन्दर्य -तरंगों से उसका अवमत्कृन्त रहना, मंद मुस्कान द्वारा

१-नकुलः पृ० सं० ३१, १८ ।

आत्म-गौरव का आभास देना आदि वर्णनों से यह स्वागत-समारोह अत्यन्त सजीव हो गया है । लगता है जैसे कवि ने स्वयं उत्सव में सम्मिलित होकर अपनी सूक्ष्म-दृष्टि से वस्तुओं को देखा है । वस्तुतः इस स्वागत समारोह की प्रेरणा कवि को गांधी जी के लन्दन में हुए स्वागत की घटना से मिली है । यथार्थतः यह गांधी जी के विलायत में हुए स्वागत का ही वर्णन है जो अर्जुन के स्वर्गपुरी में स्वागत के रूप में रखा गया है । गांधी जी भारतीय जनता के प्रतिनिधि के रूप में अपने वास्तविक नग्न वेश में इंगलैंड के सम्राट से मिले थे और इससे वहां की दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा पहली बार भंग हुई थी ।

इस प्रसंग में स्वर्ग की सजावट का वर्णन भी कवि ने अत्यन्त मुग्धकारी रूप में प्रस्तुत किया है । इस वर्णन में स्वर्ग की श्रेष्ठता या उसका वैभव प्रदर्शन कवि को इष्ट नहीं है । वरन् यह नर-प्रतिनिधि अर्जुन के स्वागतार्थ होने के कारण मानव प्रतिष्ठा की भावना से ही अनुप्राणित है । कल्पवृक्ष स्वर्ग के वैभव का प्रतीक है किन्तु अर्जुन के स्वागतार्थ मानो उसमें उसी दिन फल निकले हों । स्वर्ग का वैभव मानो नर के सम्पर्क से ही अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा हो[१]।

युग समस्याएं और समाधान

छोटे और बड़े में कौन महत्वपूर्ण है? यह नकुल की केन्द्रीय समस्या है जिसपर सम्पूर्ण कथानक का ढांचा खड़ा है । आधुनिक युग के संदर्भ में इस समस्या के विभिन्न पहलुओं पर कवि की दृष्टि गई है । सर्वप्रथम इस समस्या के पारिवारिक पहलू पर विचार किया गया है । पारिवारिक जीवन में छोटे और बड़े के दायित्वों को लेकर आये दिनों अनेक विवाद खड़े होते रहते हैं । कुछ विद्वानों ने नकुल की इस समस्या का सम्बन्ध कवि ने निजी परिवार की व्यक्तिगत समस्या के साथ बताया है[२]। युधिष्ठिर का नकुल का पुनर्जीवन मांगने और उनके सामने अर्जुन भीम आदि बड़ों की उपेक्षा करने की इस प्राचीन कथा में कवि को समस्या का समाधान मिल गया है । मणिभद्र - युधिष्ठिर -संवाद में कवि ही युधिष्ठिर के कण्ठ से बोल रहा है-

छोटे के भी लिए बड़े से बड़ा समर्पण
किया जाय जब, तभी धर्म-धन का संरक्षण[३]।

और इसका कारण भी उसने स्पष्ट कर दिया है-

१-१: नकुलः पृ० सं० १७-१८ ।
२- कवि सियाराम शरण गुप्त (डा० नगेन्द्र द्वारा सं०) में सियाराम शरण के ग्रंथ शीर्षक श्री विद्याभूषण अग्रवाल का लेखःपृ०सं०५१। ३- नकुल पृ०सं०९३ ।

उन्हें दैव ने दिया जन्म के साथ बड़प्पन,

छोटों का प्रतिपाल, यही उनका जीवन-प्रण[1]।

छोटों की रक्षा करके ही नरसमाज कालपर विजय पाकर अपने को अमर बना सकता है और विश्व कल्याण का उद्देश्य आगे बढ़ा सकता है। कवि के शब्दों में ही इसकी व्याख्या सुनिए:-

लेना होगा निखिल-क्षेम-व्रत निर्भय हमको,

देना होगा बड़ा भाग लघु से लघु तम को,

लघु से लघुतम कौन, नहीं यदि हों हम खोटे,

वही हमारे लिए बड़े हमसे जो छोटे,

जितना आगे उदित हुआ है जो जन हममें,

उतना आगे चला गया वह जीवन क्रम में।

अक्षय जीवन- स्रोत हमारा उसके भीतर,

चला गया है बहुत दूर तक इस अवनी पर,

यथा शक्ति सब भांति उसे रक्षित रख निर्भय,

होती है उपलब्ध काल के ऊपर सुविजय[2]।"

उक्त समस्या का दूसरा पहलू सामाजिक जीवन में दिखाई देता है जिसमें महत् और लघु अथवा बलवान् और निर्बल का द्वन्द्व चलता रहता है। क्या बलवान के लिए निर्बल की बलि देकर शान्ति स्थापित हो सकती है। इसी को दूसरे शब्दो में यों कह सकते हैं क्या युद्ध अथवा पशुबल से संसार का कल्याण संभव है? युधिष्ठिर उसका समाधान करते हुए कवि के गांधी वादी दृष्टिकोण को ही मुखरित करते हैं-हिंसा से शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती :-

सोच रहे हैं आर्य कि गांडीवी के खर शर-

कर सकते हैं शान्ति प्रतिष्ठित इस पृथ्वी पर।

मुझको तो विश्वास नहीं है रंचक इसमें,

देंगे कैसे अमृत बुझे, स्वयमपि जो विष में।

धरना होगा आत्म-दान के पावन मग को,

नवजीवन परिपूर्ण जिन्हें करना है जग को[3]।

१-३: नकुलः पृ० सं० ९२, ९५, ९४।

प्रेम और अहिंसा का स्वर गुंजरित करने वाली नकुल की बांसुरी ही सबलों और निर्बलों को निकट लाकर सबको अभयदान दे सकती है अर्जुन का गांडीव नहीं । "वह मुरली जो खींच बन मृगी को भी लाई, देकर जिसने अभय प्राण की भीति भगाई[१]" ही सदैव युधिष्ठिर के अंतर में झंकृत होती रहती है उसी को सतत प्रवाहशील रखने का उद्योग करते हैं ।

इसी समस्या का तीसरा-आर्थिक-पहलू भी है जिसकी ओर कवि ने अनेक संकेत किये हैं । एक ओर शोषक वर्ग है जो निज सुख -स्वार्थ की पूर्ति के लिए दूसरों का शोषण करता है, और दूसरी ओर दलित वर्ग है जिसकी प्रतिक्रिया का विस्फोट पृथ्वी की शांति को भंग कर देता है- निम्नपंक्तियों में इस समस्या का स्वरूप एवं उसका हल देखिए:-

कथित बड़े जन सोच रहे हैं- इस भूतल के
जन जितने हैं जहां कहीं हलके से हलके,
रहने उनके लिए न देंगे संजीवन कण
सुख सब अपने अर्थ, अन्य का शोषण, शोषण ।
उन दलितों में प्रतिक्रिया विस्फोटित होती,
दुःशासन में उभर शान्ति बसुधा की खोती ।
करना है यदि हमें यहां यह पाप निवारण,
हो अभीष्ट सर्वत्र प्रेम का पूर्ण प्रसारण,
करना होगा बड़ा त्याग निज सुख जीवी को,
होना होगा स्वयं समर्पित गांडीवी को[२]।

किन्तु वह साम्यवादी विचार धारा के वर्ग-संघर्ष का पोषण नहीं करता,वह स्पष्ट शब्दों में उसका प्रतिवाद करता है-उसका दृष्टिकोण गांधीवाद का पोषक है:-

होगा निश्चय क्षुद्र-महत् का भेद भुवन में,
सब हैं एक समान परन्तु मरण जीवन में[३]।

छोटों के लिए बड़े स्वयं त्याग करें यही समस्या का समाधान है । त्याग से ही संसार में शान्ति और सुख की वृद्धि हो सकतीहै । कवि समान बटवारे की बात न कर त्याग और प्रेम का आदर्श रखता है ।"मणिभद्र के पास अमृत की केवल एक ही बूंद तो है- और वहां पांच ऐसे हैं जिन्हें उसकी आवश्यकता है । सम वितरण का सिद्धान्त

१-३: नकुल: पृ० सं० ८, ९३, ९४ ।

यहां समस्या का हल कैसे प्रस्तुत कर सकता है । त्याग ही इसका एकमात्र हल है ।

उपर्युक्त छोटे बड़े की केन्द्रीय समस्या से संबद्ध दूसरी समस्या "हीन भाव या हीनता" ग्रंथि की समस्या है । उपर्युक्त उद्धरण (सं० ३) में कवि छोटे बड़े के भेद को अवश्यंभावी मानता है किन्तु छोटे बड़ों से अपने को हीन समझें यह बात कवि स्वीकार नहीं करता । हीनता की भावना ही मनुष्य के दुःखों का मूल कारण है। अर्जुन अपने साधारण वल्कलधारी नग्न वेश में स्वर्ग की यात्रा करते हैं किन्तु अपार वैभव व सौन्दर्य तरंगों को देखकर आतंकित नहीं होते और उसकी तुलना में उन्हें अपनी हीनता का भान नहीं होता, उनके आत्म-गौरव का भाव उनके मुख की मुस्कान में झलकता रहता है[1]।

अर्जुन की इस आत्म प्रतिष्ठा की गौरव-भावना के प्रभाव से अलका-निवासी यक्ष मणिभद्र भी अपनी हीनता-ग्रंथि को दूर करने में सफल होता है-

अन्तस् की यह, ग्लानि संगिनी इस जीवन की,
निरा भरणता, -छाप दीनता की इस तन की,
गई न जाने कहां निमिष में ही भीतर से
रिक्त वेश में वहां पार्थ के दर्शन भर से[2]।

मनुष्य के इसी दैन्य भाव का अंत करने के लिए कवि ने नर-प्रतिनिधि अर्जुन को देवताओं के द्वारा वंदित और प्रतिष्ठित कराया है । इसी प्रकार कैलाशवासिनी पार्वती भी पृथ्वी की पुत्री सीता के आचरण से गदगद होकर उनके सतीत्व का आदर्श अपनाती हैं । मानव की प्रतिष्ठा और उसमें भी लघु से लघुतम की महत्ता ही इस कृति का मुख्य प्रतिपाद्य है । मानव के साथ उसकी क्रीड़ाभूमि पृथ्वी का गौरव -गान कृति में सर्वत्र मुखरित है- अर्जुन की यह उक्ति देखिए:-

"यही उचित है, इष्ट हमें अपना ही स्तर हो,
भू पर उल्कापात, स्वस्ति गृह है ऊपर जो ।
हम अपने ही धराधाम के हैं अभिलाषी,
मर्त्यभूमि में चारु चिरंतन के आश्वासी ।
फूल रहे हम इसी मेदिनी के फूलों में,
झूल रहे क्यों कण्ठहार बिंधकर शूलों में[3]।

१-३: नकुल: पृ० सं० २३, २३, ५७ ।

नारी के प्रति प्रतिष्ठा कीभावना भी, इसमें व्यक्त हुई है । आधुनिक युग की यह प्रमुख प्रवृत्ति है । द्रोपदी को "नारी" जाति के प्रतिनिधि के रूप में अंकित कर और उसे श्रद्धास्पद बनाकर कवि ने नारी जाति के प्रति श्रद्धा का भाव प्रकट किया है । अर्जुन के इस कथन मे कवि के उक्त भाव को वाणी मिली है:-

नारी जन की पुण्य प्रतिष्ठा छल-बल पूर्वक
खल दुःशासन के अशोक बन मे है अब तक
करना है उद्धार वहां से उस विकला का
ध्यान हमें है प्रिये निरन्तर उस विमला का
मेरे द्वारा हुई दशा जो खाण्डव बन की
होगी गति अविलम्ब वही कुरु कुल कानन की[१]।

भाषा-शैली

नकुल की भाषा में चपलता, सजीवता और वक्रता के दर्शन होते हैं । पति-पत्नी के हास-परिहास मय वार्तालाप में प्रयुक्त भाषा को देखकर पंचवटी की भाषा का स्मरण हो आता है । "नकुल" और पंचवटी के ऐसे स्थलों से एक-एक उदाहरण दिया जा रहा है जिससे दोनों की भाषा का स्वरूप स्पष्ट हो सके-

नकुल- खड़ी रही प्रियतमे तनिक को तुम ऐसी ही
इस निकुंज में यहां लिए नभ की सारी श्री-
उतरी हो तुम मंजु ऊषा देवी ज्यों नीचे
कच गुच्छों मे किये ओट में निशि को पीछे
सुन अर्जुन का कथन द्रोपदी बोली सस्मित
ले आते हैं नाथ नित्य नव-नव उद्भावित[२]।

\+ \+ \+

पंचवटी- तनिक देर ठहरो, मैं देखूं तुम देवर-भाभी की ओर
शीतल करूं हृदय यह अपना पाकर दुर्लभ हर्ष हिलोर
यह कहकर प्रभु ने, दोनों पर, पुलकित होकर सुध-बुध भूल
उन दोनों के ही पौधों के बरसाए नव विकसित फूल[३]।

१-२: नकुल: पृ० सं० ५८, ४६ ।

३- पंचवटी: छं० सं० १२८ ।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि नकुल की भाषा अधिक संस्कृतनिष्ठ, और परिष्कृत है । वक्रता और चापल्य दोनों की भाषा में है ।

ध्वन्यात्मक शब्दावली का प्रयोग इसकी प्रमुख विशेषता है । कुछ उदाहरण देखिए-

दौड़ उठा सन्तप्त समीरण सर-सर, सर-सर[1]

+ + +

प्रदक्षेप युत हुआ झरे पत्तों का खड़ खड़

उड़ा निकट चर रहा कपोतों का दल फड़-फड़[2]

+ + +

इस वसुधा के रुचिर चित्र थे झलझ-झलमल[3]

+ + +

प्राची के सीमन्त देश में झकमक झकमक[4]

अनुप्रास का प्रयोग संयत है किन्तु शब्द-साम्य पर कवि की दृष्टि अधिक रहती है:

मनो-मुकुर में तनिक उन्होंने निज को झांकी ।

खेद खिन्न क्यों नहीं निष्फलित भ्रमण यहां का[5]

+ + +

कनक-कमल से खिले देव-दम्पितियों के दल

मिलित मंगलोचार कर रहे हैं कल-कोमल[6]

"साधनिका[7]" अपरम्पाराएं[8] जैसे कुछ अप्रचलित प्रयोग भी कवि ने किए हैं ।

नकुल की भाषा में वर्णनात्मकता के स्थान पर चित्रात्मकता का विकास हुआ है कवि उपयुक्त पदावली का व्यवहार करके वर्ण्य वस्तु(या विषय) की कुछ ऐसी प्रतिनिधि रेखाओं को उभार देता है जिससे सम्पूर्ण चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है । नीचे के उदाहरणों में"सिमटी", "लिपटी" "दृग विस्फारित कए" और "लम्बे डग धरके" आदि ऐसे ही प्रयोग हैं-

बन की छाया तपन ताप से पीछे सिमटी ।

विटपा वलि के पाद मूल में ज्यों जा लिपटी[9]।

१-९: नकुलः पृ० सं० ४, ४, २०, २९, ५, १८, „ „ ४ ।

दृग विस्फारित किये हुए आश्चर्य पगे से ।
कहाँ आ गए यहाँ दूर अपने आश्रम से[१]।

+ + +

झटके से झकझोर स्वगति में जागृति भरके ।
अब वे आगे बढ़े पुनः लम्बे डग धर के[२] ।

नकुल की भाषा में छायावादी शैली की लाक्षणिकता का विकास भी हुआ है । एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा-

विचरण में हीले उड़ान की मीड़ मनोहर[३]

"मींड" संगीत के स्वर परिवर्तन में होती है उड़ान मे नहीं अतः मुख्यार्थ का बाध है । लक्ष्यार्थ है उड़ना प्रारंभ करने के पूर्व की चेष्टा विशेष ।

निष्कर्ष यह है कि नकुल की भाषा में प्रौढ़ता, सजीवता, वक्रता, लाक्षणिकता और चित्रात्मकता के दर्शन होते हैं वह भावों को प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं ।

अलंकार-योजना

अर्थालंकारों के प्रयोग की ओर कवि की प्रवृत्ति विशेष नहीं है । लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि आदि विशेष बल देने के कारण अभिधार्थ में चमत्कार लाने की चेष्टा कवि ने नहीं की । फिर भी भावाभिव्यक्ति के स्वाभाविक प्रवाह कुछ अर्थालंकार स्वतः आ गए हैं । इनमें उपमा, रूपक, दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास के उदाहरण ही अधिक मिलते हैं । उपमा रूपकादि में लाए गए उपमान परंपरागत न होकर नवीन हैं । प्राचीन उपमानों की योजना यदि हुई भी है तो नवीन पद्धति पर । निम्नांकित पंक्ति में माता कुन्ती के नकुल को बिदा देते समय दुख से स्तब्ध रह जाने की अवस्था को "निर्वात घनघटा" से उपमित किया गया है । यह उपमा स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण मे सहायक है-

"माँ जैसे निर्वात घनघटा-सी थी निश्चल"[४]

कवि ने स्थूल विषयों के लिए सूक्ष्म या अमूर्त उपमान भी प्रस्तुत किए हैं ।

१-४ नकुल पृ० सं० ४,४, २ और ४५ ।

बना यही भय रहा न मैं प्रकटित हो जाऊं
निज को तीव्र प्रवृत्ति तुल्य किस भांति छिपाऊं[1] ।

कहीं कहीं प्राकृतिक वस्तुओं के प्रत्यक्षीकरण के लिए मानव को उपमान बनाया गया है । नीचे की उपमा उपयुक्त होने के साथ साथ सहृदयतापूर्ण भी है-

देखी शत शत विकच कल्पवल्ली नवेलियां,
रास नृत्य के लिए समुद्यत सी सहेलियां[2] ।

मानव के अंतर की सूक्ष्म क्रियाओं को स्थूल उपमानों के सहारे अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गयी है । निम्नांकित उदाहरण में अनुकूल वातावरण पाकर युधिष्ठिर के मन में नटनागर के कृष्ण की स्मृति सहसा जाग उठती है । इस सूक्ष्म स्थिति को "सुप्त बड़ी बत्ती में शिखा जग जाने की उपमा देकर साकार कर दिया गया है-

नटनागर का स्मरण उन्हें आया अब ऐसे,
शिखा जग गई सुप्त पड़ी बाती में जैसे[3] ।

वन-प्रदेश में घने वृक्षों की छाया में धूप छन-छन कर आती है । उस दृश्य को कवि रूपक अलंकार के सहारे नीचे की पंक्तियों में मूर्तिमान करता है-

बरसे उन पर धूप सुमन डालों से झिर-झिर[4]

नारी की महत्ता और सतीत्व को उत्कर्ष प्रदान करने के लिए कवि ने रूपक का विशाल भवन खड़ा किया है जो कवि के हृदय की नारी के प्रति पूज्य भावना को अभिव्यक्ति देने में सहायक हुआ है-

दुख-दावानल मध्य सती-सीताएं आतीं ।
भव-कानन में दूर-दूर तक ज्योति जगातीं ।
उनका पुण्य-प्रदीप यहां द्वापर तक आकर ।
अतुल स्नेह से अमल तुम्हारी ज्वाला पाकर[5]।

मन की चरमानन्दमयी स्थिति को रूपक अलंकार के सहारे कवि ने बड़ी सफलता के साथ व्यक्त किया है-

ऐसे में ही क्यों न प्राण-पिक भी उड़जावे ।
कूक चुका भरपूर लोभ क्यों वृथा उड़ावे[6] ।

१-६ नकुल पृ० सं० ६५, ५२, ५, ३, ५८ और ५५ ।

दृष्टान्त अलंकार की योजना कई स्थलों पर सुन्दर बन पड़ी है । यहाँ सादृश्य बिम्ब विधान में कवि की कल्पना का सौन्दर्य देखा जा सकता है । पांडवों के १२ वर्ष के वन-जीवन की अंतिम रात्रि का अन्त उनके दुखों की दीर्घ निशा का अन्त भी था । इसे इसके बाद आने वाले दिन की अभिलाषा उनके मन में दुख की अवस्था के प्रारंभ होने के समय से ही थी । इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए कवि प्रकृति से चुनकर नवीन उपमान प्रस्तुत करता है-

यह निशान्त था एक निशा का ही न समापन
बहुत दूतर तक गये एक युग का था यापन
किसी कंहकित बड़ी डार के निपट अन्त में
इच्छित एक प्रसून खिले ज्यों नव वसन्त में[१] ।

दृष्टान्त का एक और उदाहरण लीजिए-

जैसे निशि का तिमिर चिरते उल्का आती
नभ के दुर्गम अन्तराल में है धंस जाती ।
वैसे उसकी दृष्टि गई थी अन्तस्तल में[२]

उपर्युक्त उद्धरण में बिम्ब विधान भी कवि की निजी अनुभूति पर आधारित है इसके द्वारा मानव की सूक्ष्म क्रिया को एक प्राकृतिक स्थूल व्यापार के सहारे मूर्त रूप दिया गया है ।

अर्थान्तरन्यास में कही हुई बात का साधारण सिद्धान्त या विशेष उदाहरण से समर्थन किया जाता है । निम्नांकित पंक्तियों में मणिभद्र अपने भाव परिवर्तन का समर्थन साधारण सिद्धान्त के द्वारा करता है-

क्षमा करें दुर्भाव धुल गए हैं मेरे अब,
होते नहीं कुठौर, मध्य भी बुरे-बुरे सब[३] ।।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि की अलंकार योजना में गतानुगतिकता का अभाव है । जहाँ भी अलंकार-योजना का आश्रय कवि ने लिया वहाँ वह भावाभिव्यक्ति मे सहायक होकर काव्योत्कर्ष की वृद्धि करती है । फिर भी अलंकारों के प्रति कवि का अनुचित मतेह नहीं है । गिने चुने दो-चार अलंकार ही उसकी रचना मे यत्र-तत्र आए हैं ।

१-३ नकुल पृ० सं० २९, , ३७ ।

छंद-योजना

नकुल में आद्यन्त रोला छन्द का व्यवहार हुआ है ।~~यह रोला छंद है~~। इसकी विशेषता यह है कि इसमें केवल दो चरणों में अत्यानुप्रास की योजना मिलती है । यह पदान्तर प्रवाही छन्द है जिसमें एक पंक्ति में ही नहीं द्वितीय पंक्ति में जाकर वाक्य समाप्त होता है । कहीं कहीं मात्राओं के न्यूनाधिक होने के कारण छंदों की गति भंग हो जाती है किन्तु ऐसे स्थल कम हैं । नीचे की पंक्तियों में मात्राएं बढ़ी हुई हैं-

वे कज्जल-कल-नयन, भुज लताएं वे गोरी[१]

+ + +

आगे पथ की टोह में गए हैं लक्ष्मण दूत[२]

१-२ नकुल पृ० सं० ६, ५३ ।

उपसंहार

हिन्दी खंड काव्य साहित्य की व्यापकता

हिन्दी साहित्य के आदि काल से लेकर अब तक खण्ड काव्य रचना की सुसम्बद्ध परम्परा का दर्शन होता है । हां, युग की प्रवृत्तियों के अनुकूल इसकी गति कहीं मंद और कहीं तीव्र अवश्य दिखाई पड़ती है । आदि काल, भक्ति काल, रीतिकाल, तथा आधुनिक काल सभी में न्यूनाधिक मात्रा में इस कोटि की रचनाएं प्रस्तुत की गई हैं । हिन्दी का खण्ड काव्य साहित्य, विषय, शैली आदि की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण रहा है । साहित्य में प्रयुक्त प्रायः सभी काव्य-भाषाओं, और काव्य शैलियों को इस काव्य-रूप ने अपनाया है । राजस्थानी, अवधी, ब्रज और खड़ी बोली चारों प्रमुख साहित्यिक भाषाओं को इस काव्य रूप ने अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । बीसलदेव रास, ढोलामारू रा दूहा और बेलिक्रिसन रुक्मिणी री राजस्थानी भाषा में लिखी हुई उत्कृष्ट रचनाएं हैं । इनमें भी बीसलदेव रास व ढोला मारू रा दूहा में जहां भाषा के लोक प्रचलित रूपों का दर्शन होता है वहां बेलिक्रिसन रुक्मिणी की भाषा साहित्यिक कोटि की डिंगल है । अवधी भाषा में यद्यपि अनेक प्रबंध काव्यों और कथा काव्यों की रचना हुई । मानस और पद्मावत जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य इसमें लिखे गए जो इस भाषा की प्रबन्ध क्षमता के ज्वलन्त प्रमाण हैं । किन्तु यह संयोग की बात है कि इस भाषा में उत्कृष्ट खण्डकाव्य नहीं मिलते । कदाचित प्रेमाख्यानों की बाढ़ ने इस भाषा में विशुद्ध प्रबन्धकाव्यों की रचना का मार्ग अवरुद्ध कर दिया और रोमांचक प्रेमकथा के रचयिताओं ने इस पर पूरी तरह अपना प्रभुत्व जमाए रखा । फिर भी जानकी मंगल और पार्वती मंगल इस भाषा का प्रतिनिधित्व करने वाले खण्ड काव्य हैं जो कवित्व की दृष्टि से उत्कृष्ट न होते हुए भी काव्यरूप की दृष्टि से खण्डकाव्य की ही कोटि कक्षा में आते हैं । ब्रजभाषा मध्ययुग में सर्वाधिक प्रयुक्त काव्य भाषा रही है । सुदामाचरित, रुक्मिणीमंगल, रूपमंजरी, हम्मीर रासो और गंगावतरण जैसे उत्कृष्ट खण्ड-काव्यों के अतिरिक्त अनेक सामान्य स्तर के खण्डकाव्य इस भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किए गए । खड़ी बोली का तो आधुनिक युग में एकछत्र राज्य है ।

गंगावतरण को छोड़ कर आधुनिक काल के अंतर्गत विवेचित समस्त रचनाएं इसी भाषा की कृतियां है ।

हिन्दी साहित्य की प्रायः सभी काव्य-परंपराओं को इस काव्य रूप ने स्पर्श किया है । मध्ययुग की रासो काव्य परंपरा का प्रतिनिधित्व बीसलदेव रास करती है और प्रेमाख्यानक परंपरा का प्रतिनिधित्व रूपमंजरी । जानकी मंगल और पार्वती मंगल की गणना लोकगीत परंपरा की कृतियों में की जा सकती है । जोधराज का हम्मीर हठ ऐतिहासिक चरित परंपरा का कृति है । आधुनिक युग की इतिवृत्तमूलक काव्य-परंपरा की प्रतिनिधि रचना जयद्रथ वध है । ग्रंथि, पथिक और स्वप्न आदि रचनाएं आधुनिक युग की स्वच्छंदता मूलक काव्य परंपरा की कृतियां है । ग्रन्थि और तुलसी दास में छायावादी -परंपरा का दर्शन होता है । इनके अतिरिक्त कवित्त, सवैया और दोहा जैसे मुक्तक रूपों में लिखे हुए खण्ड काव्य भी मिलते हैं । सुदामा चरित और ढोला मारू रा दूहा की गणना इनके अंतर्गत की जा सकती है ।

वर्गीकरण

कथा स्रोतों की दृष्टि से हिन्दी खण्ड काव्यों को ६ वर्गों मे रखा जा सकता है । १-ऐतिहासिक २- पौराणिक ३- महाभारतीय ४- रामायणीय ५- किंवदन्ती मूलक और ६- काल्पनिक । ऐतिहासिक कथाओं को आधार बनाकर काव्य-रचना करने की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही है । इनमें पात्र तो ऐतिहासिक रहते हैं किन्तु उनसे संबंधित वृत्तों में कल्पना का प्राधान्य रहता है । काल्पनिक अंशों के सम्मिश्रण से कविगण ऐतिहासिक नीरस प्रसंगों को भी सुन्दर काव्य का रूप प्रदान करने में सफल होते है । हिन्दी में बीसलदेव रास व ढोला मारू रा दू हा में केवल मुख्य पात्र ही ऐतिहासिक है किन्तु हम्मीर हठ मे पात्रों के साथ साथ कुछ घटनाएं भी इतिहासाश्रित हैं । आधुनिक काल के खण्ड काव्य और कुणाल में पात्रों के साथ साथ अधिकांश घटनाएं भी इतिहास से प्रमाणित हैं ।

पौराणिक खंड काव्यों पर सबसे अधिक प्रभाव श्रीमद्भागवत का है । इस पुराण की कथाओं को आधार बनाकर अनेकानेक रचनाएं प्रस्तुत हुई जिनमें आधे

दर्शन के लगभग उत्कृष्ट खण्डकाव्य हैं । पौराणिक आख्यानों में रुक्मिणी-हरण के प्रसंग ने कवियों को सर्वाधिक आकर्षित किया । भक्तिकाल से आधुनिक काल तक अनेक छोटे-बड़े आख्यान काव्यों की रचना इस प्रसंग को आधार बनाकर हुई इनमें से बेलि क्रिसन रुक्मिणी री और रुक्मिणी-मंगल उत्कृष्ट खण्डकाव्य हैं । इनके अतिरिक्त सुदामा चरित और गंगावतरण की कथाएं भी भागवत से ली गयी है । इनमें कथा को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया है । किन्तु वर्णनों में कवियों की मौलिकता और काव्य प्रतिभा के दर्शन होते हैं ।

भागवत की ही भांति महाभारत भी हिन्दी खण्डकाव्यों की कथाओं का प्रमुख उपजीव्य रहा है । आधुनिक युग के प्रमुख खण्ड काव्यकार श्री मैथिलीशरण गुप्त ने तो महाभारतीय कथाओं के आश्रय से अनेक आख्यान काव्य लिखे, किन्तु उनमें से "जयद्रथ वध" और "नहुष" खण्डकाव्य की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं । इनमें से जयद्रथ वध में यद्यपि कथा का रूप प्रायः वही रखा गया है, किन्तु उसके सहारे नवीन युग की समस्याओं की व्यंजना हुई है । "नहुष" में कथा को काट-छांटकर आवश्यकतानुकूल संशोधित रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

रामायण के प्रसंगों को आधार बनाकर खण्डकाव्यों की रचना अपेक्षाकृत कम हुई । इसका कारण कदाचित् तुलसी के मानस का अत्यधिक लोकप्रिय होना था । इस वर्ग में मैथिलीशरण गुप्त की पंचवटी ही एक उत्कृष्ट रचना है । स्वयं तुलसीदास का जानकी मंगल एक खण्डकाव्य होते हुए भी एक साधारण स्तर की कृति है । आधुनिक काल में राजाराम श्रीवास्तव की लक्ष्मण-शक्ति और बनवास तथा श्यामनारायण पाण्डेय की "तुमुल" नामक रचनाएं खण्डकाव्य के दृष्टिकोण से लिखी अवश्य गयी हैं किन्तु वे सफल न हो सकीं ।

किंवदन्ती मूलक रचनाओं में निराला का "तुलसीदास" महत्वपूर्ण है । इसका आधार पत्नी रत्नावली की प्रतारणा से तुलसीदास के

मोहें भंग होने की किंवदन्ती है किन्तु इस घटना के स्थूल स्वरूप को ग्रहण न करके कवि ने उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष की कथा को विषय बनाया है।

काल्पनिक कोटि की रचनाओं मे रूपमंजरी, ग्रन्थि, पथिक और स्वप्न काल्पनिक है। इनमें से प्रथम दो रचनाओं के कवियों के आत्मचरित पर आधारित होने का अनुमान उनके अंतर्साक्ष्यों के आधार पर किया जा सकता है। रूपमंजरी का कवि इन्दुमती के रूप मे अपने आप को प्रस्तुत करता जान पड़ता है। और ग्रन्थि का कवि नायक के रूप में। पथिक और स्वप्न विशुद्ध काल्पनिक रचनाएं हैं किन्तु इनके नायक-नायका राष्ट्रीय संघर्ष युग के आदर्श नेताओं का प्रतिनिधित्व करते जान पड़ते हैं।

विषय वस्तु की दृष्टि से भी हिन्दी खण्डकाव्य -साहित्य वैविध्यपूर्ण है। इनमें युद्ध, प्रेम, विवाह, राष्ट्रीयता, और मानव की महत्ता जैसे विषयों का प्रतिपादन किया गया है। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से हिन्दी के खण्डकाव्यों को सात वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। १- प्रणय काव्य, २- मंगल काव्य, ३- वीरकाव्य, ४-राष्ट्रीय -आख्यान काव्य ५-चरित्रांकन प्रधान काव्य, ६- मानव महात्म्य व्यंजक काव्य, ७- सांस्कृतिक गौरव प्रधान काव्य। प्रणय काव्यों की परंपरा आदि काल से लेकर आज तक अविच्छिन्न रूप में चली आ रही है। बीसलदेव रास, ढोला मारू रा दूहा, रूपमंजरी, और ग्रन्थि में दाम्पत्य प्रणय भाव की व्यंजना प्रधानता से हुई है। प्रणय के संयोग और वियोग की विविध अवस्थाओं के चित्र इनमें मिलते हैं। इन रचनाओं मे प्रेम का चित्रण भारतीय पद्धति पर होने के कारण मर्यादा का उल्लंघन करता नहीं प्रतीत होता। दाम्पत्य प्रणय का चित्रण रुक्मिणी-मंगल, आदि मंगल काव्यों और पथिक, स्वप्न आदि राष्ट्रीय आख्यान काव्यों में भी मिलता है। किंतु इन रचनाओं में प्रणय की भावना मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है। ये घटना प्रधान न होकर भाव प्रधान ही अधिक है। मंगल या बेलि काव्यों का प्रधान विषय विवाह है। विवाह तथा विवाहपूर्व की परिस्थितियों का वर्णन ही इनका मुख्य प्रतिपाद्य है। ये रचनाएं भाव-प्रधान न होकर घटना प्रधान है। इनमें रुक्मिणी-मंगल, बेलि क्रिसन रुक्मिणी री, जानकी-मंगल, और पार्वती मंगल मुख्य हैं। रुक्मिणी विषयक रचनाओं में विवाहपूर्व की परिस्थिति संघर्षपूर्ण होने के कारण काव्य-सौंदर्य का निखार

अच्छा बन सका है, किन्तु जानकी मंगल और पार्वती मंगल केवल वर्णनात्मक हैं और घटनाओं को अति संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप साधारण कवित्व की दृष्टि से ऊँचे नहीं उठ सके हैं । "बेलि क्रिसन रुक्मिणी री" में युद्ध-वर्णन, ऋतु-वर्णन तथा विवाहोत्तर प्रसंगों की योजना भी हुई है । वीर काव्यों में हम्मीरहठ, जयद्रथ-बध और मौर्य विजय मुख्य हैं । उपर्युक्त तीनों रचनाओं में युद्ध-वर्णन प्रमुख प्रतिपाद्य है किन्तु पात्रों के चरित्र की भी व्यंजना उनके कथोपकथनों एवं कार्य-व्यापारों के माध्यम से हुई है । इस वर्ग की रचनाओं में नायक के साथ-साथ एक प्रतिनायक की भी अवतारणा अवश्य हुई है । नायिका की अवतारणा इनमें आवश्यक रूप से नहीं हुई है । चतुर्थ वर्ग राष्ट्रीय-आख्यान काव्यों का है । "राष्ट्रीयता" के व्यापक अर्थ में प्राचीन वीरों के आख्यानों का वर्णन करने वाली, हम्मीरहठ जयद्रथबध, मौर्य विजय आदि रचनाएं भी सम्मिलित की जा सकती हैं किन्तु यहां राष्ट्रीयता का अर्थ देश प्रेम और देश को संकटों से मुक्त करने की तीव्र भावना ही लेना चाहिए । इस वर्ग में पथिक और स्वप्न की गणना की जा सकती है । इन रचनाओं में देशोद्धार के लिए व्यक्तिगत प्रणय की उपेक्षा और आत्म-बलिदान का आदर्श प्रस्तुत किया गया है । चरित्र-प्रधान रचनाओं में परंपरागत आदर्श पुरुषों का चरित्र विकास या चरित्र गान ही कवियों का प्रधान लक्ष्य है । इनमें सुदामा-चरित्र, पंचवटी और कुणाल मुख्य हैं । सुदामा-चरित्र में कृष्ण में मैत्री भाव का आदर्श दिखाया गया है । पंचवटी में लक्ष्मण के चरित्र का विकास हुआ है और कुणाल में कुणाल के आदर्श एवं पवित्र चरित्र का आख्यान किया गया है । मानव-महात्म्य-व्यंजक कोटि में नहुष, नकुल की गणना की जा सकती है । इन रचनाओं में कवि का मुख्य लक्ष्य कथा के सहारे मानव और भू लोक की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन करना है । मध्ययुग में देवताओं तथा उनके निवास स्थान स्वर्ग आदि की अलौकिक कल्पना के कारण मानव में हीनता भाव का प्रादुर्भाव हो गया था । किन्तु आधुनिक बुद्धिवादी युग मे देवताओं आदि के अलौकिकत्व में आस्था नहीं रह गई है । नहुष में नहुष मानव जाति का प्रतिनिधि है जो अपने महान कर्मों के बल पर देवराजत्व अर्जित करता है और उसे उच्छिष्ट करके त्याग भी

देता है । इसी प्रकार "नकुल" में अर्जुन के स्वर्ग में स्वागत आदि के प्रसंगों में मानव की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है । सांस्कृतिक गौरव प्रधान काव्यों में गंगावतरण और तुलसीदास की गणना की जा सकती है । गंगावतरण के नायक भगीरथ ने अपनी कठोर तपस्या से पतितपावनी, मोक्षदायिनी गंगा को पृथ्वी पर लाकर सम्पूर्ण भारत भूमि एवं भारतवासियों को सदा के लिए पापों और कर्मफल के बन्धनों की ओर से निश्चिंत कर दिया । इसी प्रकार तुलसीदास के नायक कवि तुलसीदास ने इस्लाम से भारतीय संस्कृति की रक्षा करने का सदुद्योग अपने मानस के द्वारा किया । इस प्रकार इन दोनो रचनाओं का विषय भारत की दो महान सांस्कृतिक घटनाओं से संबंधित है ।

हिन्दी खण्ड काव्य का शिल्प विकास

हिन्दी खण्ड-काव्य रचना और आरंभ कब से हुआ यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता । इसका कारण यह है कि आदि काल का पर्याप्त साहित्य अभी तक हमारी दृष्टि से ओझल बना हुआ है और जो साहित्य उपलब्ध हो चुका है उसकी प्रामाणिकता एवं रचना-तिथि आदि की पूर्ण परीक्षा अभी तक नहीं हो सकी है । फिर भी अब तक की खोजों के अनुसार बीसलदेव रास को हम हिन्दी का प्रथम खण्डकाव्य कह सकते हैं और हिन्दी खण्डकाव्य साहित्य का प्रारंभ चौदहवीं शताब्दी ई० से मान सकते हैं । उस समय से लेकर १९५० ई० तक के साढ़े छै ६ सौ वर्षों की अवधि में हिन्दी खण्ड काव्य के क्षेत्र में जो शिल्प संबंधी विकास हुआ, उस पर दृष्टिपात करना यहां अप्रासंगिक न होगा ।

आदि कालीन खण्ड काव्यों में शिल्प गत वैशिष्ट्य उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं दिखाई पड़ती । इनके रचयिता साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों के प्रति जागरूक न थे । यही कारण है कि अपनी रचनाओं में उन्होंने अपनी परिष्कृत कलात्मक रुचि का परिचय नहीं दिया । यह हिन्दी साहित्य का शैशव काल था जब अपभ्रंश से सद्यः विकसित हिन्दी अपना कंठ संवार रही थी । परिवर्तन काल में अथवा नव-भाषा के विकास की अवस्था में स्वस्थ साहित्यिक परंपराओं को जन्म नहीं मिल पाता । पूर्ववर्ती भाषा के साहित्य की परंपराएं भी ऐसे संक्रान्ति युग में लुप्त प्राय हो जाती है । फलतः ऐसे युग की साहित्य-चिन्ता

पर लोक-काव्य परम्पराओं का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक होता है। आदिकालीन खण्डकाव्यों में इसी कारण कवि गण अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करने की चेष्टा नहीं करते जान पड़ते । यद्यपि बीसलदेव रास में प्रायः प्रत्येक "कडवक" में अपना नाम जोड़कर कवि ने उन पर अपनी मुहर लगाने की चेष्टा की है किन्तु फिर भी उसने संयोग, वियोग और हर्ष-शोकादि सामान्य जीवन की मूलवृत्तियों की ही व्यंजना प्रधानता के साथ की है । इन खण्डकाव्यों के कथानक परंपरा से प्रसिद्ध ऐतिहासिक पात्रों के साथ कल्पित प्रेम-प्रसंगों को जोड़कर प्रस्तुत किए गए हैं और लोक प्रवृत्ति के अनुकूल हैं । शकुनापशकुन, मुहूर्त, अंग-स्फुरण एवं स्वप्न की बातों पर विश्वास करना, पशु-पक्षियों से अपनी कष्ट कथा का वर्णन कर उनकी सहानुभूति पाना और उनके द्वारा प्रेम-संदेश भेजना, खान-पान, रीति-रिवाज तथा अन्य लोक-विश्वासों को यथा स्थान अभिव्यक्ति देना, सखी, दूती, पंडित, योगी, ज्योतिषी, ढाढ़ी आदि कीसहायता लेकर कार्य सिद्धि की चेष्टा करना, अतिप्राकृत और अमानवीय शक्तियों में आस्था रखना आदि विषय लोक-जीवन का एक बृहत् चित्र पाठक के सम्मुख उभार देते हैं ।

इस प्रकार शिल्प की दृष्टि से आदि कालीन रचनाएं लोक साहित्य के अधिक निकट कही जा सकती हैं । अनगढ़ और अकृत्रिम भाषा में जीवन के सहज सरल विश्वासों और भावों के मार्मिक चित्रों का उद्घाटन इनमें हुआ है । अलंकारों की योजना अथवा कलात्मक निखार की चेष्टा इन रचनाओं में नहीं दिखाई पड़ती । घटना या चरित्र -विकास पर दृष्टि न रखकर इन रचनाओं में भावों को ही निश्छल रूप में व्यक्त किया गया है ।

भक्तिकालीन रचनाओं में खण्डकाव्य की कला में विकास के चिन्ह स्पष्ट दिखाई पड़त हैं । यद्यपि इस काल की रचनाएं भी लोकतत्वों के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं किन्तु भक्तिकाल की रचनाएं काव्य कला के प्रतिजागरूक कवियों की रचनाएं हैं । सुदामा-चरित, बेलि क्रिसन रुक्मिणी री, रुक्मिणी-मंगल और रूपमंजरी आदि में कलात्मक निखार लाने की चेष्टा कवियों ने की है । भक्तिकालीन आदर्शों के अनु-कूल विकसित हुआ है ।

भक्तिकालीन खण्डकाव्यों में पौराणिक या ख्यात वृत्तो को ग्रहण करने की प्रवृत्ति विकसित हुई । लौकिक नायकों के स्थान पर राम, कृष्ण, शिव, जैसे दिव्य

एवं धीरोदात्त नायिकों का प्रवेश हुआ । किन्तु उनका औदात्य उनके कार्य-व्यापारों से उतना स्पष्ट नहीं हुआ जितना उनके अलौकिक रूप, गुण, प्रभाव आदि के वर्णन से । सुदामा-चरित में सुदामा जैसे धीर-शान्त व्यक्ति को भी नायकत्व प्रदान किया गया । रस की दृष्टि से प्रधानतः शृंगार को अपनाया गया । रस के पूर्ण परिपाक के लिए शृंगार के प्रायः सभी अंगों का विस्तृत विवेचन हुआ । बेलि क्रिसन रुक्मिणी री, रुक्मिणी मंगल, रूपमंजरी आदि में नायक-नायिकाओं के अंगज, अयत्नज आदि अलंकारों, अनुभावों, सात्विकों एवं संचारी भावों की विशद व्यंजना की गई । उद्दीपन के लिए प्रकृति, षट् ऋतु आदि के वर्णनों की योजना हुई । काव्य के बहिरंग की दृष्टि से भी भक्तिकालीन खण्डकाव्यों का विकास ध्यान देने योग्य है । कथा के सर्गों में विभाजित करने की प्रवृत्ति इस काल में विकसित नहीं हुई । मंगलाचरण के बाद ग्रंथ को प्रारम्भ करने की प्रवृत्ति इस काल की सभी रचनाओं में दिखाई पड़ती है, यद्यपि आदि काल में बीसलदेव रास में भी इस प्रवृत्ति का दर्शन होता है । इस काल की रचनाओं में भाषा का स्वरूप साहित्यिक और अलंकृत दिखाई पड़ता है । बेलि क्रिसन रुक्मिणी री की भाषा साहित्यिक डिंगल और काव्यगुण सम्पन्न है । रुक्मिणी - मंगल और रूपमंजरी की भाषा में भी साहित्यिक ब्रजभाषा का परिष्कृत रूप दिखाई पड़ता है । जानकी मंगल और पार्वती-मंगल (साधारण कोटि की रचनाएं होते हुए भी) की भाषा साहित्यिक अवधी है। छन्दों की दृष्टि से इस काल के खण्डकाव्यों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। मुक्तक इस काल के खण्डकाव्यों में छन्द-परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं मिलती है । मुक्तक और गेय दोनों प्रकार के छन्दों का व्यवहार इन रचनाओं में मिलता है । बेलियोगीत, रोला, कवित्त, सवैया आदि । इस काल के खण्डकाव्यों में प्रयुक्त अधिकांश छन्द साहित्यिक हैं किन्तु सोहर जैसे लोक छन्द का व्यवहार भी साधारण कोटि की रचनाओं में मिलता है । रचना-शैली की दृष्टि से इनमें वर्णनात्मकता का प्राधान्य है । इनमें भाव-वर्णन के साथ साथ घटनाओं और बाह्यविषय वस्तुओं के वर्णन में भी कवियों की वृत्तियां रमी हैं ।

रीतिकाल में खण्डकाव्य की कला का विकास नहीं हो सका । इस काल के एक मात्र खण्डकाव्य हम्मीर हठ में साहित्य-शास्त्र की रूढ़ियों का पालन भली-भांति हुआ है । खण्डकाव्य के विषय पक्ष की दृष्टि से इसमें ऐतिहासिक

व्यक्ति को नायकत्व प्रदान करने की आदिकालीन प्रवृत्ति का ही दर्शन होता है । कथा में भी इतिहास और कल्पना का मिश्रण है । रस की दृष्टि से इसमें वीर-रस को प्रधानता मिली है । चरित्र -चित्रण की दृष्टि से हम्मीर हठ पूर्ववर्ती खण्डकाव्यों की अपेक्षा अधिक सफल है ।

आधुनिक युग में खण्डकाव्य के शिल्प का विकास अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंचा हुआ दिखाई पड़ता है । इस युग में जहां एक ओर संस्कृत साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को अपनाने की रुचि प्रबन्धकाव्य रचयितओं में दिखाई पड़ी वहां बाह्य प्रभावों को भी आत्मसात् करने की प्रवृत्ति भी बढ़ी । इस प्रकार पुरातन और नूतन करने के संयोग से खण्डकाव्यों में नवीन शिल्प का विकास हुआ ।

आधुनिक युग के खण्डकाव्यों में सबसे बड़ा परिवर्तन विषय-वस्तु के क्षेत्र में हुआ । आज के बुद्धिवादी युग में अस्वाभाविक एवं अलौकिक क्रिया-व्यापारों में पाठक की आस्था नहीं रह गयी हैं । अतः आधुनिक युग के खण्डकाव्यों की विषय-वस्तु यद्यपि काव्य-पुराणादि से गृहीत हुई है किन्तु कवियों ने अविश्वसनीय तत्वों की बुद्धि संगत व्याख्या करके ही उन्हें प्रस्तुत किया है । पंचवटी में कवि मैथिलीशरण गुप्त ने शूर्पणखा के प्रेम प्रस्तावों के अनुकूल रात्रि के निर्जन वातावरण की सृष्टि की है और राम के पास न भेजकर पहले उसे लक्ष्मण के पास भेजा है । "नकुल" में सियारामशरण गुप्त ने महाभारतीय कथा अविश्वसनीय तत्वों का निराकरण करने में पूर्ण सफलता पाई है । महाभारतीय कथानक में धर्म यक्ष बनकर युधिष्ठिर की परीक्षा लेता है । वही मृग बनकर पाण्डवों को आकर्षित कर उन्हें दूर ले जाता है । सरोवर पर युधिष्ठिर को छोड़कर शेष पाण्डवों की मृत्यु भी रहस्यपूर्ण ढंग से होती है किन्तु नकुल में मणिभद्र यक्ष, उसके आश्रम और मृग आदि की कल्पना स्वाभाविक है । मृत्यु का कारण दुर्योधन के गुप्तचरों द्वारा जल का विषाक्त कराया जाना बताया गया है और नकुल को ही पुनर्जीवन देने की युधिष्ठिर की आकांक्षा की बुद्धि संगत व्याख्या की गयी है ।

आधुनिक युग के खण्डकाव्यों में सामान्य मानव को खण्डकाव्य का नायकत्व प्रदान किया जाने लगा है । आधुनिक युग के पूर्व के खण्डकाव्यों के नायक-नायिका या तो देव कोटि के थे या राजन्य वर्ग के किन्तु आधुनिक युग के पथिक स्वप्न आदि खण्डकाव्यों में सामान्य व्यक्ति ही अपने कर्म और चरित्र

बल से नायकत्व के अधिकारी बने हैं । देव कोटि के अथवा राजन्य वर्ग के पात्रों को भी सामान्य मानवता के स्तर पर उतार करके ही प्रस्तुत किया गया है । पंचवटी में राम-लक्ष्मण और सीता को विशुद्ध मानवीय धरातल पर उतारा गया है ।

प्राचीन युग के उपेक्षित और तिरस्कृत पात्रों के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर उनके चरित्र का पुनरुद्धार करने और उनके पक्ष का समर्थन करने की प्रवृत्ति आधुनिक युग के प्रबन्धकाव्यों में प्रमुखता पाती जा रही है । ऊर्मिला कैकेयी कर्ण, रावण, मेघनाद आदि को प्रबन्ध काव्यों के नायक के रूप में प्रतिष्ठित कर उनके चरित्रों के पुनरुद्धार की चेष्टा की गयी है किन्तु हिन्दी ~~महाकाव्यों~~ खण्डकाव्यों में १९५० ई० तक यह प्रवृत्ति विशेष नहीं उभर पायी है महाकाव्यों में इसका विशेष प्रभाव रहा है । फिर भी पंचवटी में लक्ष्मण के चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करना इसी प्रवृत्ति का सूचक कहा जा सकता है ।

स्वर्ग और देवताओं की प्रतिष्ठा आधुनिक वैज्ञानिक युग में समाप्त प्राय हो गयी है । उनके स्थान पर समान्य मानव और भू लोक की प्रतिष्ठा बढ़ती जा रही है । पंचवटी, नहुष, नकुल, आदि खण्डकाव्यों में यह प्रवृत्ति क्रमशः विकसित होती हुई दिखाई देती है । पंचवटी में कवि मनुष्यता को सुरत्व की जननी कहता है, नहुष में नर देवराज पद का अधिकारी ही नहीं बनता उसे "भुक्तोज्झित" करके भी छोड़ देता है और इससे भी आगे बढ़कर नकुल में देवराज इन्द्र और देवतादि "नर"प्रतिनिधि अर्जुन का स्वागत करके अपने को गौरवान्वित समझते हैं । "नहुष" की "मेरी भूमि तो है पुण्य भूमि वह भारती, सौ नक्षत्र लोक करें आके आप आरती" पंक्तियो में कवि का मातृ-भूमि के प्रति गौरव का भाव अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है ।

प्रबन्ध गठन की दृष्टि से आधुनिक खण्डकाव्य मे प्राचीन खण्डकाव्यों से भिन्न पद्धति को अपनाया गया है । आज का कवि घटना या प्रसंग को उतना महत्व नहीं देता । जितना विचारों या अंतःवृत्तियों के उद्घाटन को । पंचवटी में कथानक बाह्य धरातल पर स्थित न रह कर मनो मय हो जाता है । "स्वप्न" में नायक बसन्त का अन्तर्द्वन्द्व ही कथा को अग्रसर करता है । तुलसीदास मे नन नायक तुलसीदास के मन की अध-ऊर्ध्व स्थितियां ही कवि का मुख्य वर्ण्य हैं । तुलसी का बाह्य परिस्थितियां तो उनके अंतः विकास की प्रेरक मात्र हैं ।

आधुनिक रचनाओं में कथा का स्थूल अंश बहुत कुछ स्मृति के धरातल पर प्रस्तुत किया जाने लगा है । प्राचीन काल की रचनाओं में संयोग वियोग आदि के वर्णनों में कवि विशेषरुचि प्रदर्शित करते थे किन्तु आधुनिक युग की कृतियों में उनका स्थूल वर्णन कवियों को रुचिकर नहीं लगता । पथिक में संयोग चित्रों की झलक पथिक-प्रिया की स्मृति के धरातल से मिलती है । "स्वप्न" में बसंत की स्मृति के सहारे संयोग शृंगार का चित्रण हुआ है । "नकुल" में स्मृति के सहारे अनेक बाह्य प्रसंगों को कथा से संयुक्त कर कवि ने अपने उद्देश्य की सिद्धि की है । वृन्दावन में कृष्ण के मुरलीवादन अर्जुन के स्वर्ग में स्वागत तथा कंकिता लता से संबंधित प्रसंग स्मृति के धरातल पर ही उपस्थित किये गए हैं । इन प्रसंगों की योजना के फलस्वरूप कथानक के ढाँचे में भी एक वक्रता उत्पन्न हो गयी है । कथा प्रवाह में जो ऋजुता प्राचीन रचनाओं में दिखाई पड़ती है वह आधुनिक युग की रचनाओं में नहीं । कुछ रचनाओं में कथा का तत्व अत्यंत सूक्ष्म रहता है और आत्माभिव्यक्ति का ही प्राधान्य होता है । पंत की ग्रंथि इसी प्रकार की रचना है ।

आधुनिक काल के खण्ड-काव्यों में प्राचीन-रस-सिद्धान्त की उपेक्षा की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है । प्राचीन रचनाओं में शृंगार, वीर, करुण में से किसी एक रस की प्रधानता तथा अन्य रसों के गौण रूप में नियोजित किए जाने की विधि का निर्वाह किया जाता था किन्तु आधुनिक रचनाओं के नूतन विषय, भाव एवं विचार प्राचीन रसों की निश्चित संख्या में समेटे नहीं जा सकते । आधुनिक युग की तुलसीदास, नहुष, कुणाल, नकुल आदि रचनाओं में रस-परिपाक पर कवि की दृष्टि नहीं है । मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और अंतर्वृत्तियों के उद्घाटन में ही कवियों का कौशल दिखाई पड़ता है । सत्याग्रह आन्दोलन, समानाधिकार युद्ध, समाज सुधार, राष्ट्रोद्धार और व्यापक हितों के लिए निजी हितों का त्याग आदि नवयुग के आदर्शों की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की रचनाओं में प्रमुख हो गयी है । "नकुल" में युद्ध, सामाजिक संघर्ष और छोटे-बड़े की समस्याओं पर विचार करना ही कवि का लक्ष्य है । प्राचीन कथाओं और प्रसंगों का ग्रहण आधुनिक युग में केवल युग की आवश्यकताओं को वाणी देने के उद्देश्य से ही होने लगा है ।

आधुनिक युग के खण्ड काव्यों में नाटकीयता और गीतात्मकता का विशेष प्रभाव दिखाई पड़ता है । संवादों का आधिक्य, आकस्मिक दृश्य परिवर्तन आदि नाटकीय तत्वों का प्राधान्य पंचवटी, नहुष, नकुल आदि अनेक खण्डकाव्यों में देखा जा सकता है । उद्धरण चिन्ह देकर पात्रों के वार्तालाप का क्रम बहुत दूर तक चलता रहता है । इसी प्रकार कथा प्रवाह के बीच-बीच करुण, कोमल स्थलों पर गीतों की सृष्टि द्वारा भावाभिव्यक्ति की पद्धति "कुणाल" में अपनायी गयी है ।

प्राचीन रचनाओं में चतुर्वर्ग फल में से एक की प्राप्ति अनिवार्य समझी जातथी थी किन्तु आधुनिक रचनाओं में नायक की विजय अथवा सत् पक्ष की असत् पर विजय का आदर्श स्थापित करने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती । नायक की मृत्यु और आत्म बलिदान में भी कथा का अन्त हो जाता है । पथिक में कथा के अन्त में नायक को मृत्यु दण्ड मिलता है । "नहुष" में नहुष के स्वर्ग-पतन में कथा का अंत होता है । आज का कवि मानव को विभिन्न परिस्थितियों में रखकर उसके चरित्र की परीक्षा करने में ही विशेष रुचि प्रदर्शित करता है ।

आधुनिक खण्डकाव्यों में प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित मंगलाचरण, खलनिन्दा, और सज्जन प्रशंसा आदि की विधियों का अनुसरण नहीं किया जाता कवि स्थान काल एवं प्राकृतिक वातावरण आदि की निश्चित पृष्ठभूमि उपस्थित करके कथा को प्रारम्भ करता है । पंचवटी का प्रारम्भ चन्द्रिका-स्नात रजनी के मधुर-सुन्दर मादक वातावरण के चित्रण से होता है । पथिक के प्रारम्भ में भी प्रातःकाल की सुन्दर छवि अंकित हुई है । कुछ खण्ड काव्यों में ग्रंथ आरम्भ करने के पूर्व कथा का पूर्वाभास या पूर्ववृत्त देने की प्रवृत्ति भी मिलती है । पंचवटी में यह पूर्वाभास तीन छन्दों में प्रस्तुत किया गया है और नहुष में गद्य में । वस्तुतः यह एकांकी नाटक का तत्व है जिसे खण्डकाव्यों के लिए अपनाने की चेष्टा कुछ कवियों ने की है ।

प्राचीन खण्डकाव्यों में नगर, ऋतु, वन, प्रातः, सन्ध्या आदि के प्रसंगानुसार संक्षिप्त वर्णनों की प्रवृत्ति मिलती है । आधुनिक खण्डकाव्यों में भी यह प्रवृत्ति वर्तमान है किन्तु आधुनिक कवि आचार्यों द्वारा निर्धारित विषयों में ही बंधा नहीं रहता । वर्णन-शैली में आधुनिक में वस्तु विषयों

के परम्परागत स्वरूप को न लेकर उनके यथार्थ स्वरूप के चित्रण करने की चेष्टा की जाती है । पथिक, स्वप्न, नहुष और नकुल आदि वर्णन इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं ।

सर्ग विभाजन की प्रणाली आधुनिक काल के कुछ प्रारम्भिक खण्डकाव्यों में संस्कृत की महाकाव्य परंपरा के अनुकूल ही मिलती है किन्तु आगे चलकर इसका स्वरूप परिवर्तित हो गया । कुछ रचनाओं में कथा को शीर्षकों में विभाजित किया गया है जैसे ग्रंथि, या कुणाल, नहुष में और कुछ रचनाओं में केवल एक, दो, तीन की संख्या देकर कथा को खण्डों में विभाजित किया गया है जैसे नकुल में । पंचवटी और तुलसीदास में सर्ग विभाजन की प्रणाली की पूर्ण उपेक्षा की गई है ।

आधुनिक काल के प्रबन्ध काव्यों की अभिव्यंजना शैली में भी पर्याप्त विकास हुआ है । पश्चिमी काव्य-परंपराओं ने आधुनिक खण्डकाव्यों के कला पक्ष को विशेष प्रभावित किया है । प्राचीन रचनाओं में अलंकारों के प्रयोग पर कवि की दृष्टि विशेष रहती थी किन्तु आधुनिक रचनाओं में लक्षणा, व्यंजना और ध्वनि का प्रयोग विशेष होने लगा है । प्राचीन अलंकारो का भी प्रयोग आधुनिक रचनाओं में होता है किन्तु परंपरागत उपमान प्रायः बदल गए है । कवियों ने निजी कल्पना के बल पर मौलिक उपमानों की अवतारणा की है । आधुनिक कवि अमूर्त के लिए मूर्त और मूर्त के लिए अमूर्त उपमानों का प्रयोग कर उक्तियों में नूतन चमत्कार उत्पन्न करने में सफल हुए है । प्राचीन अलंकारों के साथ-साथ मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय और ध्वन्यर्थव्यंजना आदि अंग्रेजी साहित्य में अलंकारों का प्रयोग आधुनिक खण्डकाव्यों में सफलता के साथ हुआ है । प्रतीको और लाक्षणिक प्रयोगों की भी इन रचनाओं में भरमार है । कहीं कहीं पर अंग्रेजी साहित्य के पदांशों और मुहावरों आदि को त्यों का त्यों अनुवाद करके रख दिया गया है । पंत की ग्रंथि इस दृष्टि से महत्वपूर्ण रचना है । निराला के तुलसी दास में प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण की सुन्दर व्यंजना हुई है । नूतन उपमानो और लाक्षणिक प्रयोगों की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट कृति है । नहुष, नकुल और कुणाल आदि कृतियों में भी नवीन अभिव्यंजना शैली का दर्शन होता है । इन रचनाओं मेंध्वनि काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण

उपलब्ध होते हैं ।

आधुनिक काल की रचनाओं में भाषा की अभिव्यंजना शक्ति का उत्तरोत्तर विकास हुआ है । जयद्रथ बध, मौर्य विजय, आदि प्रारम्भिक रचनाओं की भाषा में यथा तथ्य वर्णन की प्रवृत्ति का प्राधान्य है किन्तु आगे की रचनाओंमें भाषा का स्वरूप अधिकाधिक सूक्ष्म-भाव-व्यंजक होता गया है और भाषा में चित्रमयता, लाक्षणिकता और नादात्मकता का विकास हुआ है । उत्तर द्विवेदी युग की रचनाओं में भाषा का यह वैशिष्ट्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है । छन्दों के क्षेत्र में भी आधुनिक खण्डकाव्यों में नूतन प्रयोग हुए है । इस प्रकार हिन्दी खण्डकाव्य साहित्य में आदि काल से आधुनिक काल तक युग की परिस्थितियों के अनुकूल विकसित होता रहा है और उसकी परंपरा अविच्छिन्न दिखाई पड़ती है ।

- - -

काव्य-ग्रंथ (सूची)

१- अंगराज-	आनंद कुमार
२- अनाथ-	सियारामशरण गुप्त
३- अनुराग बांसुरी-	नूर मुहम्मद
४- अभिमन्यु-वध -	रामचंद्र शुक्ल "सरस"
५- अशोक-	रामदयाल पाण्डेय
६- अर्जन और विसर्जन-	मैथिलीशरण गुप्त
७- अजित-	वही
८- आत्मार्पण-	द्वारिका प्रसाद गुप्त"रसिकेन्द्र"
९- आत्मोत्सर्ग-	सियारामशरण गुप्त
१०- आर्यावर्त-	मोहन लाल महतो वियोगी
११- आल्ह खण्ड-	जगनिक
१२- इन्द्रावती-	नूरमुहम्मद
१३- उद्धव-शतक-	बाबू जगन्नाथ दास"रत्नाकर"
१४- ऊषा-अनिरुद्ध-	जनकुंवकवि
१५- वही-	मुरलीदास
१६- वही-	रामदास
१७- ऊषा-चरित्र-	सीताराम
१८- एकान्तवासी योगी-	श्रीधर पाठक
१९- कंस-वध -	श्यामलाल पाठक
२०- कनकावति-	जान कवि
२१- करहिया को रायसो-	गुलाब कवि
२२- काबा और कर्बला-	मैथिलीशरण गुप्त
२३- कामायनी-	जयशंकर प्रसाद
२४- किसान-	मैथिलीशरण गुप्त
२५- कीचक वध-	शिवदास गुप्त
२६- कुरुक्षेत्र-	दिनकर
२७- कुणाल(संस्करण सन्-१९५३ई०)	सोहन लाल द्विवेदी
२८- कृष्णायन-	द्वारिका प्रसाद मिश्र
२९- खुमान रासो-	दलपति विजय
३०- गंगावतरण-	जगन्नाथदास "रत्नाकर"
३१- गांधी-गौरव-	गोकुल चंद शर्मा
३२- गुरुकुल-	मैथिलीशरण गुप्त
३३- गोरा बादल की कथा-	जटमल
३४- ग्रंथि(सं०सम्वत् १९९९)-	सुमित्रानंदन पंत)
३५- चंडी-चरित्र-	गुरु गोविन्द सिंह
३६- चंद कुंवर री बात-	हंस कवि
३७- चित्तौड की चिता-	डा० रामकुमार वर्मा

३८- चित्रावली- उसमान
३९- छंद राव जैतसी रउ- बीठू सूजा चारण
४०- छत्र-प्रकाश- लाल कवि
४१- छीता- जानकवि
४२- जंगनामा- श्रीधर
४३- जननायक- रघुवीरशरण मित्र
४४- जयचन्द प्रकाश- भट्ट केदार
४५- जयमयंक जस चंद्रिका- मधुकर कवि
४६- जयद्रथ -बध-(३९वाँ संस्करण) मैथिलीशरण गुप्त
४७- जहाँगीर जस चंद्रिका- केशवदास
४८- जानकी मंगल- तुलसीदास
४९- जैमिनि पुराण भाषा- सरयूराम
५०- जौहर- श्याम नारायण पाण्डेय
५१- ज्ञानदीप- शेख नबी
५२- ढोला मारू रा दूहा द्वितीय संस्करण- ठाकुर और पारीक
५३- तक्षशिला- उदयशंकर भट्ट
५४- तुमुल- श्यामनारायण पाण्डेय
५५- तुलसीदास (संस्करण)- पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"
५६- दुर्योधन-बध- जगदीश नारायण तिवारी
५७- देवदूत- रामचरित उपाध्याय
५८- दैत्य-वंश- हरदयाल सिंह
५९- द्रौपदी आख्यान- ईश्वरदास जगन्नाथ
६०- नंददास-ग्रंथावली प्रथम सं० (प्रथम भाग)- सं० उमाशंकर शुक्ल
६१- नकुल- (प्रथम संस्करण)- सियाराम शरण गुप्त
६२- नल दमन- सूरदास
६३- नल दमयन्ती- नरपति कवि
६४- नहुष (पंचमावृत्ति)- मैथिलीशरण गुप्त
६५- निमाई- अतुल कृष्ण गोस्वामी
६६- निशीथ- डा० रामकुमार वर्मा
६७- नूरजहाँ- ख्वाजा अहमद
६८- नूरजहाँ- गुरु भक्त सिंह
६९- नैषध-चरित- गुमान मिश्र
७०- पंचवटी(३३वाँ संस्करण)- मैथिलीशरण गुप्त
७१- पथिक- रामनरेश त्रिपाठी
७२- पद्मावत- मलिक मोहम्मद जायसी
७३- ~~पद्मनावत~~ -पार्वती-मंगल- तुलसीदास

७४- पुहुपावती- दुखहरन दास कायस्थ
७५- पृथ्वीराज रासो- चंद बरदायी
७६- प्रणवीर प्रताप- गोकुल चंद शर्मा
७७- प्रिय प्रवास- हरि औध
७८- प्रेम पथिक- जयशंकर प्रसाद
७९- प्रेम पयोनिधि- मृगेन्द्र
८०- प्रेम बिलास प्रेमलता कथा-
(अप्रकाशित) - जटमल नाहर
८१- बचनिका राठौड़ रतनसिंह
जी री- जग्गाजी
८२- बनवास- राजाराम श्रीवास्तव
८३- बीसलदेव रास- नरपति नाल्ह (डा० माता प्रसाद गुप्त संपादित द्वितीय संस्करण)
८४- बेलि क्रिसन रुक्मिणी री
(प्रथम संस्करण) - ठाकुर और पारीक
८५- ब्रज विलास- ब्रजवासी दास
८६- भंवर गीत- नंददास
८७- भाषा-प्रेम-रस- शेख रहीम
८८- भाषा-भागवत- कृष्णदास
८९- मधुमालती- मंझन
९०- महाभारत - सबलसिंह चौहान
९१- महाभारत- गोकुलनाथ आदि
९२- महामानव- ठाकुर प्रसाद सिंह
९३- महाराणा का महत्व- जयशंकर प्रसाद
९४- माधवानल कामकंदला- गणपति, बोधा, आलम इत्यादि
९५- मिलन- रामनरेश त्रिपाठी
९६- मृगावती- कुतुबन शेख
९७- मेवाड़-गाथा- लोचन प्रसाद पाण्डेय
९८- मौर्य विजय-(सं० १००८ वि०)- सियाराम शरण गुप्त
९९- यशोधरा- मैथिलीशरण गुप्त
१००- युसुफ जुलेखा- शेख निसार
१०१- रंग मे भंग- मैथिलीशरण गुप्त
१०२- रतनावति- जानकवि
१०३- रस रतन- पुहकर कवि
१०४- राज-विलास- मान कवि
१०५- रानी-दुर्गावती- देवी दयाल चतुर्वेदी "मस्त"
१०६- राम-चंद्रोदय- रामनाथ ज्योतिषी

१०७- राम-रसायन- पद्माकर
१०८- रामाश्वमेध- मधुसूदन
१०९- रामस्वयंबर- रघुराज सिंह
११०- रासा भगवंत सिंह- सदानंद
१११- रुक्मिणी परिणय- रघुराजसिंह
११२- रुक्मिणी-मंगल- नरहरि महापात्र
११३- रुक्मिणी-मंगल- शंभूराम
११४- रुक्मिणी-मंगल- विष्णुदास
११५- रुक्मिणी-मंगल- हरि नारायण
११६- रूपमंजरी- नंददास
११७- लखमसेन- पद्मावती कथा- दामो कवि
११८- लक्ष्मण-शक्ति-राजाराम- श्रीवास्तव
११९- वकसंहार- मैथिलीशरण गुप्त
१२०- बन वैभव- मैथिलीशरण गुप्त
१२१- विक्रमादित्य- रघुवीरशरण "मित्र"
१२२- विकट भट मैथिलीशरण गुप्त
१२३- विस्मृता उर्मिला- बालकृष्ण शर्मा नवीन
१२४- वीरसिंह देव चरित- केशवदास
१२५- वीर-हम्मीर- रामकुमार वर्मा
१२६- वैदेही बनवास- अयोध्यासिंह उपाध्याय
१२७- शक्ति- मैथिलीशरण गुप्त
१२८- शकुन्तला- वही
१२९- शबरी- बचनेश
१३०- श्रीकृष्ण-चरित- पद्मन टुंगा
१३१- सती पद्मिनी- श्रीनाथ सिंह
१३२- सती सारन्धा- द्वारिका प्रसाद गुप्त "रसिकेन्द्र"
१३३- सती रानी हाडी- शुकदेव सिंह "सौरभ"
१३४- सत्यवती की कथा- ईश्वरदास
१३५- सदय वत्स सावलिंगा- मैथिलीशरण गुप्त
१३६- साकेत- बल्देव प्रसाद मिश्र
१३७- साकेत-सन्त- "
१३८- सिद्धराज- मैथिलीशरण गुप्त-
१३९- सिद्धार्थ- अनूप शर्मा
१४०- सुजान चरित- सूदन
१४१- सुदामा चरित(प्रथम संस्करण- १९६१ ई०)- नरोत्तमदास(संपादक कृष्णदेव शर्मा)
१४२- सुनाल- अनूप शर्मा
१४३- सुलोचनाख्यान- रघुनाथ प्रसाद

१४४- सैरन्ध्री- मैथिलीशरण गुप्त
१४५- स्वप्न(प्रथम संस्करण)- रामनरेश त्रिपाठी
१४६- हंस जवाहर- कासिमशाह
१४७- हम्मीर रासो- जोधराज
१४८- हम्मीर हठ- ग्वाल कवि
१४९- हम्मीर -हठ- (संस्करण सं० १९०७ ई०) पं०चन्द्रशेखर बाजपेयी(सं० रत्नाकर)
१५०- हरिश्चन्द्र- बाबू जगन्नाथ प्रदास"रत्नाकर"
१५१- हल्दीघाटी- श्याम नारायण पाण्डेय
१५२- हिम्मत बहादुर विरुदावली-पद्माकर

- - -

सहायक ग्रंथ सूची

हिन्दी

१- अनूप शर्मा: कृतियाँ और कला - डा० प्रेम नारायण टन्डन
२- अपभ्रंश साहित्य: हरिवंश कोछड़
३- आधुनिक काव्यधारा- केसरी नारायण शुक्ल
४- आधुनिक साहित्य- आचार्य नंददुलारे बाजपेयी
५- आधुनिक हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव- डा० रवीन्द्र सहाय वर्मा
६- आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना- डा० पुत्तूलाल शुक्ल
७- आधुनिक हिन्दी काव्य में परंपरा तथा प्रयोग- डा० गोपालदत्त सारस्वत
८- आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास- डा० श्रीकृष्णलाल
९- कवि और काव्य- शान्तिप्रिय द्विवेदी
१०- कवि सियारामशरण- संपा० डा० नगेन्द्र
११- कविवर रत्नाकर- कृष्णशंकर पोद्दार
१२- काव्य-कल्पद्रुम- कन्हैयालाल पोद्दार

१३- काव्य-दर्पण- रामदहिन मिश्र

१४- काव्यरूपों के मूल स्रोत: उनका उद्गम और विकास- डा॰ शकुन्तला दुबे

१५- खड़ी बोली काव्य में अभिव्यंजना-शिल्प- डा॰ आशा गुप्ता

१६- गुप्त जी की कला- सत्येन्द्र

१७- गुप्त जी की काव्य धारा- गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश

१८- गुप्त जी के काव्य की कारुण्य-धारा- धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी

१९- चंद्रगुप्त नाटक की भूमिका- जयशंकर प्रसाद

२०- छन्द-प्रभाकर- जगन्नाथप्रसाद भानु

२१- छायावाद- नामवर सिंह

२२- छायावाद युग- "

२३- जायसी ग्रंथावली की भूमिका- शंभूनाथ सिंह

२४- डिंगल-साहित्य(प्र॰सं॰)- पं॰ रामचन्द्र शुक्ल

२५- ढोला मारू रा दूहा, प्रथम संस्करण (भूमिका)- ठाकुर और पारीक

२६- तुलसी के चार दल- सद्गुरु शरण अवस्थी

२७- तुलसीदास- डा॰ माताप्रसाद गुप्त

२८- नंददास (भूमिका)- उमाशंकर शुक्ल

२९- नंददास ग्रंथावली(भूमिका)- ब्रजरत्नदास

३०- निराला: काव्य और व्यक्तित्व- धनंजय शर्मा

३१- निराला: कृतियां और कला- विशंभरनाथ उपाध्याय

३२- प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव-(प्रका॰थीसिस)- डा॰ रामसिंह तोमर

३३- प्राकृत साहित्य का इतिहास- डा॰ जगदीशचंद जैन

३४- बीसवीं शती(पूर्वार्द्ध)के महाकाव्य- डा॰ प्रतिपाल सिंह

३५- भारतीय काव्यांग- डा॰ सत्यदेव चौधरी

३६- भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा- डा॰ नगेन्द्र

३७- भारतीय प्रेमाख्यान काव्य - डा॰ हरिकान्त श्रीवास्तव

३८- मध्यकालीन प्रेम साधना- परशुराम चतुर्वेदी

३९- मेघदूत: विमर्श- पं॰ रामदहिन मिश्र

४०- मैथिलीशरणगुप्त: अभिनंदनग्रंथ-

४१- मैथिलीशरण गुप्त: कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता- डा॰ उमाकान्त

४२- मैथिलीशरण गुप्त: व्यक्ति और काव्य- डा॰ कमलाकान्त पाठक

४३- रत्नाकर और उनका काव्य- ऊषा जायसवाल

४४- राजस्थानी भाषा और साहित्य- मोतीलाल मेनारिया

४५- राजस्थानी साहित्य की रूपरेखा- मोतीलाल मेनारिया

४६- रासो साहित्य विमर्श- डा॰ माताप्रसाद गुप्त

४७- वाङ्मय विमर्श- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

४८- विचार और विश्लेषण- डा॰ नगेन्द्र

४९- वीर काव्य- उदयनारायण तिवारी

५०- संचारिणी- शान्तिप्रिय द्विवेदी

५१- साकेत एक अध्ययन- डा॰ नगेन्द्र

५२- सुमित्रानंदन पंत- डा॰ नगेन्द्र

५३- हिन्दी कविता- सूर्यबली सिंह

५४- हिन्दी कविता? कुछ विचार- दुर्गाशंकर मिश्र

५५- हिन्दी कविता में युगान्तर- सुधीन्द्र

५६- हिन्दी काव्य में छायावाद- दीनानाथ शरण

५७- हिन्दी काव्यादर्श- प्रकाश व्याख्या सहित

५८- हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य- डा॰ गोविन्दराम शर्मा

५९- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग- डा॰ नामवरसिंह

६०- हिन्दी ध्वन्यालोक- आचार्य विश्वेश्वर

६१- हिन्दी पुस्तक साहित्य- डा॰ माता प्रसाद गुप्त

६२- हिन्दी प्रेमाख्यान काव्य- कमल कुल श्रेष्ठ

६३- हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास- आचार्य चतुरसेन शास्त्री

६४- हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप विकास- डा॰ शम्भूनाथ सिंह

६५- हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम्- आचार्य विश्वेश्वर

६६- हिन्दी वीर काव्य(अप्रका॰शोध प्रबन्ध)- डा॰ टीकमसिंह तोमर

६७- हिन्दी साहित्य- संपा॰धीरेन्द्र वर्मा-ब्रजेश्वर वर्मा

६८- हिन्दी साहित्य का अतीत- विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

६९- हिन्दी साहित्य का आदिकाल- आचार्य हजारी प्रसादद्विवेदी

७०- हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास- डा॰ रामकुमार वर्मा

७१- हिन्दी साहित्य का इतिहास (संस्करण,सं॰२ ०१५) पं॰ रामचन्द्र शुक्ल

७२- हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (पीठिका)- संपादक-राजवली पाण्डेय

७३- हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव- डा॰सरनामसिंह

७४- हिन्दी साहित्य:बीसवीं शताब्दी- आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

अँग्रेजी-

१- अँग्रेजी ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर- दासगुप्ता
२- हिन्दी आफ संस्कृत लिटरेचर- कीथ
३- इंगलिश लिटरेचर- ए क्रिटिकल सर्वे- विलियम्स
४- अर्ली इंगलिश लिटरेचर- बेनहार्ड टेनब्रिंक
५- आइडिया आफ ग्रेट पोइट्री- लेसेल्स एबरक्राम्बी
६- इंगलिश पोयट्री- जान ड्रिंक वाटर
७- इंगलिश लिट्रेचर एट द क्लोज आफ द मिडिल- एजिज- इ० के० चेम्बर्स
८- एपिक एण्ड रोमान्स- डबलू० पी० केट
९- फ्राम वर्जिल टू मिल्टन- सी०एम०बावरा
१०- फार्म एण्ड स्टाइल इन इंगलिश पोइट्री- डबलू पी० केट
११- हिस्ट्री आफ इंगलिश लिटरेचर- काम्पटन रिकेट
१२- आक्स फोर्ड लेक्चर्स आन पोयट्री- ब्रैडले
१३- द क्वेस्ट फार लिटरेचर- शिपले
१४- द एपिक- एबर क्राम्बी
१५- लिटरेरी क्रिटिसिज्म- एस० एल० बेथेल
१६- लिटरेरी क्रिटिसिज्म- डाबसन
१७- पोस्ट विक्टोरियन पोयट्री- हरबर्ट पामर
१८- हीरोइक एज सी० एम० बावरा
१९- चौसर एण्ड द फिफटीन्थ सेन्चुरी- एच० एस० बैनेट
२०- इंगलिश एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री- डबलू एम० डिक्सन
२१- इंगलिश इन्फलुएंस आन हिन्दी लिटरेचर एंण्ड लैंगवेज- डा० विश्वनाथ प्रसाद मि(अप्र०)
२२- संस्कृत पोयटिक्स भाग २- एस० के० डे०

संस्कृत

२३-
१- काव्यालंकर - आचार्य भामह
२- काव्यादर्श- आचार्य दण्डी
३- काव्यालंकार - आचार्य रुद्रट्(नमि साधु कृत टीका सहित)
४- साहित्य दर्पण- आचार्य विश्वनाथ(टीका का सत्यव्रत सिंह)
५- मेघदूत- कालिदास

कोश

१- संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी - मोनियर -विलियम्स
२- भारत कोश- संस्कृत
३- साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश-राजेन्द्र द्विवेदी
४- हिन्दी साहित्य कोश- संपा० डा० धीरेन्द्र वर्मा
५- इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (अंग्रेजी)
६- इन्साइक्लोपीडिया आफ लिटरेचर- शिपले (अंग्रेजी)

पत्र-पत्रिकाएं-

१- अवन्तिका, जुलाई १९५४
२- राजस्थान वर्ष १।१
३- राजस्थानी जनवरी १९४०
४- विशाल भारत जुलाई १९२८
५- विश्वभारती पत्रिका खण्ड ५, अंक २
६- सम्मेलन पत्रिका, आश्विन १९९८ विक्रमी
७- सरस्वती जून, १९०१ ई० ।
८- हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक
९- हिन्दी अनुशीलन-अक्टूबर-दिसम्बर, १९५८
१०- हिमालय, अंक ५

- - -